विषयानुक्रम

प्रज्ञापुराण–द्वितीय खण्ड

(महामानव खण्ड)

क्र.	अध्याय	प्रकरण	पृष्ठाङ्क
१–	प्राक्कथन		३–४
२–	प्रथम अध्याय	देवमानव–समीक्षा प्रकरण	५–३८
३–	द्वितीय अध्याय	धर्म–विवेचन प्रकरण	३९–७१
४–	तृतीय अध्याय	सत्य–विवेक प्रकरण	७२–१०२
५–	चतुर्थ अध्याय	संयमशीलता कर्तव्यपरायणता प्रकरण	१०३–१४१
६–	पंचम अध्याय	अनुशासन–अनुबंध प्रकरण	१४२–१८६
७–	षष्ठ अध्याय	सौजन्य–पराक्रम प्रकरण	१८७–२२८
८–	सप्तम अध्याय	सहकार–परमार्थ प्रकरण	२२९–२६४
९–	वंदना परिशिष्ट		२६५–२६८

प्राक्कथन

भारतीय इतिहास-पुराणों में ऐसे अगणित उपाख्यान हैं, जिनमें मनुष्य के सम्मुख आने वाली अगणित समस्याओं के समाधान विद्यमान हैं । उन्हीं में से सामयिक परिस्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कुछ का ऐसा चयन किया गया है, जो युग समस्याओं के समाधान में आज की स्थिति के अनुरूप योगदान दे सकें ।

सर्वविदित है कि दार्शनिक और विवेचनात्मक प्रवचन-प्रतिपादन उन्हीं के गले उतरते हैं, जिनकी मनोभूमि सुविकसित है, परन्तु कथानकों की यह विशेषता है कि बाल, वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी की समझ में आते हैं और उनके आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकना सम्भव होता है । लोकरंजन के साथ लोकमंगल का यह सर्वसुलभ लाभ है ।

कथा साहित्य की लोकप्रियता के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ होगा । प्राचीन काल में १८ पुराण लिखे गए । उनसे भी काम न चला तो १८ उपपुराणों की रचना हुई । इन सब में कुल मिलाकर १०,०००,००० श्लोक हैं, जबकि चारों वेदों में मात्र बीस हजार मंत्र हैं । इसके अतिरिक्त भी संसार भर में इतना कथा साहित्य सृजा गया है कि उन सबको तराजू के एक पलड़े पर रखा जाय और अन्य साहित्य को दूसरे पर तो कथाऐं ही भारी पड़ेंगी ।

समय परिवर्तनशील है । उसकी परिस्थितियाँ, मान्यताऐं, प्रथाऐं, समस्याऐं एवं आवश्यकताऐं भी बदलती रहती हैं । तदनुरूप ही उनके समाधान खोजने पड़ते हैं । इस शाश्वत सृष्टिक्रम को ध्यान में रखते हुए ऐसे युग साहित्य की आवश्यकता पड़ती रही है, जिसमें प्रस्तुत प्रसंगों से उपयुक्त प्रकाश एवं मार्गदर्शन उपलब्ध हो सके । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अनेकानेक मनःस्थिति वालों के लिए उनकी परिस्थिति के अनुरूप समाधान ढूँढ़ निकालने में सुविधा दे सकने की दृष्टि से इस प्रज्ञा पुराण की रचना की गई, इसे चार खण्डों में प्रकाशित किया गया है । इन चार खण्डों में समग्र मानव धर्म के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त इतिहास-पुराणों की कथाऐं हैं । इनमें अन्य धर्मावलम्बियों के क्षेत्र में प्रचलित कथाओं का भी समावेश है ।

संस्कृत श्लोकों तथा उसके अर्थों के उपनिषद् पक्ष के साथ उसकी व्याख्या एवं कथानकों के प्रयोजनों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास इनमें किया गया है । वस्तुतः इनमें युग दर्शन का मर्म निहित है । सिद्धांतों एवं तथ्यों को महत्व देने वालों के लिए यह अंग भी समाधानकारक होगा । जो संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए अर्थ व उसकी व्याख्या पढ़ लेने से भी काम चल सकता है । इन श्लोकों की रचना नवीन है, पर जिन तथ्यों का समावेश किया गया है, वे शाश्वत हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन निजी स्वाध्याय के रूप में भी किया जा सकता है और सामूहिक सत्संग के रूप में भी । रात्रि के समय पारिवारिक लोक शिक्षण की दृष्टि से भी इसका उपयोग हो सकता है । बच्चे कथाऐं सुनने को उत्सुक रहते हैं । बड़ों को धर्म परम्पराऐं समझने की इच्छा रहती है । इनकी पूर्ति भी घर में इस आधार पर कथा क्रम और समय निर्धारित करके की जा सकती है ।

कथा आयोजनों को सामूहिक धर्मानुष्ठान के रूप में भी सम्पन्न किए जाने की परम्परा है । उस

आधार पर भी इस कथावाचन का प्रयोग हो सकता है । आरम्भ का एक दिन देव पूजन, व्रत धारण, माहात्म्य आदि के मंगलाचरण में लगाया जा सकता है । चार दिन में चार खण्डों का सार संक्षेप, प्रातः और सायंकाल की दो बैठकों में सुनाया जा सकता है । अन्तिम दिन पूर्णाहुति का सामूहिक समारोह हो । बन पड़े तो अमृताशन (उबले धान्य, खीर, खिचड़ी आदि) की व्यवस्था की जा सकती है और विसर्जन शोभा यात्रा मिशन के बैनरों सहित निकली जा सकती है । प्रज्ञा मिशन के प्रीतिभोजों में अमृताशन की परम्परा इसलिए रखी गयी है कि वह मात्र उबलने के कारण बनाने में सुगम, लागत में सस्ता तो है ही, साथ ही जाति-पाँति के आधार पर कच्ची-पक्की का जो भेदभाव चलता है, उसे भी निरस्त करते हुए मनुष्य मात्र को एक बिरादरी बनाने के लक्ष्य की ओर क्रमशः कदम बढ़ सकने का पथ-प्रशस्त करता है ।

लोक शिक्षण के लिए गोष्ठियों-समारोहों में प्रवचनों-वक्तृताओं की आवश्यकता पड़ती है । उन्हें दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कहना ही नहीं, सुनना-समझना भी कठिन पड़ता है । फिर उनका भण्डार जल्दी ही चुक जाने पर वक्ता को पलायन करना पड़ता है । उनकी कठिनाई का समाधान इस ग्रन्थ से ही हो सकता है । विवेचनों, प्रसंगों के साथ कथानकों का समन्वय करते चलने पर वक्ता के पास इतनी बड़ी निधि हो जाती है कि उसे महीनों कहता रहे । न कहने वाले पर भार पड़े, न सुनने वाले ऊबें । इस दृष्टि से युग सृजेताओं के लिए लोक शिक्षण का एक उपयुक्त आधार उपलब्ध होता है । प्रज्ञा-पीठों और प्रज्ञा-संस्थानों में तो ऐसे कथा प्रसंग नियमित रूप से चलने ही चाहिए । ऐसे आयोजन एक स्थान पर या मुहल्लों में अदल-बदल के भी किए जा सकते हैं ताकि युग सन्देश को अधिकाधिक लोग निकटवर्ती स्थान पर जाकर सरलतापूर्वक सुन सकें । ऐसे ही विचार इस सृजन के साथ-साथ मन में उठते रहे हैं, जिन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया गया है ।

प्रथम खण्ड में युग समस्याओं के कारण उद्भूत आस्था संकट का विवरण है एवं उससे उबर कर प्रज्ञा युग लाने की प्रक्रिया रूपी अवतार सत्ता द्वारा प्रणीत सन्देश है । भ्रष्ट चिन्तन एवं दुष्ट आचरण से जूझने हेतु अध्यात्म दर्शन को किस तरह व्यावहारिक रूप में अपनाया जाना चाहिए, इसकी विस्तृत व्याख्या है एवं अन्त में महाप्रज्ञा के अवलम्बन से संभावित सतयुगी परिस्थितियों की झाँकी है ।

इस समग्र प्रतिपादन में जहाँ कहीं अनुपयुक्तता, लेखन या मुद्रण की भूल दृष्टिगोचर हो, उन्हें विज्ञजन सूचित करने का अनुग्रह करें, ताकि अगले संस्करणों में संशोधन किया जा सके ।

—श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञा पुराण

।। अथ प्रथमोऽध्यायः ।।

❁ देवमानव—समीक्षा प्रकरणम् ❁

एकदा नैमिषारण्ये ज्ञानसंगम उत्तमः ।
मनीषिणां मुनीनां च बभूव परमाद्भुतः ।। १।।
काश्याः पाटलिपुत्रस्य ब्रह्मावर्तस्य तस्य च ।
आर्यावर्तस्य सर्वस्य यानि क्षेत्राणि संति तु ।। २।।
कपिलवस्तोर्विशेषेण तेभ्यः सर्वेऽपि संगताः ।
प्रज्ञापुरुषसंज्ञास्ते मूर्धन्या धन्यजीवनाः ।। ३।।

टीका—एक बार मुनि—मनीषियों का एक उत्तम ज्ञान संगम नैमिषारण्य क्षेत्र में हुआ, जो अपने आप में बड़ा अद्भुत था । आर्यावर्त, ब्रह्मावर्त, काशी, कपिलवस्तु, पाटलिपुत्र आदि समीपवर्ती क्षेत्रों के सभी मूर्धन्य उत्तम जीवनयापन करने वाले प्रज्ञा पुरुष उसमें एकत्रित हुए ।। १—३।।

अर्थ—ज्ञान संगम इस भूमि की, ऋषि युग की विशेषता रही है । ज्ञान की अनेक धाराएँ हैं । अपने-अपने विषयों के विशेषज्ञ उन्हें समयानुरूप विकसित करते रहते हैं । विकसित धाराओं का उपयोग जनहित के लिए किया जाता है । वह तभी संभव है, जब भिन्न-भिन्न धाराओं में हुए विकास को जन आवश्यकता के अनुरूप मिलाकर जन साधारण तक पहुँचाने योग्य बनाया जाय । प्राचीन काल में अध्यात्म और इस युग में विज्ञान का विकास इसी ढंग से संभव हुआ है ।

ज्ञान धाराओं का संगम तब संभव हो पाता है, जब उन्हें समझने और अपनाने वाले मूर्धन्य श्रेष्ठ व्यक्ति उसमें रुचि लें । जिन्होंने उन्हें विकसित किया, ऐसे प्रज्ञा-पुरुष और जिन्होंने उन्हें जीवन सिद्ध बनाया, ऐसे उत्तम जीवन जीने वाले अग्रगामी, दोनों ही प्रकार के सत्पुरुष इस संगम में एकत्रित हुए हैं ।

औषधियाँ बनायी जाती हैं फिर उन्हें निश्चित क्षेत्र में प्रयुक्त किया जाता है । सेना के लिए अस्त्र विकसित किए जाते हैं; कुशल व्यक्तियों द्वारा उनका प्रयोग-परीक्षण किया जाता है । उसके आधार पर विकसित करने वाले तथा प्रयोग करने वाले गंभीर परामर्श करते हैं, संशोधन करते हैं, तब वह संगम बनता है, जिससे व्यापक स्तर पर उन उपलब्धियों को व्यवहार में लाया जा सके ।

समागमाः पुराप्येवं समये जनबोधकाः ।
काले काले भवन्ति स्म सद्विचाराभिमन्थनैः ।। ४।।
बहुमूल्यानि रत्नानि यथा सागरमंथनैः ।
यत्र दिव्यानि सर्वाणि प्रादुर्भूतानि संततम् ।। ५।।
मनीषिणोऽधिगच्छेयुर्मार्गदर्शनमुत्तमम् ।
शोचितुं कर्तुमेवाऽपि सहैवाऽत्र जनाः समे ।। ६।।
लभन्तां समयं मुक्त्यै काठिन्यात् प्रगतेः पथि ।
गन्तुं चाऽपि समारोह एतदुद्दिश्य निश्चितः ।। ७।।

टीका—समागम पहले भी समय-समय पर होते रहते थे, ताकि विचार मंथन से समुद्र मंथन की तरह कोई बहुमूल्य रत्न निकलें; मनीषियों को अधिक सोचने और करने का सामयिक प्रकाश मिले; साथ ही जन समुदायों को कठिनाई से छूटने और प्रगति पथ पर अग्रसर होने का अवसर उपलब्ध होता रहे । इस बार का समारोह भी इसी प्रयोजन के लिए नियोजित किया गया था ॥ ४-७॥

अर्थ—समुद्र मंथन से विचार मंथन अधिक लोकोपयोगी है । समुद्र मंथन से रत्न एक बार ही निकले थे, पर विचार मंथन से रत्नों की प्राप्ति हर काल में होती रहती है । इसलिए मनीषी लोग विचार मंथन के लिए एकत्र होते रहते हैं । यों विचार मंथन अकेले भी होता है; पर जब कई मनीषी एक साथ बैठकर विचार मंथन करते हैं, तो एक दूसरे के विचारों को उभारने वाली प्रेरणा से, स्फूर्ति से सामान्य की अपेक्षा अनेक गुना लाभ मिलता है ।

सभी उपनिषद्, दर्शन आदि ऋषियों के विचार मंथन से उपजे रत्न हैं । वे अनंत काल से अगणित व्यक्तियों को लाभ पहुँचाते आ रहे हैं । योग और चिकित्सा के सूत्र भी ऐसे ही विचार मंथन से विकसित हुए हैं । प्राचीनकाल में मंत्रि-परिषदें राज्य की, समाज की विभिन्न समस्याओं के समाधान इसी प्रकार विचार मंथन से निकालती थीं । ऋषिगण भी अपने-अपने आश्रमों-आरण्यकों में यह क्रम चलाते थे । जब तक यह परिपाटी चली, तब तक समयानुकूल विचारों, आदर्शों की शोध होती रही, आचरण होते रहे और सामाजिक उत्कर्ष का क्रम सतत् चलता रहा ।

जिज्ञासानां समाधानहेतोरत्र विशेषतः ।
व्यवस्था विहिता प्रातर्नित्यकर्मविनिर्वृतौ ॥ ८॥
सत्संगो निश्चितः सर्वैस्तत्र रम्ये तपोवने ।
क्रमः सप्ताहपर्यन्तं भविष्यत्यपि निश्चितः ॥ ९॥
तद्दिने विधिवत्तस्य शुभारम्भो बभूव च ।
अभूत्तत्र समाध्यक्ष आश्वलायन उत्तमः ॥ १०॥
सर्वे कुर्वन्ति प्रश्नान् स्वान् सभाध्यक्षः क्रमादसौ ।
उत्तरं दास्यतीत्येवं व्यवस्था तत्र निश्चिता ॥ ११॥

टीका—जिज्ञासाओं के समाधान के लिए उस समागम में विशेष व्यवस्था की गई थी । प्रातः नित्य कर्म से निवृत्त होने पर सत्संग चलाने का निश्चय उस रमणीय तपोवन में हुआ । एक सप्ताह तक यह क्रम चलना था । सो उस दिन उसका विधिवत् शुभारंभ हुआ । सत्राध्यक्ष आश्वलायन थे । ऐसी व्यवस्था थी कि प्रश्न कोई भी कर सकते थे और उत्तर केवल सत्राध्यक्ष ही देते थे ॥ ८-११॥

प्रथमे दिवसे तत्र जिज्ञासां प्रस्तुतां व्यधात् ।
ऐतरेयो महर्षिः स श्रेष्ठ आचारवान् मुनिः ॥ १२॥
देव लब्धाः समानास्ताः सुविधा मानवैः समैः ।
प्रभुदत्ताः परं तेषु मानवाः केचनात्र तु ॥ १३॥
उदरम्भरितायां ते सन्तानोत्पत्तिकेऽथवा ।
सीमिताश्च सदैवात्र तैलयन्त्रवृषा इव ॥ १४॥
जीवनं यापयन्त्येवं पशुतुल्यस्थितिं गताः ।
ताडिताः पतिताः किं वा जनैः सर्वैस्तिरस्कृताः ॥ १५॥
संकटानात्महेतोश्च भावयन्ति सदैव ते ।
पातयन्ति जनानन्यान् पीडयन्त्यपि सन्ततम् ॥ १६॥

टीका—प्रथम दिन की जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए सदाचारी मुनि श्रेष्ठ ऐतरेय ने पूछा—"हे देव ! मनुष्य को ईश्वर प्रदत्त सभी सुविधाएँ प्रायः समान मात्रा में उपलब्ध हैं । पर उनमें कुछ तो पेट-प्रजनन भर तक सीमित

रहकर कोल्हू के बैल के समान मरते–खपते पशुओं की तरह साँसें पूरी कर लेते हैं । कुछ पतित–तिरस्कृत बनते, प्रताड़नाएँ सहते दिन गुजारते हैं । अपने लिए संकट खड़े करते और दूसरों को सदा गिराते–सताते रहते हैं ।। १२–१६।।

ईदृशा अपि सन्त्यत्र जना ये स्वयमुन्नताः ।
भवन्त्यन्यान् यथाशक्ति सदैवोत्थापयन्त्यपि ।। १७।।
तारयन्ति स्वयं श्रेयो यशः सम्मानमेव च ।
सहयोगं महामर्त्या विन्दन्त्येते सुरोपमाः ।। १८।।
असंख्याः प्रेरणां तेभ्यः प्राप्नुवन्ति तथैव च ।
पुरावृत्तकरास्तेषां गाथाः स्वर्णाक्षरेषु च ।। १९।।
लिखन्त्यस्या भिन्नतायाः कारणं किं च विद्यते ।
उच्यतां भवता देव ! विषयेऽस्मिंस्तु विस्तरात् ।। २०।।

टीका–किंतु कुछ ऐसे भी होते हैं, जो स्वयं ऊँचे उठते, दूसरों को उठाते, पार करते श्रेय प्राप्त करते हैं । ऐसे देवोपम महामानवों को यश–सम्मान और सहयोग भी मिलता है । असंख्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करते हैं । इतिहासकार उनकी गुण–गाथाएँ स्वर्णाक्षरों में लिखते हैं । इस भिन्नता का कारण क्या है ? सो समझाकर कहिए ।। १७–२०।।

अर्थ–प्रश्नकर्ता ऋषि ने मनुष्यों को तीन स्तरों में विभाजित किया है ।

(१) वे, जो मनुष्य जन्म का भी पशु-स्तर तक ही प्रयोग करते हैं । विचार, भावना एवं विशेष क्रिया शक्ति का प्रयोग ही नहीं करते । ढर्रे का जीवन भर जीते हैं ।

(२) वे, जो मनुष्य को प्राप्त विशेषताओं के उपयोग के लिए लालायित तो रहते हैं, पर उन्हें उत्थान की जगह पतन की उल्टी दिशा में लगा देते हैं ।

(३) तीसरे वे, जो मानवीय विशेषताओं का सही ढंग से प्रयोग करने में सफल हो जाते हैं ।

प्रश्नकर्ता यह जानना चाहते हैं कि एक ही योनि के प्राणी मनुष्य में इतना अन्तर कैसे और क्यों हो जाता है ?

आश्वलायन उवाच–

तात ! मर्त्याः समाना वै निर्मिताः प्रभुणा समे ।
प्रियाः सर्वेऽपि तस्यात्र निर्विशेषं दयानिधेः ।। २१।।
सर्वेभ्यो व्यतरत् सोऽत्र समानाः सुविधाः प्रभुः ।
मार्गं चिन्वन्ति मर्त्याश्च स्वेच्छया मार्गमाश्रिताः ।। २२।।
यान्ति तत्रैव यत्रायं विरामं मार्ग एति च ।
उच्यंते स्वार्थिनस्त्वत्र पशवो नररूपिणः ।। २३।।
स्वार्थमेवानुगच्छन्ति नरास्ते तु प्रतिक्षणम् ।
अन्येषां सुखसौविध्ये सहयोगं न कुर्वते ।। २४।।
प्राप्नुवन्ति यंदेवैतद् निगिरन्ति च पूर्णतः ।
कष्टे कस्याऽपि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते ।। २५।।
साहाय्यस्याऽपि नोदेति भावना प्रत्यहं च ते ।
अन्विषन्ति परत्रेह निजास्ताः सुविधाः नराः ।। २६।।
सहानुभूतिमेतेऽपि नाप्नुवन्ति च कस्यचित् ।
जीवन्तो नीरसं मृत्योर्दिवसान् पूरयन्ति ते ।। २७।।

टीका–आश्वलायन बोले–हे तात ! भगवान् ने सभी मनुष्य समान बनाये हैं । उस दयानिधि को सभी पुत्र समान रूप से प्यारे हैं । सभी को उसने समान सुविधाएँ तथा परिस्थितियाँ भी प्रदान की हैं । लोग अपनी इच्छानुसार मार्ग चुनते हैं और जहाँ वह मार्ग जाता है, वहाँ जा पहुँचते हैं । स्वार्थ–परायणों को नर–पशु कहते हैं । वे अपने काम से काम रखते हैं । दूसरों की सुख–सुविधा में हाथ नहीं बँटाते । जो पाते हैं, निगलते रहते हैं । किसी के दुःख में उन्हें सहानुभूति नहीं उपजती । सहायता करने की इच्छा भी नहीं होती । लोक और परलोक में अपनी ही सुविधाएँ खोजते हैं । ऐसों की किसी को सहानुभूति भी नहीं मिलती । फलतः वे एकाकी–नीरस जीवन जीते हुए मौत के दिन पूरे करते हैं ॥ २१–२७॥

अर्थ–दयालु परमपिता प्यार के नाते विकास के अवसर सभी को देता है । विकास के अवसरों का लाभ उठाकर जो व्यक्ति योग्यता बढ़ा लेते हैं, उन्हें वह महत्वपूर्ण कार्य योग्यताओं के आधार पर सौंपता है । विकास के अवसर और सौंपे गए कार्य, इन दोनों में अंतर न कर पाने से मनुष्य समझता है कि भगवान किसी को अधिक अवसर देता है, किसी को कम ।

मार्गों के लक्ष्य निश्चित हैं; पर मनुष्य चुनते समय मार्ग के लक्ष्य की अपेक्षा मार्गों की सुविधाओं को रुचि अनुसार चुन लेता है । जो मार्ग पकड़ लिया, उसी के गंतव्य पर पहुँचना पड़ता है; फिर यह चाह महत्व नहीं रखती कि कहाँ पहुँचना चाहते थे ।

जो स्वार्थ तक ही सीमित हैं, वे नर-पशु हैं । पशु अपने शरीर निर्वाह, अपनी रक्षा और अपने वंश विस्तार से अधिक सोच नहीं पाते । मनुष्य सोचने की क्षमता रखता तो है; पर स्वार्थवश पशुओं की सीमा से आगे बढ़ता नहीं, इसलिए नर पशु कहलाता है ।

स्वार्थी किसी अन्य से सहानुभूति नहीं बरत पाता, इसीलिए उसे भी वह नहीं मिलती । वह नीरस, एकाकी जीवन जीता है ।

पांडव बनाम कौरव

भीष्म पितामह ने राजकुमारों को शिक्षा-दीक्षा के लिए एक जैसी सुविधाएँ उपलब्ध करायी थीं । पांडवों ने उनमें से शालीनता–सहयोग का मार्ग चुना, कौरवों ने उद्दंडता और द्वेष का । दोनों ने मार्ग के अनुसार गति पाई । भगवान् श्रीकृष्ण ने दोनों को चुनाव का समान अधिकार दिया था । एक ने साधन–वैभव–सेना की चाह की, दूसरे ने मार्गदर्शन की । जो मार्ग चुना गया, अनुरूप गति मिली ।

स्वार्थी इक्कड़ की दुर्गति

एक हाथी बड़ा स्वार्थी और अहंकारी था । दल के साथ रहने की अपेक्षा वह अकेला रहने लगा । अकेले में दुष्टता उपजती है, वे सब उसमें भी आ गयीं ।

एक बटेर ने छोटी झाड़ी में अंडे दिए । हाथियों का झुंड आते देखकर बटेर ने उसे नमन किया और दलपति से उसके अंडे बचा देने की प्रार्थना की । हाथी भला था । उसने चारों पैरों के बीच झाड़ी छुपा ली और झुंड को आगे बढ़ा दिया । अंडे तो बच गए; पर उसने बटेर को चेतावनी दी कि एक इक्कड़ हाथी पीछे आता होगा, जो अकेला रहता है और दुष्ट है, उससे अंडे बचाना तुम्हारा काम है । थोड़ी देर में वह आ ही पहुँचा । उसने बटेर की प्रार्थना अनसुनी करके जान–बूझ कर अंडे कुचल डाले ।

बटेर ने सोचा कि दुष्ट को मजा न चखाया तो वह अन्य अनेक का अनर्थ करेगा । उसने अपने पड़ोसी कौवे तथा मेढ़क से प्रार्थना की । आप लोग सहायता करें तो हाथी को नीचा दिखाया जा सकता है । योजना बन गई । कौवे ने उड़-उड़ कर हाथी की आँखें फोड़ दी । वह प्यासा भी था । मेढ़क पहाड़ी की चोटी पर टर्राया । हाथी ने वहाँ पानी होने का अनुमान लगाया और चढ़ गया । अब मेढ़क नीचे आ गया और वहाँ टर्राया । हाथी ने नीचे पानी होने का अनुमान लगाया और नीचे को उतर चला । पैर फिसल जाने से वह खड्ड में गिरा और मर गया ।

एकाकी स्वार्थ–परायणों को इसी प्रकार नीचा देखना पड़ता है ।

चुहिया ने चुना चूहा

एक सिद्ध पुरुष नदी में स्नान कर रहे थे । एक चुहिया पानी में बहती आई । उनने उसे निकाल लिया । कुटिया में ले आये और वह वहीं पल कर बड़ी होने लगी ।

चुहिया सिद्ध पुरुष की करामातें देखती रही, सो उसके मन में भी कुछ वरदान पाने की इच्छा हुई । एक दिन अवसर पाकर बोली–"मैं बड़ी हो गई, किसी वर से मेरा विवाह करा दीजिए ।"

संत ने उसे खिड़की में से झाँकते सूरज को दिखाया और कहा–"इससे करा दें ।" चुहिया ने कहा–"यह तो आग का गोला है । मुझे तो ठंडे स्वभाव का चाहिए ।" संत ने बादल की बात कही–"वह ठंडा भी है, सूरज से बड़ा भी । वह आता है, तो सूरज को अंचल में छिपा लेता है ।" चुहिया को यह प्रस्ताव भी रुचा नहीं । वह इससे बड़ा दूल्हा चाहती थी । संत ने पवन को बादल से बड़ा बताया, जो देखते-देखते उसे उड़ा ले जाता है । उससे बड़ा पर्वत बताया, जो हवा को रोक कर खड़ा हो जाता है । जब चुहिया ने इन दोनों को भी अस्वीकार कर दिया, तो सिद्ध पुरुष ने पूरे जोश-खरोश के साथ पहाड़ में बिल बनाने का प्रयास करते चूहे को दिखाया । चुहिया ने उसे पसंद कर लिया, कहा–"चूहा पर्वत से भी श्रेष्ठ है; वह बिल बनाकर पर्वतों की जड़ खोखली करने और उसे इधर से उधर लुढ़का देने में समर्थ रहता है । एक मोटा चूहा बुलाकर संत ने चुहिया की शादी रचा दी । उपस्थित दर्शकों को संबोधित करते हुए संत ने कहा–"मनुष्य को भी इसी तरह अच्छे से अच्छे अवसर दिए जाते हैं, पर वह अपनी मन:स्थिति के अनुरूप ही चुनाव करता है ।"

दु:खी आम जगन्नाथ माहात्म्य कथा में एक मार्मिक प्रसंग है । भक्त भगवान के पास जा रहा था । मार्ग में जो मिलता था, भगवान के लिए अपना भी संदेश दे देता था ।

एक आम का वृक्ष मिला । उसके फलों में कीड़े लग जाते थे । कोई उपयोग नहीं कर पाता था । आम का दु:ख सुनकर भगवान ने कहा–"यह पूर्व जन्म में स्वार्थी था । अपनी कोई वस्तु किसी के काम में नहीं आने देता था । वही स्वार्थ कीड़ा बनकर इसके साथ लगा है । न उसके फल किसी के लिए उपयोगी बन पाते हैं और न कोई उसके पास जाता है । अपने स्वार्थवश यह एकाकी जीवन जी रहा है ।"

मलीन पोखरी उसी कथा में प्रकरण है–दो छोटी-छोटी पोखरी थीं, इसका पानी उसमें, उसका पानी इसमें होता रहता था । कोई प्रयोग नहीं करता था । पानी में काई, कीड़े पड़ गए थे । उनका दु:ख सुनकर भी प्रभु ने कहा–"पूर्व जन्म में यह सगी बहनें भी थीं और देवरानी-जेठानी भी । दोनों ही स्वार्थिनें थीं । कोई दान-पुण्य परमार्थ के लिए कहे तो बड़ी बहन, छोटी बहन को दान का सबसे श्रेष्ठ पात्र कहकर उसे दे आती थी । दोनों की स्वार्थ भावना अपने साधन अपने ही अधिकार क्षेत्र में रखने के ताने-बाने बुनती रहती थीं । वही प्रवृत्ति उनके साथ अभी भी लगी है । पानी उनकी स्वार्थ भावना जैसा ही दुर्गंध युक्त हो गया है । एक दूसरे की सीमा में ही चक्कर काटता है । स्वार्थ के ऐसे ही परिणाम निकलते हैं ।"

येषां प्रवृद्धास्त्वाकांक्षा आतुरा विभवाय ये ।
अहंत्वाप्त्यै स्पृहास्त्येषां कुबेर इव चाढ्यताम् ।। २८।।
वृत्रहेव सुसामर्थ्यमधिगन्तुं सदैव तुं ।
सज्जास्ते जीवितुं नैव सामान्यैरिव नागरैः ।। २९।।
दर्पाहंकारयोर्नैव विना ते तु प्रदर्शनम् ।
तृप्तिं नानुभवन्त्येव पुरुषाश्चेदृशा द्रुतम् ।। ३०।।
अर्जितुं सम्पदः स्वस्य वर्चः स्थापयितुं समे ।
कुटुम्बस्याऽपि जायन्ते व्यग्रा लोकैषणारताः ।। ३१।।

टीका–जिनकी महत्वाकांक्षायें अतिशय बढ़ी-चढ़ी हैं, जो बड़प्पन और वैभव बटोरने के लिए आतुर हैं, जिन्हें कुबेर सा धनी, इन्द्र सा समर्थ बनने की ललक है, वे औसत नागरिक का सामान्य जीवन जीने और संतोषपूर्वक रहने के लिए तैयार नहीं होते । दर्प और अहंकार प्रदर्शन किए बिना जिन्हें तृप्ति नहीं होती–ऐसे लोग जल्दी ही सम्पदा बटोरने और अपना तथा परिवार का वर्चस्व बढ़ाने के लिए आतुर हो उठते हैं ।। २८–३१ ।।

अर्थ–नर-पशुओं से भी गिरे हुए नर-पिशाचों की मनोदशा का वर्णन करते हुए यह चित्रण किया गया है । नर-पशु सामान्य जीवन की ही कल्पना कर पाते हैं, इसलिए उनके स्वार्थ से सीमित हानियाँ होती हैं; परंतु इसी स्वार्थी श्रेणी के वे लोग जिनकी महत्वाकांक्षायें बढ़ी-चढ़ी होती हैं, उनकी स्थिति नर-पशुओं से भिन्न होती है । ऐसे व्यक्तियों को–

(१) औसत नागरिक जीवन पसंद नहीं होता ।

(२) बड़प्पन, धन, वैभव बटोरने के लिए वे उचित ढंग, उचित माध्यमों की प्रतीक्षा नहीं कर पाते, उद्यत हो उठते हैं ।

ठगी का अधिकार

व्यवसाय-व्यापार द्वारा मनुष्य पर्याप्त धन कमा सकता है; परंतु जिन्हें उचित समय लगाने, उचित साधन बरतने का धैर्य नहीं, वे सज्जनता छोड़कर ठगी करते हैं ।

दो ठग थे । एक ने घड़े में गले तक गोबर भरा, ऊपर से घी भर दिया । ऐसा घी का घड़ा लेकर बेचने चला । दूसरे ने नकली तलवार पर असली मूँठ तथा बढ़िया म्यान लगायी और वह भी चल पड़ा बेचने । दोनों ठगों ने अपना-अपना दाँव चलाकर एक-दूसरे को वह वस्तुएँ बेच दीं, अपनी अक्लमंदी पर खुश होते घर आये, तब भेद खुले । समझदारों ने कहा-"मुफ्त की बटोरने के लिए जो फिरते हैं, उनके साथ ऐसा ही होता है ।"

अंधी दौलत

कहते हैं कि तैमूर दिल्ली के गली-कूचों में घूमता फिर रहा था, तो उसे एक अंधी बुढ़िया दिखाई दी । तैमूर ने नाम पूछा तो बोली-"मुझे दौलत कहते हैं ।" तैमूर ने हँसकर पूछा-"क्या दौलत भी अंधी होती है ?" बुढ़िया ने जबाव दिया-"हाँ हूजूर, दौलत अंधी होती है, तभी तो वह लूले-लँगड़ों के यहाँ लूट के माध्यम से चली जाती है ।" लँगड़ा तैमूर शर्म से पानी-पानी हो गया । कुछ बोल न पाया ।

दो मुँह वाला जुलाहा

एक जुलाहे का कर्घा टूट गया और उसके लिए लकड़ी काटने वह पास के जंगल में गया । सूखा पेड़ एक ही दीखा और वह उसे काटने लगा ।

उस पेड़ पर एक यक्ष रहता था । उसने कहा-"इस पर मेरा निवास है, इसे मत काटो । अपना काम चलाने के लिए कोई वरदान माँग लो ।"

जुलाहा कोई लाभदायक वरदान माँगने की बात सोचने लगा । सोचते-सोचते एक बात समझ में आयी, कि दो हाथों की जगह चार हाथ और एक सिर की जगह दो सिर माँग लिए जाँय । चार हाथों से दुगुना कपड़ा बुना जा सकेगा । दो सिरों पर लाद कर हाट तक दूने बजन की पोटली ले जाई जा सकेगी ।

यक्ष ने मनोरथ पूरा कर दिया । इस विचित्र आकृति को लेकर वह घर लौटा, तो कौतूहल देखने सारा गाँव इकट्ठा हो गया । पत्नी भयभीत होकर छिप गई । मुहल्ले वालों ने उसे भूत-प्रेत समझा और ईंट-पत्थरों से मार डाला ।

साधारण स्तर बनाये रहने में ही भलाई है ।

सोने का अंडा

एक आदमी के पास रोज एक सोने का अंडा देने वाली मुर्गी थी । अंडे को बेचकर वह मजे में गुजारा चलाता । एक दिन लालच उसके सिर सवार हुआ और उसने सोचा क्यों न मुर्गी का पेट चीर कर एक ही दिन में सारे अंडे निकाल कर तुर्त-फुर्त मालदार बना जाय । उसने ऐसा ही किया । उतावली में एक अंडा मिलने का लाभ भी हाथ से चला गया और पछताने के अतिरिक्त और कुछ हाथ न लगा ।

जल्दबाजी का दुष्परिणाम

एक राजा था । संसार का सबसे अधिक धनवान बनने की लालसा रखता था । एक सिद्ध पुरुष उसके यहाँ पहुँच गए । स्वागत से प्रसन्न होकर वर माँगने को कहा । राजा ने जल्दबाजी में माँग लिया-"जो हाथ से छू लूँ, वह सोना हो जाय ।"

वरदान मिल गया । राजा प्रसन्न था कि जिस वस्तु को चाहूँ सोना बना लूँगा । पर उसके भोजन के पदार्थ, पानी आदि सभी हाथ में आते ही सोना बनने लगे । भूख से व्याकुल राजा सोचने लगा, धनवान बनने की जल्दबाजी में मैंने स्वयं अनर्थ मोल ले लिया ।

दुर्योधन का दर्प

दुर्योधन को अहंकार दिखाये बिना चैन नहीं पड़ता था । पांडव वनवास में थे । दुर्योधन को महलों में संतोष न हुआ, अपने वैभव का प्रदर्शन करने जंगल के उसी क्षेत्र में गया, जहाँ पांडव रह रहे थे । वहाँ अपने को सर्व समर्थ सिद्ध करने के लिए मनमाने ढंग से जश्न मनाने लगा । अहंकारी में शालीनता-सौजन्य नहीं रह जाता । अपने आगे किसी को कुछ समझता भी नहीं । उसी क्रम में कौरव गंधर्वों के सरोवर को गंदा करने लगे, रोकने पर भी न माने । क्रुद्ध होकर गंधर्वराज ने उन्हें बंदी बना लिया । पता पड़ने पर युधिष्ठिर ने अर्जुन को भेज कर अपने मित्र गंधर्वराज से उन्हें मुक्त कराया । दुर्योधन को शर्म से सिर झुकाना पड़ा ।

अहंकार का प्रदर्शन

राबिया बसरी कई संतों के संग बैठी बातें कर रही थी । तभी हसन बसरी वहाँ आ पहुँचे और बोले–"चलिए, झील के पानी पर बैठकर हम दोनों अध्यात्म चर्चा करें ।" हसन के बारे में प्रसिद्ध था कि उन्हें पानी पर चलने की सिद्धि प्राप्त है ।

राबिया ताड़ गई कि हसन उसी का प्रदर्शन करना चाहते हैं । बोली–"भैया, यदि दोनों आसमान में उड़ते-उड़ते बातें करें तो कैसा रहे ?" (राबिया के बारे में भी प्रसिद्ध था कि वे हवा में उड़ सकती हैं ।) फिर गंभीर होकर बोलीं–"भैया, जो तुम कर सकते हो, वह हर एक मछली करती है; और जो मैं कर सकती हूँ वह हर मक्खी करती है । सत्य करिश्मेबाजी से बहुत ऊपर है । उसे विनम्र होकर खोजना पड़ता है । अध्यात्मवादी को दर्प करके अपनी गुणवत्ता गँवानी नहीं चाहिए ।" हसन ने अध्यात्म का मर्म समझा और राबिया को अपना गुरु मानकर आत्म-परिशोधन में जुट गए ।

विदुर का भोजन और श्रीकृष्ण

विदुर जी ने जब देखा कि धृतराष्ट्र और दुर्योधन अनीति करना नहीं छोड़ते, तो सोचा कि इनका सान्निध्य और इनका अन्न मेरी वृत्तियों को भी प्रभावित करेगा । इसलिए वे नगर के बाहर वन में कुटी बनाकर पत्नी सुलभा सहित रहने लगे । जंगल से भाजी तोड़ लेते, उबालकर खा लेते तथा सत्कार्यों में, प्रभु स्मरण में समय लगाते ।

श्रीकृष्ण जब संधि दूत बनकर गए और वार्ता असफल हो गयी तो वे धृतराष्ट्र, द्रोणाचार्य आदि सबका आमंत्रण अस्वीकार करके विदुर जी के यहाँ जा पहुँचे । वहाँ भोजन करने की इच्छा प्रकट की ।

विदुर जी को यह संकोच हुआ कि शाक प्रभु को परोसने पड़ेंगे ? पूछा–"आप भूखे भी थे, भोजन का समय भी था और उनका आग्रह भी, फिर आपने वहाँ भोजन क्यों नहीं किया ?"

भगवान बोले–"चाचाजी ! जिस भोजन को करना आपने उचित नहीं समझा, जो आपके गले न उतरा, वह मुझे भी कैसे रुचता ? जिसमें आपने स्वाद पाया, उसमें मुझे स्वाद न मिलेगा, ऐसा आप कैसे सोचते हैं ?"

विदुर जी भाव विह्वल हो गए, प्रभु के स्मरण मात्र से ही हमें जब पदार्थ नहीं संस्कारप्रिय लगने लगते हैं, तो स्वयं प्रभु की भूख पदार्थों से कैसे बुझ सकती है । उन्हें तो भावना चाहिए । उसकी विदुर दम्पत्ति के पास कहाँ कमी थी । भाजी के माध्यम से वही दिव्य आदान-प्रदान चला । दोनों धन्य हो गए ।

स्वार्थी व्यक्ति उदारता पूर्वक सुविधाएँ देने का प्रयास करते हैं, कर्तव्य भाव से नहीं, इसलिए कि उसका अहसान जताकर अपनी मनमानी करवा सकें । ऐसी सुविधाएँ न भगवान ही स्वीकार करते हैं, न उनके भक्त । दोनों उनसे परहेज करते हैं ।

अहंकारिता और जल्दबाजी का दुष्परिणाम

दिल्ली का बादशाह मुहम्मद तुगलक विद्वान भी था और उदार भी । प्रजा के लिए कई उपयोगी काम भी उसने किए; किन्तु दो दुर्गुण उसमें ऐसे थे, जिनके कारण वह बदनाम भी हुआ और दुर्गति का शिकार भी । एक तो वह अहंकारी था; किसी की उपयोगी सलाह भी अपनी बात के आगे स्वीकार न करता था । दूसरा जल्दबाज इतना कि जो मन में आए उसे तुरंत कर गुजरने के लिए आतुर हो उठता था ।

उसी सनक में उसने नयी राजधानी दौलताबाद बनायी और बन चुकने पर कठिनाइयों को देखते हुए रद्द कर दिया । एक बार बिना चिह्न के तांबे के सिक्के चलाए । लोगों ने नकली बना लिए और अर्थ व्यवस्था बिगड़ गयी । फिर निर्णय किया कि तांबे के सिक्के खजाने में जमा करके चाँदी के सिक्कों में बदल लें । लोग इस कारण सारा सरकारी कोष खाली कर गए । एक बार चौगुना टैक्स बढ़ा दिया । लोग उसका राज्य छोड़कर अन्यत्र भाग गए ।

विद्वत्ता और उदारता जितनी सराहनीय है, उतनी ही अहंकारिता और जल्दबाजी हानिकर भी–यह लोगों ने तुगलक के क्रिया-कलापों से प्रत्यक्ष देखा । उसका शासन सर्वथा असफल रहा ।

विलासी हारते हैं

देवताओं और दनुजों में घमासान युद्ध हुआ । विलासी देवताओं को हारकर भागना पड़ा । पराक्रम में निरत दनुज जीत गए । देवता प्रजापति के पास पहुँचे । उनने संयम के अभाव को पराजय का कारण बताया और कहा–"मनुष्यों में एक तप, तेज का धनी मुचकुंद है । अपना सेनापति उसे बनाओ और विजय पाओ ।" ऐसा ही किया गया । देवताओं की सेना जीत गयी और विजयी मुचकुंद को स्वर्ग ले गयी ।

देव समुदाय के बीच वह अपने पराक्रम की डींग हाँकने लगा और पग-पग पर अपने अहंकार का परिचय देने लगा ।

दनुजों का दूसरा आक्रमण हुआ । मुचकुंद दर्प और अहंकार के वशीभूत होकर अपनी वरिष्ठता गँवा चुका था । अब उससे पहले जैसा पराक्रम नहीं बन पड़ा था, तब कार्तिकेय को बुलाया गया । उनने विजय पायी । इंद्र ने मुचकुंद को वापस धरती पर भेज दिया और कहा-"अहंकार दोष से मुक्ति पाने का तप करो । उसके बिना समस्त वैभव अधूरे हैं ।"

बहुमत-अल्पमत अहंकारी अपने सामने किसी की चलने नहीं देते ।

एक पेड़ पर उल्लुओं का झुंड रहता था । दिन निकलते ही उन्हें दीखना बंद हो जाता था । सो वे अपने अपने कोतरों में जा छिपते । एक दिन हंस उधर से आ निकला । उसने कहा-"सूर्य का प्रकाश कितना सुंदर फैल रहा है । तुम संसार का सौंदर्य क्यों नहीं देखते ।" उल्लू हँस पड़े और बोले-"सूर्य का अस्तित्व होता तो वह हमें क्यों नहीं दीखता ।" बहुमत के आगे अपनी ज्ञान-शिक्षा को सफल न होते देखकर अल्पमत वाला हंस हार मानकर अन्यत्र उड़ गया ।

आज बहुमत ऐसे ही संकीर्ण बुद्धि वाले नर-पामरों का है ।

अस्या उत्कटलिप्सायाः पूर्त्यै गृह्णन्ति ते ततः ।
कुकर्माचरणं तत्र प्रवृत्तीरासुरीः सदा ।। ३२।।
मार्गमेतंद् बिना ते च नरा नानुभवन्ति तु ।
वृत्त्या सरलतया स्यातां सात्विकत्वं च सौम्यता ।। ३३।।
श्रमस्तत्र विशेषः स धैर्यवत्ता तथैव च ।
अल्पलाभसुसन्तोषवृत्तिमत्ताऽप्यपेक्षिता ।। ३४।।
स्वीकुर्वन्ति नचेदं ते पुरुषा उद्धता इह ।
अन्यान् वञ्चयितुं लोकांस्तथा पातयितुं पुनः ।। ३५।।
शोषणं पीडनं नृणां कर्तुं नैव कदाचन ।
संकोचं तेऽधिगच्छन्ति राक्षसाः क्रूरतां गताः ।। ३६।।

टीका-इस उत्कट ललक-लिप्सा की पूर्ति के लिए उन्हें कुकर्म करने और अपराधी असुर प्रवृत्तियाँ अपनाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहता । सौम्यता, सात्विकता तो सादगी के साथ ही निभती है । उसमें अधिक परिश्रमी, धैर्यवान् और स्वल्प संतोषी रहना पड़ता है । यह उन उद्धतों को स्वीकार्य नहीं होता । ऐसी दशा में दूसरों को ठगने, चूसने, गिराने और सताने में क्रूरता के धनी को कोई संकोच नहीं होता ।। ३२-३६।।

अर्थ-उद्धत स्थिति में ऐसे लोग कुकर्म और अपराधी मार्ग ही अपनाते हैं । उचित ढंग अपनाने का धैर्य न होने से वे शोषण की अनीति अपनाते हैं । सौम्यता की संपदा एकत्र नहीं कर पाने से क्रूरता के धनी बन जाते हैं, उसी का उपयोग करते हैं ।

पुलस्त्य का नाती राक्षस ऋषि पुलस्त्य से उनके आश्रमवासियों ने पूछा-"रावण आपका नाती है, स्वयं भी शिव भक्त तथा विद्वान है, फिर भी दुष्टता क्यों बरतता है ।"

ऋषि बोले-"उसे सोने की लंका बनाने का शौक जो लगा है । बिना शोषण के इतना धन जुटाता कैसे ? भक्त की सद्भावना तो दूसरों को बाँटती है, उस हालत में उसे सादगी निभानी पड़ती है । यह लिप्सा ही दुष्टता की जननी है ।"

हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यप हिरण्याक्ष को अपने प्रचुर वैभव से संतोष न हुआ । संसार की सारी सम्पत्ति अपने अधिकार में रखने के पागलपन ने उसे शोषण के लिए मजबूर किया और उसी कारण नष्ट हुआ ।

हिरण्यकश्यप को राज सम्मान प्राप्त था । परंतु सर्वशक्तिमान कहलाने के नशे में वह विवेक खो बैठा । अपने आपको परमात्मा कहने लगा । जिसने न कहा, उसे सताया । अपने पुत्र तक को अपनी यश लिप्सा के

लिए नृशंस बनकर पीड़ित किया । लिप्सा जो न कराये, सो वही कम है ।

दान बना अभिशाप

शिवजी ने संस्कारित व्यक्तियों की ही भस्म खोजकर लाने के लिए एक स्नेह पात्र गण को नियुक्त किया । वह निष्ठापूर्वक अपना कार्य समय पर पूरा करने लगा ।

एक बार उसने कहा–"प्रभु ! आपके भक्त अधिकांश आप जैसे अलमस्त फक्कड़ होते हैं । कई बार उनके दाह की भी व्यवस्था नहीं जुट पाती । उनका दाह करने के लिए ईंधन जुटाने, भस्म प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है । शिवजी ने उसकी निष्ठा से प्रसन्न होकर वरदान दिया, कहा–"परेशान मत हुआ करो । अब से उसके ऊपर अपना दाहिना हाथ कर दिया करो, वह भस्म हो जाया करेगा ।"

वरदान ने काम को सुगम बना दिया । एक बार आत्म रक्षार्थ उस शक्ति का प्रयोग किया तो वह क्रम चल पड़ा । शक्ति का घमंड उभरा और वासनापूर्ति के लिए भी उसका प्रयोग होने लगा । निर्धारित कर्तव्य के लिए दी गयी शक्ति अकर्तव्य में लगाने से वह असुर कहलाया और स्वयं अपने सिर पर हाथ रखने के कारण भस्मीभूत हो गया । यदि कर्तव्य की मर्यादा में ही वह वरदान का उपयोग करता, तो शिव के स्नेह और संस्कार के यश का भागीदार बनता ।

संसार से निकलें तो भगवान में मन लगे

गुरु ने शिष्य को एक साथ दो ध्यान साथ-साथ करने का निर्देश दिया–एक गणेश का, दूसरा कुबेर का ।

शिष्य ने बहुत प्रयत्न किया; पर दोनों एक साथ न बन पड़ते । जब एक की छबि में तन्मयता आती, तो दूसरा विस्मृत हो जाता । असफलता की स्थिति उसने गुरु को कह सुनाई ।

गुरु मुस्कराये और बोले–"स्वार्थ और परमार्थ दोनों एक साथ सधते नहीं हैं । संसार और भगवान में से एक ही हाथ लगता है ।"

किसान का राजमहल

सौम्यता का निर्वाह तो हमेशा सादगी के साथ ही होता है । किसान और उसकी पत्नी साथ-साथ खेत पर जा रहे थे । पत्नी राजमहल की शोभा देखती पीछे रह गई ।

किसान ने पुकारा–"व्यर्थ क्यों समय खराब करती है ? इस महल से तो हमारा महल सौ गुना अच्छा है ।"

राजा ऊपर बैठा यह वार्तालाप सुन रहा था । उसने दोनों को बुलाकर पूछा–"भला तुम्हारा महल कहाँ है ?"

किसान ने कहा–"हरे-भरे खेतों का फला-फूला क्षेत्र ही हमारा महल है, जिससे असंख्यों का पेट भरता है । आपके महल में वह विशेषता कहाँ है ?"

राजा का मस्तक नीचा हो गया ।

असुरा दानवा ह्येते दैत्या नूनं नराः समे ।
पिशाचानां च वर्गेऽपि गण्यन्ते स्वार्थसौहृदाः ।। ३७।।
जुगुप्स्यास्ते भयाल्लोभाद्देवमर्त्यैः कदाचन ।
अनुनेयाः परं रोषः सर्वेषां हृदि तान् प्रति ।। ३८।।
प्राप्यैवावसरं लोकाः प्रतिशोधं भजन्ति च ।
मित्राण्यपि च शत्रुत्वं भजन्ते समये सति ।। ३९।।
धिक्तैवैतेषु सर्वत्र वर्षतीह प्रताड़नाम् ।
सहन्ते ते लभन्ते च दण्डं राजसमाजयोः ।। ४०।।
नारक्यस्ताड़नास्तेभ्यः परलोके सुनिश्चिताः ।
अशान्तास्ते परान् सर्वानशान्तानेव कुर्वते ।। ४१।।

टीका–यह नर पिशाच वर्ग है । इन्हें असुर या दैत्य-दानव भी कहते हैं । उन पर घृणा बरसती है । भय या लोभ से ही कोई उनकी चापलूसी भले करे । भीतर ही भीतर सभी को रोष रहता है । दाँव लगते ही लोग प्रतिशोध लेते हैं । मित्र भी अवसर मिलने पर शत्रु जैसा आचरण करते हैं । सर्वत्र उन पर धिक्कार बरसती है । वे आत्म-प्रताड़ना सहते हैं । समाज दंड भी भुगतने पड़ते हैं । परलोक में उनके लिए नारकीय प्रताड़नाएँ

सुनिश्चित ही हैं । वे सदा अशांत रहते हैं तथा औरों को भी अशांत बनाते हैं ।। ३७-४१ ।।

अर्थ–दुष्टों को सहयोग, समर्थन भयवश मिलते हैं, भावनावश नहीं । इसीलिए मौका मिलते ही किसी अन्य भय या लोभ के कारण लोग उन्हें हानि पहुँचा देते हैं । उन्हें ऊपर दर्शाये कई रूपों में अपनी दुष्टता का दंड मिलता रहता है ।

नादिरशाह की क्रूरता ईरान का बादशाह नादिरशाह अत्यंत ही क्रूर एवं बर्बर शासक था । सन् १७३९ में उसने दिल्ली पर आक्रमण किया और बहुत मार-काट व लूट मचाई । लौटते वक्त वह बेशुमार वैभव व कीमती रत्न मंडित मयूर सिंहासन (तख्ते ताऊस) भी साथ लेता गया ।

पश्चिमोत्तर के इस नृशंस शासक का पराभव भी अत्यंत दु:खांत है । अपने तथाकथित 'नमक हलाल' अफसरों द्वारा ही उसका कत्ल हुआ ।

कंस का अंत द्वापर में, मथुरा में कंस का प्रभाव इतना अधिक था कि लगता था उसकी इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं खड़क सकता; कहीं थोड़ी भी हल-चल होने पर उसे उसके वफादार उसकी सूचना दे देते थे । परंतु दुष्ट की दुष्टता से अंदर-अंदर सभी दु:खी थे । इसका प्रमाण तब मिला जब श्रीकृष्ण ने कंस का वध करके सज्जन राजा उग्रसेन को पुन: सिंहासन पर बिठाया । कंस के मारे जाने का दु:ख किसी ने भी नहीं मनाया ।

चक्रवर्ती जरासंध जरासंध अपने पौरुष के बल पर सम्राट की पदवी ले चुका था; परंतु उसके अपने निकट के साथी भी भीतर-भीतर उसकी क्रूरता के कारण ऊब चुके थे, उससे मुक्ति पाने की प्रतीक्षा में थे । इसीलिए श्रीकृष्ण ने उससे सैन्य युद्ध टाला और एकाकी द्वंद्व से फैसला करने की राह चली । उसका भय हटते ही सभी सामंतों ने सुख की साँस ली ।

दुर्योधन की न चली दुर्योधन ने राज्य अपने अधिकार में कर लिया था; परंतु जनता की आंतरिक सहानुभूति पांडवों के साथ थी । भयवश वे खुलकर तो सामने न आ सके; पर पांडवों की हर संभव सहायता होती रही । लाक्षागृह की योजना बड़ी गोपनीय थी; पर पांडवों को उसका भेद भी मिला था तथा निकलने की व्यवस्था भी बनी बनायी मिली । स्पष्ट था, दुर्योधन का समर्थन भीतर से कोई नहीं करता था ।

सिकंदर का पश्चात्ताप सिकंदर अपनी लिप्सा शांत करने के प्रयास में जीवन भर मार-काट करता रहा । विश्व विजेता भी कहलाया; परंतु मरते समय जब उसने यह देखा कि जिसके लिए इतना अनाचार किया, वह सब एकाएक यूँ ही छूटा जा रहा है, तो उसे अत्यंत पश्चाताप हुआ; साथ जाने लायक संतोष कमाया नहीं था । सिकंदर फूट-फूट कर रोया और कहा-"मेरे खुले हाथ शव-यात्रा में बाहर निकाल देना, ताकि लोग यह देख लें कि सिकंदर खाली हाथ गया ।"

ऐसा ही पश्चाताप दुर्योधन को करना पड़ा था, जब उसकी जाँघ टूट चुकी थी, भगवान कृष्ण उसके पास पहुँचे, जब उसने स्वीकार किया था कि धर्म-अधर्म मैं पहचानता था; परंतु अपनी लिप्सा के कारण अधर्म से बच न सका, धर्म में प्रवृत्त न हो सका । अब पछताने से होता भी क्या ।

नरक दर्शन युधिष्ठिर को स्वर्ग ले जाते समय नर्क दिखाया गया था । उसमें सबसे भीषण पीड़ा के स्थल को देख कर वे सिहर उठे । पूछने पर पता लगा कि यहाँ वे जीव भेजे जाते हैं, जिन्होंने स्वार्थवश स्वयं पतन का रास्ता पकड़ा तथा अहंकारवश अपने प्रभाव से अनेक को पतन के लिए प्रेरित किया । दूतों ने बतलाया कि यातना के बाद उन्हें नया जन्म जब मिलता है, तो पीड़ित बनाकर भेजा जाता है, ताकि वे समझ सकें कि पीड़ा किसे कहते हैं ।

मिलावट की क्रूरता खाद्य पदार्थों में मिलावट के कुछ ऐसे प्रकरण प्रकट हुए हैं, जिन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि मनुष्य पिशाच कैसे बन गया ?

एक संपन्न परिवार का इकलौता बच्चा सामान्य रोग से, सारे उपचारों के बावजूद मर गया । जाँच से पता चला कि जो दवाइयाँ और इंजैक्शन दिए गए, वे असली लेबिल में नकली थे ।

मसालों में धनिया के साथ पत्तियाँ ही नहीं, घोड़े की लीद भी मिली पाई गई । हल्दी में लैड क्रोमेट जैसे गंभीर विष की मिलावट पाई गई । मनुष्य की यह पैशाचिकता लिप्सा जन्य ही है ।

ब्रह्म राक्षस का उद्धार

ब्रह्म ज्ञानी रामानुज उन दिनों धर्म प्रचार की पदयात्रा पर थे । रात्रि में जहाँ रुके वहाँ एक व्यक्ति प्रेत बाधा से पीड़ित मिला । वह स्वयं आवेशग्रस्त रहता और उन्माद कृत्य से सभी व्यक्तियों को भी दुःख देता ।

लोग उसे रामानुज के पास लाये । उन्होंने प्रेत से पूछा–"वह पूर्व जन्म में कौन था और क्यों इन दिनों कष्ट सहता और कष्ट देता है ।

प्रेत ने कहा–"वह विद्वान था; पर विद्या का लाभ केवल स्वार्थ पूर्ति में ही करता रहा । इस कारण ब्रह्म राक्षस बना और इस उद्विग्नता में जलने लगा ।"

रामानुज ने प्रेत का मार्गदर्शन किया, समाधान कराया और विद्यादान का एक केन्द्र स्थापित कराने के उपचार से सभी को उस विपत्ति से छुड़ाया ।

बिच्छू और केकड़ा

एक नदी तट पर बिच्छू और केकड़ा पास-पास रहते थे । जान-पहचान मित्रता के रूप में बढ़ने लगी, मिल जाते तो घुल-घुल कर बातें करते ।

एक दिन बिच्छू बोला--"मित्र ! तुम्हें पानी में तैरते देखता हूँ तो आनंद भी आता है और ईर्ष्या भी । आनंद इस बात का कि तैरते समय तुम्हें कितनी प्रसन्नता होती होगी । ईर्ष्या इस बात से कि मैं वैसा भाग्यशाली न बन पाया, जिससे कि तुम्हारी तरह तैरता और आनंद लेता ।"

केकड़ा उसका प्रयोजन समझ गया, बोला–"पीठ पर बैठ कर सैर करा देने में तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है; किन्तु दोस्त तुम स्वभाव न छोड़ोगे और डंक मार कर मेरे लिए प्राण-संकट खड़ा करोगे ।"

बिच्छू ने कहा–"मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ, जो उपकारकर्त्ता को डंक मारूँ । आपके मरने पर मैं भी तो डूबूँगा ।"

केकड़े को विश्वास हो गया । उसने बिच्छू को पीठ पर बिठा कर तैरना आरंभ किया । बिच्छू को मस्ती आई तो शपथ की याद ही नहीं रही और डंक उसकी पीठ में चुभो दिया ।

केकड़ा तिलमिलाया । बेचैनी में पानी में डूबा और बिच्छू भी जल में डुबकी लेने लगा । मरते समय केकड़े को यह समझ आई कि दुष्ट को सज्जन बनाने का काम संतों पर छोड़कर साधारण लोगों को तो उनसे बचे रहने में ही खैर है ।

वर्गस्तृतीयोऽप्यत्रास्ति देवमानवरूपिणाम् ।
आकांक्षा लौकिकीस्त्यक्त्वा सामान्यैर्नागरैरिव ।। ४२।।
जीवनं निर्वहन्त्यत्र परिवारं लघुं निजम् ।
स्वावलम्बिनमत्यर्थं कुर्वतेऽपि च संस्कृतम् ।। ४३।।
संग्रहेच्छां न गृह्णन्ति दर्पं नैव महत्वगम् ।
वाञ्छन्त्येवं प्रियां विप्रवृत्तिं स्वीकुर्वतामिह ।। ४४।।

टीका–तीसरा वर्ग देवमानवों का है । वे लौकिक महत्वाकांक्षाओं को विसर्जित करके औसत नागरिक स्तर का निर्वाह स्वीकार करते हैं । परिवार छोटा रखते और उसे स्वावलंबी–सुसंस्कारी बनाते हैं । संग्रह की लालसा नहीं रखते । बड़प्पन का दर्प दिखाने की भी इच्छा नहीं रखते और स्वेच्छा से ब्राह्मण वृत्ति अपना लेते हैं ।। ४२–४४।।

अर्थ–देव मानव साधारण मनुष्यों में से ही उठकर आते हैं । हर व्यक्ति भगवान की, सृष्टा की साकार प्रतिमा है । जब उसे यह बोध नहीं रहता कि वह क्या है व यहाँ क्यों आया है तो प्रभु उसे बोध भी करा देते हैं । मनोकामनाओं के बंधन से छुड़ाकर उसे नर-नारायण बना देते हैं ।

नर–नारायण का अवतार

नर ने कठोर तप किया और वह अपने कषाय-कल्मषों से मुक्त होने पर नर-नारायण बना । यह भगवान का एक अवतार है । कहते हैं कि नर-नारायण का नर पक्ष ही सर्वसाधारण को दीखता है । उसके अंतराल में विराजमान भगवान को ज्ञान चक्षुओं से ही देखा जा सकता है ।

महामानवों की ब्राह्मणवृत्ति

जीवन के ऊँचे मूल्यों पर जिनकी आस्था आ जाती है, उन्हें लौकिक महत्वाकांक्षायें अपने स्तर से छोटी लगती हैं । इसलिए वे उनके बारे में सोचते तक नहीं । सादगी अपनाने तथा परिवार की संख्या तथा आवश्यकता न बढ़ने देने से व्यक्तिगत आवश्यकतायें घट जाती हैं । यही ब्राह्मण वृत्ति है कि आवश्यकतायें न्यूनतम रखकर अपनी क्षमताओं को जनहित के लिए बचा लें और लगा दें ।

नमन से अहं गले

तथागत बोधि वृक्ष को साष्टांग दंडवत् कर रहे थे । शिष्य ने साश्चर्य हो पूछा–"आप तो पूर्ण हैं, फिर इस तुच्छ वृक्ष को इतना सम्मान क्यों दे रहे हैं ।" बुद्ध ने कहा–"आप सब को यह बोध कराने के लिए कि जो नमता है, सो बड़ा होता है । ऐसा न हो कि आप लोग अहंकारी बनकर नमन की परंपरा को भुला दें । ईश्वरीय मार्ग में इस प्रकार की बड़प्पन की महत्वाकांक्षायें पहले छोड़नी पड़ती हैं । यह संस्कार बराबर जागृत रखना चाहिए ।"

सादगी का सुख

बीसवीं सदी के महान वैज्ञानिक आइन्स्टीन बेल्जियम की महारानी के निमंत्रण पर ब्रूसेल्स पहुँचे । महारानी ने अनेक उच्चाधिकारियों को उन्हें लेने के लिए स्टेशन भेजा; किन्तु सामान्य वेश-भूषा और सीधे से आइन्स्टीन को वे पहचान ही नहीं पाए और निराश हो लौट आए ।

आइन्स्टीन अपना बैग उठाये राजमहल पहुँचे और महारानी को अपने आने की सूचना भिजवायी । जब रानी ने अपने अधिकारियों की, अज्ञता के कारण हुई असुविधा के लिए खेद प्रगट किया, तो वे हँसते हुए बोले–"आप जरा सी बात के लिए दुःख न करें, मुझे पैदल चलना बहुत अच्छा लगता है ।"

जिस राजसी सम्मान को पाने के लिए लोग जीवन भर एड़ी-चोटी का पसीना एक करते रहते हैं, वह सम्मान महामानवों को सादगी की तुलना में इतना छोटा लगता है कि उसकी चर्चा भी चलना निरर्थक समझते हैं ।

चरवाहे की सम्पत्ति

ईरानी शाहंशाह अब्बास शिकार के लिए जंगल में भटक रहे थे । वहाँ उनकी भेंट एक चरवाहे बालक से हो गई । नाम था–मुहम्मद अलीवेग । चरवाहा होते हुए भी उसकी हाजिर जबावी तथा व्यक्तित्व से शाह बड़े प्रभावित हुए और लौटते समय उसे भी अपने साथ ले आए ।

मुहम्मद अलीवेग को राज्य का कोषाध्यक्ष बना दिया गया । यद्यपि वह एक निर्धन परिवार का था, फिर भी इतनी धन-दौलत को देखकर उसका मन तनिक भी विचलित न हुआ । वह अपने को कोषालय के समस्त धन का रक्षक मानता था । इतने बड़े पद पर रहते हुए भी उसके जीवन में सादगी थी । शाह अब्बास के बाद उनका अल्प वयस्क पौत्र शाह सफी राज सिंहासन पर आसीन हुआ । किसी ने शाह के कान भर दिए कि मुहम्मद अली राज्य के धन का दुरुपयोग करता है । शाह ने उस प्रकरण को जाँच के लिए अपने पास रखा और एक दिन बिना सूचना के उसकी हवेली का निरीक्षण करने जा पहुँचे ।

शाह ने हवेली के सब कमरों का निरीक्षण किया । थोड़ी-सी वस्तुओं के अतिरिक्त वहाँ कुछ दिखाई ही न दे रहा था । शाह निराश होकर लौटने लगा, तो खोजियों के संकेत पर शाह की दृष्टि एक बंद कमरे की ओर गयी । उसमें तीन मजबूत ताले लटक रहे थे । अब शाह की शंका को कुछ आधार मिला था । उन्होंने पूछा–"इसमें क्या चीज है, जिसके लिए इतने मजबूत ताले लगाये हैं ।"

तुरंत ताले खोल दिए गए । शाह ने कक्ष के मध्य मेज पर एक लाठी, शीशे की सुराही आदि बर्तन तथा पोशाक और दो मोटे कंबल देखे । मुहम्मद ने कहा–"जब स्वर्गीय शाह मुझे यहाँ लाए थे, उस समय मेरे पास यही वस्तुएँ थीं और आज भी मेरे पास अपनी कहने को यही हैं । मैं इससे प्रेरणा ग्रहण करता और उसी स्तर के जीवन का अभ्यास बनाए रखता हूँ ।" युवा बादशाह इस आदर्शनिष्ठा को देखकर नत-मस्तक हो गया ।

सच्चा जन नेता

रूस के जन नेता लेनिन पर एक बार उनके शत्रुओं ने घातक आक्रमण किया और वे घायल रोग शय्या पर गिर पड़े । अभी ठीक तरह अच्छे भी नहीं हो पाये थे कि एक महत्वपूर्ण रेलवे लाइन टूट गई । उसकी तुरंत मरम्मत किया जाना आवश्यक था । काम बड़ा था फिर भी जल्दी पूरा हो गया ।

काम पूरा होने पर जब हर्षोत्सव हुआ तो देखा कि लेनिन मामूली कुली-मजदूरों की पंक्ति में बैठे हैं । रुग्णता के कारण दुर्बल रहते हुए भी लट्ठे ढोने का काम बराबर करते रहे और अपने साथियों में उत्साह की भावना पैदा करते रहे ।

आश्चर्यचकित लोगों ने पूछा–"आप जैसे जन-नेता को अपने स्वास्थ्य की चिंता करते हुए इतना कठिन काम नहीं करना चाहिए था ।" लेनिन ने हँसते हुए कहा–"जो इतना भी नहीं कर सके उसे जन-नेता कौन कहेगा ?"

गांधी जी और उनकी सादगी

गांधी जी उन दिनों उरुली कांचन में थे । । साइमन कमीशन भारत आया तो उसने सर्वप्रथम गांधी जी से मिलना उचित समझा । गांधी जी ने वायुयान से न जाकर थर्ड क्लास में रेल से ही सफर किया और साथ में गए अन्य साथियों का किराया भी स्वयं ही दिया । गांधी जी ने ऊँचे क्लास में कभी सफर नहीं किया । भारत की गरीबी को देखते हुए यह उनका उचित निर्णय ही था ।

संत का गौरव

कुछ दिनों विनोबा भावे प्रतिदिन अपने पवनार आश्रम से लगभग तीन मील दूर स्थित सुरगाँव जाते थे, एक फावड़ा कंधे पर रखकर ।

एक बार कमलनयन बजाज ने उनसे पूछा कि आप फावड़ा रोज इतनी दूर अपने साथ क्यों ले जाते हैं । उस गाँव में ही किसी के यहाँ आप फावड़ा क्यों नहीं छोड़ आते ?

विनोबा जी बोले–"जिस काम के लिए मैं जाता हूँ, उसका औजार भी मेरे साथ ही होना चाहिए । फौज का सिपाही अपनी बंदूक या अन्य हथियार लेकर चलता है, उसी प्रकार एक 'सफैया' को भी अपने औजार सदा अपने साथ लेकर ही चलना चाहिए । सिपाही को अपने हथियार से मोह हो जाता है उसी तरह हमें भी अपने औजारों को अपने साथ ले जाने में आनंद और गौरव अनुभव होना चाहिए ।

लोकसेवा का आदर्श

कुछ पत्रकारों को डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी से भेंट करनी थी । स्टेशन पर पहुँचे । जब उन्होंने डाक्टर साहब को तीसरी श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करते देखा, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ । एक पत्रकार तो उस विस्मय को छिपा नहीं सका और डा० मुखर्जी से पूछ ही बैठा–"आप संभवत: जीवन में पहली बार तीसरी श्रेणी में यात्रा कर रहे हैं ?"

"नहीं, मैं अक्सर इसी में यात्रा करता हूँ"–डा० मुखर्जी ने उत्तर दिया–"आप जानते हैं कि हमारी संस्था निर्धन है । इस बचत से संस्था को अन्य आवश्यक काम चलाने में सहायता मिलती है ।" पत्रकार मुखर्जी की इस सहज सादगी से बड़े प्रभावित हुए । इस घटना में ही लोक-सेवक का सच्चा आदर्श, सच्चा मर्म छुपा पड़ा है । भक्त आराध्य भगवान से कभी ऊपर नहीं बैठता । तो फिर जनता को जनार्दन मानकर उसकी सेवा-साधना में निरत साधक को ही क्यों स्वयं को जनता से अलग और पृथक वर्ग मानना चाहिए ।

कृष्ण की विनम्रता

पांडवों ने राजसूय यज्ञ किया । उसमें सर्वोत्तम पद चुन लेने के लिए कृष्ण को कहा गया । उनने आगंतुकों के पैर धोकर सत्कार करने का काम अपने जिम्मे लिया । यह उनकी निरहंकारिता और विनम्रता थी ।

आदर्शनिष्ठ खलीफा

बगदाद के खलीफा उन दिनों दैनिक तीन दिरम वेतन लेते थे और प्रजा का धन प्रजाहित में ही खर्च कर देते थे ।

एक दिन उनकी बेगम ने कहा–"तीन दिन का वेतन पेशगी मिल जाय, तो वे बच्चों के कपड़े बनवा लें ।"

खलीफा ने कहा–"क्या पता, तीन दिन जिए न जिए । मैं कर्जदार बनकर नहीं मरना चाहता । उनने उधार पैसा लिया ही नहीं । आवश्यकतायें सीमित रखने और परिवार की सुविधा से, सुसंस्कारों को अधिक महत्व देने की इस प्रवृत्ति से ही वे आदर्श लोकसेवी के रूप में उभरे और पूजे गए ।

दास चीरित्र एवं बुद्ध

तथागत उन दिनों श्रावस्ती बिहार में थे । जैतवन की व्यवस्था अनाथ पिंडक संभालते थे । दक्षिण क्षेत्र की प्रव्रज्या से दास चीरित्र वापस लौटे और बड़े बिहार जैतवन में जा पहुँचे ।

दास चीरित्र की भाव-भंगिमा और विधि-व्यवस्था वैसी नहीं रह गई थी, जैसी कि जाते समय उन्हें अभ्यास कराया गया था । वे जहाँ भी गए बुद्धि की गरिमा और उनकी प्रतिभा का सम्मिश्रण चमत्कार दिखाता रहा । सम्मान बरसा, धन बरसा, प्रशंसा हुई, आतिथ्य की कमी न रही ।

पा लेना सरल है, पचा लेना कठिन । प्रतिष्ठा सबसे अधिक दुष्पाच्य है । उसे गरिष्ठ भोजन और विपुल

वैभव की तुलना में पचा लेना और भी अधिक कठिन है । दास चीरित्र की भी स्थिति ऐसी ही हो रही । अपच उनकी मुखाकृति पर छाया हुआ था ।

अनाथ पिंडक ने पहले दिन तो आतिथ्य किया और दूसरे दिन हाथ में कुल्हाड़ी थमा दी, जंगल से ईंधन काट लाने के लिए । सभी आश्रमवासियों को दैनिक जीवन को कठोर श्रम से संजोना पड़ता था । अपवाद या छूट के पात्र रोगी या असमर्थ ही हो सकते थे ।

दास चीरित्र इतना सम्मान पाकर लौटे थे कि वे अपने को दूसरे अर्हंत के रूप में प्रसिद्ध करते थे । कुल्हाड़ी उन्होंने एक कोने में रख दी । मुँह लटकाकर बैठ गए । श्रमिकों जैसा काम करना अब उन्हें भारी पड़ रहा था । यों आरंभ के साधन काल में यह अनुशासन उन्हें कूट-कूट कर सिखाया गया था ।

अनाथ पिंडक उस दिन तो चुप रहे । दूसरे दिन कहा-"अर्हंत को तथागत के पास रहना चाहिए । यहाँ तो हम सभी श्रावक मात्र हैं ।"

दास चीरित्र चल पड़े और श्रावस्ती पहुँचे । बिहार में तथागत उपस्थित न थे । वे भिक्षाटन के लिए स्वयं गए हुए थे । तीसरे प्रहर लौटने की बात सुनकर उनको अधीरता भी हुई और आश्चर्य भी । इतने बड़े संघ के अधिपति द्वार-द्वार पर भटकें और भिक्षाटन से मान घटाएँ, यह उचित कैसे समझा जाय ?

बेचैनी ने उन्हें प्रतीक्षा न करने दी और वहाँ पहुँचे जहाँ तथागत भिक्षाटन कर रहे थे, साथ ही मार्ग में पड़े उपले भी दूसरी झोली में रख रहे थे, ताकि आश्रम के चूल्हे में उसका उपयोग हो सके ।

अभिवादन-उपचार पूरा भी न हो पाया था कि मन को जानने वाले बुद्ध ने दास चीरित्र से कहा-"अर्हंत ही बनना हो तो अहंता गलानी और छोटे श्रम को भी गरिमा प्रदान करनी चाहिए । इसके बिना पाखंड बढ़ेगा और सत्य पाने का मध्यांतर बढ़ेगा ।" समाधान हो गया । अहंता गली और श्रावक-व्रत फिर से निखर आया ।

न्यायाधीश की नीति-निष्ठा बंगाल के न्यायाधीश नीलम बंद्योपाध्याय ने एक बीमा एजेंट के फुसलाने पर पाँच हजार का बीमा करा लिया । मधुमेह की बीमारी होते हुए भी स्वास्थ्य विवरण में उस बात को छिपा दिया गया । लंबी बीमारी के बाद जब बंद्योपाध्याय महोदय का अंतकाल निकट आया तो उनने बीमा एजेंट को बुला कर उसे बेईमानी का इकरारनामा लिखा और बीमे को रद्द करा दिया । बोले-"जीवन भर बुराइयों से बचता रहा तो मरते समय यह पाप सिर पर लाद कर क्यों मरूँ ?"

बापू की वेदना बापू के पैरों में बिवाई फट गई थीं । 'बा' गरम पानी से उसको धो रही थीं । पानी बेकार न जाने पाये इसलिए बापू की हिदायत के अनुसार वे उसे इधर-उधर नहीं, पौधों में ही डालती थीं ।

उस दिन पानी 'बा' ने गुलाब के पौधों में डाला । बापू बहुत देर तक गुलाबों को नाराजी की दृष्टि से देखते रहे । 'बा' ने कारण पूछा, तो बापू ने कहा-"सुंदर होते हुए भी यह फूल मुझे काँटों जैसे बुरे लगते हैं । इनके स्थान पर यदि शाक उगाये होते, तो उनसे हममें से किसी का पेट तो पलता । श्रम का कुछ सार्थक परिणाम तो हाथ लगता ।

राजेन्द्र बाबू की सरलता बात सन् १९३५ की है । राजेन्द्र बाबू कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए थे । उन्हें किसी काम से प्रयाग से निकलने वाले अंग्रेजी लीडर के संपादक श्रीचिंतामणि से मिलना था ।

चपरासी को कार्ड दिया । वह संपादक की मेज पर रखकर लौट आया और प्रतीक्षा करने के लिए कहा ।

राजेन्द्र बाबू के कपड़े वर्षा से भीग गए थे । समय खाली देखकर वे उधर बैठे मजदूरों की अँगीठी के पास खिसक गए और हाथ सेंकने तथा कपड़े सुखाने लगे ।

थोड़ी देर में कार्ड पर नजर गई तो संपादक जी हड़बड़ा गए और उनके स्वागत के लिए स्वयं ही दौड़े । पर राजेन्द्र बाबू कहीं नजर न आए ।

ढूँढ़ खोज हुई तो वे अँगीठी पर तापते और कपड़े सुखाते पाये गए । चिंतामणि जी ने देरी होने और कार्ड पर ध्यान न जाने के लिए माँफी माँगी । हँसते हुए राजेन्द्र बाबू ने कहा-"इससे क्या हुआ । कपड़े सुखाना भी एक काम था । इस बीच निपट गया तो अच्छा ही हुआ ।

फोर्ड जिनने अपनी कमाई परमार्थ में लगाई

छोटे से घर में जन्म लेकर संपन्नता की पराकाष्ठा तक पहुँचने पर भी महापुरुष कभी बदलते नहीं । हेनरी फोर्ड अमेरिका के एक छोटे से ग्राम ग्रीन फील्ड में जन्मे । घर की आर्थिक स्थिति खराब होने से उन्हें बारह वर्ष की आयु से ही नौकरी, रात में पढ़ाई और मस्तिष्क में मशीनों का बनाना, सुधारना, इस प्रकार उनकी पूरी दिनचर्या उद्देश्यपूर्ण कार्यों में लग गई, जबकि दूसरे गरीब लड़के आवारागर्दी में लगे रहते ।

लगन की प्रचंड शक्ति ने हेनरी को स्वावलंबी, इंजीनियर एवं मैकेनिक बना दिया । उसने कई तरह की मशीनों को बनाया और सुधारा । लगन उसे इस दिशा में निष्णात बनाती रही । फोर्ड ने मोटर बनाने का नया कार्य हाथ में लिया और वह बिगड़ते-सुधरते सफलता के स्तर तक पहुँच गया । उसने जलयान भी बनाये ।

अमेरिका में हेनरी फोर्ड का कारखाना प्रथम श्रेणी का है । उसमें ५० हजार व्यक्ति काम करते हैं और हर मिनट में एक मोटर तैयार होती है । श्रमिकों की सुविधा का उसने पूरा ध्यान रखा है । साथ ही जो कमाया उसका अधिकांश भाग जन कल्याण के कार्यों के लिए दान किया । उसके दान में किसी देश-जाति का कोई भेदभाव नहीं रखा गया । अब तक वे अरबों-खरबों दान कर चुके हैं । फोर्ड फाउंडेशन द्वारा अनेक परमार्थ-कार्य चलते हैं ।

परमहंस की विनम्रता और सादगी

डा० महेन्द्रनाथ सरकार कलकत्ता के प्रख्यात और संपन्न चिकित्सक थे । वे रामकृष्ण परमहंस से मिलने गए । परमहंस जी बगीचे में टहल रहे थे । उन्हें माली समझा गया और कहा-"ऐ माली, थोड़े से फूल तो लाकर दे । परमहंस जी को भेंट करने हैं ।"

उनने अच्छे अच्छे फूल तोड़कर उन्हें दे दिए । थोड़ी देर में परमहंस जी सत्संग स्थान पर पहुँचे । डा० सरकार उनकी विनम्रता पर चकित रह गए । जिसको माली समझा गया था वे ही परमहंस जी निकले ।

यह एक सबसे बड़ी विशेषता देव मानवों की होती है कि वे स्वयं जिस परमार्थ कार्य को हाथ में लेते हैं, यह देख लेते हैं कि उसका सुनियोजन होगा अथवा नहीं । सत्परामर्श द्वारा अपनी ब्राह्मण वृत्ति की शिक्षा अन्यान्यों को भी देकर सन्मार्ग का पथ प्रशस्त करते हैं ।

ईश्वरचंद्र विद्यासागर से एक लड़के ने एक पैसा माँगा जिससे वह अपना पेट भर ले । पूछा-"दो पैसा दूँ तो ?" तब एक पैसे के चने अपनी बूढ़ी माता के लिए ले जाऊँगा ।" फिर पूछा गया कि एक रुपया दूँ तो ?" बच्चे ने कहा-"तब बाजार में घूम कर सामान बेचूँगा और स्वावलंबन पूर्वक आजीविका चलाऊँगा ।" विद्यासागर ने उसे एक रुपया दे दिया ।

बहुत दिनों बाद वे उधर से निकले तो देखा कि एक युवक छोटी दुकान चला रहा है । युवक ने उन्हें पहचान लिया और कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा-"यह आपके ही अनुदान का प्रभाव है कि भीख सदा के लिए छूट गई ।"

नृणां परार्थकार्येषु बाधा नैवोपजायते ।
निर्वाहः परमार्थश्च सिद्धयतः सार्धमेव तु ।। ४५ ।।
अनुभवन्ति च प्रत्यक्षमिदं ते देवमानवाः ।
गुणकर्मस्वभावानां स्तरं कुर्वन्ति प्रोन्नतम् ।। ४६ ।।
क्षणं नैव तु व्यर्थं ते हापयन्ति सदैव च ।
विवेकस्याथ शौर्यस्य दायित्वस्याऽपि मानवाः ।। ४७ ।।
विश्वासभावनायाश्च शुभादर्शैं स्वजीवनम् ।
ओतं प्रोतं प्रकुर्वन्ति दिव्यां दृष्टिं श्रयन्ति च ।। ४८ ।।

टीका-श्रेष्ठ वृत्तियाँ अपना लेने के उपरांत मनुष्य को परमार्थ प्रयोजनों में संलग्न होने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती । निर्वाह और परमार्थ भली प्रकार साथ-साथ निभता रह सकता है, इसे वे प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं । अपने गुण-कर्म-स्वभाव का स्तर उठाते हैं । एक क्षण भी निरर्थक नहीं गुजारते । समझदारी, ईमानदारी, जिम्मेदारी और बहादुरी के आदर्शों से जीवन को ओत-प्रोत करते हैं तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त करते हैं ।। ४५-४८ ।।

अर्थ-सामान्य व्यक्ति को यह लगता है कि परमार्थ करेंगे, तो निर्वाह में कमी पड़ जायेगी । यह

सामान्य वृत्ति वाले के लिए सही भी हो सकता है । श्रेष्ठ वृत्ति वालों का निर्वाह-व्यय बहुत सीमित रह जाता है तथा पुरुषार्थ बहुत बढ़ जाता है । उनका निर्वाह उनके पुरुषार्थ के एक छोटे से अंश से ही पूरा हो जाता है । शेष जो बचता है, वह परमार्थ में ही लगाते हैं ।

एकनिष्ठ होकर उच्च उद्देश्यों के लिए क्षण-क्षण का उपयोग करने वालों, गुणों की दैवी-संपदा को सच्ची संपदा समझने वालों को दिव्य दूर-दर्शिता अपनानी पड़ती है ।

मान से दूर परमार्थ मूर्ति मालवीय जी

महामना मालवीय जी गरीब परिवार में जन्मे थे । किसी प्रकार बी०ए० पास करने के उपरांत वे पचास रुपये मासिक की अध्यापकी पा सके । इस सीमित आजीविका में से भी वे कुछ बचा कर निर्धन छात्रों की सहायता करते । नौकरी से बचा हुआ शेष सारा समय लोक सेवा के कार्यों में लगता । इसी बीच वे राष्ट्रीय कांग्रेस में भाग लेने लगे । जन सेवा में उनकी प्रतिभा और भाषण कला निखरने लगी ।

कलकत्ता कांग्रेस में मालवीय जी की असाधारण भूमिका देखकर राजा काला कांकर बहुत प्रभावित हुए । उनने उन्हें अपने यहाँ बुला लिया । 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' का संपादक बनाया । वेतन भी पचास के स्थान पर दो सौ कर दिया । पर वहाँ भी उनकी पटरी बैठी नहीं । राजा साहब पीते थे । इस स्थिति में उनके साथ रहना मालवीय जी से निभा नहीं । वे छोड़कर बनारस चले आए और वकालत पास करके कुछ ही समय में अच्छे वकील बन गए ।

मालवीय जी का आदर्शवाद उन्हें समय की पुकार सुनने के लिए बाध्य करने लगा । वे अपना अधिकाधिक समय कांग्रेस के तत्वावधान में राष्ट्रीय कार्यों के लिए लगाने लगे । जनमानस पर उनकी गहरी छाप पड़ी, फलतः केन्द्रीय व्यवस्थापिका के सदस्य चुन लिए गए । अब उनका पूरा समय राष्ट्र कार्य में ही लगता था ।

उन्होंने साप्ताहिक 'अभ्युदय' और मासिक 'मर्यादा' का प्रकाशन आरंभ किया और हिन्दू विश्वविद्यालय की नींव डाली । कांग्रेस आंदोलन में जेल गए । उनकी प्रतिभा जितनी असाधारण थी, उतनी ही नम्रता भी चरम सीमा की थी । कलकत्ता विश्वविद्यालय उन्हें सम्मानित करने को 'डॉक्ट्रेट' की मानद उपाधि दे रहा था, सरकार उन्हें 'सर' बनाना चाहती थी । पंडित सभा ने उन्हें 'पंडित राज' पदवी देनी चाही; पर उनमें से एक को भी उनने स्वीकार नहीं किया । कहते थे-"यदि 'पंडित' उपाधि को ही सही सिद्ध कर सकूँ, तो बहुत है ।"

मालवीय जी का व्यक्तिगत जीवन सादगी, कर्मठता, सज्जनता, मितव्ययिता और उदारता से पूरी तरह भरा हुआ था । इन्हीं सद्गुणों के कारण वे सामान्य से असामान्य बने और असंख्यों के लिए अपना प्रेरणाप्रद उदाहरण छोड़ गए ।

श्री टी० प्रकाशम्

आंध्र प्रांत बना, तो उसके मुख्यमंत्री टी० प्रकाशम बनाये गए । तब वे ८४ वर्ष के थे । इनका जीवन इतिहास ही ऐसा था, जिसके लिए उन दिनों उनसे अच्छा प्रामाणिक व्यक्ति दूसरा था नहीं । कुछ दिन मुख्यमंत्री पद संभाल कर अपना प्रिय विषय रचनात्मक कार्य हाथ में लिया और जब तक जीवित रहे उसी काम में लगे रहे ।

टी० प्रकाशम ने गरीबी के दिन देखे थे । उनकी माता एक छोटा होटल चलाकर परिवार का पालन करती थीं । टी० प्रकाशम ने अपने पुरुषार्थ से वकालत पास की और इंग्लैंड जाकर बैरिस्टर बन कर आए । अपनी आजीविका का एक बड़ा भाग पिछड़े लोगों की सहायता में लगाते रहे ।

स्वतंत्रता आंदोलन में उनने अग्रिम पंक्ति में भाग लिया । दैनिक 'स्वराज्य' सफलतापूर्वक चलाया । जेल जाते रहे और अनेक में इसके लिए प्राण फूँकते रहे । अपने पारिवारिक निर्वाह के साथ-साथ लोक-सेवा का क्रम चलाते रहने में उन्हें कभी कठिनाई नहीं हुई ।

पुरोहित, जिनका जीवन धर्म सेवा में लगा

हवाई द्वीप समूह में कितने ही छोटे-छोटे टापू हैं । इनमें आदिवासी समुदाय रहता है । स्वास्थ्य संबंधी नियमों की जानकारी न होने तथा आर्थिक साधनों की कमी से इन द्वीपों में कुष्ठ रोग बुरी तरह फैला है । हाथ-पैरों से अपंग हो जाने पर ज्यों-त्यों करके ही जीवनयापन कर पाते हैं । इस क्षेत्र की कठिनाई को दूर करने के लिए फादर दामियेन आगे आये । वे चाहते तो दूसरे पुरोहितों की तरह मौज-मजे वाले स्थान भी अपने लिए चुन सकते थे पर उनने पीड़ित मानवता

के लिए ही अपना जीवन समर्पित करने की ठानी । अपने लिए एक झोंपड़ा बनाया और पास ही चिकित्सालय तथा चर्च भी छोटे रूप में खड़ा कर दिया ।

मात्र कुष्ठ चिकित्सा ही पर्याप्त न थी । उनके लिए निर्वाह साधन जुटाना, स्वास्थ्य नियमों से परिचित कराना, शिक्षा देना तथा प्रचलित कुरीतियों से पीछा छुड़ाना जैसे अनेक काम उन्हें करने पड़े । पहले मोलीकाई द्वीप से यह कार्य आरंभ किया गया था; पर अब ३० टापुओं में वह कार्य चल रहा है । नये पादरी भी उनकी सहायता के लिए पहुँच रहे हैं । सेवा कार्य उन्हें इस क्षेत्र में श्रद्धास्पद बना रहे हैं ।

भारत माता के सच्चे सपूत

डा० श्यामाप्रसाद मुखर्जी बंगाल की इनी-गिनी प्रतिभाओं में से एक थे । इंग्लैंड से बैरिस्ट्री पास करके लौटे तो परिवार को उनसे धनोपार्जन की बड़ी आशा थी । पर घर में गुजारे की व्यवस्था पहले से ही थी, । इसलिए वे उस ओर तनिक भी ध्यान न देकर समय की आवश्यकतानुसार देश सेवा के कार्यों में जुट पड़े ।

बंगाल के दुर्भिक्ष में उनने जमकर कार्य किया । बँटवारे के समय सांप्रदायिक दंगों की आग बुझाने में कुछ उठा न रखा । केन्द्र में वित्त मंत्री बने तो बेरोजगारों को रोजगार देने के लिए उनने नई स्थापनाएँ कीं ।

सरकार से मतभेद होने पर उन्होंने जन संघ की स्थापना की । उन दिनों अनेक गुत्थियों को सुलझाने में लगे रहे । ऐसे नर-रत्नों को भारत माता का सच्चा सपूत ही कहा जायगा ।

सुल्तान यों बने

बादशाह होने के बाद हसन से किसी ने पूछा-"आपके पास न तो पर्याप्त धन था और न सोना फिर आप सुल्तान कैसे हो गए ?"

हसन ने उत्तर दिया-"मित्रों के प्रति मेरा सच्चा प्रेम, शत्रु के प्रति उदारता और मनुष्य के प्रति मेरा सद्भाव इतनी सामग्री क्या सुल्तान होने के लिए पर्याप्त नहीं ।"

हजारी किसान

बिहार प्रांत के एक छोटे से गाँव में एक किसान रहता था । नाम था उसका हजारी । उसने अपने खेतों की मेड़ों पर आम के पेड़ लगाए । जब वे बड़े हुए तो उन पर पक्षियों ने घोंसले बना लिए । मधुर स्वर में चहचहाते । जब बौर आता तो कोयल कूकती । छोटे-छोटे फल आते तो सारे गाँव के लोग बारी-बारी से चटनी के लिए आम माँग कर ले जाते । वह स्वयं भी उस पेड़ के नीचे सघन छाया में चारपाई बिछाकर बैठता तो बहुत अच्छा लगता ।

हजारी के बच्चे बड़े हो गए थे । उसने सोचा कि खेती-बाड़ी का काम इन्हें सौंप देना चाहिए और स्वयं उस क्षेत्र में आम के पौध लगवाने के लिए निकल पड़ना चाहिए । ढलती उम्र में परमार्थ परायण होने को ही वानप्रस्थ कहते हैं ।

उसने अपने खेत पर आमों की नर्सरी उगाई । गाँव-गाँव घूमा । आम लगाने का महत्व समझाया । जो लोग सहमत होते उनके यहाँ स्वयं ही पौधे लगा आता । सिंचाई, खाद, रखवाली आदि में भी दिलचस्पी लेता । इस प्रकार मरते समय तक उसने एक हजार आम्र उद्यान लगवा दिए । उस क्षेत्र का नाम उस किसान की स्मृति में हजारीबाग पड़ा ।

पिता का कमरबंद माँगा

पारसी धर्म के पैगंबर माने जाने वाले जरथुस्त शिक्षा प्राप्त करके विद्वान बन गए थे । उनके गुरु उनसे न केवल प्रसन्न थे, बल्कि उन्हें शिष्य के रूप में पाकर अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करते थे । उनकी सफलताओं से प्रसन्न होकर उनके पिता पौरुषस्प ने उनसे पूछा-"मेरी कौन-सी संपत्ति चाहते हो ? माँग लो ।"

जरथुस्त बोले-"पिताजी ! अपना कमरबंद दे दें ।"

पौरुषस्प आश्चर्य में पड़ गए, मूल्यवान संपदाओं को छोड़कर सामान्य कमरबंद माँगा । पूछा-"ऐसा क्यों ?"

जरथुस्त ने कहा-"आपने जीवन भर आदर्शों के लिए कमर कसकर पुरुषार्थ किया है । शैतान के विरुद्ध देवत्व की विजय सुनिश्चित करने के अभियान में मुझे लगना है । आपका कमरबंद मेरा आत्मविश्वास बढ़ाता है ।"

पिता को विश्वास हो गया साधनों की अपेक्षा आदर्शों को मूल्यवान समझने वाला यह होनहार बालक अवश्य महान बनेगा ।

पुरुषार्थी पुरोहित

उन दिनों पुरोहितों की चाँदी थी । कथा और कर्मकांड के सहारे वे विपुल दक्षिणा बटोरते थे । पद्मनाभ ने नया मार्गदर्शन किया । वे उच्च कोटि के विद्वान थे । उनने लकड़ी काट कर पेट भरने का धंधा अपनाया । धर्म कृत्यों को मन लगाकर करते रहे । जो मिलता उसे वहाँ के सत्कार्यों में लगा देते ।

जनता ने उन्हें भरपूर मान दिया । लालची पुरोहितों को मुँह छपाये फिरते और पद्मनाभ पर अनर्गल आक्षेप लगाते देखा गया । तो भी वे अपने समय के लोकप्रिय पुरोहित रहे और भरपूर मान मिला । उन्होंने यह तथ्य अपने जीवन से प्रतिपादित किया कि पौरोहित्य को परमार्थ भाव से किया जा सकता है । व्यवसायी भाव उसके लिए आवश्यक नहीं ।

पाप का प्रायश्चित्त

अपने पिता बिंदुसार से सम्राट अशोक को सुविस्तृत राज्य प्राप्त हुआ था । पर उसकी तृष्णा और अहमन्यता ने उसे चैन नहीं लेने दिया । आस-पास के छोटे-छोटे राज्य उसने अपनी विशाल सेना के बल पर जीते और अपने राज्य में मिला लिए ।

उसके मन में कलिंग राज्य पर आक्रमण करने की उमंग आई । कलिंग धर्मात्मा भी था और साहसी भी । उसकी सेना तथा प्रजा ने अशोक के आक्रमण का पूरा मुकाबला किया । उसकी प्राय: सारी आबादी मृत्यु के मुँह में चली गई या घायल हो गई । अब उस देश की महिलाओं ने तलवार उठाई । अशोक इस सेना को देखकर चकित रह गया । वह उस देश में भ्रमण के लिए गया तो सर्वत्र लाशें ही पटी देखीं और खून की धारा बह रही थी ।

अशोक का मन पाप की आग से जलने लगा । उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली और जो कुछ राज्य वैभव था उस सारे धन से बौद्ध धर्म का प्रसार किया तथा उपयोगी धर्म संस्थान बनवाये । अपने पुत्र और पुत्री को धर्म प्रचार के लिए समर्पित कर दिया । परिवर्तन इसी को कहते हैं । एक क्रूर और आततायी कहा जाने वाला अशोक बदला तो प्रायश्चित की आग में तपकर वह एक संन्यासी जैसा हो गया ।

दृढ़ निश्चयी मीरा

मीरा राजस्थान के मेड़ता घराने में जन्मी, उनका विवाह चित्तौड़ के राजकुमार से हुआ । वे मन से अपने को भगवत समर्पित मानती थी और भक्त के साथ-साथ असाधारण रूप से साहसी भी थीं । विधवा हो जाने पर उनने अपना जीवन परमार्थ प्रयोजनों में लगाने की ठानी । ससुराल परिवार रूढ़िवादी होने से घर से बाहर नहीं निकलने देता था । उन्हें पिंजड़े की पंछी की तरह घुट-घुट कर मरना स्वीकार न था । वे अपनी प्रतिज्ञा पर अड़ी रहीं और संत गोष्ठियों में सम्मिलित रहकर धर्म प्रचार के निमित्त परिभ्रमण करती रहती थीं ।

ससुराल वालों के अनेक त्रासों और प्रतिबंधों की परवाह न करती हुई वे कहती थीं-"साधु संग बैठि-बैठि लोक लाज खोई ।"

त्रासों को सहन करती हुई वे कहती थीं-"राणाजी रूठे तो म्हारो काँई करशी" उन्हें अपनी मृत्यु तक की परवाह न थी ।

रैदास चमार थे । मीरा ने उन्हें अपना गुरु बनाया । राजपूत परंपरा के अनुसार यह अनुचित था पर उसने अपनी आत्मा की आवाज के सामने किसी की परवाह नहीं की । यहाँ तक कि चित्तौड़ के राज परिवार में रानियों, राजकुमारियों के मन में रैदास के प्रति श्रद्धा भावना उत्पन्न की । वे भगवान की कृपा मुफ्त में माँगने पर विश्वास नहीं करती थीं । वरन् अपना सब कुछ भगवान के काम में आने के लिए सुपुर्द करती थीं । वे गाती थीं-"सखी री मैंने गिरधर लीन्हों मोल" । मीरा को दृढ़ निश्चयी और साहसी भक्तों में गिना जाता है ।

अत्र ते चात्मकल्याणं विश्वकल्याणमेव च ।
प्रयोजनं तु पश्यन्ति सिद्धमेवोभयं नरा: ।। ४९ ।।
हृदि चोत्कृष्टताहेतो: श्रद्धा नित्यं च चिंतने ।
प्रज्ञोदेति शुभादर्शपक्षगा मंङ्गलोन्मुखी ।। ५० ।।
फलतश्चेदृशा मर्त्या देवतुल्यप्रवृत्तय: ।
व्यवहारे स्वके लोकमानसस्य परिष्कृते: ।। ५१ ।।
सत्प्रवृत्तिविकासस्य शुभे द्वेऽहि प्रयोजने ।
स्वीकुर्वन्ति च मुख्यत्वाद् वंशराष्ट्राभिपूजिता: ।। ५२ ।।

टीका–आदर्शवादी जीवन क्रम में आत्म–कल्याण और विश्व–कल्याण के दुहरे प्रयोजन सधते देखते हैं । अंतःकरण में उत्कृष्टता के प्रति श्रद्धा–चिंतन में आदर्शों की पक्षधर मंगलमयी प्रज्ञा उभरती है । फलतः ऐसी देवोपम प्रवृत्ति के लोग अपने कर्म में व्यवहार में लोकमानस के परिष्कार और सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के दो प्रयोजनों को प्रमुखता देते हैं और अपने वंश व राष्ट्र में पूजे जाते हैं ।। ४९–५२ ।।

अर्थ–सामान्य दृष्टि वाले व्यक्ति परमार्थ परायण जीवन में व्यक्तिगत हानि देखते हैं । आत्म कल्याण की बात भी सोचते हैं, तो संसार को मिथ्या कहकर केवल अपने भले की बात को महत्व देते हैं । महामानव स्तर के व्यक्ति ऐसा मार्ग पकड़ते हैं, जो आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण दोनों को एक साथ उपलब्ध कराता है । लोक मानस के परिष्कार के प्रयास से व्यक्ति स्वयं भी परिष्कृत होता रहता है । समाज में सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने में उसके अंदर भी वे पनपती हैं, इस प्रकार दोहरा लाभ मिल जाता है ।

पुष्प की दृष्टि

"बंधुवर पुष्प ! लो सबेरा हुआ, माली इधर ही आ रहा है, अपनी सज्जनता, सौमनस्यता तथा उपकार की सजा भुगतने के लिए तैयार हो जाओ ।" "तात् ! यदि मेरी सीख मानते और कठोरता व कुटिलता का आश्रय ग्रहण किए रहते, तो आज यह नौबत नहीं आती ।"

फूल कुछ बोला नहीं, उसकी स्थिति और भी मोहक हो उठी । माली आया, उसने फूल को तोड़ा और डलिया में रखा । काँटा दर्प में हँसा, माली की वृद्ध उँगलियों में चुभा और अहंकार में ऐंठ गया । माली उसे गालियाँ बकता हुआ वापस लौट गया ।

समय बीता । एक दिन देव–मंदिर में चढ़ाये उस फूल की सूखी काया को उठाकर कोई उसी वृक्ष की जड़ों के पास डाल गया । काँटे ने म्लान मुख सुमन को देखा तो हँसा और बोला–"कहो तात् ! अब तो समझ गये कि परोपकारी होना अपनी ही दुर्गति कराना है ।"

फूल की आत्मा बोली–"बंधु, यह तुम्हारा अपना विश्वास है । शरीरों में चुभ कर दूसरों की आत्मा को कष्ट पहुँचाने के पाप के अतिरिक्त तुम अपयश के भी भागी बने । अंत तो सभी का सुनिश्चित है; किन्तु अपने प्राणों को देवत्व में परिणत करने और संसार को प्रसन्नता प्रदान करने का जो श्रेय मुझे मिला, तुम उससे सदैव के लिए वंचित रह गए । मैं हर दृष्टि से फायदे में हूँ और तुम घाटे में ।"

मंत्री भद्रजित की देवकृति

राजा बालीक ने किसी बात पर रुष्ट होकर प्रधान आमात्य भद्रजित को पदच्युत कर दिया । सोचा इससे उन्हें प्रताड़ना मिलेगी और होश ठिकाने आयेंगे । जन सम्मान के बिना कौन सुखी रह सकता है ।

भद्रजित की आदर्शनिष्ठ बुद्धि अडिग रही, प्रेरणा हुई–लोकमंगल के लिए पद नहीं, श्रेष्ठ भावना चाहिए । उन्होंने जन संपर्क साधा और लोक–सेवा के कार्यों में संलग्न हो गए । सहयोग पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ा । फलतः भद्रजित के सुख–संतोष में भी वृद्धि हो गई ।

राजा की इच्छा हुई कि अमात्य को मिली प्रताड़ना का प्रतिफल आँखों देखें । सो वे छद्म वेश बनाकर वहाँ जा पहुँचे जहाँ भद्रजित उन दिनों निवास कर रहे थे ।

राजा ने देखा भद्रजित बिल्कुल सहज स्थिति में हैं । अभाव का कोई चिह्न नहीं था । कुशल क्षेम पूछी तथा राज्यपद न रहने की प्रतिक्रिया जाननी चाही । भद्रजित ने कहा–"मेरे ऊपर राजा ने बड़ा उपकार किया । मुझे यह समझने का अवसर मिला, कि पद की अपेक्षा अपने कर्म और व्यवहार का प्रभाव कितना अधिक सार्थक होता है । आज मेरे और मेरी आराध्य जनता के बीच केवल स्नेह सूत्र हैं । पद, प्रतिष्ठा और औपचारिकता की खाई पट चुकी है । सुख–दुःख में एक होने का अवसर मिला । जो आत्मीयता अब अनुभव हुई वह पहले कहाँ थी ?"

राजा समझ गए सत्पुरुष पद से नहीं, अपनी देवोपम प्रवृत्तियों से सम्मान पाते हैं ।

सिद्धांतवादी बर्नार्ड शॉ

सिद्धांतवाद की जीती–जागती मूर्ति का नाम है–जार्ज बर्नार्ड शॉ । वे आयरलैंड के माने हुए लेखक थे । उस देश में मांसाहार और सुरा–सुंदरी का साधारण प्रचलन है । बर्नार्ड शॉ ने इन तीनों से आजीवन बचे रहने का प्रयास किया और उसे पूरी तरह निभाया ।

उनकी आजीविका अच्छी थी । ख्याति भी विश्वव्यापी थी । एक युवती ने विवाह का प्रस्ताव रखा, तो उनने

चकित होकर इसका कारण पूछा । युवती ने कहा–"मैं चाहती हूँ कि मेरी संतान मुझ जैसी सुंदर और आप जैसी विद्वान हो ।" शॉ समझ गए कि यह सुंदरी मुझे शब्दों के जाल में फँसाना चाहती है । उनकी आदर्शनिष्ठा बुद्धि ने तुरंत मार्ग खोजा । वे बोले–"देवी आप जैसा सोचती हैं यदि उसका ठीक उलटा हो गया तब कैसा होगा ? मुझ जैसा कुरूप और आप जैसी मूर्ख संतान भी तो हो ही सकती है ।" निरुत्तर होकर महिला लौट गई । शॉ अपने सिद्धांत पर अडिग रहे ।

शॉ ने जो भी कमाया सार्वजनकि कार्यों के लिए दान कर दिया । मरने के बाद उनके जनाजे में पशु-पक्षियों का जुलूस चले, ऐसी वे वसीयत कर गए । वे कहते थे कि पशु-पक्षियों का मांस मैंने कभी नहीं खाया और कुटुंबियों की तरह उन्हें माना है सो वे ही जनाजे के साथ चलने के अधिकारी हैं । उनकी विद्वत्ता, उनकी आदर्शनिष्ठा के सहारे ही इतनी निखरी और लोकप्रिय हुई ।

वुंड्रेज की सफल श्रम साधना

ओलंपिक खेलों का नाम आज संसार के बच्चे-बच्चे की जुबान पर है । इस स्थिति में लाने का श्रेय वुंड्रेज को है । उनने बहुत छोटे संगठन को विश्व स्तर का बनाया और सशक्त राष्ट्र, जो धींगामस्ती करते और मनमानी चलाते थे, उसे सूझ-बूझ और साहस के साथ रोका । आज १६ हजार उच्च कोटि के खिलाड़ी इस माध्यम से ट्रेनिंग प्राप्त कर रहे हैं ।

कभी खेल-कूद को गँवारों का शुगल समझा जाता था । वुंड्रेज की रचनात्मक बुद्धि ने उसे वह स्थान दिलाया कि उसे सम्मानित योग्यता माना जाने लगा । इससे उत्साह ग्रहण कर सारे संसार में व्यायाम के पक्ष में वातावरण बना है और उसका प्रभाव छोटे-छोटे गाँवों पर पड़ा है । लोगों की उछल-कूद की अनियंत्रित आदत को खेल भावना के अनुशासित साँचे में ढालने में वुंड्रेज के अथक श्रम को सदा श्रेय दिया जाता रहेगा । सारे विश्व में उसका और उसकी खेल योजना का नाम गौरव के साथ लिया जाता है ।

पाखंड उन्मूलक सच्चे संन्यासी दयानंद

टंकारा (गुजरात) में जन्मे मूलशंकर अधिक विद्या प्राप्त करने की दृष्टि से घर छोड़कर मथुरा चल दिए । यहाँ स्वामी विरजानंद की पाठशाला में उनने संस्कृत भाषा तथा वेदों का गहन अध्ययन किया ।

अन्य विद्यार्थी तो पढ़-लिखकर अपना पेट पालने चल देते हैं, गुरु को एक प्रकार से भूल ही जाते हैं । मूलशंकर उनमें से न थे । उनने विरजानंद से गुरुदक्षिणा के लिए निवेदन किया । गुरु ने उनसे वेद-धर्म का प्रसार करने में और प्रचलित पाखंड के उन्मूलन में जीवन लगा देने की याचना की । सच्चे शिष्य ने तत्काल संन्यास ले लिया और नाम स्वामी दयानंद रखा गया । वे गुरु की इच्छा पूरी करने के लिए देशव्यापी भ्रमण में निकल पड़े । कुछ समय उन्होंने हिमालय गंगा तट पर तप किया और नया आत्मबल संचित करके अपने काम में जुट गए ।

उनने आर्यसमाज की स्थापना की । 'सत्यार्थ-प्रकाश' नामक प्रख्यात ग्रंथ लिखा । वेद भाष्य किया और अनवरत प्रव्रज्या में जुट गए । उनके प्रयास से एक बड़ा आंदोलन खड़ा हो गया, जिसने हिन्दू धर्म के पुरातन स्वरूप से जन-जन को अवगत कराया । आर्य समाज की खदान में से बहुमूल्य मणि-माणिक्य निकले जिनकी कृतियों को कभी भुलाया न जा सकेगा ।

वेद ज्ञान के प्रसारक– मैक्समूलर

जर्मनी के डेजी इलाके में जन्मे मैक्समूलर उपयुक्त अध्ययन के उपरांत कट्टरवादी बिल्कुल न रहे । सत्य की शोध में जहाँ भी यथार्थता दीख पड़ी, वहाँ से उसे ढूँढ़ निकालने का मन में निश्चय कर वे निकल पड़े ।

वेदों को ज्ञान का भंडार जाना जाता था । वे वेदों को ढूँढ़ने और उस ज्ञान को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के लिए व्याकुल हो उठे । हिन्दुस्तान आये, तो यहाँ बड़ी अजीब स्थिति देखी । पंडित लोग अपनी बिरादरी के अतिरिक्त वह ज्ञान किसी को बताना-सुनाना नहीं चाहते थे । इस कारण उन्हें भारी कठिनाई का सामना करना पड़ा । जो कार्य कम समय में हो सकता था, वह अत्यधिक समय में हुआ, फिर भी वे निराश न हुए ।

उनने वेदों को जर्मन भाषा में टीका सहित प्रकाशित किया । फिर वह अंग्रेजी में भी अनुवादित हुए । इसके उपरांत भारतीयों को भी अपनी उपेक्षा और संकीर्णता पर लज्जा आयी और वेदों की चर्चा, शिक्षा तथा छपाई होने लगी । स्त्री और शूद्र भी उस ज्ञान को मनुष्यों की तरह प्राप्त करने लगे ।

आदर्श चिकित्सक

मैसूर राज्य के एक छोटे-से गाँव मणिपाल में जन्मे डॉ० पाई डॉक्टरी की उच्च शिक्षा प्राप्त करके जैसे ही निकले, वैसे ही नौकरियों के प्रस्तावों का ढेर लग गया; पर उनने उन सबको अस्वीकृत करते हुए अपनी जन्मभूमि तथा समीपवर्ती पिछड़े क्षेत्रों की सेवा करने का निश्चय किया और वहीं एक छोटी-सी डिस्पेंसरी खोल कर जम गए । निर्धन रोगियों की भीड़ से अस्पताल खचाखच भरा रहता था । नाम मात्र के पैसे से लोग भारी लाभ उठाने लगे ।

अब डॉक्टर साहब का ध्यान अपने क्षेत्र में शिक्षा-व्यवस्था बनाने तथा आर्थिक सुविधायें उत्पन्न करने की ओर गया तथा इन्हें पूरा करने का निश्चय किया । इन निःस्वार्थ प्रयत्नों में उन्हें सरकारी और गैर सरकारी सहयोग पूरा-पूरा मिला । छोटी स्थापनायें क्रमशः बढ़ते-बढ़ते उन्नति के चरम शिखर तक पहुँचीं ।

उस क्षेत्र में उनने अनेक विद्यालय खुलवाये, सहकारी बैंकें स्थापित करायीं; महिलाओं के लिए नर्सिंग स्कूल खुलवाया । छोटे-से सिंडीकेट बैंक की अब छः राज्यों में एक सौ नवासी शाखाएँ हैं । गाँधी मैमोरियल कॉलेज तथा मणिपाल मेडीकल कॉलेज उन्हीं की स्थापना है । उस पिछड़े क्षेत्र को हर दृष्टि से डॉक्टर साहब ने इतना समुन्नत बनाया कि लोगों के लिए वह दर्शनीय तीर्थ बन गया ।

गोस्वामीजी की समाज-निष्ठा

लायलपुर (पंजाब) में जन्मे गोस्वामी गणेशदत्त ने अपने श्रम, ज्ञान और समय का विसर्जन देश-सेवा के लिए कर दिया । वे रचनात्मक कार्यों में विश्वास करते थे । देखा कि उस समूचे प्रांत में उर्दू का बोलबाला है । हिन्दी जानने वाले लोग मुट्ठी भर थे । हिन्दी समझे बिना हिन्दू धर्म को समझना कठिन है-यह सोचकर उनने हिन्दी की प्रौढ़ पाठशालायें-बालशालाएँ चलाने का प्रयत्न किया । इसके लिए घर-घर गए और शिक्षार्थियों को ढूँढ़ कर लाए । देखते-देखते चार सौ पाठशालायें चलने लगीं ।

गोस्वामी जी ने सनातन धर्म सभा और महावीर दल की स्थापना की । समय-समय पर देश में आने वाले दुर्भिक्ष, महामारी आदि में अपने साथियों की सहायता एकत्रित करके दौड़ पड़े । आजीवन वे सेवा कार्यों में ही लगे रहे । पंजाब में एक संस्कृत कॉलेज स्थापित किया और हरिद्वार में सप्तऋषि आश्रम बनाया । इन प्रयासों के मूल में उनका उद्देश्य हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान की भावना को प्रबल बनाना था ।

महानता का मापदंड

"क्या तुम मेरे समान शक्ति नहीं चाहतीं ?"-यह कहकर 'आँधी' अपनी छोटी बहन मंदवायु की ओर देखने लगी ।

कुछ उत्तर न पाकर वह फिर कहने लगी-"देखो, जिस समय मैं उठती हूँ, उस समय दूर-दूर तक लोग तूफान के चिह्नों से मेरे आने का संवाद चारों ओर फैला देते हैं । समुद्र के जल के साथ ऐसा किलोल करती हूँ कि पानी की लहरों को पर्वत के समान ऊपर उछाल देती हूँ । मुझे देखकर मनुष्य अपने घरों में घुस जाते हैं, पशु-पक्षी अपनी जान बचाकर भागते-फिरते हैं । कमजोर मकानों के छप्परों को भी उड़ा कर फेंक देती हूँ; मजबूत मकानों को पकड़ कर हिला देती हूँ । मेरी साँस से राष्ट्र के राष्ट्र धूल में मिल जाते हैं । क्या तुम नहीं चाहतीं कि तुममें भी मेरे सामन शक्ति आ जाय ?"

यह सुनकर वसंत की मंदवायु ने कुछ उत्तर न दिया और अपनी यात्रा को चल पड़ी । उसको आते देखकर कर नदियाँ, ताल, जंगल, खेत सभी मुस्कराने लगे । बगीचों में तरह-तरह के फूल खिल उठे । रंग-बिरंगे फूलों के गलीचे बिछ गए । सुगंधि से चारों ओर का वातावरण भर गया । पक्षीगण कुंजों में आकर विहार करने लगे । सभी का जीवन सुखद हो गया । इस तरह से अपने कार्यों द्वारा वसंत वायु ने अपनी शक्ति का परिचय आँधी को करा दिया ।

महामानवों का जीवन क्रम भी वसंत की मंदवायु के समान सुरभि-सौंदर्य-प्रसन्नता चारों ओर फैलाने वाला होता है । वे पराक्रम में नहीं, सौजन्य में महानता देखते हैं । इसी कारण वे सर्वत्र पूजे जाते हैं ।

सञ्चितं ज्ञानमेतेषामभ्यस्तः पुण्यदायकः ।
परार्थः सन्ततं कार्यरूपतामधिगच्छतः ।।५३।।
आत्मसन्तोषमेतेऽतः प्राप्नुवन्ति तथैव तु ।
सम्मानं सहयोगं च विपुलं ते भजन्त्यपि ।।५४।।

अनुकम्पा च दैवी सा वर्षतीवात्र तेषु तु ।
त्रिविधानां सुयोगानां कारणादन्तरंगके ।।५५।।
क्षेत्रे यान्ति महत्वं ते लभन्ते चोन्नतिं तथा ।
संसारे प्रगतेर्मार्गे ते नरा अभियान्त्यलम् ।।५६।।

टीका–उनका संचित सद्ज्ञान और अभ्यस्त पुण्य–परमार्थ निरंतर कार्यान्वित होता रहता है । फलतः वे असीम आत्म संतोष पाते हैं । लोक सम्मान और सहयोग उन्हें प्रचुर मात्रा में मिलता है । दैवी अनुकम्पा निरंतर बरसती है । इन त्रिविध सुयोगों के कारण वे अंतरंग क्षेत्र में महान् बनते–ऊँचे उठते और संसार क्षेत्र में प्रगति पथ पर आगे बढ़ते हैं ।। ५३–५६।।

अर्थ–सामान्य व्यक्ति अपने सद्गुणों को केवल अपने भले के लिए प्रयुक्त करने के मोह में उन्हें रोके रहता है । न वे प्रयोग में आने पाते हैं, न अपना प्रभाव दिखा पाते हैं । सत्पुरुषों को अपने ज्ञान और पुरुषार्थ को अविरल प्रयुक्त करने का अभ्यास होता है । इसी आधार पर उन्हें ऊपर वर्णित तीन अतिमहत्वपूर्ण विभूतियाँ मिलती रहती हैं । वे अंतरंग और बाह्य जगत दोनों में संतोषजनक प्रगति करते और श्रेय-सम्मान पाते हैं ।

नूह न थके, न ऊबे

सृष्टि के पुनर्निर्माता नूह को एक हजार वर्ष का जीवन मिला । वे दिन-रात ईश्वर के कामों में लगे रहे ।

अंत समय आया, तो फरिश्तों ने पूछा–"इतना लंबा जीवन आप ने किस तरह काटा ।" तो उन्होंने हँसते हुए कहा–"एक मुसाफिर सराय के एक दरवाजे से घुसकर दूसरे से निकल जाता है, उसी तरह महामानवों को परमार्थ में इतना रस, इतना संतोष मिलता है कि लंबे से लंबा समय भी उन्हें थोड़ा लगता है । बिना ऊबे वे सतत् उसी में लगे रह जाते हैं ।"

हरिजन सेवक श्री नारायण झा

माता-पिता के न रहने पर १५ वर्ष की आयु के नारायण झा ने भगवान को प्राप्त करने के लिए वैराग्य लेने की बात ठानी । पर उस क्षेत्र में भ्रमण करके अछूतों की जो दुर्दशा देखी, उससे उनका विचार बदल गया और गिरों को उठाने के लिए जीवन लगाने का व्रत ठाना । हरिजन सेवा के कारण उन्हें सवर्णों का भारी विरोध सहना पड़ा । पर वे डिगे नहीं ।

उनकी आदर्श साधना के कारण उन्हें जन सहयोग भरपूर मिलता रहा और देव अनुग्रह से असंभव लगने वाले कार्यों में भी रास्ता बनता चला गया । उन्होंने हरिजनों के लिए अलग से मंदिर बनवाया । सवर्ण उसे तोड़ने पर तुले रहे; पर विरोध से उनका समर्थन सशक्त था । वे बढ़ते रहे । हरिजन शिक्षा के लिए और भी अधिक उत्साह के साथ लग पड़े । उनकी सेवा-साधना से प्रभावित होकर गाँधी जी उनसे मिलने स्वयं पहुँचे थे । केरल में उनकी स्थापित कितनी ही हरिजन संस्थाएँ हैं, जिनमें एक कॉलेज भी है । सतत् परमार्थ का क्रम अपना कर श्री नारायण झा आंतरिक और लौकिक दोनों ही स्तरों पर महान बने ।

संत राजा रामदेव

उन दिनों देश में छोटे-छोटे कई रजवाड़े थे । दिल्ली के समीपवर्ती क्षेत्र में आनंदपाल राजा थे । उनके उत्तराधिकारी रामदेव जी बने, तब वे १५ वर्ष के थे । उस क्षेत्र में भैरव डाकू का एक बड़ा जालिम गिरोह था । उसके भय से सारा इलाका थर्राता था । रामदेव का पहला काम उस डाकू के भय से इलाके को मुक्त कराना था । रामदेव ने कुछ साथी लेकर भैरव का सीधे मुकाबला किया और उन सबका सफाया करके दम लिया ।

इसके बाद वे स्वयं एक किसान की तरह रहने लगे । राज्य कोष का सारा धन प्रजा हित में लगाने लगे । छुआछूत की कुरीति को उन्होंने आगे बढ़कर समाप्त कराया । एक बार अकाल पड़ा, तो स्वयं फावड़ा लेकर कुआँ खोदने में जुट गए और राज्य कोष का सारा रुपया कुआँ खोदने वालों को मजूरी देने में लगा दिया । आस-पास कई मुसलमानी रियासतें भी थीं; पर राजा, प्रजा का इतना सहयोग देखकर किसी की हिम्मत चढ़ाई करने की न हुई ।

राम देव जी की कितनी ही चरित्रनिष्ठा व उदारताएँ विख्यात हैं । लोगों ने उन्हें देवता की तरह माना और एक मंदिर भी बनवाया, जिस पर हर साल मेला लगता है । लाखों लोग उनके आदर्शनिष्ठ जीवन की कथायें कहते और प्रेरणा ग्रहण करते हैं ।

पुरुषार्थ ने बनाया प्रतिभावान

'दूसरों का सहयोग, प्यार हमें नहीं मिला । भाग्य ने साथ नहीं दिया' जैसी शिकायतें करने वालों को लियोनार्दो ने पूरी तरह झुठला दिया । उसके जीवन का प्रारंभ घोर अभावों के बीच हुआ पर उसने हर विषय को गहराई से सोचने और हर कार्य में पूरी तत्परता बरतने की नीति अपना कर अनेक विषयों की प्रतिभा अर्जित की । उसकी उत्कंठा और चेष्टा को देखकर अनेक सहयोगी रास्ता चलते मिल गए और प्रतिकूलतायें अपना स्वरूप बदलकर अनुकूलताओं में बदलती गई ।

निरोग और बलिष्ठ शरीर का स्वामी, महान मूर्तिकार और चित्रकार, साहित्यकार और कवि, दार्शनिक, गणितज्ञ, संगीतज्ञ, वैज्ञानिक, मिस्त्री, युद्ध-कला विशेषज्ञ, विद्वान, वक्ता और सुसंस्कृत व्यक्तित्व का धनी जैसा लियोनार्दो था, उसकी तुलना में बहुमुखी प्रतिभा का धनी इतिहास में दूसरा नहीं दीख पड़ता ।

वह इटली के फ्लोरेंस नगर में एक निर्धन परिवार में जन्मा था । माता दो वर्ष का छोड़कर मर गई थी फिर भी उसने अपना निर्माण और मार्गदर्शन स्वयं किया और यह सिद्ध करके दिखाया कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है ।

सच्चे अर्थों में पिता के पुत्र

अपने पिता स्वामी श्रद्धानंद की तरह उनके दोनों पुत्रों ने भी अनुकरण किया । वे आर्य-समाज और कांग्रेस के दोनों ही मोर्चों पर समान रूप से लड़ते रहे । बड़े भाई हरिश्चंद्र राजा महेन्द्रप्रताप जी के साथ गुप्त रूप से विदेश गए और वहाँ वहीं खप गए । इन्द्र जी ने गुरुकुल कांगड़ी में ही वाचस्पति तक की शिक्षा पाई । वे गुरुकुल के अध्यापक, अधिष्ठाता और प्रबंधक रहे । उस संस्था को दिन दूनी, रात चौगुनी प्रगति के लिए बढ़ाते रहे । समाज-सुधार के कार्यों को भी पिताजी की तरह अग्रगामी बनाने में कुछ उठा न रखा ।

राष्ट्रीयता को बल देने के लिए उन दिनों समाचार-पत्रों की अत्यधिक आवश्यकता थी । उन्होंने 'विजय' नाम से एक समाचार पत्र निकाला । सरकार उसके पीछे पड़ी रही तो नाम बदलकर दैनिक 'अर्जुन' निकाला । उसके पाँच संपादक जेल गए । बार-बार जमानतें माँगी जाती रहीं । तीसरी बार 'वीर अर्जुन' को आरंभ किया । इन पत्रों के माध्यम से वे क्रांति उगलते थे और सरकार के छक्के छुड़ाते थे । अस्वस्थ रहते हुए भी इन्द्र जी दिन-रात पिता का सच्चे अर्थों में अनुकरण करते रहे ।

बापा जलाराम पर दैवी अनुदान बरसे

वीरपुर (गुजरात) में एक किसान थे जलाराम । वे कृषि कार्य करते । जो अनाज पैदा होता उसे दीन-दुखियों के लिए तथा संत महात्माओं के निमित्त लगाते । वे खेत पर रहते, उनकी पत्नी भोजन बनाती रहतीं । घर पर सदावर्त लगा रहता । बाल-बच्चों का झंझट उनके सिर पर था नहीं ।

उनकी दयालुता और श्रद्धा की परीक्षा लेने एक दिन भगवान साधु वेश में आए । उनने कहा उनका बिस्तर अगले तीर्थ तक पहुँचना है । कोई प्रबंध करो । जलाराम मजूर देने की स्थिति में नहीं थे । उनकी पत्नी उस बिस्तर को सिर पर रखकर चल दीं । जलाराम आधे दिन खेत का काम करते, आधे दिन भोजन पकाते-खिलाते ।

संत के रूप में आए भगवान की परीक्षा पूरी हो गई । वे कुछ ही दूर आगे चलकर गायब हो गए । उस महिला को अन्नपूर्णा झोली दे गए । घर लौटकर उसने उस झोली को एक कोठरी में टाँग दिया । उस कोठरी में से अन्न कभी कम नहीं पड़ा और अभी भी हजारों लोग उस अन्नपूर्णा झोली का प्रसाद लेने आते हैं । भंडार चुकता नहीं ।

ईदृशा एव लोकाश्च महामानवसंज्ञकाः ।
उच्यन्ते धन्यतां यान्ति स्वयं चान्यान्नरानपि ।। ५७ ।।
सम्पर्के चागतान् धन्यान् कुर्वते चन्दनस्य ते ।
द्रुमा अन्यान् सुगन्धांश्च यथावृक्षान्निरन्तरम् ।। ५८ ।।
तेषामेव जनानां च कारणात् सकलं स्वयम् ।
वातावरणमत्यर्थं जायते गन्धवन्धुरम् ।। ५९ ।।
दुःखग्धा अपीहैते गन्धं धूप इवोत्तमम् ।
प्रकाशमपि तन्वन्ति प्रदीप इव प्रोज्ज्वलम् ।। ६० ।।
यस्मिन् काले तथा क्षेत्रे पुरुषा ईदृशा भुवि ।
जायन्ते तानि सर्वाणि धन्यतां यान्ति भूतले ।। ६१ ।।

टीका—इसी प्रकार के व्यक्तियों को महामानव कहते हैं । वे स्वयं धन्य बनते, सम्पर्क वालों को चंदन वृक्षों की तरह धन्य बनाते हैं । उनके कारण समूचा वातावरण महकने लगता है । जलने पर भी वे धूप की तरह सुगंध और दीप की तरह प्रकाश फैलाते हैं । जिस काल और क्षेत्र में ऐसे लोग जन्मते हैं, वह भी उनकी गतिविधियों के कारण धन्य बन जाता है ।। ५७–६१ ।।

अर्थ—महामानव की उपमा सदैव से चंदन वृक्ष से दी जाती रही है । सर्प जैसे दुष्ट प्राणी भी उनके संसर्ग से दुष्टता भूलकर शांति का अनुभव करते हैं । परंतु उनके विष दोषों से सत्पुरुष नितांत अप्रभावित रहते हैं । अपना प्रभाव, सुगंध आसपास के वृक्षों तथा क्षेत्र पर डालते रहते हैं । कटने, घिसने, पिसने, जलने पर भी सुवास ही देते हैं । सभी उन्हें सम्मान सहित माथे से लगाते हैं, देवताओं पर चढ़ाते हैं । इसीलिए स्वयं धन्य होते हैं, संपर्क के व्यक्ति और क्षेत्र भी धन्य बन जाते हैं ।

ईसा कहते थे

तुम्हारी प्यास मैं बुझा सकूँ, ऐसी शक्ति मुझ में है । अत्यंत शीतल जल तुम्हें लाकर दूँगा, जिससे तुम्हारी प्यास फिर न जाग्रत होगी । वह तृप्ति चिरस्थायी होगी । पर यह जल मैं कहीं बाहर लेने न जाऊँगा । तुम्हारी अंतरात्मा में ही जो शीतल जल का स्रोत है, उसे मैं खोल दूँगा । जिससे तुम्हारे जीवन में पवित्रता आ जायेगी । यह निर्मल प्रवाह प्रतिक्षण तुझे मिलता रहेगा । तू उसकी इच्छा कर और फिर अपने आप में ही उसे ढूँढ़ने का प्रयास कर । तेरी तृप्ति तेरे अंदर ही तो समाई हुई है ।

तुम्हें भी अपने अंदर छुपे हुए ईश्वर को पहचान कर उसकी इच्छा का अनुकरण करना पड़ेगा । जिस दिन तेरे हृदय में सत्य जाग जायगा, उस दिन से तू किसी के साथ बैर न करेगा, सबको अपने ही समान समझने लगेगा ।

बाबा साहब आम्टे

महाराष्ट्र के बाबा साहब आम्टे एक साधारण वकील थे । उनने ढर्रे का जीवन जीने की अपेक्षा उच्च आदर्शों के लिए अपने को समर्पित किया । कोढ़ियों को भीख माँगने की अपेक्षा स्वावलंबी जीवन जीने की प्रेरणा देकर अपने साथ छोटे-से गाँव लेकर, भेड़-बकरियाँ आदि पालकर गुजारा करने, रहने के लिए फूस के छप्पर बनाने में लग गए । चिकित्सा चली, रोगी अच्छे ही नहीं हुए, स्वावलंबी भी बने । लगनशील की लगन ने प्रगति का पथ प्रशस्त किया । सहयोग बरसा । आज वह संस्था अपंगों की सेवा करने वाले कार्यकर्ताओं के प्रशिक्षण का विश्वविद्यालय है । अपंगों को शिक्षित एवं स्वावलंबी बनाने वाली प्रख्यात संस्था है । कोढ़ियों का सुसम्पन्न अस्पताल भी उसमें है । बाबा साहब आम्टे तथा उनकी पत्नी अहर्निश इस संस्था को सम्हालने, समुन्नत बनाने में लगे रहते हैं । उनकी जीवन साधना की महक देश में ही नहीं, सारे विश्व में फैल रही है ।

रेडक्रास के जन्मदाता

उन दिनों इटली और आस्ट्रिया के बीच भयंकर युद्ध चल रहा था । जीतने की धुन में आगे बढ़ने और शत्रु सैनिकों को मारने का जुनून दोनों पक्षों पर सवार था । पर मरों की और घायलों की देख-भाल की, किसी पक्ष को चिंता न रहती थी । उन्हें दयनीय दुर्दशा में पड़े रहना पड़ता था ।

इस समस्या पर जेनेवा बैंक के एक कर्मचारी जीन हैनरी डूमा ने भावनापूर्ण मनःस्थिति से विचार किया और तात्कालिक उपाय सोचा । उनने नौकरी छोड़ दी । फ्रांसीसी डालजीरिया में एक फार्म खरीदा और दोनों पक्षों से संपर्क साधकर इस बात पर सहमत किया कि घायलों की चिकित्सा और मृतकों की अंत्येष्टि की सुविधा उन्हें दी जाय । इस प्रयास का नाम रखा गया—'रैडक्रोस' । उसका आरंभ तो छोटे रूप में हुआ, पर आए दिन होने वाले युद्धों में उसकी उपयोगिता बढ़ गई । अनेक देशों की सरकारों ने इसमें सहयोग किया । एक आचार संहिता बनी कि युद्ध क्षेत्र में घायलों को उठाने के लिए जाने वाले रैडक्रोस वाहनों को कोई रोकेगा नहीं । रैडक्रोस की आज बहुत ही समुन्नत स्थिति है । इसका श्रेय डूमा को है, जिन्हें नोबुल पुरस्कार भी मिला ।

स्काउटिंग आंदोलन

अनेक निर्माणों के कार्य संसार में चल रहे हैं पर जिन्हें सच्चे अर्थों में मनुष्य कहा जा सके, ऐसे मनुष्यों का निर्माण कहीं व्यक्तिगत या सामूहिक रूप से देखने को मिल रहा हो ऐसा देखने में नहीं आता था ।

यह कार्य विद्यार्थियों को माध्यम बनाकर ब्राउन सी द्वीप निवासी राबर्ट वेडेन पावेल ने अपने हाथ में लिया । छात्रों में पाई जाने वाली साहसिकता और विनोदप्रियता का सम्मिश्रण करके उनने एक रूपरेखा बनाई । उसका नाम रखा—'बाय स्काउट' आंदोलन ।

आरंभ में यह कार्य उसने अपने संपर्क क्षेत्र में प्रयुक्त किया । पर उसके सत्परिणामों को देखते हुए उसे दूर-दूर तक व्यापक बनने का अवसर मिला । कितने ही देशों में अध्यापक लोग उसे व्यक्तिगत रुचि के कारण चलाते थे । बाद में कितनी ही सरकारों ने उस प्रक्रिया को पाठ्यक्रम के रूप में स्वीकार कर लिया । 'स्काउटिंग' से मिलते-जुलते नाम रखकर कितने ही देशों में स्वयंसेवक दल के नाम पर उसे कार्यान्वित किया । पर वह सूझ आज संसार भर में कार्यान्वित हो रही है । मात्र ७० वर्ष में उसने विश्व आंदोलन का रूप ले लिया है । कारण कि उसके सिद्धांत और क्रिया-कलाप सर्वत्र उपयोगी माने गए हैं ।

चार पीढ़ियों से चलता अस्पताल

रोजेस्टर नगर का केयो अस्पताल अपने ढंग का अनौखा है । उसका छोटा रूप विकसित होते-होते अब कहीं से कहीं पहुँचा है । चार पीढ़ी पूर्व डॉ० विलियम वारेल ने अपने घर-परिवार के साथ आरंभ किया था । पर रोगियों के साथ पूरी दिलचस्पी लेने और भरपूर सहानुभूति रखने के कारण वह दिन दूनी रात चौगुनी प्रगति करता गया ।

इस अस्पताल में इन दिनों ९ सौ सर्जन, तीन सौ अड़तालीस फिजीशियन और पाँच सौ पचहत्तर साधारण योग्यता के डॉक्टर हैं । देश-देशांतरों से रोगी उसमें भर्ती होने और कठिन रोगों का इलाज कराने आते हैं । ऐसे आगंतुकों की संख्या १ लाख ८० हजार तक पहुँचती है । इमारत अब गगनचुंबी है और उसमें रोगियों तथा कर्मचारियों के रहने की समुचित सुविधा है । साथ ही एक मेडिकल कॉलेज भी इसमें चलता है, जिसमें चिकित्सा के आधुनिकतम साधनों के अतिरिक्त सबसे बड़ी बात यह सिखायी जाती है कि डॉक्टर रोगी को कितनी अधिक सेवा और सहानुभूति प्रदान करे । डॉ० वारेल की चार पीढ़ियाँ इसी धंधे में संलग्न रहीं । उन्हें गर्व है कि वे ऐसा शानदार संस्थान चलाने की पैतृक परंपरा निभा रहे हैं । चिकित्सालय को अब सार्वजनिक घोषित कर दिया गया है ।

सत्संग से परमार्थ की शिक्षा

गुलाब का पौधा राजनीतिज्ञ के पास कुछ सीखने के उद्देश्य से पहुँचा । राजनीतिज्ञ ने सिखाया, जो जैसा व्यवहार करता है उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए । दुष्ट के साथ दुष्टता करना ही नीति है, यदि ऐसा न किया गया तो संसार तुम्हारे अस्तित्व को मिटाने में लग जायेगा । गुलाब ने उस राजनीतिवेत्ता की बात गाँठ बाँध ली । घर लौटकर आया तो अपनी सुरक्षा के लिए काँटे उत्पन्न करने लगा जो कोई उसकी ओर हाथ बढ़ाता वह काँटे छेद देता था ।

कुछ दिनों बाद उस पौधे को एक साधु से सत्संग करने का अवसर मिल गया । साधु ने उसे बताया- 'परोपकार में अपने जीवन को खपाने वाले से बढ़कर सम्माननीय कोई दूसरा नहीं होता ।'

परिणामस्वरूप गुलाब ने उसी दिन अपने प्रथम पुष्प को जन्म दिया । उसकी सुगंध दूर-दूर तक फैलने लगी । जो भी पास से गुजरता कुछ क्षण के लिए उसके सौंदर्य तथा सुरभि से मुग्ध हुए बिना न रहता ।

सूर्य को अनुशासन पर पाठ

सृष्टि के आरंभ की बात है । महामुनि अंगिरा ने सूर्य भगवान का तप किया । वे प्रकट हुए और वर माँगने के लिए कहा । उन दिनों सूर्य नारायण मनमौजी आचरण करते थे; कभी निकलते, कभी कई-कई दिन तक बैठे सुस्ताते रहते ।

अंगिरा ने सामने खड़े सूर्य भगवान से कहा-"मैं स्नान को जाता हूँ । लौटकर वर माँगूँगा । मेरे आने तक आप विश्राम न करें, कार्यरत् बने रहेंगे ।" सूर्य सहमत हो गए ।

अंगिरा ने गहरी डुबकी लगाई और समाधि लेकर यह काया त्याग दी । उनका अभिप्राय था वचनबद्ध सूर्य नारायण विश्राम के लिए न लौटें और जनहित में निरंतर निरत रहें । देर लगने पर त्रिकालदर्शी सूर्य नारायण ने वस्तुस्थिति समझी और भक्त की इच्छा पूरी करने के लिए बिना विश्राम गतिशील रहने का क्रम बना लिया । मुनि ने शरीर देकर भी दिन-रात्रि चक्र व्यवस्थित कर दिया ।

नदी प्रतिदान नहीं चाहती

चट्टान रास्ते में बैठी थी । नदी का प्रवाह रोक कर बोली-"बहन ! थोड़ी देर सुस्ता लो, यह दुनिया कृतघ्नों से भरी है । तुम्हारी उदार तत्परता की कोई सराहना तक नहीं करेगा ।"

नदी ने चट्टान की सद्भावना को सराहा; पर रुकी नहीं, बोली-"इस कार्य में जो आत्म संतोष मिलता है, वही क्या कम है, जो लोगों की कृतज्ञता, कृतघ्नता को देखने का प्रयत्न करूँ ?"

ठीक ही है, प्रतिदान की अपेक्षा सामान्य जन करते हैं, सत्पुरुषों को केवल अपने लक्ष्य पर बढ़ना आता है ।

दुःख उठाकर भी सुख देने में उन्हें रस आता है ।

सुंदर वह, जो सुंदर करई

सुकरात बहुत कुरूप थे, फिर भी वे सदा दर्पण पास रखते थे और बार-बार मुँह देखते रहते । एक मित्र ने इस पर आश्चर्य किया और पूछा, तो उन्होंने कहा-"सोचता यह रहता हूँ कि इस कुरूपता का प्रतिकार मुझे अधिक अच्छे कार्यों की सुंदरता बढ़ाकर करना चाहिए । इस तथ्य को याद रखने में दर्पण देखने से सहायता मिलती है ।"

इस संदर्भ में एक दूसरी बात सुकरात ने कही-"जो सुंदर हैं, उन्हें भी इसी प्रकार बार-बार दर्पण देखना चाहिए और सीखना चाहिए कि ईश्वर प्रदत्त सौंदर्य में कहीं दुष्कृत्यों के कारण दाग-धब्बा न लग जाय ।" उनका मत था-'मनुष्य में चंदन जैसे गुण चाहिए, सुडौल हो या बेडौल, बिखेरें सुगंध ही ।'

कर्तव्यनिष्ठ प्रहरी

इटली के पोम्पियायी नगर में अब से दो सौ वर्ष पूर्व एक भयंकर भूकंप आया, साथ ही ज्वालामुखी भी फटा । नगर के सभी नागरिक प्राण बचाने के लिए भागे, तो भी उस विनाशलीला की चपेट में असंख्यों आ गए ।

अब उस नगर की पुरातत्व विभाग ने खुदाई करायी है, तो मात्र किले के एक प्रहरी का कंकाल इस स्थिति में पाया गया कि वह मुस्तैदी से कंधे पर बंदूक रखे पहरा देता रहा और मलबे में दब गया ।

उस कर्तव्यनिष्ठ प्रहरी का कंकाल सड़ी बंदूक समेत अब उन खंडहरों के प्रवेश द्वार पर शीशे की आलमारी में बंद करके लगाया गया है । नीचे लिखा है-'वह कर्तव्यनिष्ठ, जिसने मौत को स्वीकार किया; पर ड्यूटी से न हटा ।'

मुनयो वयमत्रैवं महत्तापथमाश्रिताः ।
प्रतीयमानाश्चाभावैर्ग्रस्ता अपि निरन्तरम् ।। ६२ ।।
सम्मानास्पदमायाता जनानामत एव तु ।
मार्ग एषोऽस्ति वै देवमानवानां सुनिश्चितम् ।। ६३ ।।
कर्तव्यमिदमस्माकं मार्गेऽस्मिन् गन्तुमुन्मुखाः ।
जनाः सर्वे यथा स्युस्ते तथा प्रेर्या निरन्तरम् ।। ६४ ।।
सुखमुत्कर्षजन्यं ते लप्स्यन्ते वयमप्यलम् ।
श्रेयोऽधिकारणः स्याम बहुमूल्यं यदुच्यते ।। ६५ ।।

टीका-हे मुनि वर्ग ! हम सब महानता के पथ पर चले हैं । अभावग्रस्त दीखने पर भी जन-जन के सम्मानास्पद बने हैं । देव जनों का यही मार्ग है । हमारा कर्तव्य है कि जन-जन को इसी मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें । इससे उन्हें उत्कर्षजन्य सुख मिलेगा और हम श्रेयाधिकारी बनेंगे, जो बहुमूल्य कहा जाता है ।। ६२-६५ ।।

अर्थ-महानता के पथ पर चलने वाले अभावग्रस्त जैसे दिखते भर हैं, होते नहीं । उनके पास दैवी संपदा की भारी पूँजी होती है, जिससे चाहें तो लौकिक संपदा भी पैदा की जा सकती है । जन-जन को श्रेष्ठ मार्ग पर चलने की प्रेरणा वे ही दे सकते हैं, जो स्वयं उस मार्ग के नैष्ठिक साधक हों और जनता की श्रद्धा के पात्र भी हों । श्रेष्ठ मार्ग पर चलने वालों को उन्नति का सुख मिलता है और चलाने वाले श्रेय पाते हैं ।

भारद्वाज द्वारा भरत का आतिथ्य

महर्षि भारद्वाज वन में रहते थे । राम वन गमन प्रसंग में भरत श्रीराम को मनाने चित्रकूट गए । साथ में सेना और नागरिकों की विशाल भीड़ थी । भरत की आदर्शनिष्ठा से ऋषि प्रसन्न हुए । उन्होंने भरत का मान रखने के उद्देश्य से उन्हें एक दिन रुक कर आतिथ्य स्वीकार करने को कहा । भरत ने ऋषि वचन मानकर उसे स्वीकार किया ।

यह समाचार जानकर राज्याधिकारी तथा नागरिक उलझन में पड़ गए, कि जिनके पास पहनने के वस्त्र तक नहीं, वे ऋषि इतने सम्पन्नों की इतनी बड़ी संख्या का आतिथ्य कैसे करेंगे ? पर जब ऋषि ने अपनी दिव्य शक्तियों का विस्तार किया तो हर व्यक्ति अचंभित रह गया । किसी को किसी प्रकार की कमी का अनुभव नहीं हुआ ।

महात्मा गाँधी आधे कपड़े पहने रहते थे । देखने में लगता था कृशकाय दीन-हीन व्यक्ति हैं । परंतु जन सम्मान की शक्ति के आधार पर उन्होंने जब चाहा, करोड़ों एकत्रित कर लिए और जब चाहा लाखों को किसी भी मोर्चे

पर लगा दिया । उनकी इसी शक्ति से अंग्रेज हुकूमत भयभीत रहती थी ।

ब्रह्मवेत्ता का अपरिग्रह

राजा जनक महल की छत पर सोये हुए थे । हंस-हंसिनी अटारी की मुँडेर पर बैठे वार्तालाप करने लगे । हंसिनी बोली-"इन दिनों सबसे बड़े ब्रह्म ज्ञानी राजा जनक हैं ।" हंस ने बात काट कर कहा-"तुम रैक्य को जानती नहीं ! अपने समय के वे ही सबसे बड़े ब्रह्म वेत्ता हैं ।" हंसिनी ने पूछा-"भला कौन हैं रैक्य ?" हंस ने उत्तर दिया-"अरे, वह गाड़ी वाला रैक्य, जो गाड़ी खींचकर बोझ ढोता और अयाचित वृत्ति से निर्वाह करता है ।"

जनक अधजगे थे । वे पक्षियों की भाषा जानते थे, हंस-हंसिनी की वार्ता ध्यानपूर्वक सुनने के निमित्त करवट बदलने लगे । आहट पाकर हंस-युग्म चौकन्ना हुआ और उड़ गया । बात अधूरी रह गई ।

राजा को नींद नहीं आई । रैक्य कौन हैं ? कहाँ रहते हैं ? उनसे सम्पर्क कैसे सधे ?-यह विचार उन्हें बेचैन किये हुए थे । सबेरा होते ही दरबार लगा । राजा ने सभासदों से गाड़ी वाले रैक्य को ढूँढ़ निकालने का आदेश दिया । दौड़-धूप तेजी से आरंभ हो गई ।

कठिनाई से बहुत दौड़-धूप के बाद रैक्य का पता चला । राजदूतों ने उनसे जनक नगरी चलने का अनुरोध किया । जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया और कहा-"मुझे राजा से क्या लेना-देना; अपना प्रस्तुत कर्तव्य पूरा करूँ या इधर-उधर भागता फिरूँ ।"

दूतों ने सारा विवरण जा सुनाया । जनक स्वयं ही चल पड़े और वहाँ पहुँचे, जहाँ रैक्य गाड़ी खींच-धकेल कर निर्वाह चलाते और साधना सेवा का समन्वित कार्य चलाते थे ।

राजा ने इतने बड़े ब्रह्म ज्ञानी को ऐसा कष्ट साध्य जीवनयापन करते देखा, तो द्रवित हो उठे । सुविधा-साधनों के लिए उनने धन-राशि प्रस्तुत की ।

अस्वीकार करते हुए रैक्य ने कहा-"राजन् ! यह दरिद्र नहीं ब्रह्मवेत्ता का अपरिग्रह है, जिसे गँवा बैठने पर तो मेरे हाथ से ब्रह्म तेज भी चला जायेगा ।"

तत्व ज्ञान के अनेक मर्म रहस्यों को सत्संग में जानने के उपरांत जनक यह विचार लेकर वापस लौटे कि विलासी नहीं, अपरिग्रही ही सच्चा ब्रह्मज्ञानी हो सकता है, उन्हें नई दिशा मिली । उस दिन से उन्होंने अपने हाथों कृषि करने, हल चलाने की नई योजना बनाई और श्रम-उपार्जन के सहारे निर्वाह करते हुए राज-काज चलाने लगे ।

दुनियाँ की दृष्टि में गाड़ी चलाकर जीवनयापन करने वाले रैक्य वास्तव में कितने महान्, कितने समर्थ थे, यह इसी से स्पष्ट होता है कि जनक जैसे राजर्षि उनके शिष्य बने ।

विश्वास ही सर्वोपरि शक्ति है

एक बार राजा त्जेकुंग कनफ्यूसियस से पूछने गए कि सुचारू रूप से राज्य संचालन के लिए किन वस्तुओं की आवश्यकता है । उत्तर में उनने तीन वस्तुएं गिनाईं-(१) फौज, (२) कोष, (३) प्रजा का विश्वास ।

त्जेकुंग ने फिर पूछा कि इनमें से एक कम करनी पड़े तो वह क्या हो ? संत ने कहा-"फौज ।" दूसरी का प्रश्न किया गया, कि यदि शेष दो में से एक और कम करना पड़े तो क्या छोड़ा जाय ? उत्तर मिला-"कोष ।" और भी अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कनफ्यूसियस ने कहा-"प्रजा का विश्वास सर्वोपरि शक्ति है ।" सत्पुरुष चाहे राजा हो या संत, इसी को अपनी वास्तविक सम्पदा मानकर चलते हैं ।

पर्लबक-जिसने देहातों के संबंध में ही सोचा

पर्लबक जब जन्मीं, तब उनके पिता चीन में धर्म प्रचारक थे । वह पिता के साथ जातीं और देहातों की गई-गुजरी दशा को देखतीं । शहरी सुसम्पन्नों और ग्रामीण पिछड़ों की स्थिति देखकर उसे भारी दुःख होता । सोचती रहती वह इस स्थिति के परिवर्तन में क्या कर सकती हैं । उसने स्नातक बनने के उपरांत लेखनी उठायी । स्वयं एक देहात में रहीं । संसार के देहातों का उसने निरीक्षण-पर्यवेक्षण किया और बहुसंख्यक जनता के पिछड़ेपन पर गंभीर चिंतन-मनन किया ।

पर्लबक ने देहाती समस्याओं पर प्रायः साठ पुस्तकें लिखी हैं । वे सस्ती और सर्वसुलभ हों, इसका ध्यान रखा है । वे ८० वर्ष जीवित रहीं; पर एक ही निर्धारित समस्या पर चिंतन करतीं और समाधान खोजती रहीं । उनकी निष्ठा सदा सराहनीय और अनुकरणीय मानी जाती रहेगी ।

दलितों के उद्धारक आचार्य मिसे

बंबई विश्वविद्यालय से बी०ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर लेने के उपरांत मिसे के सामने प्रश्न था, कि आगे क्या किया जाय ? दूसरों का निश्चित मार्ग एक ही था–विवाह करना, बच्चों की पलटन खड़ी करना और उनके लिए नीति-अनीति से धन कमाना । मिसे को इस रास्ते को अपनाने में मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ न दीखा । वे 'गोखले एजूकेशन सोसायटी' के सम्पर्क में आए और आदिवासी क्षेत्रों में काम करने के लिए निकल पड़े । काम, बच्चों को पढ़ाने का सौंपा गया था; पर उनने देखा कि इस समुदाय के बड़े भी बच्चों से गए-बीते हैं । उनने एक जगह बैठकर बच्चों से सिर फोड़ते रहने की अपेक्षा महाराष्ट्र भर के आदिवासियों में युग के अनुरूप चिंतन की क्षमता उत्पन्न करने का काम हाथ में लिया और श्वेत वस्त्रधारी परिव्राजक की तरह भ्रमण करने लगे । जहाँ जितने दिन ठहरने की आवश्यकता समझते, वहाँ उतने दिन ठहरते और फिर आगे बढ़ जाते । इसी प्रकार उनने अपना ७५ वर्ष का जीवन पूरा कर लिया । आदिवासियों में घुल कर उनने आत्मीयता उत्पन्न की, उनकी भाषा सीखी और जो सुधार आवश्यक था, उसकी पूर्ति में अपनी स्वतंत्र बुद्धि एवं परिस्थितियों के अनुरूप गतिविधियाँ अपनाते रहे ।

भारत रत्न विश्वेश्वरैया

बंगलौर में जन्मे विश्वेश्वरैया मध्यवर्ती परिवारों की तरह आर्थिक कठिनाइयों के बीच जन्मे; किन्तु अपना समूचा ध्यान निर्धारित विषय इंजीनियरिंग में लगा देने के कारण उस विषय में पारंगत हो गए । दूसरे साथी नौकरी लगते ही जब मौज-मजा करने में व्यस्त हो गए, तब वे देश की आवश्यकताओं को समझने और उनका समाधान ढूँढ़ने में निरंतर लगे रहे । सूझ-बूझ बढ़ती गयी और उनने एक-से-एक बढ़कर राष्ट्रीय महत्व के निर्माण कार्य सम्पन्न किए । उनकी देख-रेख में राष्ट्र के प्रमुख बाँध तथा कारखाने खड़े हुए । व्यक्तिगत सुविधा की बात उनने सोची तक नहीं । यहाँ तक कि अपने परिवार के लिए निजी घर तक न बनाया ।

उनकी महती सेवाओं के लिए उन्हें 'भारत रत्न' से विभूषित किया गया । डाक टिकट चले । वे १२० वर्ष की आयु तक अपनी नियमितता और संयमशीलता के आधार पर ही जीवित रह सके ।

सच्चे कर्मवीर ठक्कर बापा

अमृतलाल ठक्कर गुजरात में भावनगर में जन्मे । पढ़-लिख कर इंजीनियर हो गए । बंबई कारपोरेशन में उनकी नौकरी लग गई । पर जिन हरिजन मुहल्लों में उन्हें काम करना पड़ता था उनकी दुर्दशा सुधारने के लिए उनने नौकरी छोड़ दी और आजीवन उसी कार्य में लगे रहे । गाँधी जी ने उन्हें हरिजन संस्था का प्रधान बनाया । वे दफ्तर में बैठ कर काम करने पर विश्वास नहीं करते थे वरन् घर-घर जाकर जन-जन से मिलने की कार्य-पद्धति अपनाते थे । उनकी सार्थक साधना ने अगणित पिछड़ों को विकास का सुख दिया और वे स्वयं तो श्रेय सम्मान और सुख के पात्र बने । गाँधी जी ने एक बार कहा था–"मेरे लिए संभव होता तो मैं ठक्कर बापा की तरह कार्य करता ।"

करुणा और प्रेम की मूर्ति बापू

साबरमती आश्रम की बात है । एक दिन रात को एक चोर आ गया । चोर नासमझ था, नहीं तो आश्रम में चुराने के लिए भला क्या था ।

संयोग से कोई आश्रमवासी जग गया । उसने धीरे से कुछ और लोगों को जगा दिया । सबने मिलकर चोर को पकड़ लिया और कोठरी में बंद कर दिया ।

व्यवस्थापक ने प्रातः यह खबर बापू को दी और चोर को उनके सामने पेश किया । बापू ने निगाह उठाकर उसकी ओर देखा । वह नौजवान सिर झुकाए आतंकित खड़ा था कि बापू उससे नाराज होंगे और हो सकता है कि उसे पुलिस को सौंप दें ।

लेकिन बापू ने जो किया, उसकी तो वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकता था । बापू ने उससे पूछा–"क्यों तुमने नाश्ता किया ?"

कोई उत्तर न मिलने पर उन्होंने व्यवस्थापक की ओर प्रश्नभरी मुद्रा में देखा । व्यवस्थापक ने कहा–"बापू ! यह तो चोर है, नाश्ते का सवाल ही कहाँ उठता है ।"

बापू का चहेरा गंभीर हो आया । दुःख भरे स्वर में बोले–"क्यों, क्या यह इन्सान नहीं है ? इसे ले जाओ और नाश्ता कराओ ।"

व्यवस्थापक, जिसे चोर मानकर लाए थे, वह अब एक क्षण में इन्सान बन गया था । उसकी आँखों में प्रायश्चित के आँसू बह रहे थे ।

करुणा ने बुद्ध को बुद्ध बनाया, प्रेम ने महावीर को महावीर बनाया, किन्तु करुणा और प्रेम ने गाँधी को बापू बना दिया ।

महामानवसंज्ञानामुत्पादनमिहोदितम् ।
उद्यानं कल्पवृक्षाणां स्थापनं पुण्यदं यथा ।। ६६ ।।
प्रयासेऽस्मिंश्च प्रत्येकदृष्ट्या स्वस्याऽपि सम्मतम् ।
कल्याणं पुरुषैरन्यैः सहैव विश्वमंगलम् ।। ६७ ।।
स्वीकृतौ संयमस्याथ संतोषस्याऽपि हे जनाः ।
विप्रवृत्तौ च सामर्थ्यमवशिष्यत एव यत् ।। ६८ ।।
सत्प्रवृत्तिविकासे च पुण्ये च परमार्थके ।
नियुञ्जते तु ये तेऽत्र साधवः संस्मृता बुधैः ।। ६९ ।।

टीका–महामानवों का उत्पादन इस विश्व में कल्पवृक्षों के उद्यान के लगाने जैसा पुण्यफलदायक है । उस प्रयास में हर दृष्टि से, हर किसी का, साथ ही अपना भी कल्याण है, जिसे विश्वकल्याण कहना अधिक उपयुक्त है । संयम एवं संतोष की ब्राह्मणवृत्ति अपनाने के उपरांत जो सामर्थ्य बचती है, उसे सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन में लगाने, पुण्य–परमार्थ में नियोजित करने वाले ही साधु कहलाते हैं ।। ६६–६९ ।।

अर्थ–महामानवों को कल्पवृक्ष के समान कहा गया है । कल्पवृक्ष के सान्निध्य में हर व्यक्ति कामना पूर्ति का सुख पाता है । महामानवों के प्रयास से ही अभाव दूर होते हैं । इसीलिए महामानव बनाने, बढ़ाने का प्रयास सर्वोपरि परमार्थ है । संयम से बचाना और परमार्थ में लगाना ही साधुता है ।

राजा दिलीप और रघु

राजा दिलीप राज्य कार्य से समय निकाल कर देश के विभिन्न आश्रमों–आरण्यकों में जाते थे । तेजस्वी राजकुमार रघु किशोर हो गए, तो उन्हें भी साथ ले जाने लगे ।

एक बार रघु ने सहज जिज्ञासावश पूछा–"पिताजी ! आप महत्वपूर्ण राज्य कार्यों की तरह ही आश्रमों में जाने का ध्यान रखते हैं । ऋषियों को उच्चतम अधिकारियों से भी अधिक सम्मान देते हैं, जबकि प्रत्यक्ष में उनकी उपयोगिता दिखती नहीं है ।"

राजा बोले–"वत्स ! ठीक प्रश्न किया । राज्य की आदर्श व्यवस्था हम चलाते हैं । उसका श्रेय भी हमें मिलता है । पर ऋषिगण ऐसे व्यक्तित्व गढ़ते हैं, जो आदर्श व्यवस्था की योजना बना सकें, उसे क्रियान्वित कर सकें । यदि ऐसे व्यक्तित्व न बनें, तो लाख प्रयास करने पर भी व्यवस्था अस्त–व्यस्त हो जाय । जिनके कारण यह तंत्र व्यवस्थित चल रहा है, उनके निर्माताओं का जितना सम्मान किया जाय, उन पर जितना ध्यान दिया जाय कम है । मेरा चिंतन और मेरी सामर्थ्य तथा तुम्हारा व्यक्तित्व भी ऋषि कृपा से ही इस रूप में ढला है ।"

महामानवों की पौध

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के ज्ञान से प्रभावित श्री माथुर बाबू एक बार पूछ बैठे–"महाराजजी, आपके विचारों का स्पर्श पाकर जन जीवन धन्य हो जायगा । आप प्रचार के निमित्त निकलते क्यों नहीं ?"

परमहंस बोले–"बेटे ! मैंने कुछ पौधे लगा रखे हैं, उनकी देखभाल करने के लिए यहाँ रहता हूँ ।" माथुरा बाबू बोले–"प्रभु वह काम तो माली.....।"

परमहंस बीच में ही हँस पड़े । पास बैठे नरेन्द्र, राखाल आदि की ओर इशारा करके बोले–"माली साधारण पौधे संभाल सकता है, इन कल्पवृक्षों को तो मुझे ही सँभालना है । जो काम तू चाहता है, वह यही कर लेंगे ।"

स्वामी रामकृष्ण के लगाये कल्पवृक्षों का लाभ सारे संसार ने खूब उठाया और उठाता रहेगा ।

जरथुस्त का स्वप्न

जरथुस्त को बोध हो चुका था । अहुरमजदं (परमात्मा) का सत्य, न्याय और प्रेम (दान–सेवा) का संदेश जन–जन तक पहुँचाने का अभियान चालू कर चुके थे । उसे तीव्र गति देने के लिए

संस्करवान समर्थ व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव की । ईरान में 'बल्ख' साम्राज्य का शासक गुश्तास्प सत्पुरुष था । वे उसके सामने स्वप्न में प्रकट हुए तीन प्रतीक लेकर-

एक हरा पौधा देते हुए कहा-"यह सद्भाव का प्रतीक । परमात्मा एक है, उसके अनुशासन पर चलने और चलाने की आस्था, सबके हृदयों में आरोपित करना अपना पवित्र कर्तव्य मानो ।"

एक पुस्तक दी, कहा-"यह सद्ज्ञान है, इसे समझने, समझाने का क्रम बढ़ाओ ।"

एक अग्नि पिंड दिया, कहा-"यह दिव्य अग्नि (यज्ञाग्नि) सत्कर्म का प्रतीक है । यह जलाती नहीं, बुझती नहीं, अनित्य है । इसका विस्तार करो । तुम्हें पवित्र यश मिलेगा, तुम्हारा राज्य सुखी-समुन्नत बनेगा ।" सद्भाव, सद्ज्ञान और सत्कर्म का संयोग चमत्कारी परिणाम उत्पन्न करता है ।

शासक गुश्तास्प प्रभावित हुआ । उसका जीवन सही दिशा में घूमा और उसके साधनों और प्रभाव के सदुपयोग से सारे क्षेत्र में दैवी वातावरण का विस्तार हो गया ।

सच्ची सेवा संत फ्रांसिस अमीर घर के बेटे थे । उन्हें ईसा के वचन गले उतरे । वे कहते थे गरीब बनकर ही दुखियों का दुःख समझा जा सकता है और उनकी सच्ची सेवा की जा सकती है ।

उनने अपनी सम्पदा दान कर दी और गरीबों में घुल-मिल कर उनके कल्याण का उपाय बताते रहे ।

जिनने धर्म का कलेवर नहीं-प्राण समझाया जार्जिया के पिछड़े प्रदेश में हेरी काल्ड वेल को पादरी बनाकर भेजा गया । यों उन पर उत्तरदायित्व बाइविल की शिक्षा का प्रचार और महाप्रभु ईसा के प्रति भक्तिभाव पैदा करना था । पर उनने जार्जिया क्षेत्र का पर्यवेक्षण करके देखा कि वहाँ स्वार्थपरता और रूढ़िवादिता हद दर्जे की थी । उसे हटाये या घटाये बिना, बाइविल के मंत्र सुने या सुनाये भर जा सकते थे पर उन्हें जीवन में उतारा नहीं जा सकता था ।

काल्डवेल ने अपनी विवेक-बुद्धि से काम लिया । बाईविल प्रचार के साथ-साथ नागरिकता के प्राथमिक कर्तव्यों और विवेक की कसौटी हर प्रसंग में प्रयुक्त करने की बात कही । फलस्वरूप उस क्षेत्र में ईसाई धर्मानुयायी कहे जाने वाले लोग तो बहुत नहीं बने पर मानवी कर्तव्य और उत्तरदायित्वों को जानने तथा अपनाने की मनोवृत्ति असंख्यों में पैदा हो गयी ।

विचारशीलों ने उन्हें सच्चा धर्मोपदेशक कहा ।

बिना छपे संस्करण जापान के एक बौद्ध भिक्षु ने अपने मत के धर्म ग्रंथों को प्रकाशित करने के लिए धन एकत्रित किया । उस वर्ष पानी न बरसा, भिक्षु ने वह पैसा पीड़ितों की सेवा में लगा दिया । दूसरे वर्ष बाढ़ आई । इस बार का संग्रहीत पैसा उसमें लगाया गया । तीसरी बार के संग्रह से ग्रंथ छपा । उस पर तीसरा 'संस्करण' लिखा हुआ था । पूछने पर बताया गया कि दो संस्करण उन्हीं को दीख सकते हैं जिन्हें प्रेम और सेवा की आँखें मिली हों ।

सतामेव च देशोऽयमस्माकं पथिशोभने ।
आत्मकल्याणके पादन्यासोऽस्माभिः कृतोऽत्र च ।। ७०।।
द्वितीयश्चरणोऽयं स्याद्देवमानवनिर्मितौ ।
संलग्नाः स्याम एवेह सुखं शान्तिरनेन च ।। ७१।।
स्यातां पन्थाः प्रशस्तः स्यात्प्रगतेरपि सन्ततम् ।
समृद्धेश्च नहि न्यूना योगाभ्यासादियं भुवि ।। ७२।।
लोकानां साधनायां च स्वीकृत्योभयथा स्वतः ।
प्रयोजनं सुसिद्धं स्यान्निर्बाधं मङ्गलोन्मुखम् ।। ७३।।

टीका-हमारा देश तो संतों का है ही । आत्म कल्याण के मार्ग पर कदम बढ़ा चुके, अब दूसरा चरण यह उठाना चाहिए कि संसार में देव मानवों के उत्पादन में जुट पड़ें । इसी से संसार की सुख-शांति बढ़ेगी । प्रगति और समृद्धि का पथ-प्रशस्त होगा । लोक साधना किसी भी योगाभ्यास से कम नहीं है । इसे अपनाने पर

दुहरा प्रयोजन निर्बाध रूप से सधता है । जिसका प्रवाह मंगलोन्मुख होता है ।। ७०–७३ ।।

अर्थ–महानता के मार्ग पर दो चरणों में अग्रसर हुआ जाता है–आत्म कल्याण और जन कल्याण । लोक जीवन को ऊँचा उठाना ही लोक साधना है । इसी में ऊपर कहे दोनों चरण शामिल हैं । लोक साधना से वे सभी लाभ पाये जा सकते हैं, जो किसी उच्चस्तरीय योग साधना से प्राप्त होते हैं ।

भारत संतों का देश रहा है, वेश से नहीं, प्रवृत्तियों से । ऋषिगण सारे विश्व में घूमकर जन-जन का मार्गदर्शन करते थे । इसीलिए सारे विश्व में भारत को संतों का देश माना जाता रहा है । 'स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः' अपने चरित्रों के प्रभाव से सारे विश्व के मानवों का शिक्षण करते रहने का उद्घोष ऋषियों का ही रहा है ।

संत के वेश में तो संत गए ही हैं, व्यापारी एवं शासकों के रूप में भी इस देश से संत ही गए हैं । यदि कहीं अनीति करने वाले राजा मिले, तो उन्हें परास्त करके राज्य पर स्वयं अधिकार नहीं किया, उन्हीं में से किसी सत्पुरुष को राज्य सौंप दिया । श्रीराम ने बालि को मारकर सुग्रीव और रावण को मारकर विभीषण को राज्य दिया ।

श्रीकृष्ण ने जीवन भर युद्ध किया; पर कहीं भी सत्ता नहीं छुई । सत्पात्रों को ही अधिकार सौंपते रहे ।

परशुराम जी ने भी २१ बार दुष्टों के हाथ से राज्य छीन कर सज्जनों को सौंपा था । स्वयं कुछ नहीं लिया ।

सभी का प्रयास एक ही रहा है कि सज्जनों की परिपाटी विश्व स्तर पर बनी रहे ।

स्वामी रामतीर्थ स्वामी रामतीर्थ शिक्षा और वेश-विन्यास में अन्य साधु-संन्यासियों की तरह ही थे; पर उनकी भावनायें जीवनचर्या में इतनी ओत-प्रोत थीं कि जो भी उनके सम्पर्क में आता प्रभावित हुए बिना न रहता । ख्याति सुनकर तत्कालीन आनरेरी राष्ट्रपति रूजवेल्ट उनसे मिलने गए थे ।

कई धमाचार्यों ने उन्हें जीवित मसीहा कहा था । यह उनकी उच्चकोटि की भावना और उसमें तन्मयता का प्रतिफल था ।

महानता के अनिवार्य चरण नरेन्द्र संन्यास लेकर विवेकानंद बन चुके थे । उन्हें परमहंस जी ने उपासना-साधना करायी पर समाधि तक ले जाकर रोक लिया, कहा–"तुम्हें लोक सेवा का कार्य करना है ।"

विवेकानंद जी ने पूछा–"लोक सेवा करानी थी, तो इतना समय व्यक्तिगत साधना में क्यों लगवा दिया ?" उत्तर मिला–"आत्म साधना के बिना लोक साधना नहीं, जो बना नहीं वह बनायेगा क्या ? और जो नया नहीं बनाया तो स्वयं बनने का क्या लाभ ।"

विवेकानंद जी ने इस मंत्र को सदा याद रखा । संन्यासियों को उपासना और सेवा-साधना का संयुक्त पाठ्यक्रम ही दिया जाता रहा है । लोक साधना किसी भी योग साधना से कम नहीं ।

मीरा मीरा ने सत्प्रवृत्ति के संवर्द्धन के लिए अपनी काव्य प्रतिभा एवं स्वर साधना का प्रयोग प्रारंभ कर दिया । राज घराने की परंपरा के विपरीत होने से उनके पति महाराणा ने उनको आभूषणों में सर्प रखकर भेजे, पेय में घातक विष मिलाकर भेजा, पर मीरा पर उनका कोई प्रभाव नहीं हुआ । किसी योगी सिद्ध की तरह उनके कुप्रभाव से मीरा बची रहीं । यह उनकी लोक आराधना का ही प्रभाव था ।

रैदास संत रैदास चमड़े का कार्य करते थे । उन्होंने जन-स्तर पर सत्प्रवृत्तियों की स्थापना को ही अपनी साधना मान रखा था । प्रभु का कार्य मानकर उसे करते थे । उसी के प्रभाव से उनके चमड़ा भिगोने की कठौती में गंगा फूट पड़ी थीं । उन्होंने कोई चमत्कारी साधना नहीं की थी ।

साधन नहीं, अच्छे इंसान चाहिए आइन्स्टाइन से किसी ने पूछा कि संसार में इतने दुःख और कलह क्यों हैं, जबकि विज्ञान ने एक से एक बढ़कर सुख-साधन उत्पन्न कर दिए ।"

उत्तर देते हुए उन्होंने कहा–"कमी एक एक ही रह गई कि अच्छे मनुष्य बनाने की कोई योजना नहीं बनी । देश, संप्रदाय और भाषण के पक्षधर सभी दीखते हैं; पर ऐसे लोग दीख नहीं पड़ते, जो अच्छे इन्सान बनाने की योजना बनायें ।"

आदर्शवादी गुरु-शिष्य

उन दिनों बाबा लोग चेला मूँड़ने की फिराक में रहते । उनको आकाश-पाताल के सपने दिखाकर अपने चंगुल में फँसाये रहते, चमचागीरी कराते और मौज मारते ।

ऐसे वातावरण में रामकृष्ण परमहंस अँधेरे में चंद्रमा की तरह उदित हुए । उन्होंने एक नया आदर्श रखा; लोक सेवा को भगवद् भक्ति कहा । उन्हें एक ही शिष्य मिल सका-विवेकानंद; पर उसे उन्होंने तत्वज्ञान कूट-कूट कर पिलाया । शिष्य ने व्यक्तिगत सुविधा ऋद्धि-सिद्धि या मोक्ष की बात कभी सोची ही नहीं, निरंतर मनुष्य जाति का हित ध्यान में रखा । संसार भर में घूमे और देश-विदेश में भारतीय संस्कृति का यथार्थवादी स्वरूप प्रस्तुत करने में प्राण-प्रण से प्रयत्न किया । श्रेय से सदा दूर रहे । अपने गुरु के नाम से रामकृष्ण परमहंस मिशन की स्थापना की । इस निस्पृहा से उनके प्रति जन श्रद्धा घटी नहीं, वरन् बढ़ी ही । सही व्यक्ति द्वारा सही मार्ग अपनाये जाने का सत्परिणाम सभी ने प्रत्यक्ष देखा । विवेकानंद मात्र ३९ वर्ष जीवित रहे; पर इतने स्वल्पकाल में भी वे महत्वपूर्ण स्थापनायें करने में समर्थ हुए ।

सच्चे देश सेवक

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सर संघचालक गुरु गोलवलकर शिक्षा की दृष्टि से स्नातक और वकील थे; पर उनने देश की स्थिति पर छात्र जीवन से ही ध्यान रखा और सोचा ऐसी विषम परिस्थितियों में धन कमाने की बात नहीं सोची जानी चाहिए, वरन् परिवर्तन के इस संधिकाल में देशभक्त की भूमिका निभानी चाहिए ।

डॉ० हेडगेवार का कुछ दिन सान्निध्य मिला तो साँचे की तरह उनके व्यक्तित्व में पूरी तरह ढल गए । हेडगेवार भीतर और बाहर से समर्पित जीवन जीने के कारण ऐसे प्रतिभाशाली थे कि जो भी उनके सम्पर्क में आता उन्हीं जैसा हो जाता ।

संघ की जिम्मेदारियाँ कंधे पर आने से पूर्व ही उनने मानसिक संन्यास ले लिया था । न विवाह किया, न नौकरी । साइकिल पर बीस-बीस मील की यात्राएँ करके उनने युवकों को संगठित करना और देश भक्ति की भावना भरना आरंभ किया और उस संगठन का कार्यकारी देशभक्तों का एक समुदाय बना दिया ।

सर्वोदयी कृष्णदास जाजू

देश को स्वतंत्रता मिलने के बाद जिन लोगों ने अपने को सत्ता से दूर रख कर रचनात्मक कार्यों को प्रमुख माना उनमें विनोबा की तरह कृष्णदास जाजू भी एक थे ।

उनने स्वर्णपदक सहित वकालत पास की थी । चलती भी अच्छी थी; पर उनने गाँधी जी के परामर्शानुसार सर्वोदयी कार्यक्रमों में ही हाथ डाला और उन्हीं में रस लिया । खादी ग्रामोद्योग, गो सेवा, गाँधी स्मरण निधि आदि ट्रस्ट के अतिरिक्त वे सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में अग्रसर रहे । इसके लिए उनने मारवाड़ी समाज को विशेष रूप से प्रेरणा दी ।

उन्हें कांग्रेस उच्च सत्ता ने प्रदेश का मुखमंत्री, केन्द्रीय सरकार का वित्त मंत्री, किसी राज्य का राज्यपाल बनने के लिए कहा; पर वे निर्धारित कार्यक्रमों को पूरा किये बिना अन्य कार्य हाथ में लेने के लिए किसी प्रकार तैयार न हुए ।

बीकानेर में जन्मे और जयपुर में स्वर्गवासी हुए जाजू अपने पीछे गाँधीवादी परंपरा छोड़ गए हैं । उसे मजबूती से पकड़े रहने वाले कार्यकर्ताओं की आज महती आवश्यकता है ।

पुराणानामृषीणां तां दिव्यां साधुपरम्पराम् ।
महामानवनिर्माणे रताः स्याम स्वयं तथा ।। ७४ ।।
प्रव्रज्या तीर्थयात्रायामपि तस्य कृते सदा ।
अस्मादेव च लोकेषु पशुवृत्तिभ्य एव ते ।। ७५ ।।
पैशाचिक कुकृत्येभ्यो विरतिः स्यात्पिशाचता ।
क्षीणा स्यात्पशुशोधने महामानवतोदयः ।। ७६ ।।
तीर्थयात्राऽभिसम्बद्धप्रयोजनप्रसंगतः ।
यथा समयमस्माकं गतयो विधयस्तथा ।। ७७ ।।
वर्द्धिता अधिकं स्युः सा लक्ष्यप्राप्तिर्यतो भवेत् ।
यां बिना भूतले सत्ययुगस्य स्यान्न सम्भवः ।। ७८ ।।

टीका—हम ऋषियों की महान परम्परा अपना कर महामानवों के उत्पादन में निरत रहें और उसके लिए प्रव्रज्या की तीर्थ—यात्रा में निरत रहें । इसी से लोगों को पशु—प्रवृत्तियों और पैशाचिक उद्दंडताओं से विरत होने का दबाव पड़ेगा । महामानव बढ़ते हैं, तो पशु सुधरते और पिशाच दबते हैं । तीर्थयात्रा के प्रयोजन में अब हमारी गतिविधियाँ समय को देखते हुए और भी अधिक बढ़ जानी चाहिए, ताकि हम लक्ष्य को प्राप्त कर सकें, क्योंकि बिना इसके पृथ्वी पर सतयुग नहीं आ सकेगा ।। ७४—७८ ।।

अर्थ—मानव की पशुता और पैशाचिकता को किसी दबाव या उपदेश से दूर नहीं किया जा सकता । उसे श्रेष्ठता का सशक्त वातावरण ही ठीक करता है और यह महामानवों की संख्या बढ़ने से ही संभव होता है । नरपशु उदाहरण से सुधर जाते हैं, पिशाचों पर दबाव देना पड़ता है, नियंत्रण में रखना पड़ता है । महामानव महामानवों के सम्पर्क से ही बनते हैं । इसीलिए महामानव तीर्थ यात्रा क्रम में सतत् सम्पर्क चलाते रहते हैं ।

सत्पुरुषों के सान्निध्य से पशु स्तर के लोग सुधर जाते हैं, पिशाच स्तर वालों को शक्तिपूर्वक दबाना पड़ता है ।

भगवान श्रीराम की वन यात्रा प्रारंभ हुई । अविकसित स्तर के आदिवासी जो केवल स्वार्थ में लगे रहते थे, वे सहज उत्साह में ही श्रेष्ठ मार्ग में लग गए । उनका स्वार्थ परायण होने का कारण उचित प्रेरणा-मार्गदर्शन का अभाव भर होता है । सत्पुरुषों के सान्निध्य से उनमें उत्साह जागता है । केवट निषाद से लेकर कोल भील तक सज्जनता के आवरण में आ जाते हैं । किन्तु मारीच, सुबाहु, ताड़का, खरदूषण आदि को शक्ति प्रयोग से दबाना पड़ता है ।

श्रीकृष्ण के सान्निध्य में ग्वाल-बालों से लेकर मथुरावासियों तक में सज्जनता का संचार हुआ; परंतु कंस, जरासंध, कौरवों आदि को बलपूर्वक ही दबाना पड़ा । महामानवों के बढ़ने से ही वातावरण बदलता है । जब जिस तरह का परिवर्तन आवश्यक हुआ तब उसी तरह के महामानव पैदा हुए हैं ।

जब विदेशी आक्रांता स्वदेश में छा गए, तो लगातार महाराणा प्रताप, शिवाजी, छत्रसाल, गुरु गोविंद सिंह, वंदा वैरागी जैसे शौर्य सम्पन्न सत्पुरुष पैदा हुए ।

जन चेतना झंकृत करने के लिए चैतन्य, मीरा, सूर, तुलसी, नानक, दादू आदि की शृंखला उमड़ पड़ी ।

भारत स्वतंत्रता के क्रम में तिलक, गोखले, राना डे, गाँधी, सुभाष, नेहरू, पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन और आजाद भगतसिंह, सचीन जैसे सत्पुरुषों का क्रम बना; आगे भी यही क्रम चलना है ।

सत्पुरुषों के उत्पादन और वातावरण परिष्कार के लिए श्रेष्ठ जनों द्वारा तीर्थयात्रा क्रम ही उपयोगी रहा है ।

नारद जी इसी निमित्त सदा चलते रहते थे, रुकते नहीं ।

बुद्ध के परिव्राजक सतत् चलते रहने का संकल्प लेकर ही निकलते थे । दूर देशों तक उन्होंने हाथ में बोधि वृक्ष की डाल लेकर तीर्थ यात्राएँ कीं ।

जगद्गुरु शंकराचार्य ने भी 'भज गोविंदम्' की धुन बोलते हुए देश के चारों कोने एक कर दिए थे ।

चैतन्य महाप्रभु संकीर्तन से सद्भाव जगाते, बंगाल से ब्रज तक और फिर द्वारिका तक तीर्थ यात्रा क्रम से ही चले ।

संत तुलसीदास जी ने तो सत्पुरुषों के समूह को चलता-फिरता तीर्थराज कहा है—'जो जग जंगम तीरथ राजू ।' उसे सत्पुरुषों के उत्पादन का अमोघ सूत्र माना है ।

मज्जन फल पेखिये तत्काला । काक होंहि पिक, बकहु मराला ।।

सत्पुरुषों के सान्निध्य से उस दिव्य तीर्थ में स्नान से कौए जैसी प्रवृत्ति के कठोर व्यक्ति कोयल जैसे मधुर स्वभाव के हो जाते हैं । बगुले जैसे छली, हंस जैसे मुक्ता चुनने वाले नीर-क्षीर विवेक सम्पन्न हो जाते

हैं । इसीलिए ऋषिगण तीर्थयात्रा क्रम को अधिक बढ़ाने का संकल्प लेते हैं ।

प्रश्नोत्तरेण चानेन तत्रत्यानामभून्महान् ।
सन्तोषस्तु सतां तस्माद् युगधर्मानुरूपतः ।। ७९ ।।
तीर्थयात्राऽभिसम्बद्धां पुण्यां तां च परम्पराम् ।
सोत्साहं तैर्विधातुं तु निश्चितं समुदायगैः ।। ८० ।।
शान्तिपाठेन चाऽन्योन्यं वन्दनक्रियया समम् ।
सत्संगोऽद्यतनस्तत्र समाप्तिं प्रययौ शुभः ।। ८१ ।।

टीका—इस प्रश्नोत्तर क्रम से सभी उपस्थित संत समुदाय को बड़ा संतोष हुआ । उनने युग धर्म की दृष्टि से तीर्थयात्रा की पुण्य परंपरा को और भी अधिक उत्साह के साथ चलाने का निश्चय किया । शांति पाठ और अभिवादन की प्रक्रिया के साथ आज का संत समागम विसर्जित हो गया ।। ७९–८१ ।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री आश्वलायन-ऐतरेय-सम्वादे 'देवमानव-समीक्षे, ति
प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ।। १ ।।

।। अथ द्वितीयोऽध्यायः ।।

❁ धर्म-विवेचन प्रकरणम् ❁

द्वितीयस्य दिनस्यात्र संगमे मुनयः समे ।
मनीषिणो यथाकालं संगता उत्सुका भृशम् ।। १।।
मौद्गल्यः प्रश्नकर्त्ताऽभूद्दृषिरद्यतनो महान् ।
पप्रच्छ भगवन् ह्यस्तु महामानवनिर्मितिः ।। २।।
अभिवृद्धिरिह प्रोक्ते महिमाऽस्यास्तथोदिता ।
अनिवार्यत्वमतत्रैद् विषये ज्ञातुमस्ति च ।। ३।।
कान् व्रतान् पालयन् मर्त्यः देवता जायते ध्रुवम् ।
महामानव आदेयं तेन किं त्याज्यमत्र च ।। ४।।
विचार्यं किं विधेयं च किं किमेतत्तु विस्तरात् ।
उच्यतां येन मर्त्याः स्युर्महामानवतां गताः ।। ५।।

आश्वलायन उवाच-

मौद्गल्यप्रमुखा मान्या ऋषयः संगतास्त्विह ।
सर्वे शृण्वन्तु धर्मोऽस्ति केवलं ह्यवलम्बनम् ।। ६।।
तथाविधं यदाश्रित्य मानवाः शान्तिमाप्नुयुः ।
सुखं चापि वसेयुस्ते रक्षिताः सर्वतः स्वतः ।। ७।।

टीका–दूसरे दिन के संत–समागम में सभी उत्सुक मुनि–मनीषी यथा समय उपस्थित हुए । आज के प्रश्नकर्ता मनीषी मौद्गल्य थे । उन्होंने पूछा–"हे भगवन् ! कल महामानवों के उत्पादन–अभिवर्द्धन की महिमा और आवश्यकता बताई गई थी । उसे सुनकर यह जानने की उत्सुकता बढ़ी है कि किन व्रतों को अपनाने से मनुष्य देवमानव बनता है । उसे क्या छोड़ना और क्या अपनाना होता है ? क्या सोचना और क्या करना पड़ता है ? सो विस्तारपूर्वक कहें, जिससे मनुष्य महामानव बन सकें ।। १–५।।

आश्वलायन जी ने कहा–"हे मौद्गल्य समेत सभी ऋषि वर्ग, आप लोग ध्यानपूर्वक सुनें । धर्म ही एकमात्र अवलंबन है, जिसका आश्रय लेकर मनुष्य सुख–शांति पाते, सुरक्षित रहते, आगे बढ़ते और श्रेय पाते हैं ।। ६–७।।

अर्थ–यहाँ स्पष्ट है कि नरपशु, नरपिशाच, देवमानव एवं महामानव-अवतार आदि का स्पष्ट अंतर समझने के बाद ऋषिगण भारतीय तत्वदर्शन के उस व्यावहारिक स्वरूप की जानकारी चाहते हैं । जो किसी भी व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव में परिष्कार कर उसे ऊँचा उठाती, नर से नारायण बनाती है । कोई भी ऊर्ध्वगामी चरण तभी उठ पाता है जबकि कर्ता स्वयं को व्रतों से बाँध लेता है । व्रत अर्थात् संकल्प की शक्ति प्रचंड मानी गयी है । वाल्मीकि, अजामिल, आम्रपाली, अंगुलिमाल जैसे पूर्व के नरपिशाच-सा जीवन बिताने वाले व्रत से बँधने पर ही महानता के पथ पर अग्रसर हो सके । सर्वसाधारण को इन व्रतों के अर्थ जानना ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें इनका व्यापक अर्थ, माहात्म्य सहित समझाया जाना चाहिए तभी उस दिशा में कुछ कदम उठाने की ललक उठती है ।

सत्राध्यक्ष मुनिश्रेष्ठ आश्वलायन समग्र प्रगति, जन-जन के लिए हृदयंगम किये जाने योग्य सूत्रों का रहस्योद्घाटन यहाँ कर रहे हैं । गुण रूपी सम्पदा अपने भीतर ही निहित है, किन्तु जानकारी के अभाव में मनुष्य दर-दर भटकता, ठोकरें खाता और भ्रांतियों का शिकार होता है । मनुष्य का शरीर एक दीपक की

भाँति है और चेतना (आत्मा) दीपक में जलती हुई ज्योति की भाँति है ।

मिट्टी के दिए में ध्यान रहा तो जीवन व्यर्थ है । दीपक की ज्योति में ही ध्यान रहना चाहिए । यही धर्म का वास्तविक स्वरूप है । यदि धर्म के व्यावहारिक रूप का मनुष्य को बोध हो सके तो प्रगति की असीम संभावनाओं का पथ प्रशस्त हो जाता है ।

सुखदा मणि और चोर

प्राचीनकाल में एक संत थे । धर्म श्रद्धा के कारण सदा प्रसन्न रहते; चेहरे से उल्लास टपकता रहता । चोरों ने समझा उनके पास कोई बड़ी दौलत है, अन्यथा हर घड़ी इतने प्रसन्न रहने का और क्या कारण हो सकता है ।

अवसर पाकर चोरों ने उनका अपहरण कर लिया, जंगल में ले गये और बोले–"हमने सुना है कि आपके पास सुखदा मणि है, इसी से इतने प्रसन्न रहते हैं, उसे हमारे हवाले करो, अन्यथा जान की खैर नहीं ।

संत ने एक-एक करके हर चोर को अलग-अलग बुलाया और कहा–"चोरों के डर से मैंने उसे जमीन में गाड़ दिया है । यहाँ से कुछ ही दूर पर एक स्थान है । अपनी खोपड़ी के नीचे चंद्रमा की छाया में खोदना, मिल जायगी ।"

संत पेड़ के नीचे सो गए । चोर अलग-अलग दिशा में चले और जहाँ-तहाँ खोदते फिरे । जरा-सा ही खोद पाते कि छाया बदल जाती और उन्हें जहाँ-तहाँ खुदाई करनी पड़ती । रात भर में सैकड़ों छोटे-बड़े गड्ढे बन गए; पर कहीं मणि का पता न लगा ।

चोर हताश होकर लौट आये और संत पर गलत बात कहने का आरोप लगाकर झगड़ने लगे ।

संत हँसे, बोले–"मूर्खो ! मेरे कथन का अर्थ समझो । खोपड़ी तले सुखदामणि छिपी है; अर्थात् धार्मिक विचारों के कारण मनुष्य प्रसन्न रह सकता है । तुम भी अपना दृष्टिकोण बदलो और प्रसन्न रहना सीखे ।"

चोरों को यथार्थता का बोध हुआ, तो वे अपनी आदतें सुधारकर प्रसन्न रहने की कला सीख गए । यही थी वह सुखदा मणि ।

इस बोध की ही कमी है कि बहुसंख्यक व्यक्ति आत्मिक क्षेत्र में वह प्रगति कर नहीं पाते जो कि स्रष्टा को अभीष्ट है । यदि धर्म के कर्मकांड दर्शन में न उलझकर धारण करने योग्य गुण संपदा रूपी मणि को खोज लिया जाय तो इस क्षेत्र में किया गया पुरुषार्थ फलित भी होता है । अनावश्यक श्रम, अनख में समय काटने में तो अनेक लगे दिखाई देते हैं; पर अंतः संपदा को पहचानकर उसे उपलब्ध करने के प्रयास कहीं दिखाई नहीं पड़ते ।

वर्द्धन्ते चाऽधिगच्छन्ति श्रेयः सर्वविधं सदा ।
धर्मो येषां प्रिय सर्वं जगत् स्निह्यति तेषु च ।।८।।
बलिष्ठो जायतेप्यात्मा कृपा वर्षति च प्रभोः ।
त्यक्तो धर्मस्तु येनामुं त्यजन्त्येव जनाः समे ।।९।।
स्वीकरोति च धर्मं यो नरः स्वागम्यते नरैः ।
धर्मं रक्षति यः साक्षाद्रक्षितः स्वयमेव सः ।।१०।।
विकरोति च धर्मं यो विकृतिं याति स स्वयम् ।
महत्त्वस्योपलब्धेर्ये नराः सन्तीच्छुकास्तु ते ।।११।।
धारणां धर्मजां सर्वे गृह्णन्त्वेव तथैव च ।
धर्मात्मभिः समं स्वं ते कुर्युश्चाचरणं सदा ।।१२।।

टीका–जिन्हें धर्म–प्रिय है, वे वृद्धि को प्राप्त करते हैं और सब प्रकार के कल्याण को भी । उन्हें समस्त संसार प्यार करता है । उनकी आत्मा बलिष्ठ होती है और ईश्वर का अजस्र अनुग्रह उपलब्ध होता है । इसलिए महानता उपलब्ध करने के इच्छुकों को धर्म–धारणा अपनानी चाहिए और अपना आचरण धर्मात्माओं जैसा बनाना चाहिए । जिसने धर्म को छोड़ दिया, उसे सब छोड़ देते हैं । जो धर्म को अपनाता है, उसे सब अपनाते हैं, जो धर्म की रक्षा करता है, उसकी अपनी रक्षा होती है । जो धर्म को हराने का प्रयास करता है, वह स्वयं हार जाता है ।। ८–१२।।

अर्थ–धर्म-धारणा ही वह आदर्श है जिसे लक्ष्य मानकर महामानव स्वयं सफलता पाते एवं अनेक के लिए दिशा-धारा छोड़ जाते हैं । यदि स्वयं उदारहण प्रस्तुत किया गया तो अन्य अनेक सामान्यजन कैसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे ? अनुकरणीय कर्तृत्व धर्म के सूत्रो को जीवन में उतार कर ही बन पड़ता है, आचरण को श्रेष्ठ, उत्कृष्ट आदर्शवादिता का पक्षधर बनाना पड़ता है । धर्म का आचरण महामानवों का स्वयं का जीवन तो धन्य बनाता ही है, मेंहदी पीसने वाले के हाथ स्वतः रंग जाने के समान उन्हें तो लाभान्वित करता ही है, समाज में सत्प्रवृत्तियों से भरा श्रेष्ठता का वातावरण भी बनता है ।

धर्म को जो सही अर्थों में समझते हैं, वे अनावश्यक क्रिया-कृत्यों, परंपरागत मान्यताओं में स्वयं को नहीं उलझाते । धर्म के तत्वदर्शन को जीवन में उतारते हैं । स्वयं को आत्मबल संपन्न बनाकर अन्य अनेक के लिए प्रेरणा पुंज बनते हैं ।

धर्म प्रचारक कुमारजीव

मन की शांति के लिए कुमारजीव ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया । वे अपने योगाभ्यास में लगे रहते थे; पर उन्हें मन की शांति नहीं मिलती थी ।

मेधा और प्रतिभा का उपयोग लोक कल्याण में होना चाहिए–यह सिद्धांत जैसे-जैसे हृदय में घुसता गया, वैसे ही महापंडित कुमरायण ने मिथिला के दीवान का पद छोड़कर धर्म प्रचार के लिए परिभ्रमण करने का निश्चय किया । बालक कुमारजीव को भी उनने यही शिक्षा दी । कश्मीर प्रवास में कुमरायण का स्वर्गवास हो गया । उनकी पत्नी ने बौद्ध भिक्षुणी की दीक्षा ले ली और बालक कुमारजीव की शिक्षा का प्रबंध करती हुई उसी क्षेत्र में धर्म प्रचार का कार्य करती रही ।

कुमारजीव जैसे ही समर्थ हुए, वैसे ही चीन चले गए । वहाँ उनने और साथी बनाये और बौद्ध ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद कर डाला, साथ ही भ्रमण करके प्रचार करने लगे । उनके प्रयत्न से स्थिति ऐसी बन गयी थी, मानो बौद्ध धर्म का केन्द्र भारत न होकर चीन ही हो । राजाओं की लड़ाई में कुमारजीव नजरबंद भी हुए; पर जल्दी ही छोड़ दिए गए । बौद्धमठों का निर्माण, धर्मशास्त्रों का अनुवाद तथा प्रचारकों की एक बड़ी सेना का गठन करने के साथ-साथ लाखों शिष्य बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए । इस सफलता में प्रधानतया कुमारजीव की ही प्रमुख भूमिका थी । इस पुण्यकार्य से कुमारजीव स्वयं तो इतिहास में एक वंद्य पुरुष बन ही गए, अन्य सामान्यजनों के लिए एक प्रकाश स्तंभ के रूप में कीर्ति पा गए, साथ ही उनके समकालीन वसुधावासियों को सही मार्ग पर चलने की एक शाश्वत दिशाधारा मिल गयी ।

पानी के चिराग

दिल्ली में एक संत थे–हजरत निजामुद्दीन । उनके यहाँ ईश्वर की वंदना वाला संगीत चलता ही रहता था । उन दिनों दिल्ली के बादशाह थे गयासुद्दीन तुगलक । उनने संत को गाना-बजाना बंद करने का हुक्म भेजा । संत ने फरमान मानने से इन्कार कर दिया ।

तुगलक ने सीधा दंड तो न दिया; पर उन्हें हैरान करने की ठानी ।

निजामुद्दीन एक बावड़ी बनवा रहे थे । उसमें लगे मजदूरों को उसने किले में काम करने के लिए बुला लिया, ताकि काम रुक जाये ।

मजदूर दिन में किले का काम करते और रात को चुपके से बावड़ी बनाने आ जाते ।

रात को दिये की जरूरत पड़ती । तेल के ढेरों दिये जलाते और बावड़ी बनती ।

तुगलक ने हुक्म दिया–"हजरत के हाथों कोई तेल न बेचे ।"

हजरत ने पानी भरकर दिये जलाना शुरू कर दिया और बावड़ी बनती रही ।

इस चमत्कार से तुगलक का सिर नीचा हो गया । बावड़ी पूरी होने तक पानी से चिराग जलते ही रहे ।

तब से उस बावड़ी का और दरगाह का नाम चिराग निजामुद्दीन पड़ गया ।

धर्म के मार्ग पर चलने वालों को कोई बाधा रोक नहीं सकती । स्वयं परमसत्ता उनके साथ-साथ चलती है । धर्म को हराने की चेष्टा करने वाले की अंततः हार होकर ही रहती है ।

रावण अधर्म के कारण पतित

रावण का पराभव हुआ और विभीषण का राज्याभिषेक । राजा विभीषण भगवान राम के समक्ष कर्तव्य पालन संबंधी निर्देश प्राप्त करने की जिज्ञासा से जा खड़े हुए ।

भगवान राम बोले–"अपने अग्रज पंडितराज की ज्ञान-विज्ञान परंपरा का रक्षण और विकास

करना, पर अपना चिंतन क्रम हमेशा धर्म परायण, आदर्शनिष्ठ रखना ।''

विभीषण ने जानना चाहा कि रावण से चिंतन के स्तर पर क्या भूलें हुईं ? तो करुणानिधि बोले-''उसने ऋषि परंपरा का व्यवस्थित चिंतन क्रम छोड़कर लोलुपों का अस्त-व्यस्त क्रम अपनाया । इसलिए अपने ज्ञान के ठोस लाभ समाज को न दे सका । संकीर्ण स्वार्थगत चिंतन ने उसे हीन कर्मों में लगा दिया और दुर्गति करा दी । धर्म की रक्षा करने के स्थान पर उसने अनीति का, अधर्म का ही पोषण किया । यही उसके पतन का कारण बना ।''

राजा कालस्य कारणम्

एक राजा जंगल में भटक गया । प्यास से आकुल-व्याकुल होकर वह इधर-उधर घूमने लगा । उसे एक झोंपड़ी दिखाई दी । वह वहाँ पहुँचा । वहाँ एक बूढ़ा आदमी बैठा था । पास ही ईख का खेत था । राजा ने पानी माँगा । बूढ़े ने दो-चार ईख तोड़े, कोल्हू में उन्हें पेरा । ईख के रस से एक कटोरा भर गया । राजा ने वह पिया और उसका मन पुलकित हो गया । उसने बूढ़े से पूछा-''क्या ईख पर 'कर' भी लगता है ?'' बूढ़े ने कहा-''नहीं, हमारा राजा दयालु है । वह भला हमसे क्या 'कर' लेगा ?'' राजा ने मन ही मन सोचा-''ऐसी मीठी चीज पर अवश्य कर लगना चाहिए ।'' मन में संकल्प-विकल्प उठने लगे । आखिर 'कर' लगाने का निश्चय कर लिया । राजा ने चलते-चलते बूढ़े से कहा-''एक प्याला रस और पिलाओ ।'' बूढ़े ने फिर दो-चार ईख तोड़े । उन्हें कोल्हू में पेरा । पर रस से कटोरा नहीं भरा । राजा अचंभे में पड़ गया । उसने पूछा-''यह क्या ? पहले ईख के रस से कटोरा भर गया था, अब नहीं भरा, यह क्यों ?'' बूढ़ा दूरदर्शी था । उसने कहा-''लगता है मेरे राजा की नीयत बिगड़ गई । अन्यथा ऐसा नहीं होता ।'' राजा मन ही मन पछताने लगा ।

राजा की नीयत का इतना असर होता है तो क्या धर्माध्यक्षों, राजनेताओं, अधिकारियों एवं गण्यमान्य व्यक्तियों के आचरण का प्रभाव समाज पर नहीं पड़ता ?

कन्फ्यूनियस का आदर्श

चीन के महामानवों में कन्फ्यूसियस का नाम बड़े आदर के साथ लिया जाता है । आरंभ में वे सरकारी मंत्री पद पर थे; पर किसी बात पर सरकार से मतभेद होने के कारण उन्हें वह पद छोड़ना पड़ा । बाद में उनने एक विद्यालय चलाया । उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली और राजकुमार तक पढ़ने आने लगे । चीन के राजा ने उन्हें सहायता देनी चाही और आकर पूछा-''आपको किसी वस्तु की आवश्यकता है क्या ? उनने उत्तर दिया-''पेट को रोटी, पहनने को कपड़ा मिल जाता है । इसके बाद मुझे क्या चाहिए ?''

वेतन न लेकर भी सरकार को अनेक परामर्श देते रहे । उन्हें एक आदर्श नगर बसाने का काम सौंपा गया, जो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया । उस नये बसाये हुए नगर की सारे चीन में चर्चा रही ।

कन्फ्यूसियस ने नीति और सदाचार पर एक ग्रंथ लिखा है, जिसे उन दिनों उस देश में धर्मशास्त्र की तरह पढ़ा जाता था ।

गाँधी जी का धर्म

बात सन् १९३६ की है । गाँधी जी अस्पृश्यता निवारण के लिए देश भर में दौरे कर रहे थे । उड़ीसा के एक कस्बे में गाँधी जी ठहरे हुए थे कि पंडितों का एक दल उनसे शास्त्रार्थ करने आ गया । कह रहा था शास्त्र में अस्पृश्यता का समर्थन है ।

गाँधी जी ने मंडली को सम्मानपूर्वक बैठाया और कहा-''मैं शास्त्र तो पढ़ा नहीं हूँ, इसलिए आप से हार मान लेता हूँ । पर यह विश्वास करता हूँ कि संसार के सब शास्त्र मिलकर भी मानवी एकता के सिद्धांत को झुठला नहीं सकते । मेरा धर्म तो यही है एवं मैं इस पर अडिग हूँ व जीवन भर रहूँगा ।

उनके अटूट विश्वास को देखकर पंडित मंडली निरुत्तर होकर वापस लौट गई ।

धर्म की परिभाषा किये जाने वाले कार्य के उद्देश्यों पर निर्भर है, न कि परंपरागत मान्यताओं पर ।

यश्चलेद्धर्ममार्गं च संस्थितोऽप्यत्र भूतले ।
स्वर्गस्थदेवा इव स श्रेष्ठतां यास्यति स्वयम् ।। १३।।
श्रुत्वा ध्यानेन तत्सर्वं विचार्योऽपि दृढं ततः ।
औत्सुक्यात् पुनरेवायं मौद्गल्यायन आह च ।। १४।।

टीका-जो धर्म मार्ग पर चलेगा, वह इस धरती पर रहते हुए भी स्वर्ग में रहने वाले देवताओं की तरह श्रेष्ठ बनेगा । इस बात को सुनकर तथा विचारकर मौद्गल्य अपनी उत्सुकता प्रकट करते हुए बोले- ॥ १३-१४॥

मौद्गल्यायन उवाच–

धर्मा अनेके सन्त्यत्र संसारे देव तत्र च ।
निर्धारणानि भिन्नानि समेषां निर्णयः कथम् ।। १५ ।।
कर्तव्यश्चैषु किं ग्राह्यं त्याज्यं किं पुरुषेण च ।
संदेहेऽस्मिन् मतिस्तेन भ्रमतीव निरन्तरम् ।। १६ ।।

टीका–मौद्गल्यायन ने कहा–हे देव ! संसार में अनेकानेक धर्म हैं । सबके निर्धारणों में भिन्नता है । इनमें से किसे अपनाया जायय, किसे नहीं–इसका किस आधार पर निर्णय किया जाय ? इस संदेह में हमारी बुद्धि भ्रमित हो रही है ।। १५–१६ ।।

अर्थ–अपनी स्वार्थ संकीर्णता और वर्ग विशेष के लिए गढ़ी गई मान्यतायें और परंपरायें धर्म के यथार्थ रूप को विकृत बना देती हैं और संप्रदायवाद को जन्म देती हैं । उसे पूर्ण नहीं समझना चाहिए ।

दृष्टिकोण व्यक्तित्व का दर्पण है

किसी धर्मात्मा ने जंगल में एक सुंदर मकान बनाया और उद्यान लगाया ताकि उधर आने वाले उसमें ठहरें और विश्राम करें ।

समय-समय पर अनेक लोग आते और ठहरते रहे । दरवान हरेक से पूछता–बताइए मालिक ने इसे किन लोगों के लिए बनाया है ।

आने वाले अपनी–अपनी दृष्टि से उसका उद्देश्य बताते रहे ।

चोरों ने कहा–"एकांत में सुस्ताने, हथियार जमा रखने और माल का बँटवारा करने के लिए ।"

व्यभिचारियों ने कहा–"बिना किसी खटके और रोक-टोक के स्वेच्छाचारिता बरतने के लिए ।"

जुआरियों ने कहा–"जुआ खेलने और लोगों की आँखों से बचे रहने के लिए ।"

कलाकारों ने कहा–"एकांत का लाभ लेकर एकाग्रता पूर्वक कला अभ्यास करने के लिए ।"

संतों ने कहा–"शांत वातावरण में भजन करने और ब्रह्म लीन होने के लिए ।"

धर्म के संदर्भ में भी जब इसी तरह अलग-अलग व्याख्यायें होने लगें, तो उसे संप्रदाय समझना चाहिए । धर्म तो मनुष्य मात्र के लिए एक ही हो सकता है ।

शिक्षा प्रचारक यति परिव्राजक

बुंदेलखंड के एक साधारण जैन परिवार में जन्मे गणेश प्रसाद वर्णी शिक्षा प्राप्त करने के उपरांत परिव्राजक जीवन व्यतीत करने लगे । यों उनका समुदाय पूजा-पाठ को ही सब कुछ मानता था पर वर्णी जी ने देश की स्थिति का सूक्ष्म अन्वेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि इन दिनों शिक्षा प्रचार ही सबसे बड़ा धर्म कर्म है ।

उन्होंने सागर में दिगंबर जैन विद्यालय की स्थापना की पर पीछे वे अपना यति स्वरूप यथावत बनाये रहते हुए भी जन साधारण में शिक्षा प्रचार करने लगे । उनके प्रयत्न से कितने ही यति परिव्राजकों ने अध्यापन कार्य संभाला और गाँव-गाँव विद्यालयों की स्थापना करने में जुट गए ।

अंध विश्वासी यति को मोक्ष प्रयासों से कुछ हटकर काम करते देखकर नास्तिक तक कह बैठते थे पर उनके विवेक ने जो उचित समझा उसी पर जीवन भर डटे रहे । वे कभी भी तथाकथित धर्माचार्यों के आक्षेपों-उपालम्भों से विचलित नहीं हुए । अंततः उनके प्रयासों को जन प्रशस्ति मिली । लोगों ने धर्म का सही अर्थ समझा ।

अकेले योद्धा बुद्ध

महात्मा बुद्ध के सामने निजी समस्या कुछ न थी । उन्होंने अपने चारों ओर यज्ञ के नाम पर चल रही हिंसा का, साधन के नाम पर मद्य, माँस, मीन, मुद्रा, मैथुन जैसे अनाचार का बोलबाला देखा तो तिलमिला गए । पूछा–"यह क्या हो रहा है, क्यों हो रहा ?" तो उत्तर मिला–"धर्म का यही शाश्वत रूप है, वेद का आदेश है और वेद ईश्वर विनिर्मित हैं ।" उनने वेद और ईश्वर दोनों को मानने से इन्कार कर दिया । एक ओर वे अकेले, दूसरी ओर मूढ़ता के आवेश में ग्रस्त विशाल जन समुदाय था । लोगों को बदलने के लिए तप शक्ति की आवश्यकता समझी । वे आत्म शोधन का तप करने लगे । एक वट वृक्ष के नीचे उन्हें आत्म बोध हुआ । उस पेड़ को बोधि वृक्ष कहा गया । वही उनका गुरु था ।

बुद्ध ने जन संपर्क साधने और लोक मानस के परिशोधन का निश्चय किया । इसके लिए उन्होंने अपने भक्त

जनों को परिव्राजक बनाया और कुछ समय शिक्षण देकर उन्हें प्रव्रज्या पर भेज दिया । सत्प्रयोजनों के लिए साधनों की कमी नहीं रहती उन्हें भी नहीं रही । अनेक ने प्रायश्चित्य किया, अनेक ने पुण्य कमाया । प्रचुर साधन उनके पास जमा हो गए । न केवल भारत की वरन् समूचे एशिया की अनाचारपरक परिस्थितियों का कायाकल्प कर दिया । वे चमत्कारवाद के विरुद्ध थे । सदाचारण, विवेक और संगठन उनका पुण्य प्रयास था । जो उनके संपर्क में आया यही सीखकर गया । वे बुद्धिवाद के देवता थे ।

ऋषिवर मौद्गल्य का विभिन्न धर्म-मतों, संप्रदायों संबंधी ऊहापोह अपने स्थान पर सही है । यदि धर्म शाश्वत है तो मतों में, वैयक्तिक मान्यताओं में इतना अंतर क्यों ? यदि सभी संप्रदाय अपने स्थान पर सही हैं, तो फिर सामान्य मनुष्य के लिए ग्रहण करने योग्य सूत्र क्या हो, वे किस मार्ग पर चलें-यह मार्गदर्शन भी अनिवार्य है । भ्रम जंजाल मिटें, स्वरूप स्पष्ट हो तो साधारण व्यक्ति भी विवेक का अवलंबन लेकर व्यष्टि एवं समष्टि का हित साधन कर सकते हैं । प्रस्तुत जिज्ञासा इसी कारण उचित भी है, समयानुकूल भी ।

आश्वालयन उवाच-

एक एव तु धर्मोऽस्ति भद्रः निर्धार्यतामिदम् ।
सर्वेभ्यश्च समानः स कर्तव्यं व्यक्तिगं च तत् ।। १७।।
सामाजिकं च दायित्वं मन्तव्यं पुरुषैरिह ।
औत्कर्ष्यं चिन्तस्यैवं शालीन्यं व्यवहारगम् ।। १८।।
चरित्रादर्शवादित्वं त्रयमेतत्समन्वितम् ।
उच्यते धर्म इत्येवमृषिभिर्दिव्यदृष्टिभिः ।। १९।।

टीका-आश्वलायन ने कहा-"भद्र ! धर्म एक ही है । वह सब मनुष्यों के लिए एक जैसा है । उसे व्यक्तिगत कर्तव्य और सामाजिक उत्तरदायित्व का निर्वाह समझा जाना चाहिए । दिव्य दृष्टि संपन्न ऋषि चिंतन की उत्कृष्टता, चरित्र की आदर्शवादिता और व्यवहार की शालीनता के समन्वय को धर्म कहते हैं ।। १७-१९।।

अर्थ-धर्म की गरिमा भावना क्षेत्र को दिशा देने के कारण सर्वोपरि मानी गयी है । व्यक्तित्व का गठन एवं परिष्कार धर्म के स्वरूप पर निर्भर है । धर्म मात्र एक एवं शाश्वत ही हो सकता है । मानवी अंतः करण में उच्चस्तरीय आस्था जमाना, विचारों में सदाशयता जोड़ना जिसका लक्ष्य हो, वह सारे विश्वासियों के लिए सार्वभौम रहेगा, समाजगत अथवा वर्ण-जाति गत विभाजनों के अनुरूप बदलेगा नहीं । वह भली-भाँति समझ लिया जाना चाहिए कि भावना एवं विचारणा ही व्यक्ति की मौलिक संपदा एवं क्षमता है । इन्हीं का महत्व सर्वोच्च है । मानव के उत्थान-पतन की भूमिका सूत्र संचालन यहीं से होता है । यदि क्रिया-प्रक्रिया को नीति निष्ठा युक्त बनाने वाले धर्म का प्रारूप ही बदलने लगे तो नैतिकता समाज से लुप्त हो जाएगी । जहाँ धर्म है, वहीं नीति का, सदाचार का, श्रेष्ठता का निवास है । संप्रदायगत विभाजनों से सामान्य जनों को भ्रमित नहीं होना चाहिए अपितु धर्म के सार्वभौम शाश्वत स्वरूप को समझने, व्यवहार में उतारने का प्रयास करना चाहिए ।

धर्म का उद्देश्य स्वतः पूरा हो जाता है, जब व्यक्ति उदात्त चिंतन अपनाने, संकीर्ण स्वार्थपरता त्यागने एवं विभूतियों को समाज कल्याण हेतु समर्पित करने को उद्यत हो जाता है ।

पुष्प की नीति-निष्ठा

महर्षि जाबालि ने उस पर्वत पर ब्रह्म कमल खिला देखा । शोभा और सुगंध पर मुग्ध होकर ऋषि सोचने लगे उसे शिवजी के चरणों में चढ़ने का सौभाग्य प्रदान किया जाय ।

ऋषि के समीप आया देख पुष्प प्रसन्न तो हुआ; पर साथ ही आश्चर्य व्यक्त करते हुए आगमन का कष्ट उठाने का कारण भी पूछा ।

जाबालि बोले-"तुम्हें शिव सामीप्य का श्रेय देने की इच्छा हुई तो अनुग्रह के लिए तोड़ने आ पहुँचा ।"

पुष्प की प्रसन्नता खिन्नता में बदल गई । उदासी का कारण महर्षि ने पूछा तो फूल ने कहा-"शिव सामीप्य का लोभ संवरण न कर सकने वाले कम नहीं । फिर देवता को पुष्प जैसी तुच्छ वस्तु की न तो कमी है और न इच्छा ।

ऐसी दशा में यदि मैं तितलियों-मधुमक्खियों जैसे क्षुद्र कृमि-कीटकों की कुछ सेवा-सहायता करता रहता, तो क्या बुरा था । आखिर इस क्षेत्र को खाद की भी तो आवश्यकता होगी जहाँ मैं उगा और बढ़ा ।''

ऋषि ने पुष्प की भाव-गरिमा को समझा और वे भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उसे यथास्थान छोड़कर वापस लौट आये ।

अश्वसेन का वाण बनना

अनीति नहीं नीति पर चलकर ही व्यक्ति धर्म परायण कहलाता है । कर्ण कौरवों की सेना में होते हुए भी महान धर्म निष्ठ योद्धा थे । श्रीकृष्ण तक उनकी प्रशंसा करते थे । महाभारत युद्ध में कर्ण ने अर्जुन को मार गिराने की प्रतिज्ञा की थी । उसे सफल बनाने के लिए खांडव वन के महासर्प अश्वसेन ने यह उपयुक्त अवसर समझा । अर्जुन से वह शत्रुता तो रखता था; पर काटने का अवसर मिलता नहीं था । वह वाण बनकर कर्ण के तरकस में जा घुसा, ताकि जब उसे धनुष पर रख कर अर्जुन तक पहुँचाया जाय, तो काट कर प्राण हर ले ।

कर्ण के वाण चले । अश्वसेन वाला वाण भी । कृष्ण ने वस्तुस्थिति को समझा और रथ घोड़े जमीन पर बिठा दिए । वाण मुकुट काटता हुआ ऊपर से निकल गया ।

असफलता पर क्षुब्ध अश्वसेन प्रकट हुआ और कर्ण से बोला-''अबकी बार अधिक सावधानी बरतना, साधारण तीरों की तरह मुझे न चलाना । इस बार अर्जुन का बध होना ही चाहिए । मेरा विष उसे जीवित रहने न देगा ।''

इस पर कर्ण को भारी आश्चर्य हुआ । उसने उस काल सर्प से पूछा-''आप कौन हैं और क्यों अर्जुन को मारने में इतनी रुचि रखते हैं ?''

सर्प ने कहा-''अर्जुन ने एक बार खांडव वन में आग लगाकर मेरे परिवार को मार दिया था, सो उसका प्रतिशोध लेने के लिए मैं व्याकुल रहता हूँ । उस तक पहुँचने का अवसर न मिलने पर आपके तरकस में वाण रूप में आया हूँ । आपके माध्यम से अपना आक्रोश पूरा करूँगा ।''

कर्ण ने उसकी सहायता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए वापस लौट जाने के लिए कहा-''भद्र ! मुझे अपने ही पुरुषार्थ से नीति-युद्ध लड़ने दीजिए । आपकी अनीतियुक्त छद्म सहायता लेकर जीतने से तो हारना अच्छा ।''

काल सर्प कर्ण की नीति-निष्ठा को सराहता हुआ वापस लौट गया । उसने कहा-''कर्ण तुम्हारी यह धर्म निष्ठा ही सत्य है, जिसमें अनीतियुक्त पूर्वाग्रह को, छद्म को कहीं स्थान नहीं ।''

महा पंडित को आत्मबोध

जब उत्कृष्टता व्यक्ति के व्यवहार में उतरने लगती है तो धर्म निष्ठा स्वतः प्रकट हो जाती है । मगध के राजा सर्वदमन को राजगुरु की नियुक्ति अपेक्षित थी । वह स्थान बहुत समय से रिक्त पड़ा था । एक दिन महा पंडित दीर्घ लोभ उधर से निकले । राजा से भेंट-अभिवादन के उपरांत महापंडित ने कहा-''राजगुरु का स्थान आपने रिक्त छोड़ा हुआ है । उचित समझें तो उस स्थान पर मुझे नियुक्त कर दें ।

राजा बहुत प्रसन्न हुए । साथ ही एक निवेदन भी किया । आपने जो ग्रंथ पढ़े हैं कृपया एक बार सबको फिर पढ़ लें । इतना कष्ट करने के उपरांत आपकी नियुक्ति होगी । जब तक आप आवेंगे नहीं वह स्थान रिक्त ही पड़ा रहेगा ।

विद्वान वापस अपनी कुटी में चले गए और सब ग्रंथ ध्यान पूर्वक पढ़ने लगे । जब पढ़ लिए तो फिर नियुक्ति का आवेदन लेकर राज दरबार में उपस्थित हुए ।

राजा ने अबकी बार फिर और भी अधिक नम्रतापूर्वक एक बार फिर उन ग्रंथों को पढ़ लेने के लिए कहा । दीर्घलोभ असमंजस पूर्वक फिर पढ़ने के लिए चल दिए ।

नियत अवधि बीत गई । पर पंडित वापस न लौटे । तब राजा स्वयं पहुँचे और न आने का कारण जानने लगे ।

पंडित ने कहा-''गुरु अंतरात्मा में रहता है । बाहर के गुरु काम चलाऊ भर होते हैं । आप अपने अंदर के गुरु से परामर्श लिया करें ।

राजा ने नम्रतापूर्वक पंडित जी को साथ ले लिया और उन्हें राजगुरु के स्थान पर नियुक्त किया । बोले-''अब आपने शास्त्रों का सार जान लिया, इसलिए आप उस स्थान को सुशोभित करें ।

धर्म का अर्थ मात्र कथा वाचन कर्मकांड भर समेट लेना नहीं, अपितु उसके अनुरूप आचरण करना भी है । दिव्यदर्शी ऋषियों ने इसी कारण आदर्शवादी चरित्र निष्ठा को धर्म का पर्यायवाची माना है ।

धर्म का सही अर्थ

एक शिष्य को अपने धर्मनिष्ठ होने का अभिमान हो गया । गुरुजी ताड़ गए । धर्म का सही मर्म समझाने के लिए वे एक दिन एक सद्गृहस्थ के घर ठहरे । कृषक एक आम लाया था, उसने उसे अपनी धर्मपत्नी को दे दिया । बेचारी धर्म-पत्नी ने भी उसे खाया नहीं, छोटे बच्चे को दे दिया । बच्चे ने आम गुरु चरणों में समर्पित किया तो गुरु ने शिष्य को बताया-"वत्स ! धर्म का यह है सही अर्थ ।"

त्रिवेणी संगमं चैनमवगाहन्त एव ये ।
कायाकल्पमिवाप्नैते लाभं विन्दन्ति मानवाः ।। २०।।
ते मानवशरीरस्था देवा इव सदैव च ।
श्रेयः सम्मानमत्यर्थं विन्दन्त्यानन्दमुत्तमम् ।। २१।।
भूय एव वदाम्येतद् धर्म एक इहोदितः ।
समानश्चापि सर्वेभ्यो मनुष्येभ्यः स वर्तते ।। २२।।

टीका-इस त्रिवेणी संगम का अवगाहन करने वाले काया-कल्प जैसा लाभ अर्जित करते हैं । उन्हें मनुष्य शरीर में रहते हुए भी देवताओं जैसा श्रेय-सम्मान और आनंद मिलता है । मैं फिर कहता हूँ कि धर्म अनेक नहीं एक है । वह सभी मनुष्य मात्र के लिए एक जैसा है ।। २०-२२ ।।

अर्थ-ऋषि श्रेष्ठ ने उत्कृष्ट चिंतन, आदर्शवादी चरित्र एवं शालीनता युक्त व्यवहार के समन्वय को त्रिवेणी संगम के समान पवित्र मानते हुए धर्म के इस स्वरूप को अपनाने वाले का कायाकल्प होने की व्याख्या यहाँ की है । वास्तविक त्रिवेणी यही है जो हमारे अंतः में विराजती है । मानस में 'काक होहिं पिक बकहुँ मराला' के माध्यम से इसी की महत्ता बतायी गयी है । धर्म धारणा का जितना अच्छा स्पष्टीकरण इन तीन सूत्रों के माध्यम से होता दिखायी देता है, ऐसा किसी अन्य व्याख्या में दृष्टिगोचर नहीं होता । मनुष्य मात्र एक हैं, धर्म का स्वरूप शाश्वत है, वह भी एक है । गुण, कर्म, स्वभाव में यदि परिवर्तन न हो तो धर्म संबंधी सारे बाह्य उपकरण, शास्त्र-ग्रंथादि मात्र आडंबर बन कर रह जाते हैं । जो इस तत्व दर्शन को हृदयंगम कर उन पर चलने का प्रयास करते हैं, वे निश्चित ही धर्म परायण कहे जा सकते हैं ।

राजा परीक्षित और देव कन्याएँ

छोटे-बड़े का इसमें कोई भेद-भाव नहीं । चिंतन की श्रेष्ठता, चरित्र-निष्ठा और शालीनता ही यथार्थ धर्म है ।

राजा परीक्षित वन-विहार में भटक गए । बहुत तलाश करने पर प्यास बुझाने के लिए एक सरोवर मिला । घोड़े से उतरकर पानी पीने के लिए आगे बढ़े, तो देखा कई युवा देवकन्याएँ जलाशय में निर्वस्त्र होकर स्नान कर रही हैं । राजा लज्जावश पीछे लौट आये और पेड़ की ओट में छिपकर उनके चले जाने की प्रतीक्षा करने लगे ।

इतने में ही देखा कि उधर से मुनि शुकदेव आए । आयु में युवक, वस्त्र विहीन । वे भी उसी सरोवर में समीप ही स्नान करते रहे । देवकन्याओं ने इस पर कोई आपत्ति नहीं की । शुकदेव चले गए ।

कुछ देर उपरांत वयोवृद्ध व्यास सरोवर तट पर पहुँचे, उन्हें पानी भर पीना था । वस्त्र भी पहने थे । उन्हें देखते ही देवकन्याएँ भागीं और कपड़े लपेट कर झाड़ी की आड़ में तब तक छिपी रहीं, जब तक कि व्यास चले न गए ।

निवृत्त होकर कन्याएँ जब चलने लगीं, तो परीक्षित ने अपना कौतूहल निवारण के लिए पूछा-"आप लोगों ने निर्वस्त्र युवा शुकदेव के समीप स्नान से भी कोई आपत्ति नहीं की; किन्तु वस्त्रधारी वयोवृद्ध व्यास को देखकर इस प्रकार क्यों भागीं ?"

कन्याओं ने उत्तर दिया-"राजन् हम दोनों की मनःस्थिति और पूर्व इतिहास को जानते हैं । शुक निर्विकार थे । और व्यास के पूर्व कृत्य अभी भी कुसंस्कारों के रूप में छिपे पड़े थे । महत्व परिस्थिति का नहीं मनःस्थिति का होता है । बाह्य आचरण कैसा भी हो, व्यक्ति अंदर से वैसा सुसंस्कारी है या नहीं, इस पर ही उसका मूल्यांकन किया जाता है ।

एक हाथ में माला एक हाथ में भाला

समायानुकूल जब जैसी परिस्थितियाँ आती हैं, धर्म का उद्देश्य एक होते हुए भी बाह्य स्वरूप बदल जाता है । उस समय कोई कर्मकांडों के पूर्वाग्रहों पर अड़ा रहे, युग की परिस्थितियों को न पहचाने तो उसे दिग्भ्रांत ही कहा जा सकता है ।

मध्यकालीन संतों को भजन-कीर्तन की सनक थी । विदेशियों के आक्रमण से सारा देश पराधीन हो गया था । उनकी सामना करने की उमंगों को भगवान की तथाकथित भक्ति बुझा देती । सोमनाथ मंदिर इसी कारण देखते-देखते लुट गया था ।

गुरु गोविंदसिंह ने गहराई के साथ विचार किया और सज्जनों से सत्संग, दुखियों की सेवा और आततायियों से संघर्ष की नीति अपनाई । 'एक हाथ में माला, एक हाथ में भाला' का सिद्धांत उनने अपने शिष्यों को समझाया । एक बड़ा संगठन इसी आधार पर खड़ा कर लिया और उसके माध्यम से आक्रमणकारियों के विरुद्ध करारा लोहा लिया । फलतः जो कार्य वे सरल समझते रहे थे, वह कठिन हो गया । आक्रांताओं के बढ़ते हुए पैर थम गए । संघर्ष में उनके पुत्र, शिष्य तथा सहयोगी बड़ी संख्या में काम आये । पर उसका प्रतिफल यह हुआ कि आक्रमणकारियों को अपनी नीति बदलनी पड़ी और पीछे हटना पड़ा ।

संत ने इस परिपाटी को नीति सम्मत बनाते हुए अन्य अनेक को दिशा दी, उन्हें कर्तव्यों के प्रति सचेत किया ।

वर्तते शाश्वतो देवविहितः स सनातनः ।
सुयोजितः स मर्त्यस्य नूनमत्रान्तरात्मनि ।। २३।।
प्रियानुभूतिर्धर्मः स आत्मनो विद्यते तथा ।
जगन्मङ्गलमूलश्च निर्णयः परमात्मनः ।। २४।।
एकः सः स्वयमेवाऽपि पूर्ण एव च विद्यते ।
खण्डशो भवितुं नैव सोऽर्हतीत्येव चिन्त्यताम् ।। २५।।
कालानुसारं क्षेत्राणामनुसारमपीह च ।
वर्गानुसारं वा धर्मपारम्पर्यमनेकधा ।। २६।।
दृश्यते यत्र धर्मः स सम्प्रदायो मतोऽथवा ।
पक्ष एव मतः साक्षान्मर्त्यभेदकरोऽशुभः ।। २७।।

टीका--वह शाश्वत, सनातन और ईश्वरकृत है । उसे मनुष्य की अंतरात्मा में संजोया गया है । वस्तुतः धर्म तो आत्मा की पुकार है, ईश्वर का निर्णय है और विश्व-कल्याण का वास्तविक कारण है । वह एक और अपने में समग्र है । उसके खंड नहीं हो सकते हैं-यह दृढ़ता से समझ लो । क्षेत्र, समय, वर्ग के आधार पर जो धर्म परंपरायें चलती हैं, वे सम्प्रदाय कहलाती हैं । मत, पक्ष तो अनेक हैं ।। २३-२७।।

भगवान बुद्ध के उपदेश

भगवान बुद्ध का जब मरणकाल निकट आया, तब उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कुछ उपदेश दिए । उन्होंने कहा-''तुम साम्यवादी संकीर्णता से दूर रहकर सच्चे धर्म का पालन करना । धर्म मनुष्य को मर्यादाओं में रखता है और शालीन बनाता है । बिना तट की सरिता उच्छृंखल होकर अपना और सबका विनाश करती है । धर्म के सीमा बंधन तोड़ना मत ।''

''परस्पर एक होकर रहना । कारण कुछ भी हो पृथकतावाद मत अपनाना । जो तुम में फूट डाले उनसे सतर्क रहना और उन्हें कभी क्षमा मत करना ।''

''जहाँ रहते हो उसे पथ विश्राम मात्र मानना । तुम्हारा घर तो वहाँ है, जहाँ जीवन लक्ष्य पूर्ण होता है । रास्ते के साथियों से मिलना जरूर; पड़ावों पर ठहरना भी, पर उनके साथ इतने मत उलझ जाना कि मंजिल ही भूल जाये ।''

''भिक्षुओ ! बोलना कम, करना ज्यादा । जितना ज्यादा बोलोगे उतना ही तुम्हारा सम्मान गिरेगा । उथले लोग ही बहुत बकवास करते हैं । तुम जो बोलो-ठोस, मर्यादित, थोड़ा, अनुभूत और विश्वासपूर्वक बोलना । उस थोड़े से भी बड़ा प्रयोजन सधेगा ।''

उपासना, साधना, आराधना ही सच्चा धर्म

माला फेरने और किसी देवी-देवता का भजन करने मात्र से कोई धार्मिक नहीं बन सकता ।

एक ब्राह्मण पूजा-उपासना करके सिद्धियाँ प्राप्त करने के निमित्त गंगातट पर चला गया; घर का काम छोड़ दिया और भिक्षा से दिन काटने लगा ।

उधर से एक दूरदर्शी ऋषि गुजरे । ब्राह्मण की मान्यता और क्रिया देखकर दुःखी हुए, उसे समझाने का उपाय सोचने लगे ।

नदी में मुट्ठी-मुट्ठी बालू डालने लगे वह ब्राह्मण यह कौतुक देखता रहा और निकट आकर बोला-"यह क्या कर रहे हैं ?"

ऋषि ने कहा-"नदी पार जाने के लिए पुल बना रहा हूँ ।"

ब्राह्मण हँसा और बोला-"इस प्रकार थोड़े ही बनेगा । इसके लिए साधन, श्रम, धन और कौशल चाहिए । यह सब जुटायें तभी बात बनेगी ।"

अब संत की बन आयी । उनने कहा-"आप भी मात्र भजन के सहारे सिद्धियाँ पाने के लिए मात्र पूजा तक अवलंबित न रहें, आत्म शोधन और लोक सेवा की बात भी सोंचे । इससे कम में आपका मनोरथ भी पूरा होने वाला नहीं है ।"

ऋषि सांकेतिक शिक्षा देकर चले गए । ब्राह्मण ने नयी कार्य-पद्धति अपनायी और उपासना के साथ साधना-आराधना के तत्व भी जोड़कर सच्चे धर्मावलंबी बने ।

ईश्वर के बारे में कहा गया है-"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति"-वह (ईश्वर) तो एक ही है, लोग उसे भिन्न-भिन्न रूप में समझते व बताते रहते हैं । जो बात ईश्वर के विषय में सत्य है, वही धर्म-धारणा के लिए शाश्वत सनातन है । धर्म एक है उस तक पहुँचने के मार्ग भिन्न-भिन्न हो सकते हैं । धर्म को, ईश्वर को विभिन्न रूपों में देखने वाले स्वयं तो चिंतन को उलझाते ही हैं, उनके कर्तव्य मान्यताओं की कट्टरता एवं विचारों की संकीर्णता के लिए अहितकर ही सिद्ध होते हैं ।

मत, पक्ष, उपासनायें अलग-अलग हो सकती हैं, धर्म की मूलभूत आकांक्षा मनुष्य मात्र के लिए एक ही है, शेष सभी उसके उपादान मात्र हो सकते हैं । उपादानों को ही श्रेष्ठ मानकर झगड़ना धर्मनिष्ठा नहीं हो सकती । इसी विडंबना का नाम सम्प्रदाय है ।

महा याजक शाल्वनेक का अनायास ही आगमन हुआ । श्रेष्ठि उदयन ने उनका समुचित स्वागत-सत्कार किया । दूसरे दिन ज्ञान दीक्षा का क्रम चल पड़ा ।

महा याजक ने अपनी अनेक संग्रहीत विद्याओं का परिचय देते हुए उदयन से पूछा वे जिसमें भी रुचि रखते हों, उसके संबंध में पूछें और प्राप्त करें ।

श्रेष्ठि ने पूछा-"क्या ऐसा संभव है, आपने जो-जो जाना है, उन सबके मूल आधार को ही मुझे प्रदान करने का अनुग्रह कर दिया जाय ?"

आत्मज्ञान से सर्वज्ञता

महा याजक असमंजस में पड़े धीरे-धीरे सिर हिला रहे थे । उनकी कठिनाई दूर करने के लिए उदयन ने घर में प्रयुक्त होने वाले अनेक पात्र, उपकरण प्रस्तुत कर दिए और फिर पूछा-"देव ! इन सबको क्या एक ही रथ में भर कर नहीं ले जाया जा सकता ।" शाल्वनेक की आँखें खुल गयीं । उन्होंने नव-चेतना अनुभव की और कहा-"ऐसा हो सकता है । एक ही आत्म-ज्ञान के समुद्र में ज्ञान की समस्त सरिताओं का समावेश हो सकता है । मैं अब उसी को उपलब्ध करूँगा और जब प्राप्त कर सकूँगा, तो आपको ज्ञान दीक्षा का साहस करूँगा ।"

सच्चे धर्म प्रचारक-फादर जिम्मी

क्रेप ब्रिटोन द्वीप में जन्मे एक कृषक परिवार के जेम्स थापकिन्स ने पादरी बनने का निश्चय किया । जब वे सेंट फ्रांसिस विद्यालय की पढ़ाई पूरी कर चुके तो उन्हें कनाडा के नोवास्कोटियर क्षेत्र में गरीब जनता के बीच धर्म प्रचार करने भेजा गया । वह क्षेत्र अत्यंत पिछड़े हुए मछुओं और गरीबों से भरा हुआ था । जेम्स ने उस क्षेत्र में जाकर उसकी गरीबी, बीमारी तथा तबाहियों से छुड़ाने वाले काम करने आरंभ कर दिए । चर्च का निर्धारित कार्यक्रम पीछे रह गया । उनने वहाँ की जनता

की भौतिक स्थिति सुधारने का काम हाथ में लिया । इसके लिए सूदखोरों और जमींदारों से झगड़ना भी पड़ा ।

बड़े पादरी जब उनका कार्य देखने आये तो धर्म प्रचार गौण और सुधार आंदोलन आगे पाया । इस पर नाराजी व्यक्त की गई तो उसने उत्तर दिया कि मेरी जगह यदि आप होते तो भी यही करते ।

जेम्स को वहाँ की जनता फादर जिम्मी कहती थी और उन्हें अपना त्राता मानती थी । वे उस क्षेत्र में ईसाई धर्म फैलाने में भी बहुत सफल हुए ।

गुरु के सच्चे शिष्य द्वारा धर्म की सेवा

रामकृष्ण परमहंस के संपर्क से नास्तिक नरेन्द्र को ऋषि कल्प स्वामी विवेकानंद बनने का अवसर मिला । परमहंस जी ने उन्हें व्यक्तिगत जीवन न जीकर लोक कल्याण के लिए जीवन समर्पित करने की प्रेरणा दी और उन्हें सच्चे अर्थों में संत बनाया ।

उन दिनों शिक्षित समुदाय विदेशी आक्रांताओं के संपर्क में आकर नास्तिकतावादी बनता जा रहा था । विद्यार्थियों पर विशेष रूप से उसका प्रभाव पड़ता था । इन परिस्थितियों में उनने भारतीय धर्म-देव संस्कृति की विशेषता से न केवल देशवासियों को परिचित कराया, वरन् देश-देशांतरों में परिभ्रमण करके अनेक देशों को प्रभावित किया । उनके झकझोरने से देशी-विदेशी विद्वानों ने, जन साधारण ने नये सिरे से अध्याय आरंभ किया ।

उनकी योजनानुसार देश-देशांतरों में रामकृष्ण मिशन बने, जिनके द्वारा स्थायी रूप से वहाँ सेवा-साधना और तत्वज्ञान प्रसार का काम होता रहा । वे मात्र ३९ वर्ष जिये । पर इतने स्वल्प काल में अपनी लगन और तत्परता के कारण विश्व धर्म, मानव धर्म की इतनी सेवा कर सके, जितनी कि ३६० वर्षों में भी संभव नहीं ।

धर्म सेवी हर्षवर्धन

राजा हर्षवर्धन स्थानेश्वर के शासक थे । उन्हें विवशता में आक्रांताओं से जूझना और परास्त करने का कदम भी उठाना पड़ा । पर वस्तुतः उनकी सम्पदा, क्षमता और कल्पना धर्मोत्कर्ष में निरंतर लगी रही । हर पाँचवे वर्ष वे समस्त सम्प्रदायों के धर्मावलंबियों को एकत्रित करते, जिससे फूट-फिसाद छोड़कर मिल-जुल कर धर्म भावनाओं को आगे बढ़ा सकना संभव हो सके । तक्षशिला विश्वविद्यालय की व्यवस्था विशेष रूप से उन्होंने इसीलिए की थी ।

उनके राज्य की आजीविका भी धर्म कार्यों में ही लगती थी । उन दिनों प्रगतिशील बौद्ध धर्म ही माना जा रहा था । उनने समय के अनुरूप विवेक और आदर्श को महत्व देते हुए बौद्ध धर्म का ही परिपोषण किया एवं अपना सब कुछ धर्म-धारणा के परिपोषण हेतु, मूढ़ मान्यताओं के निवारण हेतु प्रचार कार्य में नियोजित कर दिया ।

मौलाना की सच्ची धर्मनिष्ठा

सन् १९२१ के कांग्रेस द्वारा आरंभ किए गए असहयोग आंदोलन में हिन्दू-मुसलमान एकता के जो दृश्य दीख पड़े उससे अंग्रेजी सरकार घबरा गई । आंदोलन ठंडा होने पर सरकार ने 'फूट डालो राज करो' की नीति को तेजी से चरितार्थ करने की कूटनीति अपनायी । हजारों की संख्या में किराये के गुंडे नौकर रखे गए थे । उनका काम था किसी न किसी बहाने किसी कौम को भड़काना और दंगा कराना । जान-माल की हानि तो होती ही थी, दोनों वर्गों के बीच खाई चौड़ी होने लगी और अंग्रेजों के मन चीते हुए । नेता भी बँट गए और जनता में भी अपने-अपने वर्ग का पक्षपात घर कर गया । स्थिति बड़ी विपन्न थी ।

इस स्थिति में पटना के मौलाना मजरुलहक निकले और उन्होंने स्थान-स्थान पर एकता सभायें कीं । दंगों की आग पर पानी डाला और विद्वेष के दुष्परिणामों को समझाया । बहुत से लोग समझे भी; पर कुछ उन्मादी उनके शत्रु हो गए । जान से मार देने की धमकियाँ आये दिन मिलने लगीं । एक दिन तो गुंडों ने उन्हें घेर भी लिया और छुरे से जान लेने पर उतारू हो गए; पर उनकी ओजस्विता, निर्भीकता के सामने सशस्त्र होते हुए भी ठहर न सके । मौलाना अगले कांग्रेस आंदोलन की पृष्ठभूमि बनाते और हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए प्राण प्रण से प्रयत्न करते । इस कार्य में उन्हें सफलता तो मिली ही, मौलाना का प्रयत्न गणेश शंकर विद्यार्थी की तरह सदा अजर-अमर हो गया ।

गधे की कारिस्तानी

धर्मनिष्ठा को आचरण की गरिमा में देखना चाहिए । मात्र प्रवचन कर लेने, पांडित्य अर्जित कर लेने का नाम धर्म नहीं ।

कहते हैं-सृष्टि के आरंभ में गधा बहुत ही सौम्य स्वभाव का होने के कारण सम्मानास्पद प्राणियों में गिना जाता था । परमात्मा को अपने दरबार में पशुओं का भी एक प्रतिनिधि रखना उचित प्रतीत हुआ, उनने इसके लिए गधे की नियुक्ति कर दी ।

उन दिनों सृष्टि का नियत क्रम चलाने के लिए भगवान उपासना की नीति की एक शास्त्र संहिता रच रहे थे । कागज तब तक नहीं था, पत्तों पर वह लेखन कार्य चल रहा था । संहिता के अनेक पृष्ठ अश्वत्थ पत्रों पर लिखे जा चुके थे ।

एक रात को जब कि सब लोग गहरी निद्रा में सोये पड़े थे तब गधे को सूझी कि इन कोमल पत्रों का स्वाद चखा जाय । वह चुपके से उठा और एक-एक करके सब पत्रों को खा गया ।

दूसरे दिन सबेरे जब भगवान आगे का लेखन-कार्य आरंभ करने को उद्यत हुए तो देखा कि अब तक के लिखे सब पत्र गायब हैं ।

तहलका मच गया । तलाश की गई तो वह गधे की कारिस्तानी निकली । इतने परिश्रम को इस प्रकार मटियामेट हुआ देखकर भगवान को बड़ा क्रोध आया और उस बुद्धिहीन प्राणी को स्वर्ग से निकाल बाहर करने की आज्ञा दे दी ।

गधे को स्वर्ग से धकेला गया, तो वह पृथ्वी पर आ गिरा । चोट तो बहुत लगी, दुःख भी हुआ, पर अंत में उसने यह सोचकर संतोष कर लिया कि परमात्मा का सारा ज्ञान मेरे पेट में मौजूद है ।

गधे ने चिल्ला-चिल्ला कर लोगों से कहना आरंभ किया । परमात्मा का सारा ज्ञान मेरे पेट में मौजूद है, जो चाहते हो मुझसे पूछो, मेरी बात मानो और जिधर चलने को मैं कहूँ उधर चलो ।

कुछ लोगों ने गधे की बात सच मानी और उसके कहने पर चलने लगे । पर बहुतों को उसकी बात जँची नहीं और उसे बेवकूफ बनाकर हँसते हुए अपने घर चले गए ।

रोज इसी प्रकार बकता-झकता समय आने पर गधा मर गया, पर कहते हैं कि उसकी आत्मा अभी भी अपने रास्ते पर चल रही है । अनेक धर्म-गुरुओं के सिर पर चढ़कर यही कहलवाती रहती है कि जो हम जानते हैं, वही सब कुछ है, हमारी बात सुनो, हमारी बात मानो और हमारे पीछे चले चलो ।

स्वसमाजानिवार्याणि वीक्ष्याभीष्टानि तत्र ते ।
मूर्धन्याः पुरुषास्तेषामाविर्भावं व्यधुः पृथक् ।। २८।।
कालेन सह चैतेषु परिवर्तनमप्यलम् ।
जायते तत्र तत्रैव सम्प्रदायेषु तद्यतः ।। २९।।
परिष्कारकरा मर्त्या महामानवसंज्ञकाः ।
उत्पद्यन्ते प्रकुर्वन्ति जीर्णोद्धारमिवास्य ते ।। ३०।।
यत्र यत्रानिवार्यः स्याद् वीक्ष्य तेषु च विक्रियाम् ।
वस्त्रगेहेष्विवायान्ति सम्प्रदायेषु विक्रियाः ।। ३१।।
जीर्णोद्धारश्चलत्येषां स्वच्छताऽपि तथैव च ।
समाजस्योपयोगाय तदैवार्हन्ति वस्तुतः ।। ३२।।

टीका—अपने-अपने समाज की आवश्यकता देखते हुए मूर्धन्य जनों ने उनका आविर्भाव एवं प्रचलन किया है । समय बदलने के साथ-साथ उनमें हेर-फेर और सुधार-परिवर्तन होता रहता है । हर धर्म-सम्प्रदाय में सुधारक उत्पन्न होते रहते हैं, जो, जब, जहाँ टूट-फूट और विकृति दीखती है, तब उसकी मरम्मत करते रहते हैं । वस्त्रों और मकानों की तरह सम्प्रदाय में भी विकृतियाँ प्रवेश करती हैं और उनकी सफाई मरम्मत चलती रहती है । तभी वास्तव में ये समाज के लिए उपयोगी हो सकते हैं ।। २८-३२ ।।

अर्थ—देव संस्कृति की यह विशेषता रही है कि समय-समय पर मनीषी अवतरित होते रहे हैं एवं युगानुकूल परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए अपेक्षित सुधार-परिवर्तन धर्म-दर्शन में करते रहे हैं । वे यह भली-भाँति जानते हैं कि मूल तत्व दर्शन एक होते हुए भी समय के अनुसार धर्म-सम्प्रदायों के कलेवर में परिवर्तन करना पड़ सकता है । रुका हुआ पानी सड़ता व कीचड़ बनकर दुर्गंध फैलाता है । यदि प्रवाह न बनाया जाए तो विकृतियाँ समाज के वातावरण को दूषित कर सकती हैं । समय-समय पर पुनर्निरीक्षण एवं

तर्क, तथ्य, प्रमाणों के आधार पर विवेचन कर इसीलिए संस्कृति का परिशोधन किया जाता रहा है । यही एक महत्वपूर्ण कारण है कि अनेक मत-मतांतर होते हुए भी देव संस्कृति अब भी एक बनी हुई है । पूर्वाग्रहों की विडंबना से वह सर्वथा मुक्त है ।

ऐसे प्रयास समय-समय पर विभिन्न सुधारक अपने-अपने कार्य क्षेत्रों में करते रहे हैं ।

सुधारवादी राममोहन राय

भारतीय समाज सुधारकों में राजा राममोहन राय का नाम अग्रणी है । वे १९ वीं सदी के महान सुधारक थे । आरंभिक शिक्षा-दीक्षा पटना एवं बनारस में होने के बाद उनने वेद-वेदांतों का अध्ययन प्रारंभ किया । इससे उनमें वैचारिक प्रौढ़ता आयी और तत्कालीन भ्रष्ट समाज व्यवस्था की भ्रांत मान्यताओं, कुरीतियों एवं धार्मिक अंध परंपराओं के प्रति पहली बार उनका आक्रोश उभरा । अपने विचारों को पुस्तक बद्ध कर प्रचलित कुरीतियों के विरुद्ध आवाज उठाकर जन चेतना उभारी ।

उनका यह कार्य पिता रमाकांत राय को नागवार लगा । बंगाल में उनकी अच्छी पद-प्रतिष्ठा थी । वे नहीं चाहते थे कि पुत्र के इस कार्य से उनके मान सम्मान को ठेस पहुँचे, अतः आए दिन उनमें प्रायः वाद-विवाद होने लगा । विवाद जब कलह का रूप धारण करने लगा तो १६ वर्ष की अल्पायु में उनने गृह-त्याग कर दिया और घूम-घूम कर धार्मिक व सामाजिक सुधार-कार्य करते रहे । अनेक वर्षों तक बाहर रहने के उपरांत वे पुनः घर वापिस लौटे इसी बीच १८०६ में पिता का शरीरांत हो गया । अब वे घर पर ही रहने लगे ।

अभी कुछ ही समय गुजरा था कि बड़े भाई भी चल बसे । तब 'सती प्रथा' का दौर था । जबरदस्ती उनकी भाभी को भी जिंदा चिता को अर्पित कर दिया गया । इस घटना ने उन्हें झकझोर कर रख दिया । उसी दिन उन्होंने इस कुप्रथा का अंत करने का प्रण लिया और प्रयत्नशील हो गए । उन्हीं के प्रयासों से सन् १८११ में इसके विरुद्ध कानून बना और इस पर पाबंदी लगा दी गयी ।

इसके अतिरिक्त पर्दा प्रथा एवं बाल विवाह जैसी कुरीतियों के उन्मूलन में भी उनने सक्रिय भूमिका निभायी । इस बीच उन्हें अनेक प्रकार की यंत्रणाएँ झेलनी पड़ीं, किन्तु उन्होंने अपने सुधार कार्य को विराम नहीं दिया । इसी दौरान उनने 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की, बाद में चलकर यह संस्था भी पूर्णतः सुधारवादी बन गयी और राम मोहन राय के मरणोपरांत अनेक सुधार कार्य संपन्न किए ।

दार्शनिक टाइनवी

टाइनवी एक बड़े दार्शनिक हुए हैं, उनके लेखन और अध्ययन की उत्कृष्टता को सारे संसार में सराहा जाता है । यों विश्व इतिहास के विभिन्न पक्षों पर उनने प्रकाश डाला है, पर जोर इस बात पर दिया है कि संसार की समस्याएँ धर्म के आधार पर ही हल होंगीं । विश्व धर्म क्या हो सकता है, इस संबंध में वे भारतीय धर्म को अग्रणी बताते हुए आगे लिखते हैं कि जो समय-समय पर अपने दोषों को सुधार सकता है और आचरण की पवित्रता को प्रतिष्ठित रख सकता हो, वही सच्चा धर्म माना जाना चाहिए ।

खलील जिब्रान लेबनान के एक ईसाई परिवार में जन्मे थे । शिक्षा की सुविधा वहाँ न होने से वे अमेरिका चले गए । वहाँ उन्होंने साहित्य-साधना को अपना लक्ष्य बनाया । धर्म के नाम पर चलने वाले व्यवसाय और छद्म पर उनने करारे प्रहार किए । फिर भी ईसा के आदर्शों के प्रति उनकी गहरी निष्ठा थी । वे चाहते थे कि लोग गुणगान भर न करते रहें, बल्कि उनके आदर्शों को व्यावहारिक जीवन में अपनाएँ गद्य में ही उनने कविता जैसा साहित्य सृजा है । उनकी बोध कथाओं का संसार की सभी प्रमुख भाषाओं में अनुवाद हुआ है, जिनसे प्रेरणा लेकर अनेक ने धर्म के मर्म को समझा व स्वयं को धन्य बनाया है ।

धर्म की विडंबना मिटाने वाले लूथर

मार्टिन लूथर के पिता जर्मनी में एक लौह कारखाने के मालिक थे । उनकी इच्छा बड़े लड़के को वकील बनाने की थी । पर उस धंधे में छल-प्रपंचों को देखते हुए उन्होंने इन्कार कर दिया और धर्म प्रचारक बनने की इच्छा प्रकट की । पिता ने अनिच्छापूर्वक आज्ञा दी । वे चर्च के विश्वविद्यालय में भर्ती हुए । स्नातक बनने के उपरांत वे पादरी हो गए । उन्हें मिशन संबंधी अन्य कई महत्वपूर्ण कार्य सौंपे गए ।

लूथर ने तत्कालीन धर्म विडंबना को बारीकी से देखा । बड़े पादरियों का जमघट सामान्य लोगों से पैसा वसूल करके ईश्वर कृपा एवं स्वर्ग मुक्ति के टिकट बेचता था । इस धंधे में उन्हें करोड़ों की आमदनी थी । उस धन से

अय्याशी करते और गुलछर्रे उड़ाते । छोटे पादरी भी उनकी देखादेखी चरित्रभ्रष्ट हो चुके थे । वे धर्म कृत्य भर करते कराते, किन्तु आचरण की पवित्रता और सेवा साधना पर तनिक भी ध्यान न देते । लूथर इन कुकृत्यों से जल-भुन कर खाक हो गया । उसने विद्रोह का झंडा खड़ा किया और सैकड़ों शोध पुस्तिकाएँ छपायीं, जिनमें पाखंडों का विरोध और धर्म के सच्चे स्वरूप का प्रतिपादन था ।

पादरियों ने लूथर को देश निकाले की सजा दिलायी, पर उनके कथन में इतनी सचाई थी कि ईसाई समुदाय उनका पक्षधर हो गया और प्रोटेस्टेंट नाम से एक सुधारवादी सम्प्रदाय चलाया, भारत के आर्य समाज की तरह । आज भी वह उतना ही लोकप्रिय है एवं उदारता के कारण सुविख्यात भी ।

परम्परावाद का उन्माद

चौदहवीं शताब्दी की बात है । वैज्ञानिक ओडार्नो ब्रूसो ने अनेक तर्कों, प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया कि पृथ्वी चटाई की तरह चौरस नहीं है, वरन् गोल है ।

पुरातन पंथियों ने बाइबिल के मत को झुठलाने के अपराध में ओडार्नो ब्रूसो को जिंदा जला देने का मृत्यु दंड दिया । उन्मादी उसकी सफाई तक सुनने को तैयार न हुए । उन्होंने प्राण दे दिए, पर अपनी विचारधारा नहीं बदली । अंततः आगे चलकर जन साधारण को उनकी बात स्वीकार करनी ही पड़ी । अपनी मान्यताओं के प्रति दुराग्रह की ऐसी ही दुःखद परिणतियाँ होती हैं ।

सम्प्रदायस्य धर्मस्य भेदोऽस्माभिस्तु पूर्णतः ।
ज्ञेय उद्गम एतेषामेक इत्यनुभूयताम् ।। ३३ ।।
एकस्यैव समुद्रस्य लहर्यस्ताः सुविस्तृताः ।
सूर्यस्यैकस्य विद्यन्ते किरणास्ते समेऽपि च ।। ३४ ।।
मेघवर्षोदिता नद्यो निर्झरा इव ते समे ।
तत्प्रवाहोऽभियात्यत्र जलधेर्दिशि सन्ततम् ।। ३५ ।।

टीका--हमें सम्प्रदाय और धर्म का अंतर समझना चाहिए । साथ ही यह भी अनुभव करना चाहिए कि उन सबका उद्गम एक है । वे एक ही समुद्र की अनेकानेक आकार-विस्तार वाली लहरें हैं । एक ही सूर्य की अनेक किरणें हैं । मेघ, वर्षा की एक ही प्रक्रिया से वे नदी-निर्झरों की तरह जन्मे हैं और उन सबका प्रवाह समुद्र में जा मिलने की दिशा में समान रूप से प्रवाहित हो रहा है ।। ३३-३५ ।।

अर्थ--इस तथ्य को न समझने वाले अपनी अपनी श्रेष्ठता का दर्प दिखाते हुए झगड़ते रहते हैं, पर सत्य तो कुछ और ही है ।

सूर्य और कमल

एक सरोवर में कमल खिला । उसने अपनी गरिमा को देखा और गर्व सहित बोला--"दिशाओ मेरा नमन करो । संसार में श्रेष्ठता सम्पन्न के अभिवादन का जो क्रम चला आ रहा है, क्या तुम उसे नहीं जानतीं ?"

कमल की गर्वोक्ति सूरज ने भी सुनी । वह आसमान से अकड़ कर चिल्लाया--"दिशाओ ! इसके बहकावे में मत आना वर्चस्व का स्रोत मैं हूँ । मेरे कारण ही तो यह विकसित हो सका है ।"

दिशाएँ हँस पड़ीं, उन्होंने दोनों पर व्यंग्य करते हुए कहा--"घमंडियो ! वर्चस्व तुम्हारे पास नहीं, वह जहाँ है, वहाँ चुपचाप अवस्थित है, इसे इस तरह अपनी गरिमा बखाननी नहीं पड़ती ।" सच्चे धर्म को अपना प्रतिपादन नहीं करना पड़ता उसकी गरिमा को लोग स्वतः स्वीकारते हैं ।

दुराग्रही उन्माद

धर्म-सम्प्रदाय को अलग-अलग समझने वाले, परस्पर टकराते, शक्ति नष्ट करते एवं अपयश को प्राप्त होते हैं ।

एक छोटी नदी थी । पार जाने के लिए एक लट्ठा ऊपर रखा था । उस पर एक के निकलने जितनी जगह थी ।

एक दिन दो बकरे दो ओर से एक ही समय चल पड़े और बीच में आकर अड़ गए । न किसी ने पहले सोचा और न परिस्थिति की विषमता देखकर पीछे हटने का विवेक अपनाया ।

अड़े सो अड़े । हेठी कौन कराये ? घमंड कौन छोड़े ? पीछे हटने और जान बचाने की बात कौन सोचे ? लड़ने-मरने और दूसरे को नीचा दिखाने के उन्माद में परस्पर टकराने लगे । छोटी ठोकरों के बाद बड़ी लगीं और दोनों ही नदी के प्रवाह में पड़कर मौत के मुँह में चले गए । दुराग्रही उन्माद जो न कर गुजरे, सो कम ही है ।

धर्म का मूल– अंतःश्रद्धा

धर्म का मूल है, अंतःश्रद्धा । जो आत्मतत्व के लिए स्थिर नहीं रह सकता, वह उसे पा भी नहीं सकता ।

शुकदेव ने अपने पिता और गुरु व्यास जी से धर्मतत्व के हस्तगत होने न होने का रहस्य पूछा । व्यास ने उन्हें जनक के पास जाने को कहा; क्योंकि वे ही उन दिनों सबसे बड़े ब्रह्मवेत्ता थे ।

शुकदेव पहुँचे । राजा को खबर दी गयी । उत्तर मिला सात दिन ठहरना होगा, बाद में भेंट संभव होगी । शुकदेव बिना आतिथ्य-आश्रय पाये जहाँ-तहाँ भटकते समय गुजारते रहे । न उन्हें खीज उपजी, न रोष-असंतोष उभरा । समय लगता है, तिरस्कार होता है और कष्ट होता है तो प्रयोजन पूरा करने की श्रद्धा बनी ही रहनी चाहिए । शुकदेव उन सात दिनों यही सोचते रहे ।

नियत समय पर बुलावा आया । समुचित आतिथ्य हुआ और सम्मान समेत जिज्ञासा का समाधान हुआ । चलते समय जनक ने कहा-"श्रद्धा की शिथिलता एवं प्रखरता ही धर्मतत्व के उपलब्ध होने न होने का प्रधान कारण है । आप जैसे श्रद्धालु ही खरे उतरते और अमृतत्व प्राप्त करते हैं ।

मौद्गल्य उवाच-

भवतः कृपया ज्ञातं महाप्राज्ञ ! समैरपि ।
अस्माभिर्धर्म आधारो महामानवनिर्मितौ ।। ३६।।
स्पष्टं जातं च धर्मोऽस्ति व्यक्तिकर्तव्यगस्तथा ।
समाजोत्तरदायित्वस्थित आदर्शनिर्वहः ।। ३७।।
बोध्यतां लक्षणान्यत्र यान्यादाय तु साधकः ।
तत्तद् धर्मादिनिष्ठोऽपि महतां जीवनेऽर्जयेत् ।। ३८।।

टीका-मौद्गल्य जी ने कहा-"हे महाप्राज्ञ ! आपकी कृपा से हमने समझा कि महामानव बनने में धर्म का आधार बनता है । यह भी स्पष्ट हुआ कि धर्म व्यक्तिगत कर्तव्यों और सामाजिक उत्तरदायित्वों के आदर्शनिष्ठ निर्वाह को कहते हैं । कृपया, यह और स्पष्ट करें, वे कौन से लक्षण हैं, जिन्हें किसी भी धर्म-सम्प्रदाय का साधक जीवन में अपनाकर महानता अर्जित कर सकता है ।। ३६-३८।।

आश्वलायन उवाच-

लक्षणानि दशैवाऽस्य धर्मस्योक्तानि मूर्धगैः ।
युग्मपञ्चकरूपे च ज्ञातुं शक्या नरैस्तु ते ।। ३९।।
प्रथमे सत्यमेतत्तु विवेकश्चापरे पुनः ।
कर्तव्यं संयमस्तत्र तृतीये त्वनुशासनम् ।। ४०।।
व्रतधारणमेतस्मिंश्चतुर्थे च पराक्रमः ।
स्नेहसौजन्यमेवापि पञ्चमे सहकारिता ।। ४१।।
परमार्थश्च गणितुं स शक्यः शक्या दशैव च ।
प्रहरित्वेन ते मर्त्यगरिम्णो गदितुं भृशम् ।। ४२।।

टीका-आश्वलायन ने कहा-मूधन्यों ने धर्म के दस प्रधान लक्षण बतलाये हैं । इन्हें पाँच युग्मों में भी जाना जाता है । प्रथम युग्म में आते हैं-सत्य और विवेक । द्वितीय में संयम और कर्तव्य, तृतीय में अनुशासन और व्रत धारण, चतुर्थ में स्नेह-सौजन्य और पराक्रम तथा पंचम में सहकार और परमार्थ को गिना जा सकता है । इन दसों को मानवी गरिमा के प्रहरी दस दिक्पाल कहा जा सकता है ।। ३९-४२।।

अर्थ-धर्म की परिभाषा को सत्राध्यक्ष ऋषि श्रेष्ठ आश्वलायन ने यहाँ जिन दस गुणों के रूप में स्पष्ट

किया है; वह स्वयं में अद्‌भुत हैं । धर्म धारणा का मर्म समझने वाले सत्य, विवेक, संयम, कर्तव्य, अनुशासन, व्रतधारण, स्नेह-सौजन्य, पराक्रम, सहकार एवं परमार्थ जैसे मानवोचित गुणों को ही प्रधानता देते एवं अन्यान्यों को इन्हें अपनाने की प्रेरणा देते हैं । अध्यात्म के नाम पर दुंदुभि बजाने वाले बहुसंख्यक व्यक्ति इस विद्या का क ख ग भी नहीं जानते एवं मात्र वेश-बाह्याडंबर तक स्वयं को सीमित रखकर समयक्षेप तो करते ही हैं, अन्य भोले व्यक्तियों के मन में धर्म के प्रति अनास्था जमा देते हैं । समय-समय पर मनीषीगण इसीलिए अवतरित होते रहते हैं ताकि वे जनमानस में संव्याप्त भ्रांतियाँ मिटा सकें एवं उन्हें धर्म के सही तत्वदर्शन का पक्षधर बना सकें ।

भगवान का भोला भक्त

धर्म का अर्थ कोई मंत्रों का, आयतों का, प्रभु के वचनों का पाठ भर नहीं है । उन्हें भावपूर्वक हृदय में उतारना ही अध्यात्म है ।

उस दिन प्रायश्चित पर्व था । साथी भक्तगण प्रातःकाल से ही निर्धारित पूजा-अर्चा कर रहे थे और प्रार्थना मंत्रों का उच्चारण कर रहे थे ।

अनपढ़ ग्रामीण एक तो उठा ही देर से । सकुचाते हुए पूजारत साथियों की पंक्ति में जा बैठा तो एक और असमंजस आड़े आया, उसे प्रार्थना का एक भी मंत्र याद न था ।

तो भी उसकी भक्ति-भावना उमड़ी पड़ रही थी । उसने वर्णमाला के सभी अक्षर क्रमशः गुनगुनाने शुरू कर दिए और परमेश्वर से निवेदन किया-"सभी मंत्र इन्हीं अक्षरों के योग से बनते हैं सो आपको जो प्रिय हो मंत्र बना लें ।" जब तक पूजा विधान चलता रहा तब तक वह वर्णमाला ही बार-बार दुहराता रहा ।

रात्रि के समय में दिव्यदर्शी धर्मगुरु रबी ने उस अनपढ़ किसान को अग्रिम पंक्ति में बिठाकर सम्मानित किया और प्रार्थना परायणों से श्रेष्ठ घोषित किया ।

एक याजक ने कहा-"यह तो अनपढ़ है प्रार्थना के मंत्र तक नहीं जानता ।"

भाव भरे कंठ से धर्मगुरु ने कहा-"इसके पास शब्द नहीं हैं, तो क्या हुआ ? भाव तो हैं । परमेश्वर तो भाव का भूखा है । मंत्र तो हमारे-तुम्हारे लिए माध्यम रूप में सृजे गए हैं । भावनायें प्रगाढ़ हों तो फिर इस माध्यम की भी आवश्यकता नहीं रह जाती ।

धर्म के दस लक्षणों को मानवी गरिमा का रक्षण करने वाले इन प्रतीकों को भी उनके भावरूप में उनके मर्म के माध्यम से ही समझा जाना चाहिए ।

सिद्ध पुरन्ध्र का विवेक

सत्य क्या है, विवेक क्या है-अपने शिष्यों को यह बात समझाने के लिए आचार्य ने एक कथा सुनायी-

महाराज प्रद्युम्न का स्वर्गवास हो गया । सारा परिवार बहुत दुःखी था । उन दिनों आचार्य पुरन्ध्र को सिद्ध पुरुषों में गिना जाता था । समझा जाता था कि वे मृत को भी अपने मंत्र बल से जीवित कर सकते हैं ।

पुरन्ध्र को पालकी पर बिठा कर लाया गया । मृत को जिलाने का आग्रह लगा तो बेतुका; पर आतुरों का समाधान करने के लिए उनने सूझ-बूझ से काम लिया और कहा कि यदि मृतात्मा चाहेगी तो ही वे पुनर्जीवित करने का काम हाथ में लेंगे ।

कुटुंबी सहमत हो गए । पुरन्ध्र ने कहा-"राजा ने अभी-अभी वट वृक्ष पर टिड्डे के रूप में जन्म लिया है । राजकुमार अनुरोधपूर्वक उन्हें पकड़ें और लौट चलने के लिए सहमत करें ।"

वैसा ही किया गया । ज्येष्ठ राजकुमार को लेकर पुरन्ध्र वट वृक्ष पर पहुँचे और अंगुलि निर्देश करके एक टिड्डे को दिखाया । वे ही हैं स्वर्गीय सम्राट ।

राजकुमार टिड्डे को पकड़ने के लिए पेड़ पर चढ़े; पर टिड्डा फुर्तीला था, मनुष्य को समीप आते देख कर छलांग लगाता, एक से दूसरी डाली पर जा पहुँचता । राजकुमार वहाँ तक पहुँचते, तब तक वह उड़ कर अन्यत्र दिखाई पड़ता । इस आँख मिचौनी में सारा दिन गुजर गया, रात्रि हो गयी, दीखना बंद हुआ, तो राजकुमार निराश होकर वापस लौट आये ।

पुरन्ध्र ने समझाया-"राजा ने पुराने शरीर से मोह त्याग दिया है, अब उनका मन टिड्डे के शरीर में रम गया है ।

आप लोग उनकी इच्छा को समझें और निरर्थक मोह को छोड़ें ।''

कुटुंबियों का मोह टूटा और मृत शरीर का दाह संस्कार कर दिया गया ।

गुरु ने बताया–''सत्य यह है कि हर प्राणी अपनी इच्छानुसार जीता, अपनी सृष्टि आप बनाता है और दोष देता है भाग्य को या परमात्मा को । सत्य को जान लेने पर यथार्थ को ग्रहण करने का नाम ही विवेक है ।

पतितोद्धार– सबसे बड़ा कर्तव्य

ईसा मसीह केपर नाम के नगर में पहुँचे । वे दुष्ट–दुराचारियों के मुहल्ले में ठहरे और वहीं रहना शुरू कर दिया ।

नगर के प्रतिष्ठित लोग ईसा के दर्शनों को पहुँचे, तो उनने आश्चर्य से पूछा–''भला इतने बड़े शहर में आपको सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसंद नहीं किया ?''

हँसते हुए ईसा ने पूछा–''वैद्य मरीजों को देखने जाता है या चंगे लोगों को ? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है । उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा ।''

मन को अनिश्चित कार्य में ही लगाकर पराभूतों को ऊपर उठाना ही सच्ची सेवा और कर्तव्य परायणता है ।

आर्क विशप पोप की सहृदयता

मिलान के आर्क विशप पोप पाल उन दिनों आर्थिक तंगी का जीवन जी रहे थे । उन्हीं दिनों अकाल की भी स्थिति थी । एक दिन एक समाज सेवी व्यक्ति उनके पास पहुँचे और बोले–''अभी भी बहुत लोगों तक खाद्य सामग्री पहुँच नहीं पाई, जबकि कोष में एक भी पैसा नहीं बचा ।''

पोप पाल ने कहा–''कोष रिक्त हो गया–ऐसा मत कहो, अभी मेरे पास बहुत सा फर्नीचर, सामान पड़ा है, इसे बेचकर काम चलाओ, कल की कल देखेंगे ।''

आज का काम भी रुका नहीं, कल आने तक उनकी यह पर दुःखकातरता दूसरे श्रीमंतों को खींच लाई और सहायता कार्य फिर द्रुतगति से चल पड़ा ।

भले ही कष्ट–कठिनाइयों को सहन करना पड़े; पर नियत मर्यादा का पालन करना अनुशासन और सौंपे हुए उत्तरदायित्व को पूरा करना ही व्रत धारण है ।

धनशाह की महानता

सहकार और परमार्थ का सच्चा स्वरूप इस घटना से समझा जा सकता है–

कुछ समय पहले तक हरेकृष्ण बाबू का व्यापार ठीक चल रहा था; पर समय के फेर ने सब उल्टा कर दिया । वे एक–एक पैसे के लिए मुहताज हो गए । कर्जदारों का इतना बोझ था कि रास्ता निकलना मुश्किल हो रहा था ।

उन्हें स्मरण आया कि कुछ दिन पूर्व फर्म धनशाह गोपीशाह में उनने दो सौ रुपये अमानत जमा किए थे, वे मिल जायँ, तो एक महीने का काम चले । सो वे वहाँ माँगने पहुँचे । साथी की ऐसी दुर्गति देखकर उन्हें बड़ा दुःख हुआ । अमानत लौटाने की बात कही, तो उनने मुनीम से तत्काल देने को कहा ।

मुनीम ने बही खाता देखकर कहा–''उनके नाम दो हजार का हिसाब है, चार सौ ब्याज के अलग । चौबीस सौ में से दो सौ काट क्यों न लिए जायँ ।''

फर्म के मालिक धनशाह ने कहा–''दोनों बातें अलग–अलग हैं । जब यह कर्जा चुकाने आयें तब इनसे चौबीस सौ माँगना । अभी तो यह अपनी अमानत लौटाने के लिए कहने आये हैं, सो उनके दो सौ तुरंत वापस कर देने चाहिए ।

अनाथों के नाथ कनिंघम

कनिंघम की माता ओहियो के ऐसे घने जंगल में रहती थी, जिसमें भेड़ियों की भरमार थी । माता बच्चे को बचाने के लिए कोठरी में बंद कर जाती । देखने में यह कठोर कार्य ही सौजन्यता है । लड़का थोड़ा समर्थ हो गया, तो माँ के साथ लकड़ी काटने जाने लगा । यहीं से पुरुषार्थ प्रक्रिया प्रारंभ हुई । पढ़ने की इच्छा पूरी करने के लिए उसने एक पुस्तकालय में सफाई करने और कपड़े धोने का काम कर लिया । इसी प्रकार उसने एम०ए० कर लिया । कई छोटी–मोटी नौकरियों के बाद उसे नौसेना में काम मिला । वेतन का कुछ रुपया जमा हो गया, तो उसने बिगड़े हुए लड़कों को पढ़ाने और सुधारने का काम हाथ में लिया । आरंभ में थोड़े–से लड़के थे; पर जब ख्याति बढ़ी, तो ८ हजार ५ सौ लड़के उसके अनाथाश्रय में भर्ती हो

गए । उन्हें सुधारा ही नहीं गया, वरन् प्रगतिशील बनाकर सम्मानित और कमाऊ भी बनाया गया ।

समझने में सामान्य लगने वाले यह सिद्धांत ही मनुष्य जीवन को सामान्य से महान बनाते हैं ।

अंतः से उद्भूत करुणा

परमार्थ की भावना जब जागती है तो अपना सब कुछ देने को तत्पर हो जाती है । जीवनसाथी का सहयोग मिलने पर यह और भी स्तुत्य हो जाती है । माघ विद्वान भी थे, कवि भी, प्रतिभावान भी । अपनी अद्भुत काव्य शक्ति के बल पर उन्होंने कमाया भी बहुत । इतने पर भी वे कभी संपन्न न बन सके । जो हाथ आया वह अभावग्रस्तों, दुःखी-दरिद्रों की सहायता के लिए बखेर दिया ।

एक बार उस क्षेत्र में दुर्भिक्ष पड़ा । अपनी सम्पदा बेचकर वहाँ की दीन-दरिद्रों की अन्नपूर्ति के लिए लगा दिया । मात्र उनका नवरचित काव्य घर में शेष रह गया था । सोचने लगे इसके बदले कुछ पैसा मिल जाये तो उसे भी समय की आवश्यकता पूरी करने के लिए लगा दिया जाय ।

काव्य का मूल्य कौन समझे ? गुण पारखी कहाँ से मिले ? याद आया कि इन दिनों राजा भोज ही ऐसे हैं, उन्हीं के पास चला जाय । पर इतनी दूर जाने के लिए मार्ग व्यय कहाँ से आये ? दूसरा प्रश्न यह सामने था कि भोज उन्हें पहचान लेंगे तो उचित से अधिक मूल्य देने लगेंगे जो उन्हें स्वीकार न था । सोचा गया पत्नी के साथ चला जाय । ग्रंथ को अपरिचित महिला द्वारा प्रस्तुत किये जाने पर उतना ही मिलेगा जो उचित है ।

माघ और उनकी पत्नी पैदल ही चल पड़े । लंबी यात्रा तय करके राज दरबार में पहुँचे । एक अपरिचित महिला द्वारा काव्य बेचने या गिरवी रखने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया । काव्य के कुछ पृष्ठ उलटते ही भोज दंग रह गए । उन्होंने मुक्त हस्त से उसका पुरस्कार दिया ।

जो मिला उसे लेकर माघ और उनकी पत्नी वापस लौटे । मार्ग में फिर वही दुर्भिक्ष ग्रस्त क्षेत्र मिला । वहीं से बाँटना आरंभ किया गया तो घर पहुँचते-पहुँचते सारी राशि समाप्त हो गई और ठीक वैसी ही अभावग्रस्त स्थिति में वापस लौटे जैसी कि चलते समय थी । कहते हैं अन्य क्षुधार्तों की तरह इस दम्पत्ति का भी उसी दुर्भिक्ष के प्रकोप से देहावसान हो गया ।

धर्मस्यैषां दशानां तु लक्षणानां हि विवृतिः ।
समन्वितेऽथ संक्षेपे वक्तुं पञ्चापि संभवाः ।। ४३ ।।
योगशास्त्र इमान्येव प्रकारान्तरतो बुधाः ।
यमादिनामतस्तत्र प्रोक्तान्यात्मशुभान्यलम् ।। ४४ ।।
स्वीकृत्येमानि सिद्धयेत् स संयमस्त्विन्द्रियोदितः ।
पञ्चानामपि तेषां च प्राणानां सिद्धयति स्वयम् ।
उपप्राणैः सहैवात्र विद्या पञ्चाग्निशब्दिता ।। ४५ ।।

टीका—धर्म के इन दस लक्षणों की व्याख्या संक्षेप में और समन्वित रूप में करनी हो, तो उन्हें पाँच युग्म के रूप में भी माना जा सकता है । योग-शास्त्र में इन्हीं को प्रकारान्तर से पाँच यम और पाँच नियम कहा गया है, जो आत्म कल्याणकारी माने गए हैं । इन्हें अपनाने से पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों का संयम सधता है । इन्हें अपनाने के बाद ही पाँच-प्राणों, पाँच उपप्राणों की पञ्चाग्नि विद्या सम्पन्न होती है ।। ४३-४५ ।।

योगिनश्चैतदाश्रित्य कुर्वतेऽनावृतान् समान् ।
पञ्चकोषान् सिद्धयस्ता ऋद्धयश्चैभिरेवतु ।। ४६ ।।
संगताः सन्ति चैतानि योगान् पञ्चविधांस्तथा ।
साधितुं तानि पञ्चैव तपांस्यर्हन्ति च क्रमात् ।। ४७ ।।

टीका—योगी जन इन्हीं को अपनाकर पाँच कोषों का अनावरण करते हैं । पाँच ऋद्धियाँ और पाँच सिद्धियाँ-इन्हीं पाँचों गुणों के साथ जुड़ी हैं । यही पाँच योग और पाँच तप साधने की आवश्यकता पूर्ण करते हैं ।। ४६-४७ ।।

शिवस्याप्यथ रामस्य पञ्चायतनमुत्तमम् ।
बोधयन्तीदमेते च बरासाः पाण्डुपुत्रकाः ।। ४८ ।।
पञ्चगव्यं पापनाशि पुण्यं पञ्चामृतं तथा ।
इमान्येव यतस्ते द्वे चैतेषां पोषके ध्रुवम् ।। ४९ ।।

टीका–इन्हीं को गीता के पाँच पांडव, राम पंचायतन और शिव पंचायतन समझा जा सकता है । पापनाशक पंचगव्य और पुण्य संवर्द्धक पंचामृत भी इन्हीं को मानना चाहिए, क्योंकि वह इनके पोषक हैं ।। ४८–४९ ।।

पञ्चैव धर्मपुण्यानि जीवने व्यावहारिके ।
व्यवहर्त्तुं परःप्रोक्तः पुरुषार्थो मनीषिभिः ।। ५० ।।
एतानि पालयन्त्यत्र जना ये प्रेरयन्त्यपि ।
पालितुं साधनान्येव वार्जयन्ति तथा शुभाम् ।। ५१ ।।
वातावृतिं विनिर्मान्ति श्रेयो गच्छन्ति ते जनाः ।
लोकेऽथ परलोकेऽपि कृतकृत्या भवन्त्यलम् ।। ५२ ।।

टीका–इन पाँच धर्म–पुण्यों को जीवन में उतारना मनीषियों द्वारा परम पुरुषार्थ माना गया है । जो इन्हें पालते हैं, पालने की प्रेरणा देते हैं, साधन जुटाते और वातावरण बनाते हैं, वे लोक और परलोक में श्रेय पाते तथा हर दृष्टि से कृत–कृत्य होते हैं ।। ५०–५२ ।।

अर्थ–जीवन की सार्थकता इसी में है कि कर्तव्य धर्म निबाहते हुए बहते निर्झर की तरह जिया जाय । जहाँ तक हो सके, दूसरों के लिए सार्थक एवं स्वयं को आत्मिक प्रगति की दृष्टि से ऊँचा उठाने वाला गरिमा भरा जीवन जीना ही श्रेयस्कर एवं वरणीय है । महापुरुषों का जीवन क्रम इसकी साक्षी देता है कि उन्होंने धर्म के इन दस लक्षणों का परिपालन करके एक समग्र-सार्थक जिंदगी जी । वे न केवल स्वयं धन्य हुए, अन्य अनेक के लिए प्रेरणा के प्रकाश स्तंभ भी बने ।

प्रजाजनों की सुविधा को प्राथमिकता

युधिष्ठिर ने किले से नीचे रस्सी के सहारे एक घंटा बाँध रखा था । प्रजाजनों में से किसी को न्याय चाहिए तो वह घंटा बजाता । युधिष्ठिर उसे तुरंत बुलाते और उसका फैसला करते ।

पांडवों ने इस पर आपत्ति की तो युधिष्ठिर ने कहा–"राजा का धर्म है कि उसे अपनी सुविधा को प्राथमिकता न देकर उन प्रजाजनों की समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए जिनके लिए वह सिंहासन की न्यायपीठ पर बैठा है ।"

संत सिपाही–बंदा वैरागी

बंदा बैरागी भक्ति काल में ही जन्मे । बहुत दिन संतों के सत्संग में रहे । साथ ही उत्तर से निरंतर आने वाले आक्रमणकारियों का अनाचार भी देखते रहे । वे गंभीरतापूर्वक सोचने लगे । इन दिनों जनता में शौर्य, साहस, पराक्रम और प्रतिरोध की भावना भरी जानी चाहिए । देवताओं की प्रार्थना से सब दुःख दूर हो सकते हैं, इस भ्रांत धारणा को हटाया जाना चाहिए अन्यथा प्रतिरोध के अभाव में आक्रमणकारियों के हौसले बढ़ते ही रहेंगे और वे भारत का जो भाग स्वतंत्र है, उसे भी पैरों तले रौंद डालेंगे ।

उनने सोचा संत लोग बेसमय बेतुकी शहनाई बजा रहे हैं और परोक्ष रूप से आक्रांताओं के प्रतिरोध का रास्ता रोककर आक्रांताओं के ही सहायक बन रहे हैं, बंदा वैरागी ने जितना अधिक विचार किया, उतना ही उन्हें यह तथ्य स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा ।

उनने अपनी विचार पद्धति और कार्य शैली बदली । अपने शिष्यों–साथियों को तथ्यों से अवगत कराया और आक्रांताओं के मुँह तोड़ने की तैयारी करने लगे । यद्यपि वे आक्रांताओं द्वारा पकड़े जाने पर मृत्युदंड के भागीदार बने; पर सभी विचारशीलों ने उन्हें सत्य के लिए शहीद हुआ संत सैनिक कहकर सराहा और उनके बलिदान से नई प्रेरणा ली ।

ईश्वरचंद विद्यासागर का त्याग

ईश्वरचंद विद्यासागर कॉलेज में ऊँचे पद पर थे । उससे भी ऊँचे पद पर उनकी नियुक्ति होने जा रही थी । अफसर उनकी योग्यता और मेहनत दोनों से ही संतुष्ट थे ।

बात विद्यासागर जी के कान तक पहुँची, तो उनने अफसरों को बड़ी नम्रतापूर्वक समझाया कि मुझसे भी अधिक विद्वान प्रफुल्लचंद राय इस समय खाली हैं । उन्हें इस पद पर नियुक्त किया जाय । मेरे लिए तो वर्तमान वेतन और पद ही पर्याप्त है ।"

नियुक्ति उनके बताये हुए सज्जन की ही हुयी । वे इस सहायता के लिए जीवन भर कृतज्ञ रहे । अफसर भी उनके इस त्याग से चकित थे ।

सामान्य लगने वाले इस त्याग का प्रदर्शन संसार में कितने लोग कर पाते हैं ? इसीलिए धर्म-धारणा के यथार्थ स्वरूप को कठिन बताया गया है । उपासना जैसे सरल कृत्य मात्र धर्म नहीं हो सकते और न उतने से कोई महान बन सकता है ।

संत का गर्व

योग साधनायें और सिद्धियाँ अर्जित न की जायें, सो बात नहीं । पर सामान्यतः सिद्धियों का मानवीय पूर्णता में विक्षेप माना जाता है; क्योंकि उनसे अहंकार पैदा होता है, जबकि धर्म विशुद्ध निरहंकारिता को कहते हैं ।

एक संत के त्याग, तप और विद्या की राजा ने बड़ी प्रशंसा सुनी तो उसे राजमहल में आमंत्रित किया । जब उसने आना स्वीकार कर लिया, तो राजा ने स्वागत सत्कार की भारी तैयारी की । रास्ते में मूल्यवान कालीन बिछवा दिए ।

संत आये, तो उनके पैर कीचड़ में सने थे और उन्हीं से वे कालीन को गंदा करते हुए चले आये ।

मंत्री ने इसका कारण पूछा तो उत्तर मिला-"गर्व मुझे बुरा लगता है । राजा के इस प्रदर्शन को मलीन करने के लिए मैंने कीचड़ में पैर साने हैं और इन कालीनों का गर्व चूर कर रहा हूँ ।"

राजा ने विनम्र होकर पूछा-"भगवन् ! गर्व से गर्व कैसे चूर होगा ?"

संत हतप्रभ रह गए और उनने अपनी त्रुटि सुधारने के लिए वापस लौट चलना ही उचित समझा ।

पात्रता की परख

महापुरुष सिद्धि-सामर्थ्य प्रदान करने से पहले ऐसी ही पात्रता की परख करते हैं ।

समर्थ गुरु रामदास शिवाजी को स्वतंत्रता संग्राम के अग्रणी का श्रेय देना चाहते थे, इसके निमित्त उन्हें कभी खाली न जाने वाली भवानी तलवार भी दुर्गा से दिलवाना चाहते थे; पर अनुदान देने से पूर्व उनकी पात्रता परख लेना आवश्यक था ।

समर्थ ने एक दिन अचानक कहा उनके पेट में भयंकर शूल उठा है । प्राण बचाने का एक ही उपाय है कि सिंहनी का दूध मिले । गुरु भक्त और साहस के धनी शिवाजी उसे लाने के लिए तत्काल चल पड़े । माँद में सिंहनी बैठी बच्चों को दूध पिला रही थी । शिवाजी ने कहा-"माता आप मेरे उद्देश्य और संकल्प की उत्कृष्टता पर विश्वास करें, तो थोड़ा दूध दे दें । सिंहनी ने पैर चौड़े कर दिए और दूध निकाल लेने दिया ।

पात्रता की परख हो गयी । समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी की सफलता के लिए सब कुछ दाँव पर लगा दिया ।

स्वामी विवेकानंद द्वारा गुरु परीक्षा

यह उस समय की घटना है जब स्वामी विवेकानंद अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की ओर आकृष्ट हुए ही थे । तब उनका नाम नरेन्द्र दत्त था ।

रामकृष्ण परमहंस महान् संत थे । उन्हें धन-दौलत से एकदम घृणा थी । वे रुपये-पैसे सोना-चाँदी को छूते तक न थे । नरेन्द्रदत्त को इस पर विश्वास नहीं हुआ । वे सोच भी नहीं सकते थे कि ऐसा भी मनुष्य हो सकता है जो रुपये पैसे को छुए भी नहीं । उन्होंने गुरु की परीक्षा लेने का निश्चय किया । रामकृष्ण परमहंस बाहर गए हुए थे तो उन्होंने चुपचाप उनके बिस्तर के नीचे एक रुपया रख दिया । फिर आकर अन्य लोगों के बीच बैठ गए ।

रामकृष्णजी आए और बिस्तर पर बैठ गए । अचानक वह हड़बड़ाकर उठ बैठे । सभी लोग इधर-उधर देखने लगे कि वे इस प्रकार क्यों खड़े हो गए हैं । परंतु उनकी समझ में कुछ न आया । तब रामकृष्ण परमहंस ने

बिस्तर हटाया । नीचे एक रुपया पड़ा था । सभी दंग रह गए । उधर नरेन्द्रदत्त सिर झुकाए गंभीर मुद्रा में बैठे थे । रामकृष्ण परमहंस उनकी शरारत समझ गए । वे मुस्कराकर बोले–"नरेन्द्र ! गुरु की परीक्षा ले रहे थे ? ठीक ही है । गुरु धारण करने से पहले गुरु की परीक्षा अवश्य करनी चाहिए ।"

पिता-पुत्र का देश-प्रेम

ऐसी एक घटना स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों की है जब एक पिता ने अपने पुत्र को कसौटी पर परखा । क्रांतिकारी दल के सदस्यों में एक ऐसे भी थे, जिनके पिता ने उनकी इस आकांक्षा का समर्थन भी किया और सहयोग भी दिया । आमतौर से परिवार के लोग अपनों को खतरे में पड़ने से रोकते हैं ।

शंभूनाथ अपने पिता के इकलौते बेटे थे । उनने क्रांतिकारी दल में जाने की जब अपने पिता से आज्ञा माँगी, तो उनने इतना ही कहा कि समझ-सोचकर कदम बढ़ाना । खतरों को पहले से ही ध्यान में रखो । उनके लायक हिम्मत हो, तो ही जाना । बीच में से लौटकर हँसी मत कराना । साथ ही उनने कहा–"बाहर से पैसा लूटने से पहले घर में जो कुछ है, उसे खत्म कर लो, ताकि कोई यह न कहे कि अपना बचाये फिरते हैं और दूसरों पर हाथ मारते हैं ।"

घर में जो पूँजी थी पिता ने वह खुशी-खुशी दे दी । जब बिल्कुल खाली हाथ हो गए, तब पार्टी के काम के लिए डकैती आदि दूसरे तरीकों से धन प्राप्त करने लगे ।

शंभूनाथ पर कई मुकदमे चले । हाईकोर्ट ने उन्हें आजीवन कैद की सजा दी । जेल में जिन बंदियों से उनका संपर्क रहा उन्हें भी क्रांतिकारी बनाने में वे लगे रहे ।

मौद्गल्य उवाच-

कृतकृत्या वयं देव ! श्रुत्वा धर्मस्य लक्षणम् ।
भवतः मूलभूतं तज्जीवनं सर्वदेहिनाम् ।। ५३ ।।
प्रत्यक्षे जीवने किन्तु धर्मस्यार्थास्तु स्वेच्छया ।
प्रयोगाश्च कृताः कैश्चिन्मूलाधारातिदूरगाः ।। ५४ ।।
स्थितावेवंविधायां च महत्तोपार्जनादिषु ।
धर्मधारोपयोगः स कथमत्र तु सम्भवेत् ।। ५५ ।।

टीका–मौद्गल्य जी बोले-हे देव ! अपने धर्म के मूलभूत लक्षण, जो प्राणिमात्र का जीवन हैं, समझकर हम कृत्य-कृत्य हुए हैं, किन्तु प्रत्यक्ष जीवन में धर्म के मनमाने अर्थ प्रयोग किए गए हैं जो इन मूल आधारों से बहुत दूर हो गए हैं । ऐसी स्थिति में महानता के उपार्जन में धर्म-धारणा का उपयोग कैसे संभव है ? ।। ५३-५५ ।।

आश्वलायन उवाच-

धर्मध्वजनि एवं च समाश्रियत्य व्यधुर्बहुम् ।
अनाचारमपि स्वार्थधियाऽनर्थानपि व्यधुः ।। ५६ ।।

टीका–आश्वलायन जी बोले-लोगों ने धर्म की आड़ में अनाचार भी बरते हैं । उसके चित्र-विचित्र अर्थ भी लगाये हैं ।। ५६ ।।

अर्थ–मनुष्य का सहज स्वभाव है कि स्वार्थ की पक्षधर ऐसी मान्यता जो उसको लाभ पहुँचाती हो, पुष्टि स्वयं करे, अन्यान्यों से कराए ताकि बहुमत उसके पक्ष में हो । ऐसा बहुधा होता तब है, जब सभी उसके जैसे ही चिंतन के व्यक्ति समाज में विद्यमान हों एवं प्रतिकार हेतु आने का किसी में कोई साहस न हो ।

नकली शेर

साधु-संतों को देखकर श्रद्धा उत्पन्न होती है, पर उनकी अंतः परीक्षा से सर्वत्र ढोल की पोल दिखायी देती है ।

बात बहुत पुरानी है । उन दिनों अकाल पड़ा था । उस गाँव का एक मास्टर स्कूल बंद हो जाने से बेकार हो गया और भूखों मरने लगा ।

उन्हीं दिनों सरकस वाले उस रास्ते अपने सरंजाम समेत उधर होकर निकले । मास्टर ने गिड़गिड़ाकर

कहा–"मुझे भी कोई नौकरी दे दें । आपके पास तो इतने आदमी हैं । जो काम बतायेंगे, सो ही कर लूँगा ।

सरकस वाले ने मास्टर को रख लिया । काम पूछा, तो मालिक ने कान में कहा–"तुम्हें शेर का चमड़ा पहनकर शेर बनना है और उसी का पार्ट करना है ।" अभ्यास कराया गया, सो वह बताया हुआ पार्ट ठीक से करने लगा ।

एक दिन उस गाँव के समीप ही सरकस का खेल हुआ । मास्टर के विद्यार्थी और पड़ोसी भी बड़ी संख्या में उसे देखने पहुँचे । नकली शेर ने उन्हें देखा, तो हड़बड़ा गया । ये मुझे यह स्वांग करते देखेंगे, तो क्या कहेंगे । लज्जा और ग्लानि से पसीना छूटने लगा । शेर का जो पार्ट उसे रस्से पर चढ़कर करना था, सो उससे बना नहीं और हड़बड़ा कर नीचे गिर पड़ा । जहाँ गिरा, वहाँ इर्द-गिर्द चार और शेर पिंजड़े से निकाल कर लाये गए थे । उनके बीच अपने को पाकर उसे मौत दिखायी पड़ने लगी और 'बचाओ-बचाओ' का शोर बुरी तरह मचाने लगा ।

दर्शकों का कौतूहल दूना हो गया । वे सरकस की अलौकिकता पर तालियाँ बजाने लगे । शेर किस तरह मनुष्य की बोली बोलता है, इसे देखकर उनने इस तमाशे को भूरि-भूरि सराहा । रस्से पर से गिरने की असफलता पर उनने ध्यान तक न दिया ।

नकली शेर को इस प्रकार चीखते-चिल्लाते देखकर पिंजड़े में से निकाले गए असली शेर एक-एक करके उसके पास आये और बारी-बारी सांत्वना देते हुए अपने-अपने पिंजड़ों में जा बैठे । मास्टर ने चिल्लाना बंद करके संतोष की साँस ली और पाया कि वह अकेला ही नहीं, यहाँ पूरे सरकस के सभी शेर उसी की तरह नकली हैं ।

इन दिनों शेर जैसे मूर्धन्य दीखने वाले उच्चपदासीन लोग अपना प्रदर्शन तो बहुत करते हैं, पर भीतर से खोखले और बनावटी होने से परीक्षा की घड़ी में अपना संतुलन गँवा बैठते हैं ।

आज तो नकली खाल ओढ़कर बने साधु-संतों में ऐसी ही विडंबनायें दिखायी देती हैं । अपने-अपने स्वांग रचाकर वे किस तरह जन श्रद्धा का दोहन करते हैं, उसे देखकर ऐसे धर्म के प्रति घृणा पैदा हो जाती है ।

ठगों की चालाकी

एक गाँव में तालाब के किनारे चार साधुओं ने अड्डा जमा रखा था । भूत-प्रेत उतारने का धंधा करते और बेचारे भोले गाँववासियों की उल्टे उस्तरे से हजामत बनाते ।

भूत का प्रकोप है या नहीं, इसकी पहचान यह रखी थी कि पास की भभूत तालाब में डालते ही अगर आग की लौ उठने लगे, तो समझना चाहिए करामात सच्ची है ।

उसी गाँव के एक साइन्स अध्यापक कॉलेज की छुट्टी पर आये थे । उनने चालाकी ताड़ ली और उन ठगों को गाँव से भगाने का निश्चय किया । गाँव भर में घोषणा कर दी कि कल जगह-जगह तालाब में से आग निकलेगी और इन बाबाओं की देवी साक्षात् पधार कर पोल खोलेंगी ।

मास्टर साहब बाजार से सोडियम खरीद लाये । उसकी कई पुड़िया बना लीं । वे जहाँ भी फेंकी गयीं वहीं से आग निकलने लगी ।

बाबा लोग अपना फजीहत होने के डर से तुरंत बिस्तर गोल करके चले गए ।

बलवान भूत

यह बात केवल अपने देश तक ही सीमित नहीं, धर्म के नाम पर संसार में ऐसे भ्रम फैले हैं ।

सन् १८५७ की बात है । फ्रांसीसी अल्जीरिया पर अधिकार जमाने के लिए लड़ाई के अलावा और तरकीब भी इस्तेमाल कर रहे थे । अल्जीरिया में भूत-प्रेतों पर बहुत विश्वास था । फ्रांसीसी यह सिद्ध करना चाहते थे कि उनके पास भूत-प्रेतों की बड़ी शक्ति है ।

उन्होंने एक छोटी सी लोहे की पेटी ले और कहा–"तुम लोगों में से जो सबसे बड़ा बलवान हो, उसे उठा कर दिखाये ।"

उस छोटी-सी पेटी को एक ने उठाया । जब न उठी तो सबको मिलकर उठाने के लिए कहा गया, वह तब भी न उठी ।

फ्रांसीसियों ने कहा–"हमारे भूतों का बल देख अल्जीरियावासी डर गए और उनने हमारा आधिपत्य मान लिया ।"

किया यह गया था कि नीचे एक चुम्बक की चट्टान थी, उस पर संदूकची रख दी गयी थी ।

इस तरह की हरकतों में किसी का भी भला नहीं । दूसरों को धोखा देने वाले स्वयं धोखा खाते हैं ।

विद्वान राहगीर और चीता

एक बार एक विद्वान राहगीर घोड़े पर सवार होकर कहीं दूर जा रहा था । रास्ता घने बीहड़ों में होकर जाता था हिंस्र पशुओं के आक्रमण की आशंका थी, सो उसने बंदूक साथ ले ली ।

कितने ही कोस चल लेने पर उसे शौच जाने की आवश्यकता पड़ी, सो घोड़े को लंबी रस्सी से बाँध कर हरी घास चरने छोड़ दिया और वह एक जगह शौच के लिए बैठ गया ।

निवृत्त होकर जैसे ही वह उठा, कि सामने की झाड़ी में से एक चीता निकलते हुए दिखाई दिया । वह आक्रमण की मुद्रा में था ।

विद्वान घबराया । बंदूक घोड़े की पीठ पर बँधी थी, घोड़ा दूर था ।

चीते को निकट आते देखकर वह चिल्लाया-"मूर्ख, जानता नहीं, मेरे पास बंदूक है । वह तुझे क्षण भर में धराशायी बना देगी । विश्वास न हो तो यह देख बंदूक का लाइसेंस ।" लाइसेंस उसकी जेब में रखा था ।

चीता पढ़ा-लिखा नहीं था और न उसे लाइसेंस तथा बंदूक का संबंध मालूम था । उसके कथन पर ध्यान नहीं दिया और घुड़सवार को देखते-देखते चीर-फाड़ डाला ।

धर्मशास्त्रों का लाइसेंस लिए कितने ही लोग फिरते हैं; पर उन्हें काम में लाने की ओर ध्यान नहीं देते । ऐसी विद्वत्ता किस काम की ।

युग दृष्टा रसेल

फिर भी समय-समय पर मनीषी अवतरित होते रहते हैं एवं पारम्परिक मान्यताओं को बदल देने के लिए जनमानस को उद्वेलित कर देते हैं । ऐसे ही महामानवों में मौलिक चिंतन की दृष्टि से बर्ट्रेण्ड रसेल को इस युग का अद्‌भुत विचारक ही कहा जा सकता है । उनने यदि कोई और विषय अपनाया होता, तो उसमें भी वे पारंगत सिद्ध हुए होते । पर उनने एक ही विषय अपने लिए चुना-जीवन क्रम में आदर्श बलिदान का समावेश एवं चित्र-विचित्र मान्याताओं का भंडाफोड़ । उनका कहना था कि इसके बिना प्रतिभा और सम्पदा कितनी ही बढ़ी-चढ़ी क्यों न हो, वह अंतत: मनुष्य जाति के लिए विघातक ही सिद्ध होगी; जबकि दरिद्र, अशक्त और अस्वस्थ व्यक्ति भी जीवन क्रम में आदर्शों का समावेश करके समाज की महती सेवा कर सकते हैं ।

रसेल ने प्राय: ६० दार्शनिक ग्रंथ लिखे हैं । उनमें उनने हर वर्ग के लोगों को संबोधित करते हुए कहा है कि यदि वे मानवी गरिमा के अनुरूप अपना चिंतन, चरित्र और व्यवहार नहीं ढाल सकते, तो अपनी क्षमताओं का दुरुपयोग ही करेंगे और जो भी काम हाथ में लेंगे उसके पीछे छद्म जुड़ा होने से वातावरण को दूषित ही करेंगे । रसेल को निंदा-स्तुति की तनिक भी चिंता न रही । उनने आधुनिक एवं प्राचीन प्रचलनों में से अधिकांश की कड़ी तर्क सम्मत समीक्षा की है ।

ततोऽपि मूले धर्मस्य भेदो नैवोपजायते ।
मेधाक्रान्तो ग्रहाक्रान्तो भवत्येव दिवाकरः ।।५७।।
तथापि सत्ता नैवास्य तस्मात्स्वल्पं विकम्पते ।
गङ्गायां प्रपतन्त्यत्र मलिनानि जलान्यपि ।।५८।।
जलचरादिकजीवानां विष्ठादेरपि जाह्नवी ।
पवित्रतां निजां नैव जहात्येषाऽन्यपावनी ।।५९।।
आरोहन्ति च कीटास्ते प्रतिमां परमात्मनः ।
न्यूनतां गौरवं नैव प्रयात्यस्यास्ततोऽपि च ।।६०।।
धर्मच्छायाश्रिता नूनमनाचाराः सदैव च ।
संशोध्याः परमेतेन महत्तायामथापि च ।।६१।।
उपयोगेऽपि धर्मस्य सन्देहः क्रियतां नहि ।
महामानवतां यान्ति धर्मात्मानो नरास्त्विह ।।६२।।

टीका–तो भी इससे धर्म के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता । सूर्य पर बादल छाते और ग्रहण पड़ते रहते हैं, तो भी उसकी सत्ता स्वल्पमात्र भी विकम्पित नहीं होती । गंगा के प्रवाह में अनेक गन्दे स्रोतों से जल आकर उसमें मिलता रहता है तथा जलचर आदि जीवधारी भी उसमें गंदगी करते रहते हैं, तो भी उसकी पवित्रता में कोई अंतर नहीं आता, क्योंकि उसमें स्वतः अन्यों को पवित्र करने की शक्ति है । देव–प्रतिमा पर कृमि–कीटक भी चढ़ जाते हैं, पर इससे उनकी गरिमा कम नहीं होती । धर्म की आड़ में चलने वाले अनाचार को सुधारा–बदला जाना चाहिए, पर उसकी महत्ता एवं उपयोगिता के संबंध में कोई संदेह नहीं करना चाहिए । धर्म परायण ही महामानव बनते हैं ॥ ५७–६२॥

काला चाँद एवं उसका विद्रोह

धर्म की आड़ में न जाने कितनों का दमन कर दिया जाता रहा है । मध्यकाल की इस विडंबना ने हिन्दू धर्म को काफी क्षति पहुँचायी है । एक घटना तेरहवीं शताब्दी की है । काला चाँद नामक एक ब्राह्मण ने मुस्लिम राजकुमारी से विवाह कर लिया । पति को मुसलमान नहीं बनाया, वरन् वह स्वयं हिन्दू पद्धति का जीवन बिताने लगी । इस पर पंडितों ने उसका बहिष्कार कर दिया, मंदिरों में प्रवेश करने पर रोक लगा दी । और भी कई अवसरों पर उसे बुरी तरह तिरस्कृत किया ।

काला चाँद का स्वाभिमान फुफकार उठा । वह कट्टर हिन्दू द्रोही हो गया । बादशाह के प्रतिनिधि की हैसियत से उसने कितनी हिन्दू रियासतें मटियामेट कर दीं । उन क्षेत्रों के मंदिरों को विस्मार कर दिया और कत्लेआम का पहला शिकार पंडितों को बनाया । काशी और जगन्नाथ के पंडितों ने बहिष्कार में अपना अग्रणीपन दिखाया था । उसकी दृष्टि में इस जाति का जो भी मिला, उसे रुला–रुला कर मौत के घर पहुँचाया ।

अब तक न जाने कितने काला चाँद धर्म के ठेकेदारों की संकीर्णता ने विनिर्मित किए होंगे ।

सिद्धियों के तथाकथित जाल–जंजाल ने धर्म के स्वरूप को और विकृत किया है । सामान्यजन इसमें शीघ्र ही उलझकर लक्ष्य को भूल जाते हैं, जो कुछ भी हो सकता था, उससे भी वंचित रह जाते हैं ।

जल पर चलने की सिद्धि

गंगा किनारे एक साधु तप करते थे । उन्हें पानी पर चलने की सिद्धि मिल गयी थी । घाट पर रहने वाला मल्लाह उनका भक्त हो गया ।

एक बार नदी में भयंकर बाढ़ आयी । मल्लाह ने अपनी झोंपड़ी सहित अपने बच्चों को सुरक्षित स्थान पर पहुँचा दिया; पर बाबाजी की कुटिया बहने लगी और साथ ही वे भी गोते खाने लगे । मल्लाह ने कूद कर उन्हें किसी प्रकार किनारे तक पहुँचाया ।

चित्त शांत होने पर मल्लाह ने साधु से पूछा–"आपको तो जल पर चलने की सिद्धि थी, फिर यह दुर्दशा कैसे हुई ।" साधु ने गंभीर स्वर से कहा–"सिद्धियाँ प्रदर्शन मात्र थीं । इतने प्रचंड प्रवाह को पार करने के लिए तो तैरने की सिद्धि चाहिए । तुम मुझसे बड़े सिद्ध हो ।"

सिद्धियों की प्रवंचना नहीं, धर्म–धारणा से ही मनुष्य का कल्याण संभव है ।

रामतीर्थ और सिद्ध संन्यासी

महामानव बनने के इच्छुकों को अनिवार्यतः यही रीति–नीति अपनानी पड़ती है । प्रारंभ में स्वामी रामतीर्थ भी सिद्धियों के भ्रम में थे ।

एक बार उनने एक सिद्ध पुरुष की बड़ी प्रशंसा सुनी । वे उससे मिलने एक दुर्गम स्थान में पहुँचे ।

आग्रह करके उनसे साधना–सिद्धि की बात पूछी । उनने दो करामातें दिखायीं–एक नदी के जल पर चलने की, दूसरी आसमान में दूर तक उड़ने की ।

कौतूहल तो बहुत हुआ; पर रामतीर्थ का समाधान न हुआ । उनने कहा–"भगवन् ! यह काम तो मक्खी और बत्तख भी कर सकती हैं । इतने भर कर लेने से क्या प्रयोजन सधा । जनहित के लिए इतना श्रम किया होता, तो उससे अपना और दूसरों का कितना कल्याण होता ।"

सिद्ध पुरुष निरुत्तर थे । रामतीर्थ वापस लौट आये ।

तोता रटंत

कुछ लोग वेश तो संतों का बना लेते हैं तथा शास्त्रज्ञान की शेखी भी बघारते हैं; पर देखने वाली बात यह है कि यथार्थ जीवन में वे संत बने हैं क्या ?

पालतू तोते को किसी ने पिंजड़े समेत एक संत के आश्रम में पहुँचा दिया ।

संत ने उसे मोक्ष का मार्ग बताया और नया वाक्य याद कराया–"पिंजड़ा छोड़ो, ऊँचे उड़ो ।" तोते ने ये शब्द रट लिए ।

एक दिन पिंजड़ा खुला रह गया । तोता खिड़की से बाहर सिर चमकाता और रटे हुए शब्दों को बोलता–"पिंजड़ा छोड़ो, ऊँचे उड़ो ।"

आश्रमवासी इस कौतूहल को देख रहे थे । द्वार खुला है, उड़ने में कोई रोक नहीं, मंत्र भी याद है, फिर यह उड़ता क्यों नहीं ? अपितु भीड़ को देखकर पिंजड़े के कोने में क्यों जा छिपता है ?

हँसते आश्रमवासियों के कौतूहल का समाधान करते हुए संत ने कहा–"हम में भी तो अनेक ऐसी ही तोता रटंत करने वाले हैं । भक्ति का द्वार खुला होने पर भी बंधन से निकलने का प्रयास नहीं करते, उल्टे धार्मिकता का भ्रम और फैलाते रहते हैं ।"

संत इब्राहीम की घबड़ाहट

सूफी संत इब्राहीम खवास एक बार अपने शिष्य के साथ कहीं जा रहे थे । रास्ते में घना जंगल पड़ता था । वहाँ जंगली, हिंस्र पशुओं का साम्राज्य था । संत एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ होकर बैठ गए । शिष्य ने देखा सामने शेर आ रहा है । वह घबराकर भागा और पेड़ पर चढ़ गया । शेर आया, उसने संत के चारों ओर चक्कर लगाया, उनका शरीर सूँघा और चला गया । कुछ देर बाद ध्यान पूरा कर संत चले । शिष्य भी उनके साथ हो गया । सहसा एक मच्छर ने संत को काट लिया । संत के मुँह से आह निकली । शिष्य विस्मित रह गया । उसने गुरु से पूछा–"गुरुजी ! शेर आया तब तो आप बिल्कुल नहीं घबराये और अब एक मच्छर के काटने से आह भर रहे हैं । यह क्या ?" संत बोले–"तुझे पता नहीं, उस समय मेरे साथ परमात्मा थे इसलिए मैं अभय था । किन्तु अब मेरा साथी तू है, इसलिए मैं घबरा रहा हूँ ।"

जब जब भी धर्म के नाम पर अनाचार एवं अनीति सीमा पार कर जाती है, मनीषी जनसाधारण में से ही उपजते एवं संघर्ष करते हुए सत्प्रवृत्तियों की स्थापना करते हैं । मरने के बाद भी उनकी कीर्ति मिटती नहीं ।

वाल्टेयर महान

उन दिनों समूचे क्षेत्र में अनैतिकता और दुष्प्रवृत्तियों की भरमार थी । जिधर नजर उठा कर देखा जाय, उधर ही अनाचारों का बोलबाला दीखता था । बालक वाल्टेयर जब काम चलाऊ पढ़ाई पढ़ चुके, तो उनके पिता वकालत पढ़ाना चाहते थे; पर उनने निश्चय किया कि उस झूँठ बोलने के धंधे में न पड़कर संव्याप्त अनाचारों से लोहा लेंगे और बंदूक से असंख्य गुनी शक्तिशाली लेखनी के योद्धा बनेंगे । उनने अपना निश्चय कार्यान्वित किया । परिवार का कहना न माना ।

वाल्टेयर ने १०० अति महत्वपूर्ण लेख और ३०० के करीब शोध-निबंध विभिन्न विषयों पर लिखे । जनता में विद्रोह की भावना उमड़ पड़ी और उनके साहित्य का भरपूर स्वागत हुआ । किन्तु शासन को, निहित स्वार्थों को वे सहन न हुए । जेल, देश निकाला, आक्रमण, बर्बादी आदि से उन्हें हताश करने का प्रयत्न किया गया । पर वे झुके नहीं उन्हें नास्तिक घोषित किया गया । जब वे मरे तो कोई पादरी संस्कार कराने न आया । एक वीरान जगह में उन्हें गाड़ दिया गया । शासन ने जिस साहित्य को ढूँढ़-ढूँढ़ कर जला दिया था, वह गुपचुप छपता रहा और लोगों द्वारा मनोयोग पूर्वक पढ़ा जाता रहा और छिपी चिनगारी ने दावानल बनकर फ्रांस में क्रांति कर दी ।

कब्र खोद कर उनकी अस्थियों का जुलूस निकाला गया, जिनमें ३ लाख जनता उपस्थित थी । अस्थियों पर शानदार स्मारक बनाया गया ।

दार्शनिक नीत्से ने उन्हें 'हँसता हुआ सिंह' कहा । वेले ने कहा–'वे युग के सड़े शरीर की चिकित्सा करने आये थे ।' विक्टर ह्यूगो ने कहा–'वे अनाचार के विरुद्ध आजीवन लड़ने वाले योद्धा थे । उनकी आत्म निर्भरता लक्ष्य के प्रति समर्पण भावना और कर्मठता अद्भुत थी ।'

यशोधर्मा दूसरा चंद्रगुप्त

अहिंसा, क्षमा, दया के अतिवाद ने भारत को दीन, दयनीय और कायर बनाकर रख दिया था । अत्याचार सहने के वे आदी भी हो गए थे । परिस्थितियों से लाभ उठाकर मध्य एशिया की बर्बर जातियों को आक्रमण करने और नृशंसता बरतने का अवसर मिला और देखते-देखते भारत का बहुत बड़ा भाग दरिद्र तथा पराधीन हो गया ।

चाणक्य ने इस अतिवादी दर्शन का डटकर विरोध किया और चंद्रगुप्त, समुद्रगुप्त जैसे अनीति से लड़ने वाले

योद्धा तैयार किये । उनके उपरांत बर्बरों ने फिर सिर उठाया तो मालव के एक छोटे राज्य अधिकारी-यशोधर्मा ने वह कमान सँभाली । जनता में साहस भरा । भक्ति से मुक्ति की भ्रांत धारणाओं पर करारा प्रहार किया । उन्हें योद्धा और धर्मोपदेशक का दुहरा उत्तरदायित्व सँभालना पड़ा ।

तथ्यों को जिसने भी समझा उसने यशोधर्मा का पूरा साथ दिया और लगभग वही स्थिति पैदा हो गई जो चंद्रगुप्त के समय में थी । उसने बर्बरों के हौंसले पस्त कर दिए । कितने ही छोटे-बड़े युद्ध उनने लड़े और जीते । सबसे बड़ा कार्य उसने धर्मतंत्र के परिशोधन का किया जो समय की आवश्यकता को देखते हुए अभीष्ट भी था ।

ग्राह्या धर्मधृतिर्नूनं महामानवतां गतैः ।
पराभवन्ति चाधर्मी विपुलं वैभवं तथा ।। ६३ ।।
पराक्रमश्च नात्यर्थं तिष्ठतोऽस्य रिरक्षया ।
उच्छलन्नपि नश्येत्स जलबुद्बुदतां गतः ।। ६४ ।।
इन्धनानीव लोकेऽस्मिञ्ज्वलन्त्यपि च तत्क्षणात् ।
भस्मतां यान्ति स्वल्पेन कालेनैते सदैव च ।। ६५ ।।

टीका—महामानवों को अनिवार्यतः धर्मधारणा अपनानी होती है । अधर्मी का पराभव होता है । उसका विपुल वैभव और पराक्रम भी उसकी रक्षा में देर तक नहीं टिकता । पानी में उठने वाले बबूले की तरह क्षण भर की उछल-कूद के उपरांत उसका अंत होते देखा जाता है । अधर्मी क्षण भर ईंधन की तरह जलते-उबलते दीखते हैं, पर उनके राख बनकर समाप्त होने में भी विलंब नहीं लगता ।। ६३-६५ ।।

अर्थ—अधर्म का स्वरूप विराट् प्रलयंकारी दीखता भर है । दीपक की लौ बुझने के पूर्व तेजी से लपक उठती है पर अंततः बुझकर धुँआ ही परिणति बनकर रह जाता है । अनीति के पक्षधरों, आक्रांताओं के पास चाहे कितना ही वैभव क्यों न हो, बल की दृष्टि से वे सम्पन्न भले हों, हार उनकी होकर ही रहती है । यह एक आकट्य-शाश्वत सिद्धांत है एवं इसमें किसी को संशय नहीं होना चाहिए । विभिन्न अवतारों के प्राकट्य के समय अनीति हमेशा चरम सीमा पर रही है परंतु छोटे-छोटे साधनों एवं पुरुषार्थ की दृष्टि से नगण्य से व्यक्तियों को अपना सहायक बनाकर उन्होंने अधर्म की त्रासदी को मिटाया एवं धर्म की स्थापना की है । इससे एक तथ्य स्पष्ट होता है कि अधर्म-अनीति-दमन से जूझने के लिए संघ शक्ति के जुटने भर की आवश्यकता है । वह नष्ट तो होगी ही, उसे झुकना पड़ेगा ही पर तब ही जब जन-जन का मन्यु जागे, उनमें चेतना उमगे ।

पराक्रमी चाणक्य

गुप्तकाल में मगध में जन्मे चाणक्य बड़े मातृ भक्त और विद्या परायण थे । एक दिन उनकी माता रो रही थी । माता से कारण पूछा तो उसने कहा तेरे अगले दांत राजा होने के लक्षण हैं । तू बड़ा होने पर राजा बनेगा तो तू मुझे भूल जायेगा । चाणक्य हँसते हुए बाहर गए और दोनों दांत तोड़कर ले आये और बोले-"अब ये लक्षण मिट गये । अब मैं तेरी सेवा में ही रहूँगा । तू आज्ञा देगी तो आगे चलकर राष्ट्र देवता की साधना करूँगा ।"

बड़े होने पर चाणक्य पैदल चलकर तक्षशिला गए और वहाँ २४ वर्ष पढ़े । अध्यापकों की सेवा करने में वे इतना रस लेते थे कि उनके प्राण प्रिय बन गए । सभी ने उन्हें मन से पढ़ाया और अनेक विषयों में पारंगत बना दिया ।

लौटकर मगध आये तो उन्होंने एक पाठशाला चलाई और अनेक विद्यार्थी अपने सहयोगी बनाये । उन दिनों मगध का राजा नंद दमन और अत्याचारों पर तुला था और यूनानी भी देश पर बार-बार आक्रमण करते थे । चाणक्य ने एक प्रतिभावान युवक चंद्रगुप्त को आगे किया और उसे साथ लेकर दक्षिण तथा पंजाब का दौरा किया । सहायता के लिए सेना इकट्ठी की और सभी आक्रमणकारियों को सदा के लिए विमुख कर दिया । वापिस लौटे तो नंद से भी गद्दी छीन ली । चाणक्य ने चंद्रगुप्त का चक्रवर्ती राजा की तरह अभिषेक किया और स्वयं धर्म प्रचार तथा विद्या विस्तार में लग गए । आजीवन वे अधर्म-अनीति से मोर्चा लेते रहे ।

सुभाष का स्वाभिमान

बमुश्किल दाखिला मिला था कलकत्ते के प्रेसीडेंसी कॉलेज में, एक भारतीय छात्र को । उस पर भी अंग्रेजी के प्रोफेसर का व्यवहार यह था कि वह बात-बात में भारतीयों को अपमान भरे शब्द कहा करता था । अभी तक कोई विरोध करने वाला था नहीं । जब भारतीय छात्र आ गया तो भी प्रोफेसर ने पुराना रवैया बदला नहीं ।

एक दिन जैसे ही उन्होंने भारतीयों के प्रति अपमान जनक शब्द कहे, युवक ने यह जानते हुए भी कि वह कॉलेज से निष्कासित किया जा सकता है, प्रोफेसर साहब के गाल पर तमाचा जड़ दिया । कॉलेज से निकाल दिया गया पर उस भारतीय ने कभी अन्याय के आगे सिर नहीं झुकाया । वह युवक श्री सुभाषचंद्र बोस थे । उसके बाद प्रेसीडेंसी कॉलेज में स्वतः ही भारतीयों की निंदा बंद हो गयी । अनीति को पनपने न दिया जाय तो वह नष्ट होती ही है ।

महिषासुर मर्दन

महिषासुर के आक्रमण से सभी देवता पराजित हो गए । प्रजापति ने उनका दुःख दूर करने के लिए सम्मिलित शक्ति एकत्रित की और उससे दुर्गा का उद्भव हुआ । उनके तीखे प्रहार से दनुजों का संहार हुआ ।

महिषासुर अर्थात् आलस्य और प्रमाद । इनका आक्रमण सर्वत्र पराजय का कारण होता है । समूहबद्ध होकर ही, सम्मिलित प्रयत्नों से इसे दूर किया जा सकता है ।

दीपक-सूरज संवाद

मनुष्य कितना ही छोटा क्यों न हो उसे अपने पुरुषार्थ व दैवी विधान पर विश्वास रखना चाहिए ।

टिमटिमाते दीपक को देखकर सूरज बोला-"नन्हें बच्चे अंधकार की शक्ति तूने देखी नहीं अजगर है वह, निगल जायेगा तुझे, चुपचाप बैठ, जीवन नष्ट मत कर ।"

दीपक बोला-"तात् ! निरंतर चलते रहने का व्रत आपने नहीं तोड़ा तो मैं ही उससे विमुख क्यों होऊँ ।"

व्यवस्था जगतश्चैषा कर्मणः फलमाश्रिता ।
चलत्यत्र तरोर्जन्मप्रौढता मध्यगो महान् ।। ६६ ।।
कालो विलम्बरूपोऽयं व्यत्येत्येवं सुकर्मणाम् ।
परिणामस्य प्राप्तौ स विलम्बः सम्भवत्यलम् ।। ६७ ।।
कारका इव वर्षन्ति दुर्जनाः पीडयन्ति च ।
मर्यादां सकलां धान्यसम्पदामिव सर्वदा ।। ६८ ।।
ते स्वयं नष्टतां यान्ति द्रवीभूताः परं क्षुपाः ।
प्ररोहन्ति पुनस्ते तु कथञ्चित्समये गते ।। ६९ ।।
विलम्बं वीक्ष्य गच्छेन्न भ्रमं कर्मफले नरः ।
हताशेन न भाव्यं च शुभमार्गानुयायिना ।। ७० ।।

टीका-कर्मफल की सुनिश्चितता के आधार पर ही यह विश्व व्यवस्था चल रही है । वृक्ष को उगने से लेकर प्रौढ़ होने में देर लगती है । सत्कर्मों के सत्परिणाम मिलने में देर हो सकती है । इसी प्रकार दुर्जनों को ओलों की तरह बरसते और मर्यादाओं की फसल नष्ट करते देखा जाता है, पर ओले गलकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं परंतु उनके कारण टूटे हुए पौधे कुछ समय बाद फिर नये सिरे से पल्लवित होते देखे गए हैं । कर्मफल में विलंब लगते देखकर सन्मार्ग में प्रवृत्त किसी को भी न भ्रम में पड़ना चाहिए और न हताश होना चाहिए ।। ६६-७० ।।

अर्थ-बीज को गलकर वृक्ष का रूप लेने की प्रक्रिया समय साध्य है । जो अधीरता बरतते हैं, कर्मों का प्रतिफल तुरंत चाहते हैं, उन्हें निराश ही होना पड़ता है । इससे यह नहीं सोचना चाहिए कि दुष्कर्मों की प्रतिक्रिया नहीं होती । जो दूरदर्शी होते हैं, वे कर्म फल व्यवस्था में सच्चे आस्तिकवादी की तरह विश्वास रखते हैं ।

कर्मफल से भगवान भी नहीं छूटे

कर्मफल से कोई बच नहीं सकता । रामावतार में बालि को छिपकर मारा गया था । बहेलिये के तीर से जब श्रीकृष्ण भगवान घायल होकर मरने लगे तो क्षमा माँगने वाले निषाद को सान्त्वना देते हुए उनने कहा–"इसमें तेरा दोष नहीं यह कर्मफल व्यवस्था है, जिससे भगवान भी नहीं बच सकते ।"

दशरथ ने श्रवणकुमार को तीर से मारा था । बदले में ऋषि श्राप से उन्हें भी पुत्र शोक में विलख-विलख कर मरना पड़ा ।

कुकर्म का प्रशंसक भी अपराधी

एक रानी ने खिड़की में से सड़क पर जाते एक सुंदर युवक को देखा । दोनों एक दूसरे के सम्पर्क के लिए आतुर हो गए । रानी के यहाँ एक मालिन रोज माला देने आती थी । उसके साथ षड्यंत्र बनाकर एक तरीका निकाला गया । वह युवक मालिन की पुत्रवधू बनाकर आता और रानी से सम्पर्क मिलाता ।

राजा को पता चल गया । उसने रानी, युवक और मालिन को सड़क पर बिठा दिया और देखा कि उनके बारे में कौन क्या कहता है । अधिकांश लोग तो उनकी निंदा करते निकलते पर एक आदमी ने तीनों की बुद्धि को सराहा और कहा–"उसने इच्छित लाभ तो कमा लिया, अब जो होगा सो होता रहेगा ।"

राजा के आदेशानुसार गुप्तचरों ने उस प्रशंसक को भी पकड़ लिया और चारों को मौत के घाट उतारा गया ।

दुष्कर्म की प्रशंसा करने एवं प्रोत्साहन देने वाला भी उतना ही अपराधी होता है ।

स्रष्टा का कर्म-व्यापार

एक सुंदर युवती पड़ोसी युवक के प्रेमपाश में बँध गई । दोनों ने लोक भय से कहीं अन्यत्र जा बसने का निश्चय किया और रात्रि में घर छोड़ दिया । युवक अपरिचित जगह में निर्वाह साधन कठिनाई से ही जुटा पाता, फिर भी दाम्पत्य जीवन चला और तीन वर्ष में ही दो बच्चों का बाप बन गया ।

दोनों ने सोचा घर वापस लौट चलें । परिवार का क्रोध शांत हो गया होगा । वहीं गुजारा करेंगे । लंबा रास्ता पार करना था । दो बच्चों को गोद में लेकर दोनों बीहड़ के रास्ते घर लौट रहे थे । रास्ते में एक विषधर ने युवक को काट लिया और वह वहीं ढेर हो गया ।

युवती पर विपत्ति का पहाड़ टूट पड़ा । पर करती क्या ? उसने लाश को नदी में बहाया और किनारे पर पड़े लट्ठे के सहारे पार उतरने का प्रयास करने लगी । एक हाथ में लट्ठा रहने के कारण एक ही बच्चे को साथ ले जा सकती थी । सो उसने छोटे को पत्तों के ढेर में छिपा दिया और बड़े को कंधे पर बिठाकर लट्ठे के सहारे पार उतरी । दूसरे फेर में दूसरे को ले जाने की उसकी योजना थी ।

पार होने पर बड़े बच्चे को खेलने के लिए बिठाया और वापस लौटकर छोटे को लेने चली । पर दुर्भाग्य का क्या कहना । देखा तो छोटे को शृंगाल खा चुका था । शिर धुनती लौटी तो देखा कि माँ से मिलने की आतुरता में बड़ा नदी तट पर जा पहुँचा और प्रवाह में बह गया । अब उसका पूरा परिवार, पूरा संसार लुट चुका था । रोती-कलपती एकाकी पितृ-गृह की ओर चलती रही ।

घर पहुँचने पर नजारे दूसरे ही दीखे । माता-पिता मर चुके थे । सास-श्वसुर बीमार पड़े थे । एक भाई था, सो भी ठीक उसी दिन मरा जिस दिन घर पहुँची थी ।

इतनी विपत्तियाँ इतनी जल्दी एक साथ उस अल्हड़ लड़की पर टूटी तो वह संतुलन गँवा बैठी और पागल हो गई ।

उस पगली की उद्धत गतिविधियों से क्रुद्ध होकर पड़ोसियों ने उसे भगवान बुद्ध के आश्रम में पहुँचा दिया । उस वातावरण में देर तक रहने के बाद शोक घटा और उसकी समझ फिर से लौटने लगी ।

अवसर देखकर भगवान ने उसे बुलाया, पास बिठाया और स्नेहपूर्वक उसे नया नाम दिया पट्टाचारा । गंभीर मुद्रा में बोले–"भद्रे ! यह संसार जलती आग की तरह है । हम सब इसमें ईंधन की तरह जलते रहते हैं । जन्मने वाले के लिए मरण एक ध्रुव सत्य है । रोने से भी वह नहीं रुकता है । कर्म चक्र में बँधे हम सभी मर्माहत की तरह रह रहे हैं ।

तथागत के अमृत वचन पट्टाचारा के अंतराल को छू गए । उसने शोक के परिधान उतार फेंके और महासत्य की शरण में जाने वाली चीवरधारी तपस्विनियों की पंक्ति में जा बैठी ।

दुष्टता पर सज्जनता का प्रहार

एक मनुष्य को किसी संत के दुर्व्यवहार पर क्रोध आ गया । बदले में संत को भी क्रोध आ गया और वे भी उससे उसी प्रकार का व्यवहार करने पर उतारू हो गए ।

एक सिद्ध पुरुष यह सब देख रहे थे । बोले–कीचड़ को कीचड़ से नहीं स्वच्छ जल से धोओ । आग पर पानी डालो । दुष्टता पर सज्जनता का प्रहार करो । बदले की अपेक्षा यह उपचार अधिक कारगर है ।

पाप का प्रायश्चित पाप से नहीं

राजगृह के अधिपति राजा अजातशत्रु ने अपने पिता का वध कर दिया । प्रायश्चित के लिए वह पंडितों के परामर्शानुसार पशुबलि वाला यज्ञ कर रहा था ।

बुद्ध ने सुना तो वे सीधे अजातशत्रु के आँगन में जा पहुँचे । राजा के हाथ में एक तिनका देते हुए कहा–"इसे तोड़ो ।" उसने तोड़ दिया । फिर कहा–"इसे जोड़ो ।" वह संभव न था ।

बुद्ध ने समझाया–"पाप का प्रायश्चित पाप से नहीं हो सकता । उसके लिए दूसरा परमार्थ कार्य करो ।" अजातशत्रु तथ्य को समझ गया । उसने यज्ञ बंद कर दिया ।

धर्मधारणया मर्त्या जायन्त उन्नतास्तथा ।
महामानवतां तस्मादधिगच्छन्ति चान्ततः ।। ७१ ।।
केवलं धर्मचर्चां ते श्रुत्वाऽधीत्याऽपि वा पुनः ।
सन्तुष्टा नैव जायन्ते कृतां वा धार्मिकीं क्रियाम् ।। ७२ ।।
पर्याप्तं न विजानन्ति परं तत्रानुशासनम् ।
विद्यते यद् विगृह्णन्ति तदैवैते स्वतस्तथा ।। ७३ ।।
नैवालस्यं प्रमादं वा भजन्ते ते मनागपि ।
निर्धारणानि कर्तुं च व्यवहारान्वितानि तु ।। ७४ ।।
ईदृशा एव मर्त्यास्तु महामानवतामिह ।
अञ्जसाऽऽसाद्य सार्थक्यं नयन्त्यत्र स्वजीवनम् ।। ७५ ।।

टीका–धर्म–धारणा अपनाकर मनुष्य ऊँचे उठते, आगे बढ़ते और महामानव कहलाते हैं । वे मात्र धर्म–चर्चा सुनने–पढ़ने से संतुष्ट नहीं होते और न धर्मानुष्ठानों के क्रिया–कृत्य को ही पर्याप्त मानते हैं, वरन् उसके जुड़े हुए अनुशासन को अपनाते और निर्धारणों को क्रियान्वित करने में आलस्य–प्रमाद नहीं बरतते । ऐसे लोग सहज ही महामानव बनने की जीवन–सार्थकता उपलब्ध करते हैं ।। ७१–७५ ।।

कर्मयोगी जनक

राजा जनक के कोष में धन की कमी न थी; पर वे अपने निर्वाह के लिए अपने हाथों खेती करते थे । हल जोतते ही उन्हें सीताजी मिली थीं । राज्यकोष को उन्होंने प्रजा की अमानत भर माना और उसी के लिए उसका उपयोग किया । ब्रह्मज्ञानी कल्पना लोक में नहीं बिचरते, चरित्र भी उसी स्तर के अनुरूप बनाते हैं ।

साधुता–सेवा में

बिठूर घाट पर एक उपकारी साधु रहते थे । टाट का कपड़ा पहनते, नंगे पैर चलते । साधु के आश्रम में भोग–प्रसाद में बढ़िया चीजें आतीं । कितने ही लोग उसी लालच में वैसे ही वस्त्र पहन कर चेला बन गये । सोचने लगे, कुछ दिन में उनकी भी ऐसी ही पूजा होने लगेगी । दर्शनार्थियों का दिया हुआ प्रसाद दिन भर बँटता रहता, उसी से शिष्यों का पेट भर जाता । साधु उनके मन की बात जानते थे, सो भ्रम मिटाने की बात सोची ।

एक दिन प्रातः गंगा के दूसरी पार अपरिचित जगह पहुँचे । तीसरे पहर तक पूजा–पाठ करते रहे । किसी ने भोजन की बात तक न पूछी ।

संध्याकाल परिचित गाँव के रास्ते लौटे, तो सब लोग उन्हें अपना–अपना घर पवित्र कराने ले गए । भेंट में

प्रसाद मिला, सो उन्होंने उसी गाँव वालों को बाँट दिया ।

कुटिया पर लौटने के उपरांत भूखे शिष्यों ने भोजन पकाया और पेट भरा । शिष्यों का असमंजस देखकर गुरु ने कहा–"वेश बनाने से काम नहीं चलता । साधु सेवा कार्यों में भी लगे रहते हैं, सो भी सीखो । कर्मयोग का सिद्धांत तुम पर भी समान रूप से लागू होता है ।"

निर्मातव्यं जगत्सर्वं महामानवरूपिभिः ।
कल्पवृक्षैः सुपूर्णं तन्नन्दनं वनमुत्तमम् ॥ ७६ ॥
साधुविप्रस्तरा देवपुरुषा निर्वहन्तु च ।
उपार्जनस्य दायित्वमेतन्मर्त्यशुभावहम् ॥ ७७ ॥
एतदर्थं व्यवस्थास्यात् स्वाध्यायस्याथ सन्ततम् ।
सत्संगस्य तथा सेवासाधानासंयमादिकाः ॥ ७८ ॥
क्रियान्विता भवन्त्वत्र सत्प्रवृत्तय एव च ।
धर्मस्यात्र महत्वं च बोध्यं बोध्याः परेऽपि च ॥ ७९ ॥
प्रत्यक्षाः परिणामाश्चेत्तस्य तर्कप्रमाणकैः ।
शक्याः कर्तुं प्रबुद्धैश्चेन्नराणां हृदयंगमाः ॥ ८० ॥

टीका–संसार को महामानवों के कल्पवृक्षों से हरा–भरा नंदन वन बनाया जाना चाहिए । इस उपार्जन का मंगलमय उत्तरदायित्व साधु–ब्राह्मण स्तर के देव–पुरुषों को उठाते रहना चाहिए । इसके लिए स्वाध्याय और सत्संग की व्यवस्था बनी रहनी चाहिए । साधना, संयम और सेवा की सत्प्रवृत्तियों को नियमित रूप से कार्यान्वित होते रहना चाहिए । धर्म का महत्व समझा और समझाया जाना चाहिए । उसके प्रत्यक्ष परिणामों के आधार पर हृदयंगम कराया जा सके, तो उसे सहज ही लोग अपनाने लगेंगे ॥ ७६–८० ॥

दुर्बल क्षमा के पात्र हैं

भगवान बुद्ध ने तो बुद्ध बनने से पूर्व २४ अवतार इसी तरह लेकर महानता विकसित करने का पुण्य कमाया । बुद्ध जातक के नाम से उनके यह अनेक जन्मों के संस्मरण बहुत मार्मिक हैं–

एक बार भगवान बुद्ध किसी जन्म में जंगली भैंसा बनकर रहे थे । उस जंगल में एक नटखट बंदर रहता था, जो पीठ पर चढ़ जाता और उन्हें तरह–तरह से हैरान करता । वे शांत रहते, अथवा सिर हिला कर भगा देते ।

देवता बोधिसत्व को पहचानते थे । उनने कहा–"आप इस दुष्ट बंदर को मजा क्यों नहीं चखा देते ?" भैंसे की काया में रहने वाले तथागत ने कहा–"अपने से बलिष्ठ को दंड देना चाहिए । दुर्बल हो तो उसे क्षमा करना ही उचित है ।"

महापुरुषों को देवदूत भी कहा जाता है, अर्थात् वे परमात्मा का काम करने आते हैं ।

हजरत मूसा और भगवान

हजरत मूसा बीमार पड़े । उनने अल्लाह से स्वास्थ्य के लिए दुआ माँगी । अल्लाह ने उनकी दुआ सुनी अच्छा कर दिया । मूसा फिर बीमार पड़े और उनने फिर दुआ माँगी । अब की बार अल्लाह ने संदेश भेजा कि हकीम 'बु अली सोना' के पास जा और उससे इलाज करा । मूसा गिड़गिड़ाये और कहने लगे–"आप सर्वशक्तिमान हैं । आप ही अच्छा क्यों नहीं कर देते ।" अल्लाह ने कहा–"मैं समर्थ हूँ इसीलिए मरीज ठीक करने की जगह, बीमारी ठीक करने वालों को बनाने का काम अपने जिम्मे लिया है ।"

पादरी की सीख

कहने–समझाने का ढंग लोगों को अपमानित करने वाला न होकर संतों जैसा हो ।

एक शराबी ने पादरी से कहा–"हम खजूर के साथ पानी का शर्बत बनाकर पियें, तो क्या धर्म विरुद्ध है ?" पादरी ने कहा–"नहीं ।"

शराबी उत्साहित होकर बोला–"फिर उसमें जरा–सा खमीर पड़ जाने पर आप क्यों उसे पीने से रोकते हैं ?"

पादरी ने प्रत्युत्तर में उसी ढंग से प्रश्न किया–"आप पर एक किलो रेत और पानी मिलाकर पानी ऊपर से डालें, आपको कोई हानि होगी ?" शराबी ने कहा–"नहीं ।"

पादरी ने पुनः पूछा–"उसके साथ थोड़ा-सा सीमेंट मिलाकर रख दें, फिर ऊपर से छोड़ दें ?" फिर तो डेढ़ किलो का पत्थर मेरा सिर फोड़ देगा ।"

पादरी हँसे, बोले–"अब समझ में आया है । खमीर मिलने के बाद खजूर का शर्बत पीने पर क्यों रोक है ।" लोगों को तर्क और तथ्यों से समझाया जाय ।

भगवद् प्राप्ति के तीन अवलंबन

एक अमीर ने किसी संत की बहुत सेवा की । संत का जी भर आया और वे वहाँ से चलने लगे । अमीर ने प्रार्थना की कुछ ऐसी सौगात देते जाइये, जिसके सहारे मैं भगवान तक पहुँच सकूँ । संत ने उसे तीन चीजें दीं–(१) मोम, (२) सुई, (३) थोड़े से बाल, और कहा इन्हें गाँठ में बाँध लो । अमीर ने इस चीजों को देखा और अचंभे से पूछा–"इनके सहारे मैं कैसे भगवान से मिल सकूँगा ?"

संत ने कहा–"मोमबत्ती की तरह खुद जलो और दूसरों के लिए रोशनी पैदा करो । सुई की तरह अपने को उघारा रखो पर दूसरों के छेद बंद कर दो । बालों की तरह मुलायम और लचीले रहो । यह तीन ही सहारे भगवान तक पहुँचने के हैं, सो इन्हें गिरह बाँध लो, इनके सहारे भगवान तक पहुँच जाओगे ।"

अञ्जसैव तदा धर्ममनुयास्यन्ति तं जनाः ।
धर्मात्मानः स्वमाचारं प्रस्तुवन्तु नृसम्मुखे ।। ८१।।
उत्तमं चेज्जनाः सर्वेऽप्यनुयास्यन्ति तं तदा ।
आचरन्ति च यच्छ्रेष्ठाः सामान्या अनुयान्ति तम् ।। ८२।।

टीका–धर्मात्मा अपना आचरण–उदारहण लोगों के सम्मुख रखें तो लोग उसका अनुकरण करने लगेंगे । प्रतिभाशाली जो करते हैं, उसी का अनुकरण–अनुगमन होने लगता है ।। ८१–८२।।

अर्थ–प्रारंभ में थोड़े ही लोगों पर प्रभाव पड़े, तो भी हर्ज नहीं । हर व्यक्ति अपनी बात मान ले, यह आवश्यक नहीं ।

ईसा का उपदेश

ईसा शिष्य मंडली के बीच विराजमान थे । उस दिन उनने एक किसान के बीज बोने की कथा सुनाई; जिसमें से थोड़े ही उगे और सब नष्ट हो गए ।

कुछ दानों को चिड़ियों ने चुग लिया । कुछ कड़ी धूप में झुलस गए । कुछ कीचड़ में सड़े और कुछ झाड़ियों के बीच पड़ने से धूप-रोशनी न मिलने से उगे ही नहीं । थोड़े से वे पौधे ही बढ़े और फले जो उपयुक्त भूमि पर बोये और सावधानी के साथ सींचे गए थे ।

ईसा ने कहा–"उपदेश और पूजा भी तभी फलित होती है जब साधक का चरित्र और चिंतन भी उपयुक्त स्थिति में रहे और अनुकूलता उत्पन्न करने में योगदान करे ।"

उपहास सुनने का समय कहाँ

भगवान बुद्ध ने प्रशिक्षित धर्म प्रचारकों को कार्यक्षेत्र में भेजने से पूर्व निकट बुलाया और पूछा–"यदि लोग तुम्हारी बात न सुनें, उपहास या तिरस्कार करें, तो क्या करोगे ।"

परिव्राजकों के प्रमुख ने कहा–"हम बादलों की तरह बरसने, हवा की तरह सरसने, सूर्य की तरह प्रकाश बाँटने, चंद्रमा की तरह चाँदनी बिखेरने के लिए चले हैं । कर्तव्य पालन के आनंद में ही इतने रसविभोर रहेंगे कि किसी का उपहास-तिरस्कार सुनने-समझने की ही गुंजायश न रहेगी ।"

बुद्ध ने उनकी भाव-प्रखरता को समझा और आशीर्वाद देकर प्रयाण के लिए विदा किया । ऐसे ही लोगों का प्रभाव पड़ता है ।

धार्मिका धर्ममाख्यान्तु परं तेन सहैव च ।
आचरन्तोऽपि निष्ठां स्वामादर्शे प्रस्तुवन्तु च ।। ८३।।
आचरन्ति जना एवं येऽपि ते वस्तुतः समे ।
धर्ममुत्तमरीत्याऽत्र सेवन्ते सत्यसंश्रयाः ।। ८४।।
लभन्ते पुण्यमेतेऽत्र जना धर्मप्रचारगम् ।
तस्य सेवाविधेश्चापि साधनाया उताऽपि च ।। ८५।।

धर्मस्य चर्चया किञ्चित्सिद्धयेन्नैव प्रयोजनम् ।
वाचालयोपदेशस्य भाररूपतया भुवि ।। ८६ ।।

टीका–धर्म प्रेमी, धर्म का बखान–विवेचन भी करें; किन्तु साथ–साथ उसका आचरण करते हुए आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण–परिचय भी प्रस्तुत करें । जो ऐसा करते हैं, वे धर्म की सच्ची सेवा करते हैं । धर्म प्रसार की महती सेवा–साधना का पुण्य और श्रेय ऐसों को ही मिलता है । धर्म की चर्चा करने मात्र से किसी प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती । वाचालतापूर्ण उपदेश भाररूप ही होते हैं ।। ८३–८६ ।।

अर्थ–अतीतकालीन इतिहास महान धर्म प्रेमियों, सच्चे धर्म सेवियों से भरा पड़ा है ।

चाणक्य का देश–प्रेम

विशाल भारत के महामंत्री चाणक्य थे । वे फूस की झोपड़ी में रहते, चटाई पर सोते और मिट्टी के बर्तनों में भोजन करते ।

प्रातःकाल उनकी प्रार्थना होती–"हे भगवान ! कभी आप कुपित हों, तो यह तीनों साधन ले लेना; पर धर्म अनुगामिनी बुद्धि में कोई कमी न आने देना ।"

अभावग्रस्तता मार्ग का रोड़ा नहीं बनी

पारसी धर्म के संस्थापक जरथुस्त के बारे में अधिक प्रमाण इस बात के मिले हैं कि वे तूरान में नहीं जन्मे; वरन् भारत में उनने जन्म लिया था ।

वे राजकुमार थे । सब भाइयों की पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा हुआ; पर उनने उसमें से कोई हिस्सा नहीं लिया । कमर में फेंटा और सिर पर पगड़ी–यही उनकी पोशाक थी । धर्म प्रचार के लिए भारत के इर्द–गिर्द लगे देशों में, विशेषतया मध्य–पूर्व में निरंतर भ्रमण करते रहे । धन पास न रखने के कारण कितनी ही बार उन्हें अन्न–वस्त्र की भी कठिनाई सहन करनी पड़ती थी, फिर भी वे अपनी कठिनाई की बात किसी से कहते न थे ।

अपने जीवन काल में ही उनके लाखों अनुयायी बन गए । पीछे मध्य–पूर्व में धार्मिक उथल–पुथल होते रहने के कारण उनके अनुयायियों की संख्या पर भी प्रभाव पड़ा । फिर भी पारसी सम्प्रदाय जहाँ कहीं भी है, सम्पन्नता और सभ्यता की दृष्टि से प्रतिष्ठा प्राप्त है ।

भार स्वरूप वाचाल, उपदेशमय धर्मचर्या से कुछ प्रयोजन नहीं सधता, आचरण अनिवार्य है ।

पद का अहंकार नहीं सहयोग पर गर्व

अमेरिका में उन दिनों सुरक्षा दुर्ग की एक इमारत बन रही थी । सैनिक उस काम में जुटे थे । एक भारी लट्ठा ऊपर चढ़ाया जाना था । नायक दूर खड़ा–खड़ा 'जोर लगाओ' का आदेश दे रहा था; पर लट्ठा उठ नहीं पा रहा था ।

एक घुड़सवार उधर से निकला, रुका और असफलता का दृश्य देखा । उसने पेड़ से घोड़ा बाँधा, कोट उतारा और जोर लगाने वाले सैनिकों के साथ जुट कर उन्हें भी उत्साहित करने लगा ।

अबकी बार लट्ठा उठ गया; घुड़सवार चलने लगा, तो उस सहायता के लिए नायक ने उसे धन्यवाद दिया ।

सवार ने कहा–"महोदय, ऐसी ही कोई कठिनाई फिर सामने हो, तो मुझे याद करना । स्वयं जुट कर आपका काम आसान करा दिया करूँगा ।"

नायक ने नाम पूछा, तो सवार ने जबाव दिया–"जॉर्ज वाशिंगटन, प्रधान सेनापति और अमेरिका का राष्ट्रपति, साथ ही वह व्यक्ति, जो स्वयं उदाहरण प्रस्तुत करके साथियों में उत्साह भरने का अभ्यस्त रहा ।"

कर्मणो वचनस्यात्र भिन्नत्वादुपहास्यताम् ।
उपदेष्टा व्रजत्यत्राऽविश्वासो वर्द्धतेऽपि च ।। ८७ ।।
महामानवतां यातुं धर्मस्याचरणं तथा ।
धर्मबिस्तरजं कार्यविधिं चोभयपक्षगम् ।। ८८ ।।
श्रुत्वाऽस्य स्वीकृतेर्दिव्यः परामर्शः सुखावहः ।
श्रोतृणां तत्र सोऽभूच्च भविष्यत्समये समैः ।। ८९ ।।
अत्र कार्यं विधौ ध्यानं दातुं चाऽधिकमेव तु ।
निश्चितं स्वप्रयासे च क्रमो नव्यः सुयोजितः ।। ९० ।।

आरण्यकं स्वकं दिव्यं सर्वे स्थापयितुं तथा ।
प्रयोजनमिदं कृत्वा तीर्थयात्राऽभिनिर्गमे ।। ९१।।
उपक्रमाय सोत्साहं योजना विस्तृता निजे ।
चित्ते निर्मातुमारब्धा व्यधुः स्फुरितचेतनाः ।। ९२।।

टीका—वचन और कर्म की भिन्नता रखने पर उपहास होता है, अविश्वास बढ़ता है । महामानव बनने के लिए धर्माचरण और धर्म विस्तार की उभयपक्षीय कार्यविधि अपनाने का परामर्श सभी श्रोता—जनों को बहुत सुहाया । उनने भविष्य में इस ओर अधिकाधिक ध्यान देने और प्रयास करने का निश्चय किया । इस संबंध में अब तक के अपने प्रयास में नई तत्परता के समावेश का नया कार्यक्रम बनाया । वे आरण्यक चलाने और तीर्थयात्रा पर इस प्रयोजन के लिए निकलने की उत्साहपूर्वक तैयारी के लिए सुविस्तृत योजनाएँ अपने—अपने मन में बनाने लगे; क्योंकि उनकी चेतना जग गई थी ।। ८७—९२।।

समये च समाप्तेऽयं सत्संगोऽद्यतनस्ततः ।
वातावृतौ शुभोत्साहपूर्णायां विधिपूर्वकम् ।। ९३।।
समाप्तस्तेऽन्वभवन् सर्वं महामानवतैव च ।
लब्धव्या पुरुषैरेवं भवेत्स्वर्गः स्वयं धरा ।। ९४।।

टीका—समय समाप्त होने पर आज का सत्संग उत्साह भरे वातावरण में विधिवत् समाप्त हो गया । सभी ने अनुभव किया कि महामानव बनना मनुष्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है, उसी से पृथ्वी स्वयं स्वर्ग बन जायेगी ।। ९३—९४।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणोः,
श्रीआश्वलायन-मौद्गल्य ऋषिसम्वादे "धर्मविवेचन" इति
प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ।। २।।

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ।।

❁ सत्य-विवेक प्रकरणम् ❁

दिनं तृतीयमद्याभूत्सत्संगस्य यथाविधि ।
यथापूर्वं शुभोत्साहयुक्तवातावृतौ पुनः ।। १ ।।
गोष्ठ्या अद्यतनायाश्च शुभारम्भो ह्यभूदयम् ।
आमुममृतवर्षां त उत्सुकाः सर्व एव हि ।। २ ।।
कौण्डिन्यः प्रश्नकर्त्ता स पप्रच्छाद्यतनो मुनिः ।
पूर्वोक्तानां तु युग्मानां विषये बुद्धिमत्तमः ।। ३ ।।

टीका–संत समागम का आज तीसरा दिन था । नित्य की भाँति उत्साह भरे वातावरण में आज की ज्ञान गोष्ठी का शुभारंभ फिर हुआ । सभी इस अमृतवर्षा को अधिक अपना लेने के लिए उत्सुक हो रहे थे । आज के प्रश्नकर्त्ता बुद्धिमान कौण्डिन्य मुनि ने पूर्वोक्त युग्मों के संबंध में पूछा–॥ १–३ ॥

कौण्डिन्य उवाच–

संगतिः काऽनयोरत्र देव ! सत्यविवेकयोः ।
तयोर्युग्मेन धर्मस्य पञ्चमस्य कथं शुभा ।। ४ ।।
क्रियते चरणस्यैषा पूर्तिरेतद् विविच्यताम् ।
भवता विस्तराद् येन धर्मरूपं नरो व्रजेत् ।। ५ ।।

टीका–कौण्डिन्य बोले–हे देव ! सत्य और विवेक की परस्पर क्या संगति है ? उन दोनों का युग्म किस प्रकार धर्म के पाँच चरणों में से एक की पूर्ति करता है, सो उसका विस्तार पूर्वक विवेचन करें । जिससे धर्म का रूप मनुष्य समझ सकें ॥ ४–५ ॥

अर्थ–पिछले दिनों महामानवों के विकास के लिए धर्म की आवश्यकता तथा धर्म के ऐसे लक्षण बतलाये गए थे, जो प्रत्येक धर्म-सम्प्रदाय में समान रूप से विद्यमान हैं । उन्हीं लक्षणों में से प्रथम युग्म का विस्तार करने का आग्रह विचारवान् श्रोताओं की ओर से किया गया ।

आश्वलायन उवाच–

सत्यस्यार्थस्तु श्रेयोऽस्ति यदाचारे निगूहितम् ।
तिष्ठति, भ्रमस्वार्थौ तौ स दुराग्रह एव च ।। ६ ।।
स्वरूपं नोत्सहन्ते ते प्रत्यक्षं तस्य निर्गतम् ।
भित्वा चावरणं गन्तुं यथार्थ्यं दूरदर्शिनः ।। ७ ।।
वैपरीत्येन वाप्येतत्सत्यमास्ते तिरोहितम् ।
मान्यतानां विभिन्नानां पारम्पर्यस्य कारणैः ।। ८ ।।
भिन्नस्याज्ञानहेतोश्च सत्यं भिन्नं प्रभासते ।
अतो विवेकपूर्वं च गहनं परिचीयते ।। ९ ।।

टीका–आश्वलायन ने कहा–सत्य का अर्थ है–श्रेय । वह आवरणों से ढका रहता है । भ्रम, स्वार्थ और आग्रह उसका यथार्थ स्वरूप प्रकट नहीं होने देते । दूरदर्शिता से इन आवरणों को वेध कर यथार्थता तक पहुँचने की आवश्यकता पड़ती है । विभिन्न स्तरों की मान्यताओं, परम्पराओं के कारण सत्य आवरणों में छिपा होता है । अज्ञान के कारण भी कुछ से कुछ भासता है, इसलिए विवेकपूर्वक गहराई में उतरना पड़ता है ॥ ६–९ ॥

अर्थ–सत्य का स्वरूप छिपाने वाले तीन आवरण-भ्रम, स्वार्थ और आग्रह कहे गए । भ्रम के अंतर्गत जानकारी का अभाव, एकांगी जानकारी, गलतफहमियाँ एवं तत्काल के आकर्षण आदि प्रकरण आते हैं ।

स्वार्थ में औचित्य को छोड़कर अपने-पराए का भाव, व्यापक हित की जगह सीमित का लाभ, दूसरे की श्रम प्रतिभा जैसी विभूतियों पर अपनी छाप डालना आदि सम्मिलित रहते हैं । इसे संकीर्णता भी कह सकते हैं ।

आग्रह के अंतर्गत, परम्परावश, अभ्यासवश, भयवश, प्रमादवश, अहंकारवश दूसरे पक्ष को न देखने की प्रवृत्तियाँ आती हैं । इसे दुराग्रह भी कह सकते हैं ।

यह सभी सत्य से दूर रखने वाली वृत्तियाँ हैं, अतः विवेक का अभ्यास ही इनको भेदकर सत्य का बोध कराता है ।

सत्य प्रत्यक्ष दृश्यमान होते हुए भी मायाजाल में उलझा होने के कारण सामान्यतया प्रकाश में नहीं आ पाता । यह एक विडंबना भी है और विवेकवानों के लिए एक परीक्षा भी ।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति देव संस्कृति है और हमारा वास्तविक हित उसी के अनुगमन से होगा । पर पश्चिमी भौतिकवादी भोगवाद की लहर हमें अधिक उपयोगी दिखाई देती है, यह एक भ्रम है ।

यह सत्य है कि हर घर में बेटे भी हैं और बेटियाँ भी । बेटियों के संबंध का प्रश्न आता है, तो लोग बन जाते हैं सिद्धांतवादी । पर जब बेटे का प्रश्न आता है तब दहेज की आकांक्षा करने लगते हैं । सत्य की यह उपेक्षा स्वार्थजन्य है ।

यह सत्य है कि परिवार निर्माण में नारी की भूमिका अधिक महत्वपूर्ण है, इसलिए उसे योग्यता तथा सम्मान दोनों दिए जाने चाहिए । किन्तु परंपरागत आग्रह के कारण उसे मानते हुए भी क्रियान्वित नहीं किया जाता । यह सत्य पर आग्रह का आवरण है ।

पम्पासर का बगुला

श्री राम लक्ष्मण पम्पा सरोवर के किनारे बैठे थे । बगुलों को देखकर राम कहने लगे–"लक्ष्मण ! लगता है यह बगुले बड़े धार्मिक हैं । पैर रखते हैं तो ऐसे सँभाल कर कि किसी जल जीव को चोट न लग जाय ।"

उक्ति सुनकर एक मछली बोली–"आप जो देख रहे हैं वह भ्रम है । वास्तविकता यह है कि इनने हमारे सारे परिवार को निगल लिया है ।"

मछलियों द्वारा व्यक्त उक्ति के माध्यम से श्रीराम ने लक्ष्मण को वेशधारी तथाकथित धर्माचार्यों के पाखंड को समझाया । वे बोले कि सामान्यजन सत्य-असत्य का अंतर समझ नहीं पाते एवं बहुधा इनसे धोखा खा जाते हैं ।

लोमड़ी का भ्रम

भोर हुआ तो लोमड़ी आँखें मलती हुई उठी । पूँछ उसकी उगते हुए सूरज की ओर थी । छाया सामने पड़ रही थी । उसकी लंबाई और चौड़ाई देखकर लोमड़ी को अपने असली स्वरूप का आभास पहली बार हुआ ।

सोचने लगी वह बहुत बड़ी है । इतनी बड़ी कि समूचे हाथी के बिना उसका पेट भरेगा नहीं । सो हाथी का शिकार करने वह घने जंगल में घुसती चली गयी । भूख जोरों से लग रही थी; पर छोटी खुराक से काम क्या चलता । उसे हाथी पछाड़ने की सनक चढ़ी थी ।

भूखी लोमड़ी भाग-दौड़ में थक कर चूर-चूर हो गयी । तब तक दोपहर भी हो गया । सुस्ताने के लिए वह जमीन पर बैठी, तो सारा नजारा ही बदल चुका था । छाया सिमट कर पेट के नीचे जा छिपी थी ।

इस नयी असलियत को देखकर लोमड़ी का चिंतन बदल गया । वह सोचने लगी इतने छोटे आकार के लिए तो एक छोटी मेंढकी भी बहुत है । मैं बेकार छाया के भ्रम में इतने समय भटकी ।

मनुष्य भी इसी तरह अपनी हविश को देखकर अपनी आवश्यकतायें आसमान के बराबर मानने लगता है । विवेक के आधार पर जब सत्य का आभास होता है, तो उसका दृष्टिकोण बदल जाता है । कभी-कभी तो वह स्वयं के विषय में भी भ्रांति का शिकार हो जाता है ।

अपने को भूलना

मेला देखने दस जुलाहे गए । घर से गिन कर चले थे कि कहीं कोई बिछुड़ न जाय । मेला देख कर लौटे, तो संख्या गिनने लगे । सभी ने बारी-बारी से गिना, तो नौ ही होते थे । अपने को न गिनने की हरेक ने भूल की । बैठ कर रोने लगे । हमारा एक साथी बिछुड़ गया ।

एक समझदार राहगीर ने उनकी समस्या सुनी तो कहा-"मैं अभी बिछुड़े को मिलाये देता हूँ ।" उसने सभी के सिर में एक-एक चपत जड़ी और साथ ही गिनती गिनी; पूरे दस हो गए ।

इस समझदार ने उनको समझाया कि दुनिया में जीना हो तो भ्रम-जंजालों से बचकर कम से कम स्वयं को तो मत भूलो ।

सत्य और असत्य में अंतर

दिन ढलने लगा । व्यक्ति की परछाईं लंबी और लंबी होने लगी । वह मन ही मन प्रसन्नता का अनुभव कर रही थी । उसे लगा मानो आज बाजी मार ली हो । अभिमान के स्वर में परछाईं ने व्यक्ति से कहा-"आज वह दिन भी आ गया जब तुम्हें पराजय का मुँह देखना पड़ा । तुम जैसे थे वैसे ही बने रहे और मैं तुम्हारी होकर भी तुमसे कितनी बड़ी हो गयी ।"

व्यक्ति ने हँसते हुए कहा-"पगली ! सत्य और असत्य में यही तो अंतर होता है । मूल सत्य में कभी कोई अंतर नहीं होता । अपने मिथ्या स्वरूप को देख लो जो सदैव घटता-बढ़ता रहता है ।"

विवेक और विज्ञान

मनुष्य को एक पंख उग आया-विज्ञान का पंख । उसने जोर लगाया और आकाश में उड़ गया । पर अब वह मुक्त और शांत नहीं था । चारों ओर जटिलता की आँधियों ने सताना आरंभ कर दिया । भ्रांतियों ने मन को और विक्षुब्ध कर दिया ।

आकाश को चीरती हुई काल पुरुष की आवाज आई-"वत्स, विवेक का एक और पंख उगा । भीतर वाली चेतना का भी विकास कर, वही संतुलन पैदा कर सकेगी, तुझे सत्य का बोध करा सकेगी ।"

राजकुमार का भ्रम

एक कन्या थी । असाधारण सुंदरी । उस देश के राजकुमार को भनक पड़ी तो देखने पहुँचा और मुग्ध होकर उसे घर ले जाने का आग्रह करने लगा ।

राजकुमार की कई पत्नियाँ थी । उसकी अन्य कुटेवें भी उजागर थीं । कन्या उसके घर जाने को सहमत न हुई । तो धमकियाँ मिलने लगीं । पिता और परिवार संकट में फँस गया ।

लड़की ने सूझ-बूझ से काम लिया । राजकुमार से पंद्रह दिन तक पुनर्विचार का अवसर माँग लिया ।

इस बीच लड़की ने जुलाब की दवा लेना आरंभ कर दिया । दस्त होते गए । मल को एक घड़े में भरती चली गयी । अतिसार के अतिशय बढ़ जाने से चेहरा मुरझा गया । आँखें धँस गयीं । होठ सूख गए और शरीर ठठरी बन गया । स्नान करने से दुर्गंध छूटने लगी । बालों के गुच्छे बँध गए और जुएँ रेंगने लगे ।

राजकुमार पंद्रह दिन उपरांत फिर लड़की से मिलने पहुँचा । देखा तो सारा दृश्य ही बदला हुआ था । आश्चर्यचकित होकर उसने पूछा-"पिछला रूप-यौवन कहाँ गया ?"

लड़की ने उँगली का इशारा घड़े की ओर कर दिया और कहा-"उसी में बंद है ।" खोला तो राजकुमार ने देखा उसमें सड़ा हुआ मल-मूत्र भरा हुआ है ।

विवेक जगा । आँखें खुलीं । मल-मूत्र भरा यौवन ही सौंदर्य दीखता है । राजकुमार का भ्रम टूट गया । उसने हठ छोड़ दिया और घर वापस लौट गया ।

नगर वधू ने विवेक चक्षु खोले

पाटलिपुत्र की नगर वधू कोशा का रूप-लावण्य उन दिनों अद्वितीय था । उसकी एक मुस्कान पर बड़े-बड़े श्रीमंत सब कुछ लुटाने को तैयार रहते थे ।

एक दिन शाल्यन बुद्ध पीठ के मठाधीश वसंत गुप्त उधर से निकले, तो कोश पर उनकी नजर पड़ी । सोये कुसंस्कार जागे और वे उसी संत वेष में नगर वधू के प्रांगण में जा पहुँचे । कोशा का अनुमान था कि वे भिक्षाटन के लिए आये होंगे, सो उनका सत्कार करते हुए भिक्षा देने के लिए सेविका को संकेत कर दिया; पर उनका अभिप्राय तो कुछ और ही था । वे प्रणय निवेदन कर रहे थे ।

कोशा ने तिरस्कार करना तो ठीक न समझा; पर शर्त लगा दी कि इतनी रत्न-राशि वे प्रस्तुत कर सकें, तो ही उनकी मनोकामना पूरी हो सकेगी । बसंत गुप्त चल दिए और जिन सम्पन्नों से उनका परिचय था, उन सभी से संग्रह

करके उतनी सम्पदा जुटा ली । लंबे डग भरते हुए आये और वह राशि कोशा के चरणों पर रख दी ।

कोशा ने उन रत्नों से अपने पैर रगड़-रगड़ कर घिसे और उन्हें नाली में फेंक दिया । कहने लगी–"देव ! आपका वेश और तप मेरे मलिन शरीर से श्रेष्ठ है । उसका उपार्जन इसी प्रकार नाली में चला जायेगा । जैसे कि यह रत्न-राशि इस गंदी नाली में बह गयी ।"

कोशा का उद्‌बोधन उनके हृदय को चीर कर घुस गया । विवेक जागा, तो वे उल्टे उसे गुरु भाव से प्रणाम करते हुए अपने शील का बचाव करते उल्टे पैर लौट गए ।

चूहे की नादानी

एक नादान चूहे की किसी मसखरे खरगोश से दोस्ती थी । चूहा, खरगोश से कहता–"अपने जैसा मुझे भी बना लो ।"

जब हठ न छोड़ी, तो खरगोश ने उसे गुड़ की चासनी में स्नान कराया और रुई में लोट आने की सलाह दी । देह पर रुई चिपक गयी, खरगोश जैसा लगने लगा ।

एक दिन तो खूब प्रशंसा हुई । दूसरे दिन वर्षा हुई और रुई छूट गयी । असलियत खुल जाने पर सभी उसे मूर्ख बनाने लगे । सत्य अधिक दिन तक छिपा नहीं रह सकता वास्तविकता प्रकट होकर ही रहती है ।

सत्यभागं वचः सत्यं मन्वते यादृशं श्रुतम् ।
दृष्टं वा विद्यते यच्च कर्तव्यं तद्‌विना छलम् ।। १०।।
यथार्थतोऽस्य प्राकट्यं सत्यमत्राऽभिधीयते ।
सीमामिमां समुल्लंघ्य यान्त्यग्रे तत्वदर्शिनः ।। ११।।
सत्यं यथार्थतैवेति श्रेयो भावत्वमेव च ।
सद्‌भावभरितश्रेयः साधनायै च कर्म यत् ।। १२।।
कथितं च वचः सत्यं विद्यते तत्परं भवेत् ।
बालबोधाया च प्रोक्तमलंकारधियाऽपि वा ।। १३।।

टीका–सत्य वचन को सत्य का एक अंग मानते हैं । जैसा सुना–देखा या किया जाता है, उसे बिना छल किए यथार्थ रूप में प्रकट कर देना सत्य का मोटा स्वरूप है, पर तत्वदर्शी लोग इस परिधि से आगे जाते हैं कि यथार्थता ही सत्य है । श्रेय भावना सत्य है । सद्‌भावनापूर्ण श्रेय साधना के लिए किए गए कृत्य और कहे गए वचन भी सत्य हैं । भले ही उन्हें बालबोध के लिए आलंकारिक ढंग से हेर-फेर करके भी कहा गया हो ।। १०–१३।।

अर्थ–सत्य का मोटा स्वरूप सबकी समझ में सहज ही आ जाता है । सत्य का सूक्ष्म स्वरूप कठिनाई से समझ में आता है । दोनों समझे बिना सत्य अधूरा रह जाता है । तत्वदर्शी सूक्ष्म तत्व को अधिक महत्व देते हैं, इसीलिए विवेक पूर्वक सत्य की उस गहराई तक जाने का आग्रह करते हैं ।

कहानीकार और कवि के कथन में सत्य कम, कल्पना अधिक होती है । पर वे झूठे नहीं कहलाते । अपनी कल्पना के आधार पर जीवन के उन सत्यों को स्पष्ट कर देते हैं, जिसे वैसे समझना या समझाना कठिन होता है ।

श्रेष्ठ चिकित्सक परिस्थितियाँ देखकर रोगी को कभी उसके छोटे असंयम से भी बड़े नुकसान की बात कहकर भयभीत कर देते हैं । कभी कठिन रोगों को भी सामान्य कहकर उनका मनोबल बनाये रखते हैं । यह सब उद्देश्य और सद्‌भाव को देखते हुए झूठ की सीमा में नहीं आता ।

मनोवैज्ञानिक मनो रोगियों के साथ तथा कुशल अभिभावक और शिक्षक बालकों के साथ ढेरों बनावटी शब्द प्रयोग में लाते हैं । पर वे सभी श्रेय तत्व के नाते श्रेष्ठ सत्य माने जाते हैं ।

मात्र शब्दों की सचाई फरेब

एक फल वाले की दुकान पर तीन उचक्के खड़े थे । उनमें से एक ने मालिक की आँखें बचाकर एक बड़ा फल चुराया और चुपके से साथी के हवाले कर दिया । पकड़े जाने के भय से उसने तीसरे की ओर खिसका दिया और उसने अन्य साथी के हवाले करके उसे खिसका दिया ।

फल की चोरी दुकानदार की पकड़ में आई । वह उचक्कों से झंझट करने लगा । वे चोरी से इन्कार करते थे, इस पर तीनों से कसम खाने को कहा गया ।

जिसने उठाया था उसने कसम खाई कि मेरे पास फल नहीं है । दूसरे ने कसम खाई–'मैंने नहीं उठाया ।' तीसरे ने कसम खाई–'न मैंने उठाया न मेरे पास है ।' कसमें शब्द छल की दृष्टि से सही थीं; पर तथ्यत: वे तीनों ही झूठ बोल रहे थे ।

झूठ बड़ा या सत्य ? राज्य में जासूसी के अपराध में एक विदेशी पकड़ा गया । न्यायाधीश ने उसे फाँसी की सजा सुनाई । काल कोठरी में ले जाने से पूर्व उसे राजा के सामने लाया गया । साथ में एक दुभाषिया अधिकारी भी था । राजा ने पूछा–"तुम्हें कुछ कहना है ।" उत्तर में विदेशी ने राजा को अपशब्द कहे और उसे न्याय का ढोंग रचने वाला कहा ।

राजा ने दुभाषिए से पूछा–"यह क्या कहता है ।" अधिकारी बोला–"हुजूर, यह अपने बीबी-बच्चों की याद कर रहा है और आपके न्याय की दुहाई देते हुए कह रहा है कि सजा अपराध से अधिक दी जा रही है ।" राजा ने उसकी सजा कम करते हुए कहा–"इसे कोड़े लगाकर इसके देश की सीमा में छोड़ दिया जाय ।"

तभी एक दूसरा अधिकारी जो इस विदेशी भाषा को समझता था बोल उठा–"नहीं महाराज ! इसने आपको गालियाँ दी हैं और आपके न्याय को ढोंग कहा है । इसकी सजा बढ़नी चाहिए और गलत अर्थ बतलाने वाले अधिकारी को भी दंड मिलना चाहिए ।"

राजा गंभीर मुद्रा में बोले–"हो सकता है कि शब्दों के अनुसार तुम्हारा कथन सत्य हो, परंतु मुझे पहले अर्थ में अधिक बड़ा सत्य दिखता है । अपराधी ने न्याय को ढोंग शायद इसीलिए कहा कि उसमें औचित्य कम रहा हो । मुझे उसकी मनोभूमि और अपना कर्तव्य समझने का अवसर जिस कथन से मिला वह अधिक सत्य है । तुम्हारे सत्य से तो मेरे क्रोध और अपराधी के असंतोष में वृद्धि होती और न्याय की प्रामाणिकता घटती ।"

सत्य की छाया एक गृहस्थ रामदेव अपनी युवा पत्नी और एक बालक-बालिका को छोड़कर विदेश व्यवसाय के लिए चले गए । वर्ष में एकाध बार आकर व्यवस्था कर जाते और पैसा प्रतिमाह भेजते रहते ।

एक बार कई महीनों तक पत्र नहीं; पर पैसा आता रहा । फिर पत्र आया जिसमें अक्षर ठीक से नहीं बने थे । लिखा था कार्य की व्यस्तता और दायें हाथ में चोट लग जाने की वजह से पत्र न लिख सका । अभी भी अक्षर ठीक नहीं बनते हैं । एक टाइप राइटर ले रहा हूँ, उससे दिक्कत हल हो जायेगी ।

फिर समय पर टाइप किया हुआ पत्र और पैसा आने लगा । स्वयं आने की बात लिखते; पर ऐन मौके पर कोई मजबूरी बतलाकर रह जाते । इस प्रकार कई वर्ष बीत गए । लड़का बड़ा हो गया । नौकरी से लग गया । बेटी की शादी भी हो गयी । समय पर सहायता, प्यार भरे पत्र, उपहार आदि आते रहे, पर रामदेव न पहुँचे ।

अंत में लड़का स्वयं उनके पास गया । निर्धारित पते पर एक अधेड़ व्यक्ति मिले । लड़के ने अपना परिचय दिया । उन्होंने उसे खूब प्यार दिया और कहा–"बेटे इसी दिन की प्रतीक्षा थी । वास्तव में तुम्हारे पिता का देहांत एक दुर्घटना में तभी हो गया था, जब कुछ माह तुम्हें पत्र नहीं मिले । कंपनी ने मुआवजे में इतनी रकम दी थी, जिससे तुम्हारा सब खर्च चलता रहा । परंतु यदि तुम्हें, तुम्हारी माँ को यह पता लग जाता, कि तुम्हारे पिता नहीं हैं तो सारा घर बर्बाद हो जाता, तब पैसा कुछ न कर पाता । बेटे, रामदेव मेरे मित्र थे । मैंने तुम्हारे हित में ही उन्हें अब तक तुम लोगों के ख्यालों में जिंदा रखा । हमारे पिता जीवित हैं, वही सब सम्भालते हैं, इस सत्य ने ही तुमहें ऐसी मुसीबत से पार कर दिया, जिसमें बड़े-बड़े ढह जाते हैं ।

कौन किसके पीछे भागता है ? एक आदमी रस्सी से गाय बाँध कर लिये जा रहा था । रास्ते में दो फकीर उसे देखते हुए उधर से गुजरे ।

उनमें से एक बोला–"आदमी ने गाय बाँध रखी है ।" दूसरे ने कहा–"गाय ने आदमी को बाँध रखा है ।" बातें दोनों की किसी कदर सही थीं । रस्सी का एक सिरा आदमी के हाथ में था, दूसरा गाय के गले में । दोनों एक दूसरे को जकड़े हुए थे ।

दोनों फकीरों में से किसका कहना अधिक सच है । यह जानने के लिए रस्सी आदमी के हाथ से छुड़ा दी

गई । गाय जंगल की तरफ भागी और आदमी पीछे-पीछे दौड़ा ।

बूढ़े फकीर ने कहा-"देखा, गाय ने ही आदमी को जकड़ रखा है न । आँखें खोलकर देखो कौन किसके पीछे भाग रहा है । देखने में आदमी गाय को बाँधे हुए है, पर सूक्ष्म सत्य यह है कि आदमी गाय से बँधा है ।"

दवा के तीन शर्तिया लाभ

व्यक्ति को सही मार्ग पर लाने के लिए कभी-कभी सत्य को तोड़-मरोड़ कर भी बोलना पड़ता है । इस प्रकार कहे गए वचन असत्य की परिधि में नहीं आते ।

एक चटोरा था, खाँसी का मरीज, इलाज कराता तो फिरता था; पर किसी की औषधि से लाभ न होता था ।

एक नये चिकित्सक की प्रशंसा सुनकर उनके पास गया और बोला-"परहेज तो मुझसे न होगा, पर जो बतायें सो खाता रहूँगा ।"

चिकित्सक हँसोड़ था । उसने कहा-"जो जी में आये खाओ और मेरी दवा आजमाओ । तीन लाभ शर्तिया मिलेंगे ।"

चटोरे ने पूछा-"तीन लाभ कौन से ?" उत्तर मिला-"घर में चोर नहीं घुसेंगे । कुत्ते काटेंगे नहीं । बुढ़ापा आयेगा नहीं । खाँसी ठीक होने न होने का वादा तो मैं नहीं कर सकता ।"

दवा लेने लगा । लाभ नहीं हुआ । जीभ पर काबू न होने से वह कुछ भी खाता था ।

एक दिन पूछा बैठा-"खाँसी तो कम नहीं हो रही है तो जो तीन शर्तिया लाभ आपने बताये वे कैसे मिलेंगे ?"

चिकित्सक ने कहा-"पथ्य से न रहने पर खाँसी बढ़ती जाएगी । रात भर खाँसने पर जागना पड़ेगा तो चोर कैसे आएगें । अशक्तता बढ़ेगी, कमर झुक जाएगी, लाठी लेकर चलना पड़ेगा, सो डर कर कुत्ता नहीं काटेगा । तीसरे जवानी में ही बेमौत मरना पड़ेगा, सो बुढ़ापा आने तक जीने की जरूरत ही न पड़ेगी ।

चटोरेपन से कितनी हानियाँ हो सकती हैं, यह सोचकर मरीज ने अपनी आदत सुधार ली और बिना दवा खाये ही अच्छा हो गया । जो सत्य समर्थ चिकित्सक ने मरीज की मनोभूमि के अनुकूल हँसी-हँसी में दिया था, वह सत्य ही था । बालकोचित ढंग से समझाना कभी-कभी इसी कारण अनिवार्य हो जाता है । इससे कम में व्यक्ति समझते ही नहीं ।

बहुमूल्य जेवर

कई बार परिस्थितियाँ ऐसी होती हैं कि यथार्थता सामने होते हुए भी सामने वाले की मन:स्थिति को देखते हुए बात बहला कर कहनी पड़ती है । अर्थ उसका फिर भी वही होता है ।

फारसी धर्म गुरु रबी मेहर के दो बच्चे थे । दोनों को वे बहुत प्यार करते थे । भोजन साथ-साथ बैठकर ही कराते थे ।

एक दिन दोनों बच्चे अचानक बीमार हुए और कुछ ही घंटों के भीतर मर गए ।

माता को दु:ख तो बहुत हुआ पर वे जानती थीं कि मेहर को और भी अधिक दु:ख होगा । उनका दु:ख हल्का करने का वे उपाय सोचने लगीं । बच्चों की लाश को उनने बिस्तर पर लिटा कर कपड़े से ढक दिया ।

मेहर आये । भोजन से पहले उनने शरबत का एक गिलास हाथ में थमाया और बच्चों की बाबत वे पूछें, इससे पहले ही एक प्रसंग आरंभ कर दिया-

"मैं एक दिन पड़ोसिन के दो जेवर माँग कर लाई थी । कुछ दिन तो उसने पहनने दिए और फिर माँगने लगी । देने का समय आता है तो मेरा मन न देने को आता है और फूट-फूट कर रोने को जी करता है ।"

मेहर ने कहा-"यह बुरी बात है । जिसने हँसकर उधार दिया उसे हँसकर ही वापस करना चाहिए । इसमें रोने की क्या बात है ?"

पत्नी ने कहा-"तो फिर वे जेवर तुम्हें दिखा दूँ जिन्हें वापस करना है ।" मेहर ने कहा-"दिखा दो ।"

हाथ पकड़ कर वे पति को वहाँ ले गई, जहाँ बच्चे मरे पड़े थे ।

उनके न रहने से मेहर को दु:ख तो बहुत हुआ, पर जेवर लौटाने के दृष्टांत से वे किसी प्रकार मन समझाते हुए चुप हो गए ।

मुसीबत में भी सच

कभी-कभी प्रत्यक्ष अहित दिखाई देते हुए भी सत्य कह देना चमत्कारी सिद्ध होता है । ऊँटों का एक कारवाँ जालान (ईरान) से बगदाद जा रहा था । रास्ते में डाकुओं का एक गिरोह मिला । उसने सब सौदागरों की मुश्कें बाँध दी और जो कुछ असबाब था सब लूट लिया ।

इस कारवाँ के साथ एक छोटा लड़का बगदाद पढ़ने के लिए जा रहा था । कपड़े उसके बिल्कुल गरीबों जैसे थे । डाकुओं ने उसे छोड़ दिया कि उसके पास क्या हो सकता है ? तो भी एक डाकू उससे पूछ ही बैठा–"लड़के, तुम्हारे पास कुछ है क्या ?"

लड़के ने अपनी जाकिट में सिली हुई ४० असर्फियाँ खोलकर डाकुओं को दिखा दीं । और कहा–"मेरी माँ ने शिक्षा दी थी कि कितनी ही मुसीबत क्यों न आये झूठ मत बोलना । सो मैंने तुम्हारे सामने भी झूठ नहीं बोला ।"

लड़के की सचाई का डाकुओं पर बड़ा असर पड़ा और उनने उसी दिन से डाका मारना बंद कर दिया । ऊँट वालों का माल लौटा दिया और भले आदमी की जिंदगी जीने लगे ।

सम्बद्धताऽनयोरस्ति मुने सत्यविवेकयोः ।
परस्परं भवेदेको यत्र तत्रैव चापरः ।। १४।।
विवेकेनैव सत्यस्य स्वरूपं ज्ञायते तथा ।
तदाश्रित्यैव सत्यस्य प्राप्त्यै च प्रक्रमेन्नरः ।। १५।।
ग्रस्तः पूर्वाग्रहैर्मर्त्यो भवत्येव स्वभावतः ।
पारम्पर्यस्य वंशस्य वातावरणकस्य च ।। १६।।
संस्काराणां च हेतोस्ता मान्यतास्तस्य व्यक्तिगाः ।
स्वभावं यान्ति ता एव सर्वस्वं मन्यते च सः ।। १७।।

टीका–सत्य और विवेक परस्पर जुड़े हुए हैं । जहाँ एक होगा वहाँ दूसरा भी रहेगा । विवेक से सत्य का स्वरूप समझा और उसके सहारे सत्य की प्राप्ति के लिए आगे बढ़ा जाता है । मनुष्य स्वभाव से ही पूर्वाग्रहों से ग्रसित होता है । वंश परंपरा, वातावरण और संचित संस्कारों के कारण उसकी कुछ अपनी मान्यताएँ और आदतें बन जाती हैं । वह उन्हीं को सब कुछ मान लेता है ।। १४–१७।।

अर्थ–सत्य और विवेक एक सिक्के के दो पहलू और एक गाड़ी के दो पहियों की तरह हैं । सत्य के लिए विवेक का सहारा चाहिए तथा विवेक की सार्थकता सत्य तक पहुँचने में ही है । मनुष्य में पूर्वाग्रह के तीन कारण बतलाये गए हैं ।

(१) वंश परंपरा के आधार पर कुछ मान्यताएँ बन जाती हैं । जातिगत छोटे-बड़े की मान्यता वंश परंपरा के आधार पर है । अपने से भिन्न वंश के श्रेष्ठ गुण वालों को भी अपने से हीन सिद्ध करने का मन इसी आधार पर होता है । अनेक अलन-चलन, कुरीतियाँ यह सब वंश परंपरा पर आधारित हैं ।

(२) वातावरण जन्य पूर्वाग्रह भी सत्य से दूर रखे रहते हैं । जो सुख में पले हैं, वे किसी दुःखी या भूखे की मजबूरी नहीं समझ पाते । दरिद्रता में पले व्यक्ति सम्पन्नों के उत्तरदायित्वों के बारे में कोई सद्भाव नहीं रखते । भीड़ में सामूहिक लहर उठती है, तो समझदार भी तोड़-फोड़ करने लगते हैं । उस माहौल के बाहर आते ही विचार काम करने लगता है ।

(३) संचित संस्कार–अभ्यास । यह बिल्कुल व्यक्तिगत आग्रह होता है । जिसे व्यंग्य करने का अभ्यास है, उसे यह नहीं समझ पड़ता, कि लोग अकारण बुरा क्यों मान जाते हैं । खर्चीले हाथ वाला मितव्ययिता के लाभ नहीं समझना चाहता और कंजूस उदारता से बचकर रहना चाहता है । आलसी श्रम की महत्ता को, क्रोधी शालीन व्यवहार को, आचारा समय के महत्व को झुठलाते ही रहना चाहते हैं । इस स्तर के सभी अभ्यासगत पूर्वाग्रह किसी न किसी सत्य को नजरअंदाज करते रहते हैं ।

प्रकाश का स्त्रोत-विवेक

याज्ञवल्क्य राजा जनक की सभा में विराजमान थे और शंकाओं का समाधान कर रहे थे । जनक ने पूछा–"प्रकाश का स्रोत क्या है ? और वह न मिले तो किसका आश्रय पकड़ा जाय ?"

याज्ञवल्क्य ने कहा–"सूर्य प्रमुख है । वह न हो तो चंद्रमा । चंद्रमा न हो तो दीपक । दीपक न हो तो विज्ञजनों से पूछकर प्रकाश प्राप्त करें ।"

जनक ने पूछा–"कोई बताने वाला भी न दीखे तब ?" याज्ञवल्क्य ने कहा–"तब अपने अंत:विवेक के आधार पर मार्ग अपनायें । सांसारिक प्रकाश न मिलने पर उसी की ज्योति यथार्थता बताती है ।"

दोनों पंख चाहिए

बड़प्पन, बड़ा हो गया । घोंसले से बाहर निकलने लगा ।

तब तक उसका एक पंख उगा था, कि उड़ने के लिए मचल पड़ा । कुछ ही दूर बढ़ा होगा कि आँधी आई और जमीन पर गिर पड़ा ।

चिड़िया ने उसे वापस बुलाया और कहा–"दूसरा पर उगने तक ठहरो ।"

सत्य और विवेक दोनों के परिपुष्ट हुए बिना मनुष्य की सद्गति नहीं ।

विवेक की गणित

एक व्यक्ति अपने तीन बच्चों को किसी विचारशील के पास ले गया और बोला इसके गुण और भविष्य बताइये । विज्ञ व्यक्ति ने तीनों को दो-दो केले दिए । एक ने छिलका उतार कर सड़क पर फेंक दिया । दूसरे ने कूड़ेदान में डाल दिया । तीसरे ने गाय को खिला दिए । भविष्यवक्ता ने कहा–"इनमें से एक मूर्ख, दूसरा समझदार और तीसरा उदारचेता बनेगा ।"

पिता ने पूछा–"आपने कौन सा गणित लगाकर यह भविष्यवाणी की ।" विचारक ने कहा–"विवेक के गणित से बढ़कर निर्धारण और किसी विधा से नहीं होता ।"

मौत के मुँह में साँप और चूहा

एक पेड़ पर दो बाज प्रेमपूर्वक रहते थे । दोनों शिकार की तलाश में निकलते और जो भी पकड़ लाते उसे शाम को मिल बैठ कर खाते । बहुत दिन से उनका यही क्रम चल रहा था ।

एक दिन दोनों शिकार पकड़कर लाए तो एक की चोंच में चूहा था और दूसरे की में साँप । शिकार दोनों ही तब तक जीवित थे । पेड़ पर बैठकर बाजों ने जब उनकी पकड़ ढीली की, साँप ने चूहे को देखा और चूहे ने साँप को ।

साँप चूहे का स्वादिष्ट भोजन पाने के लिए जीभ लपलपाने लगा और चूहा साँप के प्रयत्नों को देखकर अपने पकड़ने वाले बाज के डैनों में छिपने का उपक्रम करने लगा ।

उस दृश्य को देखकर एक बाज गम्भीर हो गया और विचारमग्न दीखने लगा । दूसरे ने उससे पूछा–"दोस्त, दार्शनिकों की तरह किस चिंतन-मनन में डूब गए ?"

पहले बाज ने अपने पकड़े हुए साँप की ओर संकेत करते हुए कहा–"देखते नहीं, यह कैसा मूर्ख प्राणी है । जीभ की लिप्सा के आगे इसे मौत भी एक प्रकार से विस्मरण हो रही है ।"

दूसरे बाज ने अपने चूहे की आलोचना करते हुए कहा–"और इस नासमझ को भी देखो, भय इसे प्रत्यक्ष मौतसे भी अधिक डरावना लगता है ।"

पेड़ के नीचे एक मुसाफिर सुस्ता रहा था । उसने दोनों की बात सुनी और एक लंबी सांस छोड़ते हुए बोला–"हम मानव प्राणी भी तो साँप और चूहे की तरह स्वाद और भय को बड़ा समझते हैं, मौत तो हमें भी विस्मरण ही रहती है । स्वभावगत आग्रह मनुष्य को इसी प्रकार सत्य का विस्मरण कराते रहते हैं ।"

सपनों का कल्पवृक्ष

उल्लू ने सपना देखा कि वह स्वर्ग लोक पहुँचा और नंदनवन के कल्पवृक्ष पर घोंसला बनाकर रहने लगा ।

आँखें खुलीं, तो उस स्वप्न लोक को हाथों से निकलता देखकर बहुत दु:खी हुआ । तो भी हिम्मत न हारी और जहाँ भी वह मिले, जा पहुँचने के लिए आँखें मूँदकर दौड़ पड़ा ।

सारस ने इस बेसब्री का कारण पूछा-जाना, तो वह भी साथ हो लिया । जिस जिसने इसे जाना वे सभी पक्षी उस अंधी दौड़ में शामिल हो गए । एक बड़ा पक्षी समुदाय किसी अज्ञात दिशा में स्वप्न लोक में प्रवेश करने के लिए उड़ानें भर रहा था ।

बूढ़े गिद्ध ने आश्चर्यपूर्वक पूछा–"आप सब लोग बिना सत्य जाने कहाँ व क्यों दौड़े जा रहे हैं ? कहाँ के लिए प्रस्थान कर रहे हैं ।"

वस्तुस्थिति से अपरिचित पक्षी ठिठके । गिद्ध ने कहा–"दिवा स्वप्नों के पीछे बिना विवेक के दौड़ने की आदत हम मनुष्यों के लिए छोड़ें, हम पक्षी लोग तथ्य को जानें और वही करें जिसकी संभावना है, जो सत्य है ।"

पक्षियों ने विवेक की महत्ता समझी और बिना सत्य जाने इस तरह भेड़चाल आगे से न चलने की ठानी ।

कोतवाल की कटु वाणी

कोतवाल को दादू महाराज से मिलना था । रास्ते में एक आदमी मिला जो सड़क के काँटे साफ कर रहा था ।

उससे पूछा–"क्यों रे दादू महाराज कहाँ रहते हैं । दादू जी ने इशारे से बता दिया कि सामने वाली झोंपड़ी उन्हीं की है ।"

रूखा जबाव सुनकर कोतवाल नाराज हुए और गाली देते हुए झोपड़ी पर चले गए । सिर पर काँटे का गट्ठा लादे दादू पहुँचे तो कोतवाल को गाली देने का दुःख हुआ और क्षमा माँगी । दादू ने कहा–"इसमें आपका कोई दोष नहीं । दोष उस पूर्वाग्रह भरी आपकी मनुष्य संबंधी मान्यता का है, जो आपके मुख से ऐसे वचन निकालती है । मनुष्य मात्र में आप ईश्वर को देखने लगेंगे तो यह आदत स्वतः छूट जाएगी ।"

कोतवाल ने बात गाठ बाँध ली ।

संन्यासियों की मनःस्थिति

दो भक्तों ने संन्यास ले लिया । भोजन के लिए वे भगवान पर निर्भर रहे ।

एक दिन एक किसान दोनों के लिए कपड़े से ढककर दो थालियों में भोजन लाया ।

उन लोगों ने थालियाँ खोलीं । तो एक में रूखी-सूखी रोटियाँ थीं । दूसरी में षट्रस व्यंजन ।

यह भेदभाव देखकर एक साधु ने पूछा–"इस अंतर का क्या कारण है ।"

किसान ने कहा–"यह आप लोगों का प्रारब्ध है । एक सूखी रोटी छोड़कर संन्यासी बना है और दूसरा व्यंजन छोड़कर । साधु हो जाने पर भी आप लोगों के पूर्व संस्कार साथ चलेंगे ।

दोनों साधुओं ने उस ब्रह्मज्ञानी साधु को प्रणाम किया, गुरु माना व आगे चल पड़े ।

संचित संस्कार अनायस ही नहीं जाते । मन में उनकी स्मृति बराबर बनी रहती है ।

प्रतिपादनमन्येषां तथा तेऽनुभवा अपि ।
अयोग्या हि प्रतीयन्ते तेन चाग्रहिणो नराः ।। १८।।
सत्यं स्वमान्यतां यावन्मन्यते सीमितं परम् ।
अपेक्ष्याऽन्योक्तिव्याख्यैव ज्ञातुं रूपं च तस्य तु ।। १९।।
विवेकिनो भवन्त्येव न्यायाधीशा इव स्वतः ।
निष्पक्षा आग्रहैर्हीना औचित्याश्रयिणोऽभयाः ।। २०।।
स्वीकारे च त्रुटेः स्वस्या संकोचं नाश्रयन्ति ते ।
नाग्रहश्च समग्रस्य स्वस्य तेषां मतस्य च ।। २१।।

टीका–ऐसे व्यक्ति को दूसरों के प्रतिपादन और अनुभव गलत प्रतीत होते हैं । ऐसी दशा में आग्रही मनुष्य अपनी ही मान्यता तक सत्य को सीमित मानता है । जबकि उसका समग्र स्वरूप जानने के लिए अन्यान्य कथनों पर विचार किये जाने की आवश्यकता है । विवेकशील, न्यायाधीश की तरह निष्पक्ष होते हैं, आग्रही नहीं होते । जहाँ जितना औचित्य परिलक्षित होता है, उसे बिना संकोच के स्वीकार करते हैं । ऐसे लोगों को न भूल मानने में संकोच होता है और न अपने मत के समग्र होने का ही आग्रह होता है ।। १८–२१।।

अर्थ–मानवी अचेतन कुछ इस प्रकार ढला हुआ है कि अपने मत के पक्ष में वह अनेक प्रमाण जुटा लेता है एवं दूसरों के सही प्रतीत हो रहे मन्तव्यों को भी सहज स्वीकारता नहीं । किसी भी तथ्य को समझने के लिए उसके हर पहलू पर विचार किया जाना चाहिए । एकांगी चिंतन तो संकीर्ण बुद्धि की तरह है । कुएँ में बैठे मेंढक को अपने चारों ओर की दुनिया ही सब कुछ लगती है । ऐसे कूपमंडूप मनुष्यों में भी विद्यमान होते हैं, जो अपने इक्कड़पन, सोचने की पूर्वाग्रहयुक्त आदत के कारण अन्यान्य व्यक्तियों के मतों को हँसी में उड़ा देते हैं, भले ही प्रकारान्तर से वह उनके हित में ही क्यों न जाती हो । जो समझदार होते हैं, वे इतने

विनम्र होते हैं कि गलती बतायी जाने पर क्षुब्ध नहीं होते अपितु ऐसों के प्रति कृतज्ञता ही जताते हैं । सर्वांगपूर्ण प्रगति का रहस्य ही यही है कि अपने को पूरी तरह खाली रखा जाय, पक्ष एवं विपक्ष दोनों ही मतों को सुनने-समझने का विवेक विकसित किया जाय ।

व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह स्वयं किन-किन पूर्वाग्रहों के प्रभाव में है । इसलिए सत्य शोध करने के इच्छुक को विभिन्न पक्षों से विचार करने वाले विचारकों के मतों को भी अध्ययन करने और संतुलित निष्कर्ष निकालने का अभ्यास करना चाहिए । विवेक इसी प्रकार तीव्र होता है । न्यायाधीश का न्याय और विज्ञान की प्रगति इसी आधार पर संभव हुई है । इसीलिए सत्पुरुष परामर्श लेने तथा उदारतापूर्वक भूल सुधार करने के अभ्यस्त होते हैं ।

दुर्योधन का दुराग्रह

दुर्योधन अपने निर्णय को ही सब कुछ मानता रहा । महात्मा विदुर, भीष्म पितामह यहाँ तक कि संधि दूत बनकर गए भगवान श्रीकृष्ण की भी सलाह उसने नहीं सुनी । यदि युद्ध के विकल्प पर विचार करने को तैयार हो जाता, तो किसी प्रकार उसका न राज्य छिनता और न बेमौत मरना पड़ता ।

रावण द्वारा परामर्श अमान्य

श्रीराम वानर सेना सहित समुद्र पार करके लंका के किनारे पहुँच गए । रावण ने आपातकालीन बैठक बुलाई । समस्या सामने रखी । अपने अहंकार में मदांध खुशामदियों ने कहना शुरू किया–"अरे महाराज ! मनुष्य और बंदर तो अपने आहार हैं । घर बैठे भोजन मिल गया, चिंता की क्या बात है ?"

कुछ समझदारों, प्रहस्त, माल्यवान आदि ने दूसरा पक्ष रखना चाहा । कहा–"शत्रु को छोटा मत गिनो । स्थिति की गंभीरता समझो । समुद्र को बाँधना सामान्य कार्य नहीं । इन्हीं बंदरों में से एक अकेला लंका जला गया था, तब किसी ने अपनी भूख क्यों नहीं बुझाई ।"

किन्तु दुराग्रही दूसरा पक्ष सुनने का आदी नहीं होता । एकांगी विचार ने उन्हें सही निर्णय तक न पहुँचने दिया और सर्वनाश के गर्त में वे स्वयं गिर गए ।

बुद्ध द्वारा तप छोड़ना

भगवान बुद्ध वृक्ष के नीचे घोर तपश्चर्याव्रत में निरत थे । आहार और वस्त्र त्याग देने के कारण उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया था ।

उधर से देव गणिकाएँ निकलीं । उनने एक गीत गाया–'सितार के तार इतने ढीले मत छोड़ो, कि उनमें से स्वर ही न निकले और न इतने कसो कि टूट कर यंत्र को ही निरर्थक बना दें ।'

बुद्ध को बोध हुआ । उनने अतिवाद छोड़ा । मध्यम मग्ग (मध्यम मार्ग) अपनाया और उसी की नीति के अनुरूप भावी जीवन का संतुलित क्रम बनाया ।

राकेटों की कल्पना

बीसवीं सदी के दूसरे दशक में राबर्ट गोलार्ड ने राकेटों की कल्पना की थी और अंतर्ग्रही यात्रा संभव बताई थी । इसके प्रकाशित होने पर अमेरिका के प्रमुख पत्र न्यूयार्क टाइम्स ने खिल्ली उड़ाई और कहा–"यह कहने वाला स्कूली बच्चों से भी कम जानकार मालूम पड़ता है । पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति के बारे में जिसे कुछ पता होगा, वह ऐसी बेसिर-पैर की कल्पना कर नहीं सकता ।"

इस टिप्पणी के पचास वर्ष के भीतर ही जब कैप कैनेडी से चंद्रमा पर यात्रा करने वाला अंतरिक्ष यान रवाना हुआ, तो न्यूयार्क टाइम्स ने अपनी पुरानी टिप्पणी फिर से प्रकाशित करते हुए स्वर्गीय गोलार्ड और विज्ञ समुदाय से माँफी माँगी और कहा–"किसी नई परिकल्पना को ऐसे ही मजाक में नहीं उड़ा दिया जाना चाहिए । उसके संबंध में गंभीरतापूर्वक विचार होना चाहिए ।"

प्रेमवश या वासना के लिए

एक युवक एक युवती से प्रेम करने लगा । प्रेम में जोश अधिक होता है, होश कम । वह उससे विवाह की जिद करने लगा । समझदार अभिभावकों ने उस संबंध को ठीक नहीं समझा, सो रोका । पर युवक किसी की सुनना नहीं चाहता था । परेशान होकर एक संत के पास गया ।

संत ने पूछा–"भाई, लड़की से विवाह करने में तो बुराई नहीं; परंतु सोच लो, उसके पिता आदि नाराज हुए तो ?" युवक जोश में भरकर बोला–"प्यार के लिए मैं कोई भी कुर्बानी दे सकता हूँ ।" संत हँसे, बोले–"बेटा, प्यार तो तेरी माँ ने भी तुझे कम नहीं किया; पिता, भाई आदि ने भी प्यार ही किया । उनके प्यार के लिए कोई

कुर्बानी दी क्या ? ठीक से देख कुर्बानी प्यार के लिए कर रहा है या वासना के लिए ?"

युवक को बोध हुआ उसने सभी पक्षों पर विचार किया और शादी का विचार बदल दिया ।

राबिया का दोषदहन

महिला संत राबिया अपने पूजा स्थल पर एक जल कलश रखती थी और एक जलता अंगारा । लोग इन पूजा प्रतीकों का रहस्य पूछते, तो वे कहतीं–"मैं अपनी आकांक्षाओं को पानी में डुबाना चाहती हूँ और अहंकार को जलाना चाहती हूँ, ताकि पतन के इन दोनों अवरोधों से पीछा छुड़ा कर प्रियतम तक पहुँच सकूँ ।"

किसी ने कहा–"आप तो संत हैं, सिद्ध हैं, आपमें अब दोष कहाँ रह गए, जिन्हें डुबाना–जलाना चाहती हैं ।" राबिया बोली–"जिस दिन अपने आपको त्रुटिहीन मान लूँगी उस दिन संत तो क्या इन्सान भी न रह जाऊँगी । देवता बन जाऊँगी ।"

जरथुस्त बादशाह गुश्तास्प के दरबार में पहुँचे । उन्हें ईश्वरनिष्ठ जीवन जीने का संदेश दिया । राजा ने कहा–"मैं तो सामान्य ज्ञान रखता हूँ, यदि आप हमारे दरबार के विद्वानों का समधान कर दें तो मैं आपके निर्देश पूरी तरह मानूँगा ।"

चमत्कार नहीं ईश्वरीय ज्ञान

जरथुस्त ने विद्वानों के कठिन से कठिन प्रश्नों के समाधान बड़े अच्छे ढंग से किए । वे सभी अत्यंत प्रभावित हुए । शहंशाह ने कहा–"ऐसे उत्तर परमात्म ज्ञान से संपन्न व्यक्ति ही दे सकता है ।" बादशाह ने उन्हें सम्मानित किया और कहा–"आप कोई चमत्कार दिखाएँ, हम सब आपके अनुयायी बनेंगे ।" जरथुस्त ने हाथ की पुस्तक दिखाते हुए कहा–"यह अवस्ता (ईश्वरीय ज्ञान) ही सबसे बड़ा चमत्कार है, जो लाखों को नयी दृष्टि देता है । इसके अलावा लोगों की आँखों में चकाचौंध पैदा करने वाले किसी चमत्कार के लिए ईश्वरीय धर्म में कोई स्थान नहीं है ।" बादशाह ने अपनी बाल बुद्धि के लिए क्षमा माँगी एवं औचित्य को वरीयता देते हुए जरथुस्त को गुरु रूप में स्वीकार किया ।

बच्चे ने समझाया

पति–पत्नी में अनबन हो गयी । एक दूसरे को कटु शब्द बोल गए । मनों को चोट पहुँची और बोल–चाल बंद हो गयी ।

उनका एक सात वर्षीय बालक था । वह कहीं से गीत के बोल सुन आया, "मुख से कडुवे बोल न बोल ।" बच्चे को रुचा, वह उसे पिता के कमरे में बैठ कर गुनगुनाने लगा ।

पिता का उस पर ध्यान गया तो चौंके, मन में खीझे, "क्या मैं ही कडुवा बोलता हूँ ?" बच्चे से बोले–"बेटा, जा अपनी माँ के कमरे में जाकर गा ।"

भोला बालक वही गीत माँ के कमरे में जाकर गाने लगा । माँ ने सुना तो उसे खीझ भी आयी, हँसी भी । वह भी बोलीं–"जा अपने पिताजी के पास बैठ कर गा ।"

बालक फिर पिताजी के कमरे में जाकर गाने लगा तो डाँट पड़ गयी । बेचारा क्या करता ? दोनों कमरों के बीच बरामदे में बैठकर गाने लगा–"मुख से कडुवे बोल न बोल ।" आवाज सुनकर माता–पिता दोनों अपने–अपने कमरे से निकले–बच्चे को रोकने । पर एक दूसरे को देखकर चुप रह गए ।

बालक ने दोनों को देखा, भाव पढ़े और बोला–"आप दोनों को यह गाना अच्छा नहीं लगता तो अलग बैठकर गा रहा हूँ, अब आपको क्या शिकायत है ?"

पति–पत्नी ने एक दूसरे को देखा, अपनी भूल पर हँसी आ गयी । दोनों बालक के पास गए, बोले–"अच्छा भाई, हमें भी अच्छा लगता है । अब हमारे सामने ही गा ले ।"

अपनी भूल मानने में कभी भी संकोच न होना, भले ही वह छोटों द्वारा बतायी गयी हो, यही बड़प्पन की निशानी है । औचित्य को हर कीमत पर स्वीकारा जाना चाहिए, अपनी अहंता को आड़े नहीं आने देना चाहिए ।

यथार्थं च परिज्ञातुं तर्कं तथ्यं प्रमाणकम् ।
अन्वेष्टुमुभयोः पक्षे विचारः कर्तुमिष्यते ।। २२।।
तदैव शक्यते ज्ञातुं विद्यते का यथार्थता ।
प्रयुञ्जते बुद्धिमेनां न्यायाधीशा विशेषतः ।। २३।।

शृण्वन्त्युभयवार्तां ते पक्षयोः कुर्वते तथा ।
यत्नं तथ्यं तल्लब्धुमावेशेऽज्ञानतोऽपि वा ।। २४।।
बलाऽपि च यत्प्रोक्तं पक्षपातधिया नहि ।
तत्र ध्यानं प्रकुर्वन्ति तत्वजिज्ञासवः क्वचित् ।। २५।।
गृह्यते नीतिरेषैव यदा तर्हि तु सम्भवम् ।
यथार्थतापरिज्ञानं सत्यं द्रष्टुं च वस्तुतः ।। २६।।

टीका–यथार्थता को जानने के लिए तर्क, तथ्य और प्रमाण ढूँढ़ने के उभयपक्षीय प्रतिवेदन पर विचार करना पड़ता है । तब कहीं पता चलता है कि यथार्थता क्या है ? न्यायाधीश इसी बुद्धि का प्रयोग करते हैं । दोनों पक्षों की बात सुनते हैं । तथ्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं । आवेश या अज्ञान में तथा बलपूर्वक पक्षपात के कारण जो कहा गया है, तत्वजिज्ञासु उस पर ध्यान नहीं देते । यही नीति अपनाने पर यथार्थता समझ सकना संभव होता है और सत्य के दर्शन होते हैं ।। २२–२६।।

अर्थ–सत्य तक पहुँचने के लिए न्यायाधीश की तरह विभिन्न पक्षों के तर्क, तथ्य, प्रमाण सुनने-समझने का सुझाव ऋषि ने दिया है । परंतु सावधान भी किया है कि तीन स्थिति वालों के कथन को निर्णय का आधार नहीं बनाना चाहिए ।

(१) आवेशग्रस्त द्वारा दिए गए तथ्य प्रामाणिक नहीं होते । आवेशग्रस्त स्थिति ही असंतुलन की है । असंतुलन को आधार बनाकर संतुलित निर्णय हो ही नहीं सकता, इसीलिए सत्य शोधक को आवेशग्रस्त मनोभूमि में किसी निर्णय पर नहीं पहुँचना चाहिए ।

(२) अज्ञान में कई बार लोग ऐसी बातें कह जाते हैं, जो उनके स्वयं के खिलाफ पड़ जाती हैं । जानकारी पूरी न हो तो सत्य शोधक को निर्णय लेने से पूर्व कुछ चिंतन कर लेना चाहिए ।

(३) बलपूर्वक, किसी लोभ, भय या किसी के अहसान के दबाव में दिए गए विवरण प्रामाणिक नहीं होते । सही निर्णय लेने के लिए साधक को ऐसी दबाव भरी मनःस्थिति के बाहर आने का प्रयास करना चाहिए ।

उत्तेजना का न्याय रद्द

बादशाह अकबर को क्रोध अधिक आता था । वे अपनी कमजोरी समझते थे । क्रोध में अन्याय न हो जाय, इसके लिए उन्होंने नियम बना रखा था कि यदि वे अचानक किसी को कोई सजा सुना दें, तो उस पर अमल न किया जाय । दुबारा शांत मनोभूमि में उनसे फिर पूछा जाय । जब दुबारा निर्णय दिया जाय, तभी दंड लागू हो ।

यथार्थ और छलना

दो बहनें थीं । एक का नाम यथार्थता, दूसरी का छलना । एक दिन दोनों सरोवर स्नान को गईं और कपड़े किनारे पर रखकर तैर-तैर कर नहाने लगीं ।

आदत के अनुसार छलना ने यथार्थता के कपड़े पहन लिए; उसकी कुरूपता ढक गई और बहन के परिधान पहनकर सुंदर लगने लगी ।

यथार्थता बाहर निकली, तो देखा छलना उसके कपड़े पहन कर जा चुकी है । वह करती भी क्या ? जो कपड़े सामने थे, उन्हीं से तन ढका और कुरूप लगती, रोती-चीखती घर आई ।

कपड़े दोनों के शरीर पर अभी तक बदले हुए ही हैं । छलना सुंदर दीखती है और अपने को यथार्थता कह कर लोगों को ठगती है । यथार्थता संकोच में डूबी, न कुछ कह पाती है और न करते-धरते बनता है । तर्क, तथ्य की कसौटी पर यथार्थता और छलना को कसना जो जानते हैं, वे छलना से बचकर यथार्थता का लाभ उठा लेते हैं ।

दूसरा पक्ष खोजा और लाभ उठाया

सौ वर्ष पहले की बात है । अफ्रीका में जूतों की खपत की संभावना खोजने के लिए एक जापानी और एक अमेरिकन कंपनी ने अपने एजेंट भेजे । ताकि उस क्षेत्र में व्यवसाय चलने की बात पर विचार किया जा सके ।

अमेरिकन एजेंटों ने एक सप्ताह के दौरों के बाद रिपोर्ट भेजी–यहाँ कोई जूता पहनना जानता तक

नहीं, व्यापार की कोई संभावना नहीं है और वह वापस लौट गया ।

जापानी एजेंट रुका रहा, उसने मालिक को रिपोर्ट भेजी--यहाँ जूते किसी के पास नहीं । जूतों की उपयोगिता समझाने में कुछ समय-साधन लगाने भर की देर है कि खपत का ठिकाना न रहेगा । हम लोग बिना प्रतिस्पर्धा के उस देश में व्यवसाय चलाकर आसानी से मालामाल बन सकते हैं ।

जापानी दृष्टिकोण सही निकला । वे सचमुच मालामाल बन गए । अमेरिकनों की तरह एक पक्ष पर ही विचार करके वे रुके नहीं, दूसरा पक्ष भी खोजा और लाभ उठाया ।

लोभ का भय और साम्राज्य

सुदूर यात्रा पर निकले एक हंस-हंसिनी रात्रि होने पर एक बरगद वृक्ष पर उतरे । उस पर उल्लुओं का समूह रहता था । उनने स्वागत किया और अपने कोंतर में जगह दे दी ।

सबेरे जब वे चलने लगे, तो उल्लुओं के मुखिया ने हंस से कहा--"तुम जा सकते हो पर हंसिनी हमारी हो गई । इसने हमारे साथ रात जो बिताई है ।"

हंस झल्लाया--"आप क्या बेतुकी बातें करते हैं, यह तो मेरी पत्नी है ।"

मुखिया ने उल्लुओं को अलग से बुलाकर कान में कहा--"मेरी बात का समर्थन करो । हंसिनी के जो बच्चे होंगे उनमें एक-एक तुम सबको मिलेगा । वे तुरंत सहमत हो गए ।"

उल्लुओं के एक हो जाने और लड़ने-मरने पर आमादा होने पर हंस ने कहा--"चलो राजा से न्याय करायें ।" वे सब चल पड़े । हंस ने राजा को सारा घटनाक्रम कह सुनाया ।

राजा फैसला करने को ही था कि मुखिया उल्लू ने राजा के काम में कहा--"आपको मालूम ही है कि हममें से एक किसी के मुँडेर पर बैठने लगता है, तो उस पर भयंकर विपत्ति आती है । यदि आपने हमारे विरुद्ध फैसला किया, तो हम सब राजमहल की मुँडेर पर बैठने लगेंगे और आपका सर्वनाश हो जाएगा ।"

राजा डर गया और दबाव में आकर उसने उल्लुओं के पक्ष में फैसला दिया । हंस-हंसिनी रोने लगे ।

मुखिया ने उन्हें विदा किया और कहा--"जहाँ लोभ और भय की तूती बोलती हो, वहाँ न्याय-औचित्य की कल्पना नहीं करनी चाहिए ।"

सियार का मुकदमा

एक सियार ने एक बकरी को उसके खेत के बदले तालाब बेच दिया ।

दूसरे दिन सियार बोला--"तालाब बेचा है, पानी नहीं पीने दूँगा ।"

मुकदमा राजा के पास गया । फैसला हुआ--तालाब बकरी का है, उसमें जो पानी भरा है, उसे तुरंत खाली करो । सियार सिटपिटा गया और अपनी बात वापस ले ली ।

तर्क की कसौटी पर विचारों की धूर्तता कट गई ।

एक सवार ऊँट पर सामान समेत बैठा था । उसे दया आयी, सो ऊँट का बोझ सिर पर रख लिया ।

एक जानकार ने कारण समझा और कहा--"इससे ऊँट का बोझ कहाँ हल्का हुआ ?" अबकी बार उसने नयी सूझ का परिचय दिया; सिर की पगड़ी उतार कर ऊँट की पीठ पर रख दी और समझा इस प्रकार शायद ऊँट को कुछ राहत मिले ।

समाज ऊँट है और व्यक्ति, सवार बोझ । हल्का करने के लिए अपना संतोष नहीं विवेकपूर्वक समाज का हित सोचना चाहिए ।

इत्र की परख

पुरानी बात है, कश्मीर के महाराज के पास कन्नौज का एक प्रसिद्ध इत्रवाला गया । अच्छे से अच्छे इत्र उसके पास थे । वह दरबार में पेश किया गया । उसने इत्र की शीशी सामने रख दी ।

राजा में सूँघने की शक्ति नहीं थी, इसका पता उस अत्तार को नहीं था । राजा ने शीशी खोली दरबार सुगंध से महक उठा, पर राजा को कुछ भान नहीं । राजा ने थोड़ा इत्र हथेली पर लेकर आचमन की तरह पान करके देखा तो मुँह कड़ुवा हो गया । थू-थू करते हुए शीशी फेंक दी; अत्तार को भगा दिया ।

बिना किसी तरह जाने-समझे, कि प्रयोग की जाने वाली वस्तु वास्तव में है क्या ? एवं इसका उपयोग किस प्रकार संभव है, कोई निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए । इस योग्यता के अभाव में सहसा निर्णय ले लेने वाले स्वयं तो लाभ उठा नहीं पाते, एक उपयोगी वस्तु को सबके लिए निरर्थक और ठहरा देते हैं ।

नेपोलियन की समझदारी

नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने एक विरोधी को उच्च पद पर नियुक्त किया तो अधिकारियों ने कहा कि यह व्यक्ति आपके बारे में अच्छे विचार नहीं रखता ।

नेपोलियन ने हँसते हुए कहा–"जिस पद के लिए मैंने उसे नियुक्त किया है उसके लिए वह पूर्णतया योग्य है । मेरे बारे में वह व्यक्ति ठीक विचार नहीं रखता, इस उत्तेजना में मैं राष्ट्र के लिए उपयोगी व्यक्ति की उपेक्षा करके राष्ट्र के साथ और स्वयं अपने व्यक्तित्व के साथ अन्याय कर बैठूँगा ।"

बड़े लोगों का लक्षण

सूरज आकाश में होकर गुजर रहा था तो उसने सुना कि कुछ लोग इकट्ठा होकर उसे देवता न कहकर आग का गोला मात्र बता रहे हैं । इस पर सूरज को बड़ा बुरा जान पड़ा और उसने दूसरे दिन अपने रथ पर चढ़कर जाने से इन्कार कर दिया ।

संसार में हलचल मच गई । प्रभात होने में देर होते देखकर सभी देव-दानव चिंता में डूब गए । कारण जानने और बाधा को हटाने के लिए प्राची से कहा गया । प्राची ने सूरज की बहुत कुछ प्रशंसा और अभ्यर्थना की और सदा की भाँति रथ पर चढ़कर जाने के लिए मनाया ।

सूरज बोला–"जिन लोगों का अनादिकाल से मैं इतना उपकार कर रहा हूँ वे मुझे आग का गोला कहें, तो ऐसे कृतघ्नों का अब मैं मुँह भी न देखूँगा । अब मैं यात्रा पर जाना ही नहीं चाहता ।"

प्राची ने उसे समझाया–"लोक-दृष्टि तो बालकों द्वारा फेंके गए पत्थरों के समान है । विचारशील समुद्र की तरह गंभीर होते हैं, फेंके हुए पत्थर उसके गर्भ में विलीन हो जाते हैं । पर अहंकारी कच्चे घड़े के समान होता है जो छोटे से आघात को भी सहन नहीं कर सकता और जरा-सी चोट से टूट कर छितरा जाता है । आपको क्षुद्र कच्चे घड़े की तरह नहीं वरन् गंभीर समुद्र की तरह ही व्यवहार करना चाहिए ।

सूरज विचारों में डूब गया और उसे यात्रा के लिए रथ पर सवार होकर जाना ही उचित जान पड़ा ।

कौडिन्य उवाच-

दृश्यते प्राय एवात्र महाभाग ! बुधा अपि ।
हानिलाभस्थितिज्ञा न हितं चिन्वन्ति दूरगम् ।। २७।।
कुर्वते भ्रमतश्चात्र निर्णयं विपरीतगम् ।
कथमेतद् भवत्यस्माद् विवेकी रक्ष्यतां कथम् ।। २८।।

टीका–कौडिन्य ने कहा–हे महाभाग ! देखा गया है कि अपना हानि-लाभ पहचानने वाले समझदार व्यक्ति भी दूरगामी हितों को नहीं पहचान पाते, भ्रम में गलत निर्णय ले बैठते हैं, ऐसा क्यों होता है ? और ऐसी भूलों से विवेकवान् का बचाव कैसे होता है ? ॥ २७-२८॥

आश्वलायन उवाच-

दूरदर्शित्वभावोऽपि विवेकस्यार्थतां गतः ।
न च वस्तुपरिज्ञानमात्रं तस्यार्थ इष्यते ।। २९।।
विवेकबुद्धिरादत्ते परिणामान् सुदूरगान् ।
प्रारम्भे हानिमादाय भविष्यत्यधिको यदि ।। ३०।।
लाभः समर्थनं तस्य कर्मणः कुरुतेऽत्र च ।
लाभदानि प्रतीयन्ते कार्याण्यादौ झटित्यलम् ।। ३१।।
दुःखदानि तथान्ते च जायन्ते कानिचित्तथा ।
आदौ कष्टप्रदायान्ते सुखदानि भवन्ति च ।। ३२।।
एतादृशप्रसंगेषु भ्रान्तिग्रस्ता भवन्ति ते ।
अदूरदर्शिनो ये तु लाभं पश्यन्ति चादिमम् ।। ३३।।
तदर्थं महतीं हानिं भविष्यत्कालजां त्विमे ।
प्राप्नुवन्ति नरा येनाभ्युदयं नोपयान्ति ते ।। ३४।।

टीका—आश्वलायन बोले-विवेक का तात्पर्य दूरदर्शिता भी है । वह मात्र समझदारी तक ही सीमित नहीं है । विवेकवान् दूरगामी परिणामों को भी देखते हैं और आरंभ में तनिक-सी हानि उठाकर भविष्य में यदि अधिक लाभ की संभावना हो, तो उसका भी समर्थन करते हैं । कई काम तत्काल तो लाभदायक प्रतीत होते हैं; किन्तु अंत में दुःख देते हैं । कुछ आरंभ में तो कष्टकर लगते हैं; किन्तु उनका परिणाम अंततः सुखद होता है । ऐसे प्रसंगों में अदूरदर्शी तो भ्रमग्रस्त होते हैं और तत्काल लाभ के लिए भविष्य में बड़ी हानि उठाते हैं, साथ ही अभ्युदय को भी प्राप्त नहीं हो पाते ॥ २९-३४॥

अर्थ—समझदारी की परिभाषा यहाँ सही परिप्रेक्ष्य में समझना अनिवार्य है । तथाकथित समझ के धनी बुद्धिमान तो समाज में अनेक व्यक्ति देखे जाते हैं किन्तु विवेकशीलता की पूरक दूरदर्शिता का उनमें नितांत अभाव होता है । बहुसंख्य व्यक्ति इसी में आते हैं । मनुष्य जीवन जितनी कठिनाई से मिलता है, उतना ही दुष्कर है, अपने दूरगामी हितों को भली-भाँति पहचान कर अपने क्रिया-कलापों को तदनुसार नियोजित करना । चासनी में लिपट कर प्राण गँवाने वाली मक्खी की तरह तात्कालिक आकर्षण तो मायाजाल से भरे इस संसार में पग-पग पर विद्यमान हैं । उनसे स्वयं को बचाना एक बहुत बड़ा पराक्रम पुरुषार्थ है । मनुष्य को वह समझ, जिसे विवेक नाम दिया गया है, से भली-भाँति संपन्न बनाकर सृजेता ने उसे अपना मुकुटमणि बनाकर इस जगती पर भेजा है । अन्यान्य जीवों को यह विशेषता प्राप्त नहीं है । फिर यह क्यों होता है कि उसकी इस दुर्लभ निधि 'समझ' पर भी समय-समय पर पर्दा पड़ता रहता है एवं प्रगति के स्थान पर अवनति की ओर-पतन के गर्त में लुढ़कने लगता है । प्रस्तुत प्रसंग में इसी जिज्ञासा को उठाया व सत्राध्यक्ष द्वारा उसके समाधान का प्रयास किया गया है ।

वस्तुतः विवेक को सामान्य समझदारी तक ही सीमित नहीं माना गया है । समझ तो सभी प्राणियों में होती है । भक्ष्य-अभक्ष्य सभी पहचानते हैं । अपने-पराये बच्चों की पहचान भी सभी कर लेते हैं । किससे उनको हानि हो सकती है, यह भी सभी जीव समझते हैं । पर विवेक तो दूरगामी परिणामों पर विचार करके तदनुसार निर्धारण को कहते हैं । मनुष्य ने प्रगति विवेक के आधार पर की है । साधना, अनुशासन, व्यवस्था, तंत्र-यह सब विवेक के आधार पर ही विकसित हुए हैं । तत्काल के आकर्षणों को छोड़कर अस्थायी लाभ इसी आधार पर मिल पाते हैं ।

हाथी समझदार बना

एक हाथी था, बहुत बलवान और सुंदर । रहता तो वह जंगल में था पर वहाँ के निवासी सिद्ध पुरुषों की स्वेच्छापूर्वक सेवा-सहायता करता रहता । सूखी लकड़ियाँ ला देता, कभी पीठ पर बिठा कर सैर करा लाता ।

योगी प्रसन्न होकर उससे वरदान माँगने की कहने लगा । हाथी ने सकुचाते हुए कहा-"गुरुदेव, आप प्रसन्न हैं तो मुझे मनुष्य जैसी बुद्धि दे दीजिए ।"

महात्मा जी ने उसे वैसा ही वरदान दे दिया और साथ ही उसका नाम वामदेव रख दिया । वामदेव वेद-शास्त्रों का पंडित हो गया और महात्मा जी के यहाँ जब विद्वानों की मंडली जमा होती तब वह भी उसमें सम्मिलित हो जाता । उपस्थित जनों में से जब कोई गलत बात कहता, उसी पर झुँझलाता, पर वाणी न होने से कुछ कह न सकता ।

मनुष्य जैसी बुद्धि मिल जाने से उसे अपने संबंध में और भी बहुत-सी बातें सूझने लगीं । सभ्यजनों जैसे कपड़े पहनने चाहिए । पर उसके लिए धोती, कुर्त्ता, पगड़ी, टोपी कौन लाता ? अब उसे नंगा फिरने, जहाँ-तहाँ लीद करने में भी शर्म आने लगी, पर वह करता क्या ? कहता किससे ? लाता कहाँ से ? कुढ़न और भी दूनी हो गयी ।

एक दिन वह मनुष्यों का व्यवहार देखने निकल पड़ा । वे कुर्सियों पर बैठे थे । प्याले से चाय पी रहे थे । सिनेमा देख रहे थे । वामदेव को भी वैसी इच्छा उठने लगी । पर बेचारे को साधन मिलते कहाँ से ? कुढ़न जैसे-जैसे बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह और भी दुर्बल होता चला गया ।

योगी ने वामदेव से पूछा-"वत्स, तुम्हारा मनचाहा वरदान मिल गया । अब क्या कष्ट है ? जो दिन-दिन दुबले होते जाते हो ?"

हाथी ने सूँड़ से स्वामी जी का चरण पकड़ते हुए कहा-"आपने जो वरदान दिया है, उसे वापस ले

लीजिए ।" उनने वैसा ही किया । अब हाथी पहले जैसा मस्त था । पेड़ों की कोमल टहनियाँ खाता और रात को चैन से सोता । उसने सोचा यह जीवन उस पूर्व वाले से लाख गुना अच्छा है जिसमें कम से कम बुद्धि से उपजने वाली पचासों परेशानियों की झंझट तो नहीं है ।

गिरगिट की पोल खुली

सभी चतुष्पाद ब्रह्मा जी के पास पहुँचे और उनमें से कौन वरिष्ठ है, यह पूछने लगे । ब्रह्मा जी ने इसके लिए दौड़ की प्रतिस्पर्धा लगाई और कहा–"जो एक मील की दौड़ में सबसे आगे निर्धारित शिला पर जा पहुँचेगा उसी को वरिष्ठ माना जायगा ।"

जानवरों में छोटे-बड़े सभी थे । उनमें एक धूर्त था–गिरगिट । प्रतिस्पर्धा में तो वह भी शामिल था । पर दौड़ कर आगे निकल जाने की विसात न थी । सो उसने धूर्तता से काम लिया और बाजी जीतने की ठानी ।

मोटे बंदर के आगे निकल जाने की संभावना देखकर गिरगिट उसकी पूँछ से इस तरह चिपक गया कि एक नये साथी का उसे पता तक न चला ।

दौड़ पूरी हुई । चट्टान पर पहुँचकर पूँछ छोड़कर उछला और बंदर से पहले ही जा बैठा । बंदर ने बैठने की कोशिश की तो आँखें लाल-पीली करते हुए बोला–"देखते नहीं मैं पहले से ही यहाँ बैठा हूँ ।"

गिरगिट की जीत घोषित कर दी गई । पर जब ब्रह्माजी को वस्तुस्थिति का परिचय मिला, तो वे बहुत क्रुद्ध हुए और कहा–"तुझे पीढ़ियों तक अप्रामाणिक ठहराया और तिरस्कृत किया जाता रहेगा । यहाँ तक कि धूर्तों को तेरी उपमा देकर अपमानित किया जाया करेगा ।" रंग बदलते रहने वाले गिरगिट को अभी भी अविश्वस्त माना जाता है ।

नेपोलियन की दूरदृष्टि

मध्य रात्रि में गहरी नींद सोते हुए नेपोलियन को सेनापति ने जगाया और दक्षिण मोर्चे पर शत्रु के अचानक आक्रमण का विवरण सुनाते हुए, क्या उपाय अपनाया जाय इसका निर्देशन पूछा । नेपोलियन आँख मलते हुए उठे और दीवार पर टँगे हुए ६४ नंबर नक्शे को उतारते हुए, उसमें बताया हुआ तरीका अपनाने का आदेश दिया ।

सेनापति चकित था कि जिनका उसे अनुमान तक न था, उस संभावना को नेपोलियन ने समय से पूर्व ही कैसे सोच लिया और कैसे उसका प्रतिकार खोज लिया ।

असमंजस तोड़ते हुए नेपोलियन ने कहा–"विचारशील अच्छी से अच्छी आशा करते हैं; किन्तु बुरी से बुरी परिस्थितियों के लिए तैयार रहते हैं । मेरी मनःस्थिति सदा से ऐसी ही रही है । इसलिए विपत्ति टूटने से पहले भी उसका अनुमान लगाने और उपाय सोचने में मुझे कोई संकोच नहीं होता ।

दयालुता का प्रदर्शन

राजा को दयालु कहलाने और दानवीर की प्रशंसा सुनने की ललक लगी । सो उसने एक दिन ऐसा निश्चय किया कि पक्षी पकड़ने वाले लोग दरबार में आयें और बंदी पक्षियों के मूल्य लेकर उन्हें स्वतंत्र कर दें ।

राजा की दयालुता का यश फैला । निश्चित दिन पर हजारों पिंजड़े खाली होते और राज्यकोष से उन्हें धन मिलता । कीर्ति बढ़ गयी साथ-साथ पकड़े जाने वाले पक्षियों की संख्या भी ।

एक मुनि-मनीषी वहाँ पहुँचे । दृश्य देखा, तो बहुत दुःखी हुए । पक्षी-मुक्ति समारोह समाप्त होने पर मुनि ने राजा को समझाया–"आपकी यश-कामना इन निरीह पक्षियों को बहुत मँहगी पड़ती है । लालच की पूर्ति के लिए असंख्यों नये बहेलिये पैदा हो गए हैं और पकड़े जाने के कुचक्र में अगणित पक्षियों को त्रास मिलता है और प्राण [illegible] है । यदि दयालुता का प्रदर्शन नहीं, पालन अभीष्ट है तो आप पक्षी पकड़ने पर प्रतिबंध लगायें ।"

राजा ने अपनी भूल समझी और दयालुता का प्रदर्शन छोड़कर वह नीति अपनायी जिससे वस्तुतः दया धर्म का पालन होता था ।

यवकीर्ति ने सस्ता रास्ता छोड़ा

ज्ञान की गरिमा महर्षि रैक्य ने अपने पुत्र यवकीर्ति को भली प्रकार समझा दी थी । वह शास्त्र के इस वचन से पूर्ण आश्वस्त भी हो गया था कि सद्ज्ञान से बढ़कर श्रेष्ठ संसार में और कुछ है नहीं । इतने पर भी छात्र के मन में यह भ्रम बना ही रहा कि मनोयोगपूर्वक अध्यवसाय से ही ज्ञान-वैभव की उपलब्धि संभव है । वह कोई सरल मार्ग हथियाने के फेर में था । सोचा तप करने से जब बहुत सिद्धियाँ मिल सकती हैं, तो साधना द्वारा ही उसे क्यों न प्राप्त कर लिया जाय । लंबे समय तक पढ़ते रहने का

झंझट क्यों उठाया जाय ? वह अनुष्ठान तप करने लगा ।

पिता ने उसे समझाया कि ज्ञानाराधन भी तप है । मात्र ध्यान-तितिक्षा को ही तप नहीं कहते । अध्ययन में लगने वाला मनोयोग भी तप है । उद्देश्य के अनुरूप ही तप होना चाहिए ।

पिता का कथन पुत्र की समझ में तनिक भी नहीं आया । वह अपनी बात पर अड़ा रहा और साधना से सिद्धि के सूत्र का गलत अर्थ लगा कर तितिक्षा से जल्दी लाभ पाने का हठ संजोये रहा ।

यवकीर्ति नदी स्नान के लिए जिस घाट पर जाया करता था, उस पर एक वृद्ध ब्राह्मण भी आने लगे । वे मुट्ठी भर-भर कर पानी में रेती डालते रहे । कई दिन तो ध्यान नहीं दिया; पर इस विचित्र चेष्टा को लगातार देखते रहने पर उनसे रहा न गया और ऐसा करने का कारण पूछा ।

वृद्ध ने कहा-"नदी पार जाने में कष्ट होता है और समय लगता है । इसलिए सोचा नदी में बालू डाल डालकर पार जाने के लिए बाँध क्यों न बना लूँ ।"

यवकीर्ति हँसने लगा । उसने कहा-"भगवन ! हर काम रास्ते से होता है । उतावली में अपनायी अदूरदर्शिता कहाँ सफल होती है । आप पार जाने के दूसरे संभव तरीके अपनायें और इस बाल-क्रीड़ा को छोड़ दें ।"

वृद्ध वस्तुतः इंद्र थे । अपने असली रूप में प्रकट हुए और बोले-"तात ! तुम अध्ययन की ध्यान साधना करो । यह सही मार्ग है । उतावली और अदूरदर्शिता के वशीभूत होकर सस्ता मार्ग ढूँढ़ना व्यर्थ है ।"

यवकीर्ति की समझ में बात आ गई और वे अनुष्ठान के स्थान पर अध्ययन में निरत हो गए ।

चार से पाँच बने

यदि दूरदर्शिता हो तो मनुष्य समय रहते संभावित हानि से स्वयं को बचा सकता है । प्रत्यक्ष के आकर्षण से बचा गया या नहीं, परिणाम इसी पर निर्भर है ।

एक नगर में चार मित्र थे । एक बढ़ई, दूसरा दर्जी, तीसरा सुनार, चौथा ब्राह्मण । कहीं जाना होता तो चारों साथ-साथ जाते ।

एक बार उनका मन कहीं परदेश जाने का हुआ । चारों चल दिए । रास्ते में जंगल पड़ा, सो वे एक बरगद के पेड़ के नीचे ठहर गए । निश्चय हुआ कि जंगल का क्षेत्र है, कोई हिंस्र पशु आ सकता है । सो एक-एक प्रहर चारों को जागना और पहरा देना चाहिए ।

पहला नंबर बढ़ई का था सो वह पहरा देने लगा, पर बेकार बैठे उसे ऊब आने लगी । पास में पड़ी एक सूखी लकड़ी उठाई और अपने औजारों से एक स्त्री की मूर्ति बना दी ।

दूसरा प्रहर आया । अब दर्जी की बारी थी । उसने मूर्ति देखी तो समय काटने के लिए उसके लिए कपड़े सिये और पहना दिए । तीसरा प्रहर स्वर्णकार का था सो उसने आभूषण गढ़े और प्रतिमा को सजा दिया ।

अंतिम प्रहर ब्राह्मण का था । उसे मंत्र विद्या आती थी सो पहरा देते हुए प्रयोग करने लगा और उस प्रतिमा को प्राणवान बना दिया । सबेरे चारों उठे तो एक सुंदर स्त्री समेत वे पाँच थे ।

उनने समझदारी से काम लिया । पारस्परिक तालमेल से एक ने उस स्त्री को माता, दूसरे ने बहन, तीसरे ने पुत्री और चौथे ने पत्नी बना लिया । हँसते-हँसते पाँचों रास्ता पार करने लगे । सुंद-उपसुंद की तरह लड़ मरने की मुसीबत से वे बच गए । यही दूरदर्शी विवेकशीलता है ।

विवेकिनः परं ये तु लघ्वीं हानिं विलोक्य ते ।
हानिमादिसमुद्भुतां स्वीकृत्यापि प्रयोजने ।। ३५ ।।
शोभने लग्नचित्ताश्च मोदन्ते परिणामतः ।
व्यवसायरता मल्ल कृषका वा यथा च ते ।। ३६ ।।
विद्यार्थिनस्तपोवेषा मालाकारा अथापि च ।
एतेषां धैर्यमेवैतान् कुरुते लक्ष्यगान् सदा ।। ३७ ।।

टीका-जो विवेकवान् हैं, वे तुरंत ही छोटी हानि को देखकर कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी, पहलवान की तरह आरंभिक घाटा एवं कष्ट सहकर भी सत्प्रयोजनों में लगे रहते हैं और अंत में उस प्रयास के

सत्परिणाम का आनंद लेते हैं । इनका धैर्य ही इन्हें लक्ष्य तक पहुँचाता है ।। ३५–३७।।

अर्थ–विवेक का लक्षण है-तत्काल के लाभ के आकर्षण अथवा प्रारंभिक कष्ट के भय से श्रेष्ठतम उपलब्धियों की ओर बढ़ने से रुके नहीं । इसके लिए दूरदर्शिता के साथ सुनियोजन की भी आवश्यकता पड़ती है । कृषक, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी और पहलवान आदि इसी कोटि के साधक होते हैं । कृषक भूखा होने पर भी पास में रखे हुए बीज बोने के अन्न को खाने के आकर्षण से बचा रहता है । बीज को मिट्टी में डालते समय प्रत्यक्ष हानि दिखती है, श्रम भी बहुत पड़ता है, पर फसल के लिए वह यह सब स्वीकार करता है, तभी फसल पाता है । माली कृषक की तरह सर्दी-गर्मी भूलकर पौधों को लगाता और पालता-पोषता है । अपने ही लगाये पौधों को एक स्थान से उखाड़ना, दूसरी जगह लगाना बेकार का श्रम-सा दीखता है । अपने लगाये-पोषे पौधों को कैंची से काटना बेदर्दी का काम दीखता है, परंतु बगीचे की सुंदरता, पौधों की सुसज्ञा इसी से उभरती है ।

विद्यार्थी घर के काम-काज छोड़ता है, समय-बेसमय जागता और अध्यापक की कड़ाई सहन करता है । जिन पैसों से अच्छा खाना-कपड़ा पा सकता था, वह पुस्तक-कापियों आदि में खर्च करता है । यह सब प्रत्यक्ष घाटा और परेशानी जैसे क्रम दिखते हैं परंतु इन्हीं के आधार पर वह सुसभ्य नागरिक बनता और समाज का ऋण चुकाता है ।

व्यवसायी अपनी पूँजी व्यवसाय में फँसा देता है, जिसमें घाटे का भी भय होता है । स्वयं कठिनाई से गुजारा करके भी व्यवसाय में पूँजी बढ़ाता है और इसी प्रत्यक्ष घाटे से जीवन भर मुनाफा कमाता है ।

पहलवान, जिस समय लोग आराम करते हैं, वह पसीना बहाता है, संयम बरतता है । खुराक और व्यायाम पर ढेरों साधन और समय खर्च करता है । उस्ताद की रगड़ और घिस्से खाता है । इन परेशानियों के बीच से शक्तिशाली रोबीला व्यक्तित्व अजेय होने पर यश पाता है ।

विवेकी महापुरुष भी श्रेय साधना में प्रारंभिक कष्ट-परेशानियाँ सहज ही स्वीकार कर लेते हैं ।

न सिंहासन मिला, न फाँसी

एक भविष्य वक्ता थे । लोगों को उनकी नियति बताते, साथ ही कर्म द्वारा उसमें घट-बढ़ होने की संभावना से भी अवगत करते ।

एक दिन दो मित्र उनके पास आये । भविष्य पूछने लगे । उनने एक को एक महीने बाद फाँसी होने तथा दूसरे को राज्य सिंहासन मिलने की भवितव्यता बताई ।

जिसे राज सिंहासन मिलना था, वह अहंकार में डूबा और मनमाने आचरण करने लगा । इस अवधि में कुकर्मों की अति कर दी । एक महीना होने को आया, तो सड़क पर रुपयों की एक थैली पड़ी मिली । उसे उसी दिन सुरा-सुंदरी के घर पहुँचा दिया ।

जिसे फाँसी लगनी थी उसने शेष थोड़ी-सी अवधि को दिन-रात सत्कर्मों में निरत रहने के लिए लगा दिया । पुण्य-परमार्थ जो संभव थे, उसमें कमी न रहने दी । महीना पूरा होने को आया, तो पैर में एक काँटा चुभा और थोड़े दिन कष्ट देकर अच्छा हो गया ।

महीना निकल गया, पर न एक को फाँसी लगी और न दूसरे को सिंहासन मिला, तो वे भविष्य वक्ता के पास पहुँचे और कथन मिथ्या हो जाने का कारण पूछा ।

उत्तर में उनने कहा–"भवितव्यता को कर्मों से हल्का-भारी भी किया जा सकता है । फाँसी, काँटा लगने जितनी हल्की हो गई और सिंहासन हल्का होकर रुपयों की थैली जितना छोटा रह गया । कष्ट साध्य सेवा-भावना ने फाँसी का कष्ट घटा दिया और मनमानी उद्दंडता ने राज्य सिंहासन में कमी कर दी । जो शेष रह गया वही मिला ।"

नरक के भय से कर्तव्य न छोड़ा

मालवीय जी उन दिनों अछूतोद्धार के काम में लगे थे । सहयोग देने के लिए उन्होंने विद्वान पंडितों की एक सभा बुलाई । पुराणखंडी पंडित सहमत न हुए और कहने लगे इससे तो नरक जाना पड़ेगा । मालवीय जी ने गंभीरतापूर्वक कहा–"आज की सामाजिक और राष्ट्रीय समस्यायें सुलझती हैं तो बाद में भी हर्ज नहीं है ।" नरक का भय अथवा रूढ़िवादियों के विरोध से भयभीत न होकर दूरदर्शी निर्णय लेने की प्रवृत्ति ने ही उन्हें 'महामना' बनाया ।

जहरीले फलों से बचे

रेगिस्तान में एक काफिला जा रहा था । शाम होते-होते एक स्थान पर कुछ वृक्ष दीखे, वहीं पड़ाव करने का निश्चय किया गया । स्थान पर पहुँचने पर लोगों ने देखा कि एक पेड़ पर बहुत से अच्छे पके फल लगे हैं । सभी दौड़ पड़े खाने की लालसा से । तभी सरदार ने रोक दिया, उसने कहा-"कार्य करने से पूर्व विवेक का उपयोग करना चाहिए । यदि यह फल उपयोगी होते तो पहले वाले काफिले ही इन्हें समाप्त कर देते । अनायास मिली वस्तु की उपयोगिता-अनुपयोगिता पर विचार कर लेना चाहिए । पहले फलों की परीक्षा कर लें ।" परीक्षण से ज्ञात हुआ कि फल जहरीले थे ।

तत्काल खाने पर रोक लगाने तथा विवेकपूर्ण निर्णय, धैर्यपूर्ण परीक्षण ने उन्हें अकाल मृत्यु से बचा दिया ।

कष्ट सहिष्णु डॉ० नाग

डा० नाग उच्च कोटि के चिकित्सक थे, साथ ही गाँधी जी के आंदोलन में पूरे सर्वोदयी बन गए थे । उन्हें कलकत्ता भेजा जाना था । टिकट के ८) रु० उनके पास थे । स्टेशन पर एक दरिद्र महिला अपने बच्चों समेत भूखी और बिना कपड़ों के बैठी थी । उसकी याचना पर किसी ने ध्यान न दिया । नाग बाबू ने ८) रु० उस महिला को दे दिए और कलकत्ते के लिए पैदल चल दिए । २८ दिन पैदल चलते हुए कलकत्ता पहुँचे । खाने के लिए स्टेशनों पर कुली का काम करते हुए रोटी के लायक पैसे कमा लेते । उन्होंने रास्ते में पता न चलने दिया कि न यह इतने बड़े डॉक्टर हैं । पैसा किसी से माँगा भी नहीं ।

नेपोलियन की साधना

नैपोलियन को सैनिक बनने की लगन थी । वह विद्यार्थी जीवन में अपना अच्छा खाना सिपाहियों को देकर उनका खाना स्वयं प्रसन्नतापूर्वक खाने का अभ्यास करता था । अन्य विद्यार्थी परस्पर महिलाओं की बीच मौज-शौक में समय बिताते थे, वह उस समय को कठोर श्रम और गहन अध्ययन में लगाता था । इसी दूरदर्शितापूर्ण साधना ने उसे विश्व का अद्वितीय योद्धा बना दिया ।

ठक्कर बापा की विवेकशीलता

अमृतलाल ठक्कर गुजरात के भाव नगर में जन्मे । पढ़-लिखकर इंजीनियर हो गए । बंबई कारपोरेशन में उनकी बड़े पद पर नौकरी लग गयी । पर जिन हरिजन मुहल्लों में उन्हें काम करना पड़ता था उनकी दुर्दशा सुधारने के लिए उन्होंने नौकरी छोड़ दी और आजीवन उसी काम में लगे रहे । गाँधी जी ने उन्हें हरिजन संस्था का प्रधान बनाया । वे दफ्तर में बैठकर काम करने पर विश्वास नहीं करते थे वरन् घर-घर जाकर जन-जन से मिलने की कार्य पद्धति अपनाते थे । गाँधी जी ने एक बार कहा था-'मेरे लिए संभव होता तो मैं ठक्कर बापा की तरह काम करता । यदि इंजीनियर की नौकरी का आकर्षण अमृत लाल ने न छोड़ा होता तो वे उस स्थिति तक न पहुँच पाते जिसमें वे वंदनीय महामानव बन गए ।

अदूरदर्शिनो जाले स्पर्शित्वा लोभसंगताः ।
विहगानां च मत्स्यानां गतिं गच्छन्ति मानवाः ।। ३८ ।।
ते स्मरन्ति न लोभेन जायमानां सुदुर्गतिम् ।
शार्करेष्वप्सु गच्छन्त्या मक्षिकाया अपीदृशी ।। ३९ ।।
दुर्गतिर्जायते यस्मादुचित नुचितस्थितिम् ।
सत्याऽसत्य विविक्तिं च विवेकः कुरुते स्वयम् ।। ४० ।।
भिन्नाभ्यस्ता जना अत्र प्रवाहे वहदेव तत् ।
असत्यं सत्यरूपेण गृह्णन्ति भ्रममोहिताः ।। ४१ ।।
स्वय तिष्ठन्ति तेऽन्याश्च तथैवोपदिशन्त्यपि ।
बहवः किं नराः कार्यं कुर्वते चिन्तयन्ति किम् ।। ४२ ।।

टीका-अदूरदर्शी जाल में फँसने वाली मछली-चिड़िया की तरह प्रलोभन पर आतुर होकर यह भूल जाते हैं कि अंधा लालच क्या हानि करता है ? चासनी पर टूट पड़ने वाली मक्खी की भी ऐसी ही दुर्गति होती है । विवेक ही उचितानुचित का, सत्यासत्य का निर्णय कर पाता है, अन्यथा अभ्यस्त प्रवाह में बहने वाले तो असत्य को ही सत्य मान लेते हैं । अधिकांश लोग क्या करते हैं और क्या सोचते हैं, इसी भ्रम में मोहित वे स्वयं भी भ्रमित हो जाते हैं और दूसरों को भी भ्रमित करते हैं ।। ३८-४२ ।।

अर्थ–मनुष्य के लिए बिना विवेक की शरण लिए यह निर्णय लेना कठिन हो जाता है कि कौन सा रास्ता अनुकरणीय है । दैनिक जीवन में जो भी घटनाक्रम देखने में आते हैं, उनमें अभ्यस्त ढर्रा ही दृष्टिगोचर होता है । यदा-कदा अपवाद रूप में कहीं कोई औचित्य के रूप में वरण करने योग्य प्रसंग होता भी है तो विवेक-बुद्धि के अभाव में उसे पहचान पाने में सामान्य मनुष्य असमर्थ ही रहते हैं । यह तथ्य मोटे तौर से अधिकांश जन मानस पर लागू होता देखा जा सकता है ।

ढर्रे के चिंतन के कारण ही मनुष्य एक प्रकार के स्वसम्मोहन के शिकार देखे जाते हैं, जिसमें जो कुछ भी अपने आस-पास घट रहा है, उसमें काट-छाँट किए बिना, हंस की तरह नीर-क्षीर विवेक अपनाए बिना भेड़ चाल अपनाना उन्हें सरल, सुविधाजनक प्रतीत होता है । ढर्रे को तोड़ना, मछली के धारा को चीरकर उल्टा चल देने के समान है । ऐसा साहस बहुधा देखने में नहीं आता ।

ऊँट एवं आदमी

ऊँटों का एक बड़ा काफिला सौदागरी माल लाद कर सफर पर निकला । मालिकों ने रात बिताने के लिए एक सराय खोजी । मालिकों को चारपाइयाँ मिल गईं । पर ऊँटों को तो जमीन पर ही सुस्ताना था ।

आदत के मुताबिक ऊँटों की रस्सी बाँधने के लिए खूँटियाँ गाढी गईं । जो बँध गए वह चैन से सुस्ताने लगे । एक खूँटी कम पड़ रही थी । ऊँट कैसे बाँधा जाय । इसके बिना वह बैठने तक को तैयार नहीं हो रहा था ।

सराय मालिक समझदार था । उसने सलाह दी–झूठ-मूठ जमीन में खूँटी गाढो और झूठ-मूठ ही उससे रस्सी बाँध दो । ऐसा ही किया गया । तरकीब काम दे गई । ऊँट बैठ गया और सुस्ताने लगा । अब सबेरा होते-होते वही समस्या आई । खूँटी उखाड़ने पर और सब ऊँट तो उठ बैठे पर वह उठने को राजी न होता था । सराय मालिक ने सलाह दी कि झूठ-मूठ खूँटी उखाड़ो और रस्सी हिलाकर उठाओ । ऊँट उठ बैठा और काफिले के साथ चलने लगा ।

काफिले में एक बुजुर्ग थे । उनने ज्ञान चर्चा करते हुए साथियों से कहा–"आदमियों की आदत भी इस ऊँट जैसी ही है । वे भी ढर्रे के आदी हैं । उन्हें झूठ भी सच और अच्छा लगता है । सच को जानने और समझने की कोशिश ही नहीं करते इसी कारण जो कुछ भी सरल, सुगम व अभ्यास में आ गया है, वह स्वभाव से छूटता नहीं ।"

अविवेकी मानव

विष्णु भगवान ने अपनी सर्वोत्तम कृति पृथ्वी निवासी मनुष्यों का हाल-चाल देखने की इच्छा प्रकट की । लक्ष्मी जी ने मना किया और कहा मनुष्य बड़े धूर्त हो गए हैं । यह समाचार मुझे नारद से मिल चुका है ।

लक्ष्मी जी के मना करने पर भी जब विष्णु भगवान पृथ्वी पर जाने लगे, तो लक्ष्मी ने कहा–"मनुष्य धूर्त न निकले तो ही लौट कर आना, नहीं तो उन्हीं के बीच रहना । विष्णु तुनक कर चल दिए ।"

धरती निवासी मनुष्यों को जब विष्णु के आगमन का समाचार मिला, तो वे ठट्ठ के ठट्ठ जमा हो गए । विष्णु द्वारा पूछे गए धर्म-कर्म के पालन का प्रश्न उपेक्षा में डालकर उनसे मनोकामना पूर्ति का आग्रह करने लगे ।

विष्णु को उनकी लोभ-लिप्सा पर क्रोध आया । वे उठकर बद्रीनाथ पर्वत पर जा छिपे आगमन का समाचार मिला तो लोग हजारों की संख्या में वहाँ भी जा पहुँचे । चर्चा चली । यहाँ भी पिछले स्थान की पुनरावृत्ति हुई । लोगों ने विविध मनोकामनाओं की पूर्ति का आग्रह किया ।

विष्णु दुःखी होकर वहाँ से भी चल पड़े और समुद्र के बीच बसी द्वारिका में आसन जमाया । लोगों ने उन्हें वहाँ भी खोज लिया और वही कामनापूर्ति के लिए पहले जैसी हठ ठानी ।

विष्णु अदृश्य हो गए । पर लज्जावश लक्ष्मी जी के पास न गए । असमंजस में पड़े विष्णु से नारद ने कारण पूछा, तो विष्णु ने अपनी पीड़ा कह सुनायी–"यह लोग कर्तव्य की उपेक्षा करते हैं और लालच की रट लगाये हैं । कोई ऐसा स्थान बताओ जहाँ मैं धरती पर शांतिपूर्वक रह सकूँ ।"

नारद ने कान में कहा–"आप मनुष्यों के हृदय में छिप जाइये । वे बहिर्मुखी हैं । बाहर ही आपको ढूँढ़ेंगे । भीतर दृष्टि ही नहीं जायेगी । ढर्रे की चाल चलने वाले आप तक पहुँचेंगे ही नहीं तथा आत्मदर्शी विवेकशीलों को पाने में कठिनाई भी नहीं होगी ।"

तब से भगवान मनुष्य के हृदय में रहते हैं । लोग इन्हें बाहर ढूँढ़ते फिरते हैं, लक्ष्मी जी का सहारा लेकर वे

उन्हें ढूँढ़ते भी हैं तो इनके ये प्रयास निष्फल ही रहते हैं । अंदर झाँकने की फुर्सत किसे है ?

सत्य और असत्य का वरण

श्रद्धा और प्रतिष्ठा ब्रह्मा जी की दो पुत्रियाँ समय पाकर विवाह योग्य हुईं । ब्रह्मा जी ने उनके लिए सत्य और असत्य नामक दो वर ढूँढ़े । एक दिन शुभ घड़ी में पसंद के लिए वर श्रद्धा और प्रतिष्ठा को दिखाए गए । सत्य परिश्रमी और ईमानदार था, किन्तु निर्धन था । देखने में उतना सुंदर भी नहीं, उसे देखते ही प्रतिष्ठा ने अपनी आँखे फेर लीं । असत्य आलसी था और बेईमान तो भी सम्पन्न, सुंदर, प्रतिष्ठा ने वरमाला उसी के गले में डाल दी । श्रद्धा ने सत्य को देखा और उसे अपना पति बना लिया ।

प्रतिष्ठा विवाह के बाद से ही अशांत और दुःखी रहती है । किन्तु सत्य को पाकर श्रद्धा निहाल हो गई ।

वरण करते समय की भूल और विचारशीलता अपना-अपना प्रभाव जीवन भर दिखाती रहती हैं ।

सम्पदा त्यागी लोकसेवा अपनायी

एक उदारमना व्यक्ति ने अपनी सम्पदा परमार्थ प्रयोजनों के लिए दान कर दी और लोक सेवा के कार्यों में निरत रहने लगा ।

उसकी सर्वत्र प्रशंसा होने लगी । इस परिवर्तन के लिए लोग उसकी भूरि-भूरि सराहना करते और बधाई देने आते ।

उत्तर में उदार व्यक्ति एक प्रश्न करते, आपके झोले में कंकड़-पत्थर भरे हैं और अनायास कोई बहुमूल्य वस्तु मिले, तो उन पत्थरों को फेंक कर मूल्यवान वस्तु उसमें भरेंगे या नहीं ? लोग उत्तर में सिर हिला देते ।

उदारमना समझते हैं मैंने कोई त्याग नहीं किया, मात्र विवेकशीलता का, चयन की दूरदर्शिता का परिचय दिया है । जो व्यर्थ ही बटोर रखा था, वह बोझ बढ़ाता और अनर्थ सिखाता था । अब उस जंजाल को फेंक देने पर मनः स्थिति परमार्थ करने जैसी बन गयी और वे कार्य हो सके जिनकी प्रशंसा आप सब करते हैं और मुझे संतोष पाने तथा भविष्य उज्ज्वल बनाने का अवसर मिला है ।

आधारमिममाश्रित्य सत्याऽसत्यविनिर्णयः ।
भवितुं युज्यते नात्र नृगरिम्णोऽनुकूलगम् ।। ४३ ।।
किमिहास्ति समावेश आदर्शित्वस्य कुत्र सः ।
सत्यस्योत्कृष्टतायाश्च त्वसत्यास्ति विवेचनम् ।। ४४ ।।
एतदाश्रित्य कर्तव्यं भवतीह परीक्ष्यताम् ।
तर्कप्रमाणशाणे तदौचित्यं हेम नान्यथा ।। ४५ ।।

टीका–सत्य-असत्य का निर्णय इस आधार पर करना चाहिए कि मानवी गरिमा के अनुरूप क्या है ? आदर्शवादिता का समावेश किसमें है ? सत्यासत्य की विवेचना इसी उत्कृष्टता के आधार पर होनी चाहिए । तर्क और प्रमाण की ऐसी कसौटी बनानी चाहिए, जिससे सत्य रूपी स्वर्ण की सही परीक्षा हो सकना संभव हो ।। ४३-४५ ।।

अर्थ–पिछले प्रतिपादनों में प्रचलित ढर्रे में न बहने की सलाह दी गयी थी । सत्यानुयायी जन-प्रवाह को नहीं, मानवीय गरिमा और आदर्शवादिता के पक्ष में तर्क-तथ्य की कसौटी को प्रयोग करते हैं । सत्य की ही नहीं, सत्य पथ के पथिक की परीक्षा भी इसी कसौटी पर होती है । जन-प्रवाह के वेग में असुविधाओं और यश के आकर्षणों की अग्नि परीक्षा में से सत्य का साधक केवल उत्कृष्ट आदर्शों के पक्ष में निर्णय लेता हुआ अपने खरे होने का प्रमाण देता है ।

गाँधी जी की वकालत

गाँधी जी ने वकालत प्रारंभ की । उन्होंने केवल सही अधिकारों के लिए ही पैरवी करने का फैसला किया । उनके एक मुवक्किल ने उन्हें अपना गलत पक्ष नहीं बतलाया और उन्होंने केस ले लिया । बाद में जब पता लगा, तो कोर्ट में उन्होंने बहस नहीं की, तारीख बढ़ गयी । कोर्ट से लौट कर उन्होंने उस मुवक्किल को उसकी दी हुई फीस वापस कर दी ।

लोगों ने कहा आप फीस ले चुके हैं, अब केस वापस मत कीजिए । वकीलों को थोड़ा-बहुत तो इधर-उधर करना ही पड़ता है । गाँधी जी ने कहा-"लोग क्या करते हैं, वह मेरा आदर्श नहीं, मुझे क्या करना चाहिए, वह मुझे

अच्छी तरह याद है । मैं परंपरा या धन के लोभ में सिद्धांतों को बट्टा नहीं लगाऊँगा ।''

उच्च आदर्श के प्रति इस निष्ठा ने ही उन्हें महात्मा और राष्ट्रपिता का पद दिलाया ।

राणा का कर्तव्य निर्धारण

महाराणा प्रताप ने अकबर से सुलह नहीं की । राजा मानसिंह आदि ने उन्हें समझाया, समय का प्रवाह देखिए । सभी रियासतें अपना अस्तित्व बनाए रखने के लिए शहंशाह से सुलह कर रही हैं । महाराणा ने कहा–''मेरे हिस्से में बापा रावल की परंपरा आयी है । अन्य राजा रईस अपनी परंपरा और ईमान देख कर निर्णय लें । मुझे मेरी परंपरा और अपना ईमान देखकर निर्णय लेना है । मुझे मेरी परंपरा और मेरा अंत:करण राष्ट्रीय गौरव खोकर सुख-सुविधा जुटाने की इजाजत नहीं देता । सुलह की बात समझानी है, तो बादशाह को समझाओ । हमने उसकी इजजत पर आँख नहीं गड़ाई है । अपने सांस्कृतिक गौरव की रक्षा हमारा कर्तव्य है, वही हम कर रहे हैं ।''

महाराणा प्रताप ने आदर्शों की कसोटी पर अपना कर्तव्य निर्धारित किया । जन-प्रवाह की कसौटी पर करते तो इतिहास के मूल्यवान नग न कहलाते ।

तिलक की विदेश यात्रा

लोकमान्य तिलक सनातन धर्म पर पूरी निष्ठा रखते थे । राष्ट्रीय कार्यों के दौरान विदेश जाने की आवश्यकता पड़ी । पुरानी मान्यता के अनुसार ब्राह्मण को समुद्र यात्रा करना वर्जित माना जाता था । पंडितों से राय ली गई । उन्होंने शास्त्र विरुद्ध कहा । पर कुछ खर्च करने पर व्यवस्था बना देने की बात कही ।

लोकमान्य ने सुना और पंडितों की व्यवस्था लिए बिना ही यात्रा करने का निर्णय कर लिया । उन्होंने कहा–''जाने के उद्देश्य को महत्व न देकर पैसा खर्च करने से जो व्यवस्था बनती है, उसे मैं अनैतिक मानता हूँ । धर्म पर मेरी आस्था है और रहेगी । मैं उच्च उद्देश्यों के लिए जा रहा हूँ । उस पुण्य के आगे सामान्य परंपरा का उल्लंघन कोई अधर्म नहीं है ।''

तुलसी ने सत्य अपनाया

उस समय भगवत् कथा संस्कृत में ही लिखने की परंपरा चली आ रही थी । समय की आवश्यकता देखते हुए तुलसी दास जी ने राम कथा हिन्दी में लिखने का निर्णय किया । पंडितों ने घोर जाति बहिष्कार से लेकर प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष यातनाएँ देने तक के प्रयास किए ।

लोगों ने तुलसी को समझाने का प्रयास किया । कहा–''यह सत्य है कि राम कथा संस्कृत में ही लिखी जाती है । मान जाओ क्यों हठ करते हो ?'' तुलसी ने कहा–''यह सत्य है कि अभी तक राम-कथा संस्कृत में लिखी गयी । पर यह भी सत्य है कि अब आम लोग संस्कृत नहीं समझते । उन तक रामचरित्र की प्रेरणा पहुँचाने, उनके कल्याण का रास्ता खोलने के लिए उसे हिन्दी में, लोक भाषा में लिखा जाना आवश्यक है । उस सत्य के साथ मात्र रूढ़िवादिता है । इस सत्य के साथ लोकमंगल का आदर्श है, इसलिए यह सत्य बड़ा है । मैं इसी को अपनाऊँगा ।''

तप से बड़ा सत्य

भगवान महावीर उधर से गुजर रहे थे । रास्ते में किसी एक ग्रामीण ने उनके चरणों पर गिर कर प्रणाम किया उत्तर में अर्हंत ने भी उसके चरणों पर मस्तक टेका ।

ग्रामीण सकपका गया । बोला–''आप तपस्या के भंडार हैं, उस विभूति को मैंने नमन किया; पर मैं तो कुछ भी नहीं हूँ, मेरा नमन किसलिए ?''

अर्हंत ने कहा–''तेरे भीतर जो पवित्र आत्मा है, मैं उसी को देखता हूँ, और नमता हूँ । मेरे तप से तुम्हारा सत्य बड़ा है ।''

माली और इंद्र देवता

तर्क और प्रमाण जब अनौचित्य के पक्ष में प्रस्तुत किए जाते हैं, तो वे अधिक समय तक टिकते नहीं । ठोस आधार न होने से उनकी पोल खुल ही जाती है ।

एक माली ने बगीचा लगाया और उसे हरा-भरा बनाया । एक दिन कोई गाय बगीचे में घुसी और पौधे चर गयी । माली ने क्रोध में उसे ऐसे जोर से लट्ठ मारा कि वहीं चक्कर खाकर गिर पड़ी और ढेर हो गयी ।

गौ हत्या का पाप आया और उसके सामने आकर खड़ा हो गया, बोला–''मैं आ गया और अब तुम्हारा सर्वनाश करूँगा ।''

माली घबराया । बचने का कोई उपाय सोचने लगा–''उसे एक कथा याद आयी । पंडित के मुँह से उसने

सुना था कि मनुष्य के हर एक अंग का मालिक एक देवता है, उसी की शक्ति से अवयव काम करते हैं । उस प्रसंग में हाथ का देवता इन्द्र को बताया गया था । वह स्मरण आते ही माली की चिंता दूर हो गयी ।

गौ-हत्या के पाप से उसने कहा-"भाई, मैंने नहीं इंद्र ने हत्या की है । तुम उसी के पास जाकर दंड दो ।"

पाप चल पड़ा । इंद्रलोक पहुँचा । सारा घटनाक्रम सुनाया और कहा-"जब आपने गौ हत्या की है, तो दंड भी आप ही को भुगतना होगा ।"

इंद्र चकित रह गए । उनने तो वैसा किया नहीं था, फिर माली ने उन पर किस कारण दोष लगाया । वे माली के पास चल पड़े । पाप को कुछ समय प्रतीक्षा करने के लिए मना लिया ।

इंद्र अजनबी का रूप बनाकर उस बगीचे में पहुँचे; सुंदर उद्यान की भरपूर प्रशंसा की और उपस्थित लोगों से पूछा-"वह माली कौन है, जिसने इतनी कुशलता का परिचय दिया; देखने का मन है ।"

माली के कान में भनक पड़ी, तो वह दौड़ गया और विस्तारपूर्वक बताने लगा-"पहले यहाँ जंगल था । उसने इन्हीं हाथों से भूमि उर्बर बनायी । दूर-दूर से पौधे लाया । इन्हीं हाथों से उसे सींचा-सँजोया । यह मेरा ही पुरुषार्थ है और अब मैं इन्हीं हाथों से फल-फूल की फसल बटोरता और कोठे भरता हूँ ।" उसने गर्वपूर्वक हाथ बढ़ाए और अपरिचित को दिखाए ।

अपरिचित के रूप में आए इन्द्र अपने असली स्वरूप में प्रकट हुए और बोले-"जब इन हाथों की कमाई का श्रेय और लाभ आप लेते हैं, तो गौ-हत्या के पाप का दंड क्यों इन्द्र पर लादते हैं । उसे भी आप ही भुगतिये ।"

माली को अपनी जरूरत से ज्यादा समझदारी का दंड अंततः भुगतना ही पड़ा ।

राजहंस इव क्षीरनीरयोर्निश्चयं नरः ।
कुर्याद् यच्च तदुत्कृष्टं गृह्यतां हर्षपूर्वकम् ।। ४६ ।।
उष्णता च प्रकाशश्च यथा सूर्ये गुणावुभौ ।
समन्वयस्तथा सत्ये प्रवृत्योस्तु द्वयोरपि ।। ४७ ।।
यथार्थता च तत्रैका न्यायनिष्ठमिदं तथा ।
दूरदर्शित्वमन्या सा प्रवृत्तितर्मङ्गलोन्मुखी ।। ४८ ।।
समन्वयोऽनयो पूर्णसत्यमत्राभिधीयते ।
यदेकांगगतं तच्चाऽपूर्णमेवाभिमन्यताम् ।। ४९ ।।

टीका-मनुष्य को राजहंस की तरह नीर-क्षीर विवेक करना चाहिए और जो उत्कृष्ट है, उसी को हठपूर्वक ग्रहण करना चाहिए । जिस प्रकार सूर्य में गर्मी और रोशनी दो गुण हैं, उसी प्रकार सत्य में दो प्रवृत्तियों का समन्वय है, एक-यथार्थता, दूसरी-मंगलोन्मुख न्यायनिष्ठ दूरदर्शिता । इन दोनों का समन्वय ही पूर्ण सत्य है, एकांगी तो अधूरा रहता है ।। ४६-४९ ।।

अर्थ-सत्य के एक पक्ष यथार्थ को तो मनुष्य जल्दी पकड़ लेता है । पर दूसरे पक्ष-लोक हितकारी, न्यायनिष्ठा, दूरदर्शिता को कम ही लोग पकड़ पाते हैं । ऋषि कहते हैं कि उसके बिना सत्य अधूरा रह जाता है । दूरदर्शिता ऐसी, जिसमें न्याय और लोकमंगल सधता हो, बड़े प्रयत्न से आती है । उसके लाभ भी बहुत हैं; मानव को महामानव वही बनाती है । परंतु उसके मुकाबले में आकर्षण और भ्रम भी कम नहीं आते । उनसे बचने के लिए उस उत्कृष्ट वृत्ति को हठपूर्वक पकड़ने का सूत्र ऋषि समझा रहे हैं । सभी महापुरुषों ने ऐसा ही किया है । हंसवृत्ति भी यही है ।

सत्य के, उत्कृष्टता के साधक का आदर्श हंस और चातक होता है । हंस इस बात से प्रभावित नहीं होता कि किसने क्या खाया वह तो उत्कृष्टता के मोती चुगता है । वह न मिले तो उसे अभक्ष्य खाने की अपेक्षा लंघन मंजूर होता है । विवेक की दृष्टि से तो उसका नीर। क्षीर विवेक प्रसिद्ध है ही ।

चातक मात्र स्वाति बूँदों का ही पान करता है । हीन रसपान करने की अपेक्षा प्यासा रह जाना पसंद करता है । उत्कृष्टता के साधक ऐसे ही नैष्ठिक होते हैं ।

कबीर डिगे नहीं

संत कबीर अपने शिष्यों से कहा करते कि रोज सबेरे शैतान आकर मुझसे प्रश्न करता है–"आज तू क्या खायेगा ?" मैं जबाव देता हूँ–"मिट्टी खाऊँगा ।" वह पूछता है–"क्या पहनेगा ?" मैं जवाब देता हूँ–"मुर्दे का कपड़ा ।" वह फिर पूछता है–"रहेगा कहाँ ?" मैं जवाब देता हूँ–"श्मशान में ।"

मेरे ये उत्तर सुनकर शैतान मुझे अभागा बताकर चल देता है । क्योंकि मैं उन सभी चीजों से अनिच्छा प्रकट करता हूँ जिनमें वह संसार के प्राणियों को फँसाकर मनुष्य से राक्षस बना देता है । इसी से उसका वश नहीं चलता ।

गाँधी जी को अनुत्तीर्ण होना मंजूर

गाँधी जी बचपन में कोई प्रखर बुद्धि विद्यार्थी न थे । पर उन्हें आचरण में सच्चाई और चरित्र का सबसे अधिक ध्यान रहता था ।

एक बार स्कूल इन्स्पेक्टर मुआयने के लिए आए । गाँधी जी की कक्षा की परीक्षा हुई । उसमें पाँच शब्दों की स्पेलिंग लिखने को दी गई । गाँधी जी ने उसमें से एक गलत लिख दी । कक्षा अध्यापक ने इशारा किया आगे वाले विद्यार्थी की नकल कर लो पर गाँधी जी ने नकल नहीं की ।

परीक्षा में सब उत्तीर्ण हुए, केवल गाँधी जी अनुत्तीर्ण रहे । इन्स्पेक्टर चला गया, तो मास्टर ने गाँधी जी को डाँट लगायी । गाँधी जी ने उत्तर दिया–"मास्टर साहब ! दूसरे की नकल करके पास होने की अपेक्षा, अपनी बुद्धि से अनुत्तीर्ण होना अच्छा । झूठी सफलता के लिए अपनी आत्मा की सच्चाई को बेचकर आत्महीनता का दुःख उठाना मेरे लिए संभव नहीं ।" गाँधी जी के इस कथन पर अध्यापक उनकी अल्पायु में नैतिकता की अडिग आस्था के लिए आश्चर्यचकित रह गए ।

टंडन जी का मोटा अनाज

उन दिनों राशन का कड़ा नियंत्रण था । राशन कार्ड पर सीमित गेहूँ मिलता था । उतने राशन से काम न चलता । फलतः वे ज्वार, बाजरा जैसे खुले बाजार में मिलने वाले सस्ते अनाज लेकर काम चलाते ।

एक बार कई बड़े नेता और अफसर उनके मेहमान थे । सभी को ज्वार–बाजरे की रोटी परोसी गई । उन्हें चकित देखकर टंडन जी ने स्वयं कहा–"काला बाजारी का अनैतिक तरीका अपनाकर आप लोगों को वहाँ का गेहूँ खिलाने की अपेक्षा ईमानदारी ने यही सुझाया, जो अनभ्यस्त भोजन के रूप में आपके सामने है ।"

सच्चे देशभक्त प्रफुल्ल चंद्र राय

स्वाभिमान, विद्वत्ता, प्रतिभा, उदारता और समर्पण के समन्वय का नाम है–प्रफुल्लचंद्र राय । वे इंग्लैंड से उच्च शिक्षा लेकर लौटे । आते ही अध्यापन और अपने छात्रों को आदर्श बनाने में लग गए । उनका वेतन एक हजार से ऊपर था पर उसमें से निजी खर्च के लिए अस्सी रुपया ही लेते थे । शेष निर्धन छात्रों की सहायता में लगाते थे । उन्होंने विवाह नहीं किया । इससे खर्च बढ़ेगा और छात्रों के साथ जितना समय लगाना पड़ता है, उतना लगा न सकेंगे ।

उन्होंने भारतीय औषधि शास्त्र का गहरा अध्ययन करने के उपरांत बंगाल केमिकल्स की स्थापना की । प्रामाणिक औषधियों की माँग चरम सीमा तक हुई और कंपनी अच्छे मुनाफे में चलने लगी । एक बार उनके मैनेजर ने एक दवा नकली बना दी । उनने लाखों का घाटा सहकर उसे गंगा में बहा दिया । उनकी इस न्याय निष्ठा ने उनकी औषधियों की प्रामाणिकता तो बढ़ा ही दी, विदेशियों की निगाह में भारतीय चरित्र भी ऊँचा उठा ।

कौण्डिन्य उवाच–

कृपालो मानवे पूर्णं सत्यं प्राप्तुं सदैव सा ।
समीहा विद्यतेऽथापित शक्तिः पूर्णा च विद्यते ॥५०॥
तथापित विकलं सत्यं कथमादाय तिष्ठति ।
भवेद् विडम्बनायाश्च कथं मुक्तिरिदं वद ॥५१॥

टीका–कौण्डिन्य ने कहा–हे कृपालु ! मनुष्य में पूर्ण सत्य प्राप्त करने की चाह भी है और सामर्थ्य भी, फिर भी वह एकांगी सत्य में उलझकर क्यों रह जाता है ? इस विडंबना से मुक्ति कैसे मिले ? कृपया यह रहस्य स्पष्ट करें ॥ ५०–५१ ॥

अर्थ–किसी भी उपलब्धि के लिए इच्छा सामर्थ्य–यह दो महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं । मनुष्य में यह दोनों होते हुए भी उसे अभीष्ट उपलब्धि क्यों नहीं होती, यह रहस्य कौण्डिन्य जी जानना एवं इस

प्रतिपादन से अन्य उपस्थित साधकों को लाभान्वित कराना चाहते हैं ।

मनुष्य पूर्णता चाहता है, इसका प्रमाण हर कदम पर मिलता है । उसे उसके बिना संतोष नहीं मिलता । चाहे विज्ञान के माध्यम से हो, चाहे दर्शन के माध्यम से, वह सृष्टि के रहस्य स्पष्ट करने पर तुला रहता है ।

सामर्थ्य में मनुष्य की समता कोई प्राणी नहीं कर सकता, यह सर्वमान्य है । रामचरित मानस में लिखा है–

नर तन सम नहिं कवनिउ देही । जीव चराचर जाँचत जेही ।।

शास्त्रों के अनुसार देवता भी मनुष्य शरीर में इसलिए आना चाहते हैं, कि सत्य की जिस गहराई तक जाने की सामर्थ्य मनुष्य में है, वह किसी अन्य देहधारी में नहीं ।

एक रोचक प्रसंग मिलता है । सिकंदर ने सिंध के ब्राह्मणों से कुछ बेढब प्रश्न पूछे थे । उद्देश्य था उनकी मानसिक क्षमता की परीक्षा लेना । उसमें एक प्रश्न था–"सबसे बुद्धिमान जीव कौन है ?" विद्वान ने उत्तर दिया–"वह जो मनुष्य की निगाह से बचा है ।"

भाव यह था, कि जितने भी जीव मनुष्य की निगाह में आये, उसने सभी को अपने नियंत्रण में ले लिया । उसके नियंत्रण के बाहर वही रह सकता है, जो उसकी निगाह से बच जाय । अर्थात् मनुष्य की सामर्थ्य का कोई मुकाबला नहीं ।

पुराणों में अनेक प्रसंग आते हैं जब देवताओं में शर्त लगी, मनुष्य की परीक्षा ली गयी । लंबे से लंबे संघर्ष के बाद मनुष्य ने अपनी श्रेष्ठता सिद्ध की और देवताओं ने उनकी सराहना की, अभिनंदन किया । देव शक्तियाँ भी मनुष्य की सामर्थ्य के सामने नतमस्तक होती रही हैं ।

ऐसा मनुष्य एकांगी सत्य में ही फँस कर क्यों रह जाता है-यहाँ पर यही जिज्ञासा ऋषि द्वारा व्यक्त की गयी है ।

आश्वलायन उवाच–

सत्यं नारायणः साक्षादसीमश्चाऽपि विद्यते ।
सीमिता च मनुष्याणां बुद्धिराग्रहिणी लघुः ।।५२।।
अंशो ज्ञातस्तया नूनमेक एवाधुनाऽपि च ।
शेषं ज्ञेयं च यत्तत्तु विद्यतेऽत्यधिकं ततः ।।५३।।
मनुष्यः सत्यसम्प्राप्त्यै क्रमशोऽभ्यक्रमीदिह ।
साफल्यमंशतश्चाऽपि तत्र सोऽध्यगमत्तथा ।।५४।।
अपर्याप्तानि मन्तुंच ज्ञानानि स्वस्यतानि वा ।
पूर्वजानां स्वकानां न लघुतावहमस्ति तु ।।५५।।

टीका–आश्वलायन जी बोले–सत्य ही नारायण है । नारायण असीम है और मानवी बुद्धि सीमित है, वह विविध आग्रहों से और भी छोटी हो गयी है । उसने अब तक सत्य का एक अंश ही जाना है, जो जानना शेष है,वह कहीं अधिक है । मनुष्य क्रमशः सत्य की प्राप्ति के लिए क्रमिक यात्रा करता रहा है और आंशिक सफलता प्राप्त करता रहा है । पिछली जानकारियों को अपर्याप्त मानने में अपनी या पूर्वजों की कोई हेठी नहीं है ।। ५२–५५।।

अर्थ–मनुष्य अपने क्षेत्र में समग्र है; किन्तु विराट् के स्तर पर बहुत ही सीमित । वह किसी न किसी काल और क्षेत्र में बँधा रहता है, इसलिए उसी परिधि के सत्य समझ सकता है । वह भी तब, जब दिमाग को खुला रखा हो । उसे यदि आग्रहों के दायरे में सीमित रख छोड़ा है, तो अपने काल और क्षेत्र के अनुरूप भी सत्य को पकड़ नहीं पाता ।

प्रत्येक पीढ़ी की अपनी काल-परिधि होती है । उस परिधि से बाहर निकलने पर सत्य के नये आयाम सामने आते हैं । जिनके सामने वह आयाम नहीं आये, उन्होंने उसे मान्यता नहीं दी, तो कोई दोष

नहीं हुआ । परंतु पूर्व जानकारी को सब कुछ मान लेने पर नये आयामों की अपेक्षा होती है, तो वह दोष है ।

ऋषियों ने कहा--नेति-नेति

ऋषियों ने अपनी दिव्य चेतना से महत् चेतना की गहराइयों में जाकर बड़े दुर्लभ तत्व उद्घाटित किए हैं । उन्हें श्रुतियों, स्मृतियों में संग्रहीत भी किया । किन्तु इन सबके बाद कह दिया--"नेति-नेति" अर्थात् यही समाप्ति नहीं है । भारतीय संस्कृति की इस विशेषता ने उसे ज्ञान-विज्ञान में सर्वोपरि बनाया था ।

न्यूटन--एक बालक

सर आइजक न्यूटन वर्तमान भौतिक विज्ञान के जनक कहे जाते हैं । उन्होंने चमत्कारी वैज्ञानिक अनुसंधान किए । उनके प्रशंसकों ने उनसे कहा कि आप तो विज्ञान की तह तक पहुँचे गए हैं । इस पर न्यूटन बोले--"विज्ञान एक महान सागर है, मैं अभी बालक की तरह उसके किनारे के पत्थर मात्र चुन सका हूँ । उसमें प्रवेश और तह तक जाना, उसमें से मूल्यवान रत्न निकालना तो बहुत आगे की बात है ।"

उनके इस कथन से उनकी गरिमा नहीं घटती । उनके समय की अपेक्षा विज्ञान आज अनेक गुना आगे बढ़ चुका है । हर नई जानकारी पिछली जानकारियों को नाकाफी और सीमित सिद्ध करती है । किन्तु उससे पिछले सिद्धांत खोजने वालों की महानता में कोई कमी नहीं आती ।

डाल्टन के रासायनिक नियम

आधुनिक रसायन विज्ञान डाल्टन की देन है । उन्होंने रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कुछ नियम बनाये, जिनके आधार पर रसायन शास्त्र ने ढेरों उपलब्धियाँ प्राप्त कीं । कालांतर में डाल्टन के सिद्धांत एक सीमा तक ही सही पाये गए । आगे की शोधों से तो लगा कि रसायन विज्ञान उन नियमों की परिधि से भी बाहर कार्य करता है । इस सत्य के उद्घाटन को डाल्टन के अनुयाइयों ने नकारा नहीं, उसे मान्यता दी और आगे बढ़े । पर उससे डाल्टन की महत्ता जरा भी नहीं घटी । आज भी रसायन शास्त्र का प्रारंभ उन्हीं के सूत्रों से होता है ।

स्मृतियों में भिन्नता

भारतीय संस्कृति के अनुरूप जीवन चर्या के लिए आचार संहिता के रूप में स्मृतियाँ लिखी गईं । उनका पालन किया गया । किन्तु समय की आवश्यकता को देखते हुए नई स्मृतियाँ लिखी जाती रहीं । उनसे बदली हुई परिस्थितियों में लोगों को अनुकूल दिशा तो मिली, पर पिछली स्मृतियाँ लिखने वालों के सम्मान में कोई कमी नहीं आई ।

निर्भ्रांत केवल ईश्वर

डॉ० सेमुएल जानसन का अंग्रेजी शब्दकोश प्रख्यात है । उसे उन्होंने भारी परिश्रम से वर्षों में लिखा था । साहित्य जगत में उन्हें उच्चस्तरीय प्रतिष्ठा प्राप्त थी ।

कोश में एक शब्द की परिभाषा एक महिला को खटकी । अधिक विचार करने पर उसने उसे वस्तुतः गलत पाया । अपनी बात जानसन तक पहुँचाने में विवाद खड़ा होने का भय था, सो उसने उनसे मिलना ही उचित समझा । समय माँग कर उनसे मिलने जा भी पहुँची ।

जानसन ने उसकी बात ध्यानपूर्वक सुनी और भूल बताने के लिए कृतज्ञता व्यक्त की । तत्काल सुधार देने का आश्वासन देते हुए उनने इतना ही कहा--"निर्भ्रान्त तो केवल ईश्वर है । मनुष्य से जाने-अनजाने में जो गलतियाँ होती रहती हैं, उन्हें बताया और सुधारा जाना ही उचित है ।"

तुलसी बनाम वाल्मीकि

संत तुलसी ने 'रामचरित मानस' लिखा । उसमें 'वाल्मीक रामायण' की अपेक्षा रामचरित्र के अनेक नये आयाम प्रकट किये गए । इस प्रयोग को स्वीकार कर लेने से आदि कवि वाल्मीकि के गौरव में कोई कमी नहीं आई ।

इसलिए पूर्वजों के सम्मान में कमी आने के भय से नये उद्घाटित सत्यों की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए ।

बाल्ये वस्त्राणि यान्येष परिधत्ते शिशुः सदा ।
तानि प्रौढे न गृह्णाति कोऽपि काले विनिर्गते ।।५६।।
देशकालानुरूपेण यदीत्थं ताः परम्पराः ।
स्वीकृता भिन्नरूपेण तत्र नो विग्रहादिकम् ।।५७।।
विद्यते, सर्व एवैते धर्मात्मानो विदन्तु तत् ।
तथ्यं गृह्णन्तु सत्यं च विवेकं हितमात्मनः ।।५८।।

टीका—बालकपन में जो वस्त्र पहने जाते हैं, समय बीत जाने पर प्रौढ़ावस्था में उन्हें कोई नहीं पहनता । इस प्रकार यदि देश, काल के अनुरूप परंपराएँ भिन्न प्रकार से अपनाई गई हों, तो उसमें विग्रह जैसी कोई बात नहीं है । सभी धर्मप्रेमियों को तथ्य समझना और सत्य तथा विवेक को अपनाना ही उचित है; चूँकि इसमें उनका अपना भी कल्याण है ॥ ५६-५८॥

अर्थ—परंपरा की भिन्नता का प्रश्न सामने आने पर बहुधा विग्रह उठ जाते हैं । एक परंपरा का अभ्यस्त व्यक्ति दूसरी परंपरा वाले को हीन भाव से देखने का प्रयास करता है । परंतु सत्य और विवेक को देखना चाहिए कि किन्हीं परिस्थिति विशेष में कोई खास परंपरा उचित रही । जितने अंशों में परिस्थितियाँ बदलीं, उतने अंशों में परंपराओं में परिशोधन कर लेने में न किसी धर्म का उल्लंघन होता है और न किसी निष्ठा का हनन होता है । इससे तो औचित्य को परिपोषण मिलता और विकासक्रम आगे बढ़ता है ।

वस्त्रों की परिपाटी वस्त्र शालीनता की रक्षा तथा शरीर की सुरक्षा के लिए पहने जाते हैं । भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में शालीनता की मान्यता और जलवायु के स्तर के अनुरूप वस्त्रों का निर्धारण होता है । गर्म क्षेत्र में रहने वाला व्यक्ति शीत क्षेत्र में अथवा शीत क्षेत्र का व्यक्ति गर्म क्षेत्र में अपनी परंपरागत पोशाक पहनने का आग्रह करेगा, तो हानि ही होगी । इसी प्रकार आयु बढ़ने या शरीर की मोटाई में अंतर आने पर वस्त्रों का आकार-प्रकार बदलना पड़ता है ।

राष्ट्रीयता की कसौटी महाराजा शिवाजी के समय पैदा हुए व्यक्ति के लिए राष्ट्र सेवा की कसौटी थी, उनकी घुड़सवार सेना का अंग बनना, गुरिल्ला युद्ध का अभ्यास करना आदि ।

वही स्वतंत्रता संग्राम क्रांतिकारियों ने भी लड़ा । परंतु उस समय संगठित प्रदर्शन, अवज्ञा आंदोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार आदि उसके अंग बने ।

स्वतंत्र भारत में राष्ट्रीय चेतना के नाम पर ऊपर के दोनों ही क्रम अब नहीं अपनाये जा सकते । अब तो वर्ग भेद मिटाने, सहयोग-सहकार की उदार प्रवृत्तियाँ बढ़ाने, कुरीति उन्मूलन, शिक्षा विस्तार, उद्योगों का विकास आदि कार्यक्रमों के लिए नये आधार खड़े करने हैं । 'राष्ट्रीय गौरव की वृद्धि' यह एक ही धर्म तब से अब तक रहा; पर उसके निर्वाह के क्रमों में जमीन-आसमान का अंतर आ गया । इसी से एक समय का राष्ट्र सेवी दूसरे समय के राष्ट्र सेवी का मखौल नहीं उड़ाता ।

अर्थ नीति के अंतर विभिन्न देशों ने अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के विभिन्न क्रम अपना रखे हैं । जापान मशीनी औद्योगीकरण के माध्यम से, अरब देश पेट्रोलियम उद्योग के माध्यम से, डेनमार्क डेयरी उद्योग से अपने देश की उन्नति में लगे हुए हैं । स्वीडन घड़ी उद्योग में सर्वोपरि रहा है आदि ।

एक देश का अर्थशास्त्री दूसरे देश के अर्थशास्त्री को मूर्ख इस आधार पर नहीं मानता कि उसने हमारे ढंग से क्यों नहीं सोचा । वही अर्थशास्त्री दूसरे देश में होता, तो वह भी परिस्थितियों के आधार पर उसी ढंग से सोचता, वही सूत्र अपनाता ।

यह सभी अंतर परिस्थितियों के, क्षेत्र के कारण हैं । अपनी-अपनी जगह सभी ठीक हैं । धर्म परंपराओं में भी इसी आधार पर संशोधन करने की उदार एवं विवेकनिष्ठ दृष्टि बनानी चाहिए । इसी में मानव का कल्याण निहित है ।"

वार्ता काऽपि चचालायमितिहासो नृणां क्रमात् ।
अस्मादेव न चाऽन्योऽस्ति पन्था विज्ञात उत्तमः ॥ ५९॥
प्राप्तज्ञानस्य लाभं च विन्दन्तोऽतो यदस्ति च ।
अज्ञातं ज्ञातमेवादः प्रयासोऽपि विधीयताम् ॥ ६०॥
इतिहासं च सम्मान्य भविष्यन्निर्मितिस्तथा ।
निर्धारणस्य हेतोश्चाऽपिहिता बुद्धिरिष्यते ॥ ६१॥
तत्वज्ञानस्य सिद्धान्तस्त्वयमेव हि विद्यते ।
आधारमिममाश्रित्य विज्ञानं जृम्भितं स्वयम् ॥ ६२॥

यथास्थानं स्वपादौ च स्थिरौ यैर्विहितौ नरैः ।
प्रगतेः पथि यातुं च शक्यं नाग्रहिभिस्तु तैः ॥६३॥

टीका–मानवी प्रगति का इतिहास क्रम से चला है और इससे भिन्न कोई उत्तम मार्ग विदित भी नहीं है । अतः उपलब्ध जानकारी का लाभ उठाते हुए भी जो अविज्ञात है, उसे समझने का प्रयास करें । इतिहास का सम्मान करते हुए भी भविष्य में निर्माण एवं निर्धारण के लिए मस्तिष्क खुला रहे । तत्वज्ञान का सिद्धांत यही है । विज्ञान इसी आधार पर विकसित हुआ है । पैरों को यथास्थान जमाये रखने के आग्रही प्रगति पथ पर अग्रसर नहीं हो सकते ॥ ५९–६३॥

अर्थ–व्यवधान या विघ्न-बाधा उपस्थित होने पर भी अपने उद्देश्य से विचलित न होना दृढ़ता का प्रमाण है । परंतु अपनी दृढ़ता सिद्ध करने के प्रयास में व्यक्ति प्रगति ही न करे, यह कोई समझदारी नहीं हुई । विचारों की दृढ़ता और बात है तथा विचारों की जड़ता उससे भिन्न है । जड़ता अपने से भिन्न कुछ सुनना नहीं चाहती, दृढ़ता बिना विवेक की कसौटी पर कसे किसी भी बात को यों ही स्वीकार नहीं कर लेती ।

प्रस्तुत जानकारी का लाभ उठाते हुए जानकारी बढ़ाते चलने के क्रम से ही तत्व ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता सभी का विकास हुआ है । इस क्रम को रुकने नहीं देना चाहिए । प्रत्येक फैक्ट्री सफल उत्पादन के साथ उसमें नये सुधारों पर शोध करती रहती है । नयी दृष्टि देने वालों को यह कहकर अपमानित नहीं किया जाता कि तुम पिछले उत्पादन का महत्व घटा रहे हो । बल्कि प्रोत्साहन देकर अपने उत्पादन का स्तर बढ़ाया जाता है ।

राम-लक्ष्मण का कौशल विश्वामित्र जी ने यज्ञ रक्षा के लिए दशरथ जी से राम-लक्ष्मण को माँगा । निश्चित रूप से वे वीर बालक राक्षसों को परास्त करने में समर्थ थे, अन्यथा न तो ऋषि माँगते और न दशरथ देना चाहते । परंतु राम-लक्ष्मण ने अपना विकास रोका नहीं । अपनी वर्तमान क्षमता से असुरों को परास्त करते रहे और ऋषियों से नयी विद्याएँ सीखते रहे । इसका परिणाम यह हुआ कि असुर तत्व हर प्रयास के बाद भी उनसे पार न पा सके ।

अर्जुन की प्रगति राजकुमारों के परीक्षण में अर्जुन को सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर घोषित किया गया था । उस विद्या का उपयोग करते हुए भी उन्होंने कौशल की खोज और अभ्यास का क्रम जारी रखा था । बारह वर्ष वनवास काल में अनेक सिद्ध अस्त्र और सिद्ध विद्याएँ उन्होंने प्राप्त कीं । इसीलिए अजेय कहलाने की अक्षय कीर्ति के भागीदार बने ।

परिस्थितियों के अनुसार अपना दृष्टिकोण बनायें हेरी मार्टिन अमेरिका के उस विचारशील का नाम है, जो अमेरिकी छात्रों को दुनियाँ देखने और दुनिया भर के छात्रों को औसत अमेरिका का जीवन देखने का प्रबंध करते हैं । आमतौर से पर्यटक किसी देश की इमारतें या अचंभे की चीजें देखने जाते हैं; पर मार्टिन का प्रबंध यह है कि विश्व के औसत नागरिकों की परिस्थितियाँ विद्यार्थी देखें और उसके अनुसार अपना दृष्टिकोण बनायें कि आज की दुनियाँ क्या है और उसके संबंध में उन्हें क्या सीखना और क्या निश्चय करना चाहिए । मार्टिन के प्रबंध में इस प्रकार के पर्यवेक्षण का लाभ प्रायः एक लाख विद्यार्थी उठा चुके हैं । वे इस प्रयास को विश्व बंधुत्व की भावना पनपाने के लिए उपयोगी मानते हैं । ज्ञान वृद्धि के परंपरागत क्रम से यह नया क्रम अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है ।

गलतियाँ सुधारने का क्रम चलायें एक अनगढ़ व्यक्ति दार्शनिक अरस्तू के पास पहुँचा और ब्रह्म ज्ञान की दीक्षा माँगने लगा । सिर से पैर तक दृष्टि डालने के बाद उन्होंने सिखावन दी–"नित्य कपड़े धोना और बाल संभालना आरंभ करो । गलतियाँ सुधारते चलने का सिलसिला ही साधना कहलाता और परमात्मा तक पहुँचाता है ।"

सुभाष ऐसे महामानव बने सुभाष बोस बच्चे ही थे । माँ की बगल में से उठकर जमीन पर जा सोये । माँ के पूछने पर उनने बताया–"आज अध्यापक कह रहे थे कि हमारे पूर्वज ऋषि-मुनि थे । जमीन पर सोते और कठोर जीवन जीते थे । मैं भी ऋषि बनूँगा, सो कठोर जीवन का अभ्यास कर रहा हूँ ।"

पिताजी जग गए । उनने कहा–"जमीन पर सोना ही पर्याप्त नहीं । ज्ञान संचय और सेवा संलग्न होना भी आवश्यक है । अभी तुम माँ के पास सो जाओ, बड़े होने पर तीनों काम करना ।"

सुभाष ने अध्यापक की ही नहीं पिता की बात भी गिरह बाँध ली । आई० सी० एस० पास करके जब अफसर बनने की बात सामने आई तो उनने कहा–मैं जीवन का लक्ष्य निश्चित कर चुका हूँ । मातृभूमि की सेवा करूँगा और महान बनूँगा ।" बचपन का निश्चय उन्होंने मरण पर्यंत निबाहा । ऐसे होते हैं महामानव ।

अंधों के पीछे न चलें

एक व्यक्ति की नाक कट गई । उसने उपहास से बचने और साथ रहने के लिए औरों को भी वैसा ही बना लेने का कुचक्र रचा । लोगों से कहना शुरू किया–"नाक की आड़ में भगवान छिपे थे, उसके कट जाने पर उनके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं ।" बात पर विश्वास करके कई अन्यों ने भी नाक कटवा ली । दर्शन तो किसी को न हुए; पर उपहास से बचने के लिए वे भी झूठ-मूठ वैसा ही कहने लगे । धीरे-धीरे एक बड़ा नकटा सम्प्रदाय बन गया ।

बात राजा तक पहुँची । वह भी नाक कटाने को तैयार हो गया । बूढ़े मंत्री ने रोका और कहा–"पहले मैं कटा लेता हूँ । यदि बात सच हो तब बाद में आप कटाना ।" वैसा ही हुआ । मंत्री को भी सम्प्रदाय वालों ने वही पट्टी पढ़ाई, तो उसने इन्कार कर दिया । राजा ने वस्तुस्थिति जानी, तो उन बहकाने वालों को पकड़ कर कठोर दंड दिया ।

इन दिनों अंधों के पीछे चलने वाले अंधों की कमी नहीं, जो एक-एक करके जाल में फसते और गर्त में गिरते जाते हैं ।

इन्द्र-विरोचन

इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास जीवन का मार्ग समझने की जिज्ञासा लेकर एक साथ पहुँचे । प्रजापति ने सूत्र कहा–"शरीर को समझो ।"

दैत्य विरोचन ने मान लिया यही अंतिम सत्य है । अपने परिजनों को भी यही बताया कि शरीर को समझो, सम्भालो, बढ़ाओ इसी में जीवन की सार्थकता है ।

इंद्र ने जिज्ञासु भाव बनाये रखा । शरीर का अध्ययन करते हुए प्राण का आभास हुआ, तो पुनः प्रजापति के पास पहुँचे । उन्होंने पुनः सूत्र दिया । यही क्रम चलता रहा । इंद्र क्रमशः शरीर के अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय कोशों का रहस्य समझते हुए पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके ।

प्रगति हो तो कैसे ?

एक लकड़ी पानी के किनारे पड़ी थी । उसे तीन जानवर खींच रहे थे । मछली नीचे ले जाना चाहती थी । बतख ऊपर उड़ा ले जाने की फिकर में थी । कछुआ जमीन पर घसीट रहा था । तीनों पूरा जोर लगा रहे थे । पर वह जहाँ की तहाँ रही । एक इंच भी आगे न बढ़ सकी ।

मन, बुद्धि और चित्त जीवन की गाड़ी को अपनी अपनी-अपनी दिशा में ले जाना चाहते हैं पर लक्ष्य एक न होने के कारण जीवन जहाँ का तहाँ ही बना रहता है, प्रगति जरा भी नहीं हो पाती ।

यही बात जीवन के हर पहलू पर लागू होती है । प्रगति हेतु दिमाग खाली रखना, अविज्ञात को जानने का प्रयास करना, पूर्वाग्रहों से बचना एवं हर प्रयास को बिना निराश हुए खाली न जाने देना अनिवार्य है ।

मन्तव्यं धर्ममूलं च सत्यमेवासुमप्यतः ।
अतिरिक्ताश्च भिन्नास्ता ज्ञातुं वाञ्छाऽस्तु मान्यताः ।। ६४।।
औचित्यस्य यथार्थस्य दिशायामभियातृभिः ।
निष्पक्षस्याधिगन्तव्यो न्यायस्याश्रय उत्तमैः ।। ६५।।
ज्ञानं चेदृशमेवात्र मनुष्यं सत्यमार्गणे ।
करोत्यग्रेसरं येन पूर्णलक्ष्यासिसम्भवः ।। ६६।।
पुरुषा आग्रहिणः स्वं च सीमाबन्धनमेव तु ।
सर्वस्वं मन्यमाना हि भजन्ते हि दुराग्रहम् ।। ६७।।
दूरं सत्यात्समग्राच्च तिष्ठन्त्येव निरन्तरम् ।
विवेकालम्बनं तस्मात्सत्याप्त्यै ध्रुवमिष्यते ।। ६८।।

टीका–धर्म के मूल स्वरूप को सत्य माना जाय । इसके अतिरिक्त अन्यान्य मान्यताओं के संबंध में अधिक जानने की इच्छा रखी जाय । औचित्य और यथार्थ की दिशा में बढ़ते हुए उत्तम पुरुषों के द्वारा निष्पक्ष न्याय का आश्रय लिया जाय । ऐसा विवेक ही मनुष्य को सत्य की खोज में अग्रसर करता है । पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँच सकना इसी प्रकार संभव हो पाता है । आग्रही अपने सीमा बंधन को ही सब कुछ मानकर उसका हठ करते हैं और समग्र सत्य से दूर ही बने रहते हैं । इसलिए विवेक का अवलंबन सत्य की प्राप्ति के लिए अनिवार्य माना गया है ॥ ६४–६८॥

अर्थ–वेदांत का प्रथम सूत्र है–"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" अब ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं । जिज्ञासा, नया जानने की इच्छा प्रत्येक प्रगति का आधार रही है । विवेकवान जानने योग्य की खोज और वरण का क्रम सतत् बनाये रखते हैं ।

शुकदेव गए जनक के पास

शुकदेव जी को व्यास जी ने ब्रह्मज्ञान में प्रवीण बना दिया था । फिर भी उन्हें राजर्षि जनक के पास भेजा । उनका मत था मैं जिन सूत्रों का प्रत्यक्षीकरण आरण्यकों के वातावरण में कर रहा हूँ, जनक उन्हीं के प्रत्यक्षीकरण सांसारिक उत्तरदायित्वों के बीच कर रहे हैं । उस पक्ष को समझे बिना शुकदेव के ज्ञान में वह समग्रता न आ सकेगी, जो आनी चाहिए । इसलिए शुकदेव को यह कहकर जनक जी के पास भेजा कि जब वे आज्ञा दें, तभी लौटना ।

भरत की औचित्य साधना

पिता दशरथ भरत को राज्य देने की घोषणा करके स्वर्गवासी हुए । भरत ने न्याय औचित्य की कसौटी पर उस सारे प्रकरण को कसा । सभी सभासदों और ऋषियों के बीच अपनी मनोभूमि रखी । सत्पुरुषों के साथ परामर्श से ही यह निर्णय हुआ कि राम को लौटाने जाया जाय । सब मिलकर चित्रकूट में राम के पास पहुँचे । वहाँ राम ने अपना मत भी सामने रखा । किसी ने किसी प्रकार पूर्वाग्रह नहीं रखा, केवल औचित्य निर्वाह पर ही ध्यान केन्द्रित रखा । वहाँ निर्णय बदल गया । भरत ने भी उसे स्वीकार किया । खड़ाऊँ लेकर उनके साहरे १४ वर्ष अपना कर्तव्य पूरा किया और समय आने पर राम की अमानत राम को सौंप दी । किसी प्रकार का पूर्वाग्रह रखने वाले ऐसे उत्कृष्ट आदर्श की स्थापना नहीं कर सकते थे ।

कृष्ण भी रोये

एक बार एक ब्राह्मण, युधिष्ठिर तथा श्रीकृष्ण जी तीनों बैठे चुपचाप आँसू बहा रहे थे । इतने में अर्जुन आ गए, उनने तीनों के इस प्रकार रोने का कारण पूछा, तो सबके मन को जानने वाले श्रीकृष्ण जी ने उस मूक प्रसंग का कारण बताते हुए कहा–"आज युधिष्ठिर ने इस ब्राह्मण को निमंत्रण दिया था ।" ब्राह्मण संकोचवश उस निमंत्रण को अस्वीकार भी नहीं कर पा रहा है और मन ही मन दुःखी भी है; कि राजा का कुधान्य खाकर मुझे अपना तप क्षीण करना पड़ेगा । युधिष्ठिर भी ब्राह्मण के मन की जानते हैं और इस कारण दुःखी हैं कि यदि मैं अपने हाथ-पैर से सात्विक अन्न कमाकर ब्राह्मण को खिला सका होता, तो कैसा अच्छा होता । मैं इसलिए दुःखी हूँ कि आज तो खाने वाले ब्राह्मण में यह विवेक है कि किसके यहाँ खाऊँ, किसका न खाऊँ तथा यजमान में यह विवेक मौजूद है कि पुण्य केवल सात्विक कमाई के पैसे से ही होता है । आगे जाकर दोनों में से यह विवेक चला जायगा और खाने के लिए ब्राह्मण अभक्ष्य के लिए भी दौड़ेंगे और खिलाने वाले अनीति उपार्जित धन से भी पुण्य की आशा करेंगे । मैं उसी बुरे भविष्य की कल्पना करके दुःखी हो रहा हूँ ।"

धर्म के मूल तत्व को बनाये रखने की ऐसी प्रबल इच्छा ही धर्म को विनष्ट होने से बचाकर रख सकती है ।

संत की पैनी दृष्टि

संत ने खुशबूदार फूल देखा, तो उसे सूँघने की इच्छा से बार-बार उसके नजदीक जाने लगे । एक मनचला बच्चा आया और कितने ही फूल तोड़कर झोली में भर ले चला । माली ने संत को बुरा-भला कहा और बच्चे की ओर मुस्कराते हुए उसे जाने दिया ।

माली के इस दुहरे व्यवहार पर संत ने शिकायत की । माली ने कहा–"आप समझदार हैं और यह नासमझ बच्चा । आपसे विवेक की अपेक्षा है एवं बालक से अनुकरण की । दोनों से दो तरह की आशा की जाती है । व्यवहार का कारण आप समझ गए होंगे ।"

झोलियों की अदला-बदली

ब्रह्म जी ने प्राणियों को बनाकर उनकी इच्छा पूछी । मनुष्य ने कहा–"मैं बुद्धिमान तो बहुत हूँ पर चाहता हूँ और भी आगे बढ़ूँ और ऐसा रहूँ, जिसकी समता और कोई न कर सके ।"

ब्रह्मा जी ने उसे दो झोलियाँ दीं और कहा–"इन्हें गले में लटकाये रहना । दूसरों की विशेषताएँ ढूँढ़ना और उन्हें आगे वाली झोली में भरते जाना, अपनी विशेषताओं पर ध्यान न देना, उन्हें दृष्टि से ओझल पीछे की झोली में रखना । तुम्हारी बुद्धिमत्ता बढ़ती चलेगी ।"

मनुष्य प्रसन्न हो गया; पर झोलियों के आगे–पीछे वाला निर्देश भूल गया । उसने आगे की पीछे, पीछे की आगे लटका ली । फलतः अपने गुणों को बखानता और दूसरों से कुछ भी न सीखता ।

वह बुद्धिमान तो रहा, पर मात्र अपनी दृष्टि में । दूसरों ने उसे मूर्ख ही ठहराया । यह गड़बड़ झोलियों की अदला–बदली के कारण हो गई ।

जो विवेकवान यह क्रम ठीक कर लेता है, दैवी वरदान का लाभ पाता है ।

अरोचतेदं सर्वेभ्यो विवेचनमिहाद्भुतम् ।
भ्रान्तेभ्यो विकृतारीतीः प्रति चाग्रहिणस्तु यो ।। ६९ ।।
तेभ्यः यथार्थ्यबोधाय सर्वैरनुमितं त्विदम् ।
दूरदर्शित्वयुक्ताश्च प्रासु वै ज्ञानशीलताः ।। ७० ।।
अनिवार्यं विधातुं च लोकमानसमुन्नतम् ।
नियते समये सत्रं समाप्ति तदगादलम् ।
हर्षिता धर्ममासाद्य सम्प्रदायतिरोहिताम् ।। ७१ ।।

टीका–आज का विवेचन सभी को बहुत सुहाया । भ्रांतियों और विकृतियों के प्रति आग्रही लोगों को यथार्थता समझाने के लिए सभी ने अनुमान किया कि दूरदर्शी विवेकशीलता को अपनाने के लिए उन्नत लोक मानस बनाना आवश्यक है । सत्र नियत समय पर विधिवत् समाप्त हो गया । सभी लोग सम्प्रदायों की चहारदीवारी में बँटे–छिपे धर्म को जानकर अतीव प्रसन्न हुए ।। ६९–७१ ।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीआश्वलायन-कौण्डिन्य ऋषिसम्वादे "सत्यो विवेकश्चे", इति
प्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ।। ३ ।।

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः ।।

❁ संयमशीलता-कर्तव्यपरायणताप्रकरणम् ❁

चतुर्थो दिवसस्त्वद्य सत्रस्याभूच्छुभोदयः ।
मनीषिणां समेषां हि संगतानामवर्द्धत ।। १।।
जिज्ञासूनां स उत्साहो धर्मस्यास्य विशालताम् ।
महत्वं चान्वभूवँस्ते जगन्मंगलमुत्तमम् ।। २।।
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा विधिवद्विद्वदुत्तमः ।
विद्रुथः प्रणमन्नेवाऽध्यक्षं पप्रच्छ सादरम् ।। ३।।

टीका–आज सत्र का चौथा दिन था । उपस्थित मनीषियों एवं जिज्ञासुओं का उत्साह बढ़ रहा था । उन्हें धर्म की महानता और विशालता का और भी अच्छी तरह अनुभव होने लगा था । आज की ज्ञान गोष्ठी विधिवत् आरंभ हुई, तो विद्वान विद्रुथ ने अध्यक्ष का अभिवादन करते हुए आदर सहित पूछा–॥ १–३॥

विद्रुथ उवाच–

धर्मस्यापरयुग्मस्य भगवन् प्रविवेचनम् ।
क्रियतां कश्च सम्बन्धः कर्तव्ये संयमेऽस्ति च ।। ४।।
उभौ कथं सुसम्बद्धौ मतौ तौ हि परस्परम् ।
उदतारीन्महाप्राज्ञ एवं स आश्वलायनः ।। ५।।

टीका–विद्रुथ बोले–हे भगवन् ! धर्म के दूसरे युग्म की विवेचना करें । संयम और कर्तव्य का आपस में क्या संबंध है । दोनों एक दूसरे के साथ जुड़े हुए या गुँथे हुए क्यों माने गए हैं ? महाप्राज्ञ आश्वलायन ने उत्तर देते हुए इस प्रकार कहा–॥ ४–५॥

आश्वलायन उवाच–

सत्राध्यक्षः अबोधयत् समुदायमुपस्थितम् ।
सज्जनाः ! भगवान् प्रादात् प्रत्येकस्मै नराय तु ।। ६।।
विभूतीर्विपुलायाश्च सुप्तास्तिष्ठन्ति नित्यशः ।
स्थूलेऽस्मिंश्च तथा सूक्ष्मे शरीरे बीजरूपतः ।। ७।।
साधनायाः प्रयत्नेन तास्तु वर्द्धयितुं तथा ।
परिपुष्टा विधातुं च शक्याः सर्वैस्तु मानवैः ।। ८।।
उद्बोधिता न चाप्येता इयत्यां सन्ति विग्रहे ।
मात्रायां येन निर्वाहक्रमं शान्त्या सुखेन च ।
पर्याप्ताः पूरितुं तास्तु सन्ति चाक्षयतां गताः ।। ९।।

टीका–सत्राध्यक्ष श्रीआश्वलायनजी ने उपस्थित जन–समुदाय को समझाया कि सज्जनो ! भगवान् ने हर व्यक्ति को विपुल परिमाण में विभूतियाँ प्रदान की हैं । वे उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में, बीज रूप में प्रसुप्त स्थिति में पड़ी हैं । साधना के थोड़े प्रयत्न के साथ उन्हें जगाया–बढ़ाया और परिष्कृत किया जा सकता है । न जगाया जाय, तो भी वे इतनी मात्रा में हैं कि निर्वाहक्रम को सुख–शांति से भरा–पूरा रखने की दृष्टि से पर्याप्त हैं, इन्हें अक्षय समझना चाहिए ।। ६–९॥

अर्थ–हर मानव तनधारी उस विराट् चेतन का एक अंश है । विधाता ने मनुष्य में विभूतियों के रूप

में अगणित विशेषतायें कूट-कूट कर भर दी हैं । जानकारी के अभाव में तो बहुमूल्य वस्तु को भी निरर्थक समझकर फेंक दिया जाता है । पारस पर कपड़ा पड़ा हो तो समीपस्थ लोहे का टुकड़ा स्पर्श पाने पर भी सोने में नहीं बदलता । लगभग यही स्थिति सूक्ष्म विलक्षणताओं से सम्पन्न मनुष्य की है । जौहरी अपनी कीमती अलभ्य वस्तुओं को संभालकर रखता है । कोषागारों में जमा धनराशि कड़े पहरे में रखी व स्थानांतरित की जाती है । हर कोई उनके समीप नहीं पहुँच सकता । केवल वह व्यक्ति जो हैसियत रखता है अथवा जिसकी साख है, वह विधिपूर्वक इस राशि को पाने का हकदार है ।

आत्मिक विभूतियाँ विधाता ने तीन शरीरों के रूप में काया के सूक्ष्म संस्थान में छिपाकर रखी हैं । इन्हें प्रयास-पुरुषार्थ द्वारा जगाया जा सकता है । बिना साधना अनुशासनों के ये प्रसुप्त स्थिति में पड़ी रहती हैं । सामान्य अंश जो उनका बहिरंग में दृश्यमान है वह निर्वाह आदि के लिए, सामान्य जीवनचर्या के लिए पर्याप्त है । ऋषिगण मनुष्य की सूक्ष्म संरचना का एवं प्रसुप्त भंडागार की असीम सामर्थ्य का परिचय देकर उन संभावनाओं की एक झलक-झाँकी दिखाते हैं, जिन्हें जगाया जा सके तो अतिमानवी क्षमतायें अर्जित कर सकना संभव है ।

भगवान ने मनुष्य को विभूतियाँ देते समय दोनों प्रकार के व्यक्तियों का ध्यान रखा है--(१) जो विकास के इच्छुक हैं, उच्च लक्ष्यों की आकांक्षा रखते हैं, (२) वे जो सामान्य जीवन जीना चाहते हैं ।

जिस रूप में विभूतियाँ मिली हैं, उसी रूप में इनका ठीक-ठीक प्रयोग कर लिया जाय; तो मनुष्य का निर्वाह सही, संतोषप्रद ढंग से हो सकता है । पर विशिष्ट स्तर पाना है, तो तीनों शरीरस्थ विभूतियों को जागृत, विकसित करके उनका उपयोग करना आवश्यक है । स्थान-स्थान पर आप्त वचनों के माध्यम से मनुष्य को अपने इस भंडागार को तीन शरीर, पंच कोषों, षट्चक्रों से विनिर्मित वैभव साम्राज्य को हस्तगत करने, ऋद्धि-सिद्धि संपन्न बनने के संकेत दिए गए हैं । जो इन सूत्रों को समझते हैं, वे साधना, पुरुषार्थ में प्रवृत्त होते एवं सिद्ध पुरुष महामानव की स्थिति को प्राप्त करते हैं ।

स्थूल शरीर--सामान्य रूप से मानव शरीर की बनावट और कार्य क्षमता इतनी है कि मनुष्य अन्य जीवों से अपनी रक्षा करता हुआ अपने सारे आवश्यक कार्य पूरे कर सकता है ।

पूरी उम्र बिना रुके बराबर सारे शरीर में रक्त संचार करने वाला हृदय सभी को मिला है । थोड़े में भर जाने वाला और शरीर में पूर्ण स्फूर्ति बनाये रखने वाला पेट-पाचन संस्थान मनुष्य को उपलब्ध है । देखने में सुंदर भावों को व्यक्त कर सकने योग्य मनुष्य जैसा चेहरा और नहीं दीखता । स्थूल शरीर से केवल रोगी न बनने देकर बिना कोई विशेष विकास किए हर औसत आदमी की जरूरतें पूरी हो जाती हैं । अन्य जीवों के शरीर की विशेषतायें जितनी हैं उनमें थोड़ा बहुत अंतर भर पाया जाता है । पर मनुष्य साधना पराक्रम द्वारा शरीरों में सामान्य की अपेक्षा जमीन-आसमान जैसा अंतर पैदा कर लेते हैं । शरीरों से चमत्कार दिखलाने वाले दो वर्ग हैं--पहलवान और योगी ।

प्रोफेसर राममूर्ति सीने पर हाथी खड़ा कर लेते थे । सुधाकर ब्रह्मचारी तीन कारें एक साथ रोकने, मोटी किनारे वाली पीतल की थाली कागज की तरह फाड़ देने जैसे करतब दिखाते रहे हैं । भीम के लिए हाथी पछाड़ना और पेड़ उखाड़ना खेल जैसे थे ।

फ्रांस में साँड़ों से लड़ने वाले बुल फाइटर्स पेशेवर पहलवान निहत्थे ही भारी से भारी साँड़ों को पछाड़ देते हैं ।

श्रीदयानंद जी ने दो लड़ते हुए साँड़ों को एक-एक हाथ से पकड़ कर अलग करके भगा दिया था । घोड़ों की बग्घी का पहिया एक हाथ से पकड़ कर खड़े हो गए तो गाड़ी हिली नहीं ।

महाराणा प्रताप का भाला ऐतिहासिक संग्रहालय में रखा है । जिसे वे उँगलियों पर नचाते चलते थे उसे २-३ व्यक्ति मिलकर उठाने में सहमते हैं ।

भारत में भीम और यूनान के हरक्यूलिस जैसों की शारीरिक क्षमता के चमत्कारी उपाख्यान जगह-जगह भरे पड़े हैं ।

थोड़ी-सी साधना से योगी जमीन के अंदर, पानी के अंदर कई-कई दिनों तक जीवित रह लेते हैं । भयंकर विष का भी उन पर कोई प्रभाव नहीं होता ।

सेंडो बचपन में बहुत दुर्बल थे और प्रायः बीमार रहते थे । एक दिन वे पिता के साथ दंगल देखने गए । हृष्ट-पुष्ट पहलवानों को देखकर ललचाये और मन में सोचा-"क्या वे भी ऐसे ही बन सकते हैं ।" तुरंत अंदर से उत्तर आया—"स्वास्थ्य सुधारने का सच्चा प्रयत्न करने वाला कोई भी व्यक्ति ऐसी ही सफलता पा सकता है ।

सेंडो ने स्वास्थ्य सम्वर्द्धन के नियम समझे । विश्वास और निश्चयपूर्वक अपनाये । कुछ ही समय में वे संसार के प्रख्यात पहलवान बन गए ।

भारत के चंदगीराम भी माने हुए पहलवानों में से हैं । वे युवावस्था में प्रवेश करते-करते क्षय रोग के शिकार हो गए । बचने की आशा न रही । पर किसी के परामर्श-प्रोत्साहन पर वे स्वास्थ्य सुधारने में लग गए और अपना काया-कल्प कर सकने में सफल हुए ।

प्राणायाम के थोड़े से अभ्यास से शरीर के किसी भी अंग को पत्थर जैसा कड़ा बना लेना, नाड़ी स्पंदन रोक लेना, हृदय की धड़कन पर नियंत्रण पा लेने जैसे शारीरिक चमत्कार दिखाने वाले जगह-जगह मिल सकते हैं ।

थोड़े से अभ्यास से शरीर को कितनी भी गर्मी, सर्दी सहने में सक्षम बना लिया जाता है ।

एक बार में मन-मन भर भोजन करके पचा लेने से लेकर वर्षों बिना भोजन किए शरीर को सक्रिय रखने के ढेरों उदाहरण सहज क्रम में ही मिलते रहते हैं ।

मनुष्य को जो स्वर मिला है, उससे भाषा बोलने, मस्ती में गुनगुनाने जैसे कार्य सभी के सध जाते हैं । किन्तु जो साधना के स्वर विकसित कर लेता है, वह संगीत में मेघ मल्हार, दीपक राग जैसे चमत्कार पैदा कर लेता है ।

सूक्ष्म शरीर-इसकी सामर्थ्य और गतिविधियाँ विचारों के स्तर पर तथा परा-मनो-वैज्ञानिक क्षेत्र में परिलक्षित होती हैं ।

सामान्य मनुष्य में भी सोचने-विचारने, विवेकपूर्ण निर्णय लेने की जितनी क्षमता है, उसके आगे अन्य प्राणी कहीं टिकते नहीं । बुद्धि के सामान्य प्रयोग से ही संसार के सारे कार्य सध जाते हैं । परंतु जो साधना पुरुषार्थ द्वारा विचार शक्ति को विकसित कर लेते हैं, वे जमाने की हवा बदल देते हैं । लाखों की जीवन धारा बदल देते हैं । दर्शन, साहित्य, विज्ञान, कानून आदि के चमत्कार सब सूक्ष्म शरीर से उभरी विशेषताओं के द्वारा किए जाते हैं ।

मनुष्य का मस्तिष्क अचरज का पिटारा है । वैज्ञानिकों ने शोध करके पता लगाया है कि सामान्य रूप से मनुष्य मस्तिष्क का ७ प्रतिशत ही उपयोग हो पाता है । अति मेधावी व्यक्ति मस्तिष्क का १४ प्रतिशत के लगभग प्रयोग कर पाते हैं । शेष ७३ प्रतिशत से ८६ प्रतिशत मस्तिष्क सुप्त, अप्रयुक्त पड़ा रह जाता है । इसके विकास से मनुष्य क्या-क्या नहीं कर सकता है ।

अपने विचारों से दूसरे को प्रभावित करना, दूसरे के विचार पढ़ लेना, विचार प्रवाह, दूर संचार, प्राण चिकित्सा जैसे कार्य सूक्ष्म शरीर के विकास से सधते हैं ।

कारण शरीर—यह चेतना स्तर का कलेवर है । हर मनुष्य के अंदर चेतना की, संवेदना की उतनी मात्रा है कि वह आत्मीयता, सद्भावना आदि के द्वारा स्वर्गीय सुख, संतोष और आनंद की अनुभूति कर सकता है । अपना मनचाहा स्नेह, आत्मीयता, सरसता से भरा संसार अपने लिए विकसित कर सकता है ।

इस स्तर पर जो विभूतियाँ हैं उन्हें विकसित करके मनुष्य, संत, ऋषि, देवमानव, महामानव बन जाते हैं । सूक्ष्म शरीर की विभूतियाँ जागृत होती हैं तो मनुष्य के आगे बड़े-बड़े शक्तिशाली और बड़े-बड़े विद्वान नतमस्तक हो जाते हैं । ऐसा व्यक्ति विश्व चेतना से एक हो जाता है । इसलिए भूत, भविष्य या देश, काल से परे कुछ भी जान सकने में समर्थ हो जाता है ।

कारण शरीर अंतश्चेतना का सबसे दिव्य स्तर है जिसके माध्यम से जीव चेतना समष्टि चेतना से एकाकार होने की क्षमता अर्जित कर सकती है । सत्, चित्, आनंद की अनुभूति, रसो वै सः का साक्षात्कार इसी स्तर पर होता है । वेदांत की एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति, चिदानन्दोऽहम्, सोऽहम्, तत्वमसि की भावना का विकास कारण शरीर के स्तर पर विकसित व्यष्टि चेतना में ही हो पाता है । भक्तियोग की पराकाष्ठा कारण शरीर में विकसित हुई देखी जा सकती है ।

वस्तुतः तीन शरीरों के रूप में अक्षय भंडार, दिव्य संपदा मानव में विद्यमान है । इतना होते हुए भी यदि वह यह शिकायत करता है कि वह अभागा है, उसे क्यों कर यह मानव जन्म मिला तो इससे बड़ी विडंबना और क्या हो सकती है ?

साधन सम्पन्न होने पर भी दुर्गति

विधाता ने मनुष्य को सर्व साधन सम्पन्न बनाकर धरती पर भेजा है । पर उसे शांति न मिली । अशांति के अनेक कारण उसे त्रास देने लगे ।

मनुष्य फिर से विधाता के पास पहुँचा और कहा–"कृपाकर कुछ देवदूत भेज दीजिए जिससे हमारी व्यथा दूर हो ।" विधाता ने देवता भेजे । वे शांति प्राप्त करने के उपाय संयम और कर्तव्य के रूप में समझाते रहे । किसी ने उनका परामर्श न सुना और अपनी ही बात कहते रहे । देवता दुःखी होकर लौट गए ।

मनुष्य फिर पहुँचा और देवताओं से सहायता करने के लिए इस बार और भी विनयपूर्वक अनुरोध किया ।

विधाता ने सशर्त सहायता का प्रतिबंध लगा दिया । जो संयमशीलता, कर्तव्यपरायणता अपनाएँगें, उन्हीं को देवताओं की सहायता मिल सकेगी । तब से वही क्रम चला आया है; जो शर्त पूरी करते हैं उन्हें ही देवता सुख-शांति प्रदान करते हैं । वे दुर्भाग्यशाली हैं जो प्रभु के संदेश की अवहेलना कर जीवन रूप अक्षय संपदा को सतत् लुटाते और आँसू बहाते रहते हैं ।

आसां दुरुपयोगं नो प्राणिनोऽन्ये तु कुर्वते ।
स्वस्थं जीवन्त्यतः सर्वे ससुखं सर्वदैव च ।।१०।।
केवलं मानवोस्त्येष दर्पोन्मत्तस्तु यः सदा ।
मर्यादास्ताभिनत्त्याऽसंयमः स्वीकरोति च ।।११।।
प्रकृतेर्दण्डसंस्थित्या स्खलत्येव पदे-पदे ।
दुःसहं दुःखमाप्नोपि समुदायोऽत्र सोऽब्रवीत् ।।१२।।

टीका–अन्य प्राणी इनका अपव्यय-दुरुपयोग नहीं करते, अतएव स्वस्थ और सुखी जीवन जीते हैं । मात्र मनुष्य ही ऐसा है, जो दर्प में उन्मत्त होकर मर्यादाओं को तोड़ता है, असंयम बरतता है और प्रकृति की दंड-व्यवस्था के अनुसार पग-पग पर ठोकरें खाता और दुःसह दुःख सहता है ।। १०-१२।।

अर्थ–रोग और दुःखों के कारण भगवान की ओर से किसी सामर्थ्य की कमी से पैदा नहीं होते । वे होते हैं ईश्वरीय प्रकृति द्वारा स्थापित मर्यादाओं के उल्लंघन से । जब तक उल्लंघन बंद करके अनुशासन को अंगीकार नहीं किया जाता, सारे उपचार बेकार हो जाते हैं । यह मर्यादाएँ वह समझता तो है, पर उन्मत्त होकर उन्हें भूल जाता है, तोड़ देता है ।

केवल मनुष्य ही रोगी क्यों ?

ब्रह्मचारी शाकुंतल गुरु आज्ञा से अनुभव संपादन के लिए कई वर्षों तक भूमंडल के विभिन्न भागों में भ्रमण करते रहे । निर्धारित अवधि पूरी होने पर आश्रम में पहुँचे । कुलपति महर्षि मुद्गल जी को प्रणाम किया । अपनी यात्रा का विवरण सुनाया, स्नेह पाया ।

समय पाकर शाकुंतल ने कहा–"गुरुदेव ! मैंने एक आश्चर्य देखा । पृथ्वी पर रहने वाले, वृक्षों पर निवास करने वाले, जलचर तथा नभचर सभी प्राणियों को नीरोग जीवन जीते देखा । उन्हें कहीं चोट लग जाय, घायल हो जाँय यह और बात है, परंतु जुखाम, खाँसी, ज्वर जैसे सामान्य रोग भी उन्हें नहीं होते, श्वांस, हृदय रोग, राजयक्ष्मा (टी०बी०) जैसे रोगों का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता ।"

गुरुदेव मुस्कराये, बोले–"क्या मनुष्य के साथ रहने वाले पालूत पशु पक्षियों को भी रोगी होते नहीं देखा ?"

बटुक ने कहा–"हाँ उन्हें बीमार होते देखा है, परंतु वे सामान्य रोगों से ही ग्रस्त होते हैं और मनुष्य की अपेक्षा जल्दी आरोग्य लाभ कर लेते हैं ।"

गुरुदेव ने समझाया–"वत्स ! मनुष्य को यह दंड प्राकृतिक नियमों के उल्लंघन के कारण मिलता है । अन्य जीवों में प्रकृति का उल्लंघन करने जितनी समझ या नासमझी नहीं है, इसलिए वे नीरोग हैं । पर रोग का संकेत मिलते ही सहज वृत्ति से प्रेरित उस मर्यादा में आ जाते हैं और जल्दी आरोग्य लाभ करते हैं ।"

हे तात, चिकित्सालय और कुशल चिकित्सकों की संख्या कितनी भी बढ़ जाय, जब तक मनुष्य संयम से, मर्यादा से दूर रहेगा, उसे रोगों से मुक्ति नहीं मिलेगी । इसलिए संयम की प्रेरणा जन-जन को देकर ही उन्हें रोगों और दुःखों से बचाया जा सकता है । चिकित्सा व्यवस्था केवल सहायक भूमिका निभा सकती है ।

मानवी उन्मत्तता

आहार–सभी प्राणी अपने निर्धारित आहार ही करते हैं । साथ ही पचाने की सीमा का ध्यान रखते हैं । गाय, घोड़े, हिरन, खरगोश आदि घास, पत्तियाँ ही खाते हैं । जंगल में उन्हें खाद्य की कोई कमी नहीं रहती, पर वे अपनी सीमा से बाहर कभी नहीं खाते । चूहे अनाज की खोह में घुसकर भी खाते हैं, पर अति आहार से पेट फूल कर कोई चूहा मर गया हो ऐसा नहीं देखा गया । मांसाहारी शेर आदि यदि बड़ा शिकार कर लेते हैं तो भी अपनी सीमा से बाहर खाते नहीं जब वे भूखे होते हैं, तभी शिकार की ओर प्रवृत्त होते हैं ।

पर मनुष्य का ढंग विचित्र है । वह स्वाभाविक-अस्वाभाविक सभी पदार्थ खाने का प्रयास करता है । पेट भरने पर भी स्वाद या शेखी में अधिक खा जाता है । न खाने का कोई समय है, न सीमा । फलस्वरूप मानव एक मात्र ऐसा प्राणी है जिसका पेट खराब रहता है और अभक्ष्य खाकर विकार इकट्ठे करता है ।

काम सेवन की हर प्राणी की अपनी सीमा है । आयु परिपक्व होने पर तथा ऋतु विशेष आने पर ही वे काम सेवन करते है, उन पर कोई सामाजिक बंधन नहीं फिर भी स्वाभाविक सीमा-मर्यादा मानते हैं ।

मनुष्य प्राकृतिक मर्यादाएँ भी समझता है तथा सामाजिक शालीनता की भी उसे शर्म होती है । फिर भी उन्मत्त हो उठता है तथा दोनों को भुलाकर अनियमितताएँ बरतता है । फलस्वरूप दुर्बलता, रोग, समय से पहले बुढ़ापा तथा बच्चों की संख्या बढ़ाकर दुःख पाता है ।

श्रम एवं विश्राम के क्रम में सभी प्राणी अपनी प्राकृतिक मर्यादा के अनुरूप ही चलते हैं । दिन-रात का, सोने-जागने का उनका क्रम बिगड़ता नहीं । आलस्य में अपने शरीर को जंग लगने देने का मौका कोई जानवर नहीं देता । पर मनुष्य का जैसे कोई भी क्रम नहीं । दिन को रात, रात को दिन के ढंग से इस्तेमाल करता रहता है । मस्ती में रात भर जागेगा और आलस्य में दिन-दिन भर सोता रहेगा ।

इन्हीं सबके कारण वह कदम-कदम पर नुकसान और दुःख उठाता है । मर्यादाओं का उल्लंघन, प्रकृति के नियमों की उपेक्षा का परिणाम वह दैनंदिन जीवन में भुगतता है । जड़ों की अपेक्षा पत्तियों को सींचने की विडंबना उसके साथ भी घटती है । उपचार हेतु वह बहिरंग जगत में कारण खोजता, जीवाणु-विषाणु को कारण मानते हुए उन्हें मार भगाने का प्रयास करता है, ऐसे प्रयास निष्फल ही जाते हैं एवं रोग कभी जड़ से नष्ट नहीं होते ।

शेर, हाथी, गैंडा, चीता, बैल, भैंसे, गीध, शतुरमुर्ग, मगर, मत्स्य आदि न जाने ऐसे कितने थलचर, जलचर, नभचर जीव परमात्मा की सृष्टि में पाये जाते हैं जो मनुष्य से सैकड़ों गुना अधिक शक्ति रखते हैं । मछली जल में जीवन भर तैर सकती है, पक्षी दिन-दिन भर आकाश में उड़ते रहते हैं । क्या मनुष्य इस विषय में उनकी तुलना कर सकता है ? परिश्रमशीलता के संदर्भ में हाथी, घोड़े, ऊँट, बैल, भैंसे आदि उपयोगी तथा घरेलू जानवर जितना परिश्रम करते और उपयोगी सिद्ध होते हैं, उतना शायद मनुष्य नहीं हो सकता । जबकि इन पशुओं तथा मनुष्य के भोजन में बहुत बड़ा अंतर होता है ।

पशु-पक्षियों के समान स्वावलंबी तथा शिल्पी तो मनुष्य हो ही नहीं सकता । पशु-पक्षी अपने जीवन तथा जीवनोपयोगी सामग्री के लिए किसी पर भी निर्भर नहीं रहते । वे जंगलों, पर्वतों, गुफाओं तथा पानी में अपना आहार आप खोज लेते हैं । उन्हें न किसी पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है और न किसी संकेतक की । पशु-पक्षी स्वयं एक दूसरे पर भी इस संबंध में निर्भर नहीं रहते । अपनी रक्षा तथा आरोग्यता के उपाय बिना किसी से पूछे ही कर

लिया करते हैं । यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि पौष्टिकता की दृष्टि से स्वास्थ्य संवर्द्धक आहार ग्रहण करते हुए भी मनुष्य में जीव-जंतुओं जैसी सामर्थ्य, शक्ति क्यों नहीं होती ? यदि उसने भी कृत्रिम जीवन छोड़कर संयम मर्यादाओं का परिपालन करने का अभ्यास किया होता, आहार प्राकृतिक रूप में लिया होता तो सामर्थ्य की दृष्टि से वह भी उतना ही संपन्न होता जितने कि अन्य जीवधारी हैं । यह एक दुर्भाग्य ही है कि विचार संपदा, भाव संवेदना की दृष्टि से सुविकसित मनुष्य आहार-विहार के व्यतिक्रम के कारण सामर्थ्य क्षेत्र में अन्य जीवधारियों से पिछड़ जाता है ।

जनसमुदाय उवाच-

प्रज्ञ ब्रूतामिहास्माकं पुरोऽसंयमाशु तम् ।
यस्माद्धेतोर्नरोरोग शोकाक्रान्तश्च जायते ।। १३।।
वयं सर्वे स्वरूपं तत्तस्य ज्ञातुं समुत्सुकाः ।
परिणामं, च येन स्याज्जीवनं सफलं तु नः ।। १४।।

टीका-जनसमुदाय ने पूछा-हे प्रज्ञावान् ! उस असंयम का वर्णन कीजिए, जिसके कारण मनुष्य को रोग-शोकों से आक्रांत होना पड़ता है । हम सब उसके स्वरूप और प्रतिफल को जानने के इच्छुक हैं, जिससे हमारा मनुष्य जीवन सफल हो सके ।। १३-१४।।

कौण्डिन्य उवाच-

चतस्रो भगवाञ्छक्तीः प्रत्येकस्मै नराय तु ।
दत्तवाञ्जन्मतो, शक्तिरिन्द्रियाणां मताऽऽदिमा ।। १५।।
द्वितीया कालशक्तिश्च विचाराणां तृतीयका ।
साधनानाञ्चतुर्थी सा शक्तिः प्रोक्ता बुधैरिह ।। १६।।
शक्तयस्तिस्र एतेषां शरीरे मनसि स्थिताः ।
चतुर्थी विपुलायां सा मात्रायां विद्यतेऽभितः ।। १७।।
सम्पदा प्रकृतेरत्र पुरूषार्थेन स्वेन याः ।
अर्जितुं शक्यते मर्त्यैर्यथेच्छं प्रकृतेः सदा ।। १८।।

टीका-कौण्डिन्य बोले-हे सज्जनो ! भगवान ने हर मनुष्य को चार स्तर की शक्ति जन्मजात रूप से प्रदान की है, इनमें एक है-इंद्रियशक्ति, दूसरी-समयशक्ति, तीसरी-विचारशक्ति और चौथी-साधनाशक्ति । तीन शक्तियाँ उसके शरीर और मन में भरी पड़ी हैं । चौथी प्रकृति सम्पदा के रूप में सर्वत्र विपुल परिमाण में विद्यमान है । वह अपने पुरुषार्थ द्वारा उसमें से जितनी चाहे बटोर सकता है ।। १५-१८।।

अर्थ-यहाँ चारों शक्तियों के स्वरूप और अनुशासन समझने योग्य हैं । इनमें इंद्रियशक्ति और विचारशक्ति यह हर प्राणी के साथ पैदा होती है । मनुष्य को यह अन्यों की अपेक्षा विशेष क्रम में प्राप्त है । संसार की सारी कुशलताएँ इन्हीं शक्तियों के प्रयोग से बनी हैं, जैसे मजदूर, पहलवान आदि इंद्रिय शक्ति के बिना काम नहीं कर सकते । विद्वान्, वकील, विचारकों में विचारशक्ति प्रधान होती है, परंतु इंद्रियशक्ति के बिना वे उसे व्यक्त नहीं कर सकते ।

पहलवान, खिलाड़ी, चित्रकार, शिल्पी, संगीतकार-यह सब अपने विचार संयोग से इंद्रियों का कलात्मक प्रयोग कर सकने में कुशल हो जाते हैं । साधना एवं अभ्यास द्वारा इन दोनों शक्तियों को विकसित तथा उचित अनुपात में संचित किया जाता है ।

शिक्षक, विद्वान, वकील, डाक्टर, इंजीनियर, लेखक अपनी विचारशक्ति को इंद्रियशक्ति के सहारे प्रकट करते हैं । लिखना, आपरेशन करना, पढ़ना आदि क्रियाएँ इसी क्रम में आती हैं ।

समय सम्पदा-इंद्रिय और विचार शक्तियों की तरह मनुष्य के अधिकार में नहीं होती । वह उसे घटा-बढ़ा नहीं सकता । परंतु वह मिलती सबको है । प्रतिदिन २४ घंटे सबको मिलते हैं । जब तक जीवन है तब तक समय भी मिलता है । पर उसका मूल्य मनुष्य अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति के संयोग से ही पा

सकता है । इस संयोग की कुशलता को पुरुषार्थ कहा जाता है । जो किसी समयावधि में अपनी इंद्रिय और विचार शक्ति का जितना अच्छा उपयोग कर सकता है वह उतना ही पुरुषार्थी कहा जा सकता है ।

साधन शक्ति दैवी संपदा है । साधन सब भगवान ने बना रखे हैं मनुष्य इनका रूपांतरण भर अपनी इच्छा के अनुसार कर सकता है । यही नहीं उन्हें कहीं अपनी या किसी दूसरे की अधिकार सीमा में एकत्र भी कर सकता है । परंतु उनको इच्छानुरूप स्वरूप देना या एकत्रित करना बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं । इसीलिए ऋषि कहते हैं कि इन्हें पुरुषार्थ के द्वारा जितना चाहे बटोरा जा सकता है । संसाधनों की विपुल संपदा प्रकृति के भंडागार में समायी हुई है । अनेक व्यक्ति पराक्रम-पुरुषार्थ से इन्हें हस्तगत कर संपन्न होते, स्वयं को पुष्ट बनाते देखे जा सकते हैं । लेकिन इस उपयोग की भी अपनी सीमा है । जब यह अनावश्यक दोहन की स्थिति में पहुँच जाता है तो उसे प्रकृति की प्रताड़नाएँ भी सहनी पड़ती हैं । यही बात प्रकारांतर से अन्य तीन मानव की सीमा रेखा में आने वाली शक्तियों-इंद्रिय संपदा, समय संपदा एवं विचार संपदा पर भी लागू होती है । जब इनका महत्व भूलकर इनका अनावश्यक दुरुपयोग किया जाता है एवं इन्हें व्यर्थ ही अकारण नष्ट किया जाता है तो मनुष्य को तरह-तरह के त्रास भुगतने पड़ते हैं । जितनी महत्वपूर्ण निधियाँ ये सभी शक्तियाँ अपने आप में हैं, उतना ही महत्वपूर्ण उनका सार्थक सदुपयोग एवं सुनियोजन भी है । ऋषि इसी कारण मनुष्य के रोग-शोकों का कारण जानने के लिए असंयम के स्वरूप का भी स्पष्टीकरण चाहते हैं ताकि हानियों को जानते हुए मनुष्य उनसे बचने के उपाय सोच सके ।

समय की कीमत

एक व्यक्ति ने एक संत को कहते सुना कि समय बेश कीमती है । उसकी मनचाही कीमत प्राप्त की जा सकती है । वह लोगों के पास जाकर कहने लगा–"मेरा समय बहुमूल्य है, सौ रुपये प्रतिदिन के हिसाब से आप ले सकते हैं ।" लोगों ने पूछा–"जो समय हम खरीदेंगे, उससे तुम करोगे क्या ?"

व्यक्ति बोला–"मैं तो समय बेच रहा हूँ, उसका आप चाहे जो उपयोग कर लेना, मैं कोई मेहनत क्यों करूँगा ?" लोगों में किसी ने उसे दुत्कार दिया, किसी ने पागल कह कर भगा दिया । वह उन्हीं संत के पास पहुँचा और समय के बदले एक भी पैसा न मिलने की शिकायत की ।

संत हँसे और बोले–"बेटे, समय की कीमत जरूर मिलती है । पर वह तो कोरा चैक है, उस पर श्रम की कलम और विचार की स्याही से मूल्य भरा जाता है । श्रम और विचार मिलकर जितना मूल्य भर देते हैं उतना अवश्य मिल जाता है ।

शक्तियों का संयोग

राजा अग्निमित्र और श्रेष्ठि सोमपाल मित्र थे । उनमें बहस हो गयी । सोमपाल ने कहा–"राज्य का संरक्षण उपयोगी तो है, पर अनिवार्य नहीं । ईश्वर प्रदत्त विभूतियों और साधनों से मनुष्य बहुत मजे में रह सकता है ।" राजा ने उग्र होकर चुनौती दी–"अच्छा एक वर्ष नगर में मत घुसना, जंगल की सीमा में रहना । अंदर आये तो जेल में डाल दूँगा । हार मान लोगे तो प्रतिबंध हटा दूँगा और यदि एक वर्ष में कुछ उल्लेखनीय करके दिखा दोगे तो मैं हार मान लूँगा ।"

सोमपाल सीमित साधन लेकर जंगल में प्रवेश कर गए । वहाँ एक निराश लकड़हारा मिला । श्रम बहुत करने पर भी परिवार का पोषण ठीक से नहीं कर पाने से दु:खी था । सोमपाल ने उसे उत्साहित किया, कहा–"मित्र, तुम मुझे श्रम से सहायता देना, मैं तुम्हें विचार से सहायता दूँगा । दोनों मिलकर बड़ा काम कर लेंगे ।" लकड़हारा राजी हो गया ।

सोमपाल ने उससे कुल्हाड़ी ले ली । स्वयं लकड़ी काटने लगे और उसे नगर के समाचार लेने भेज दिया । प्राप्त सूचनाओं के आधार वे उसे जलाऊ और इमारती लकड़ी बेचने भेजने लगे । धीरे-धीरे काम बढ़ निकला । अधिक मजदूर बुलाकर अधिक काम होने लगा । नगरवासी उस व्यवस्था का लाभ उठाने लगे ।

तभी पता लगा कि एक विशाल यज्ञ होने वाला है । सोमपाल ने यज्ञीय समिधाओं तथा सुगंधित वनौषधियों का संग्रह कर लिया । यज्ञ संयोजकों को सूचना मिली तो अच्छे मूल्य पर तैयार वस्तुएँ खरीद ली गयीं, इसी प्रकार नगर की ढेरों आवश्यकताएँ सोमपाल के तंत्र से पूरी होने लगीं ।

राजा को सूचना मिली तो उस तंत्र के पीछे कौन है यह खोजा गया । राजा अपने मित्र से मिलने स्वयं गए ।

प्रेम से मिले, पूछा–"तुम तो शहर में घुसे नहीं, यह सब कैसे विकसित किया ?" सोमपाल बोले–"मित्र, यह मेरी विचारशक्ति और लकड़हारे की शरीर शक्ति का संयोग है । इसी के संयोग से वन संपदा नगरवासियों के काम आई और एक वर्ष का समय हम सबके लिए बहुमूल्य बन गया ।"

जो सामने है– वही महत्वपूर्ण

एक जिज्ञासु ने पूछा–"सबसे महत्वपूर्ण काम कौन-सा है ? सबसे महत्वपूर्ण व्यक्ति कौन है ? और सबसे अच्छा समय कब होता है ?"

ज्ञानी ने समाधान किया–"जो काम हाथ में है वही सबसे महत्वपूर्ण है । इसी प्रकार जो साथ काम करता है वही सबसे उपयुक्त है और वर्तमान समय ही सबसे उत्तम मुहूर्त है । इसे गँवाओ मत ।"

पत्ते नहीं, जड़ प्रधान

हरे पत्ते इठला रहे थे कि हमारे ही कारण पेड़ की शोभा और सुंदरता है । छोटी टहनियाँ बोलीं– "तुम्हारा कहना तो सही है पर यह बताओ, हमारा आश्रय तुम्हें न मिले तो हवा में कहाँ लटके रहोगे ?"

विवाद चल ही रहा था कि पड़ोस के एक अधेड़ पेड़ को आँधी ने उखाड़ कर फेंक दिया । कुसमुसाते हुए उसने कहा–"देखा, जड़ें कमजोर हों तो टहनी, पत्ते तथा तने में से किसी का भी अस्तित्व न बचे ।"

प्रसंग सुनाते हुए ऋषि ने कहा कि मनुष्य की जड़ें–इंद्रिय शक्ति, विचार एवं समय संपदा के रूप में अंतः में विद्यमान हैं । जब तक ये मजबूत हैं, इनको कमजोर बनाने के प्रयास मनुष्य मूर्खतावश न कर रहा हो तब तक यह सुनिश्चित है कि मानवी काय-वैभव से संपन्न वृक्ष दृढ़ता से खड़ा रहेगा, आँधी-तूफानों, प्रकृति के व्यतिरेकों से भी तनिक भी विचलित न होगा । इस व्यवस्था में व्यतिक्रम होते ही काय सत्ता जीर्ण-शीर्ण होने लगती है । हाथ, पैर, नाक-नक्श कितने ही सुंदर क्यों न हों, वे पत्तियों-फूलों के सदृश हैं, जिनका वैभव अंतः की तीन शक्तियों के रूप में अवस्थित जड़ों पर निर्भर है ।

जननेन्द्रियस्य जिह्वायाश्चाऽत्यमधिगत्य तु ।
नरा बुद्धिं निजामन्त्रोदरं तद्दूषयन्त्यलम् ।। १९।।
शारीरिकैर्मानसैश्च रोगैर्ग्रस्तो भवन्त्यलम् ।
आलस्येन प्रमादेन समयं यापयन्ति च ।। २०।।
ते दरिद्रा विकासेन रहिता एव सर्वदा ।
तिष्ठन्ति मानसं चैषां शरीरं मलपीडितम् ।। २१।।
दोषजीर्णं जराग्रस्तमिवाशक्तं भवेत्ततः ।
सम्पदा समयोऽप्यास्ति प्रभुदत्ता नरश्च याम् ।। २२।।
श्रमे नियोजितां कृत्वा योग्यताः सम्पदा अपि ।
सर्वा एवार्जिताः कर्तुं सक्षमो नात्र संशयः ।। २३।।
श्रमपूर्वं च यावान् स कालो व्यत्येति शोभने ।
पुरुषार्थे जीवितं तज्जीवनं मान्यतामिह ।। २४।।

टीका–जीभ और जननेन्द्रिय का चटोरापन अपनाकर लोग अपना पेट तथा मस्तिष्क खराब करते हैं और शारीरिक-मानसिक रोगों से ग्रसित होते हैं । समय को आलस्य-प्रमाद में बिताने वाले दरिद्री और पिछड़ेपन से ग्रस्त बने रहते हैं । उनके शरीर और मन को जंग खा जाती है तथा वे जराग्रस्त की तरह अशक्त हो जाते हैं । समय भी ईश्वर प्रदत्त सम्पदा है । श्रम में उसे नियोजित रख कर हर प्रकार की योग्यताएँ तथा सम्पदाएँ अर्जित की जा सकती हैं । जितना समय श्रमपूर्वक श्रेष्ठ पुरुषार्थ में व्यतीत हुआ है, उतना ही जीवन जिया मानना चाहिए ।। १९-२४।।

अर्थ–इंद्रिय शक्ति के सदुपयोग के सूत्र यहाँ ऋषि ने स्पष्ट किए हैं । एक है इन्द्रिय शक्ति को व्यसनों में बर्बाद न होने देना । दूसरा है उपयोगी श्रम में इन्हें लगाना । जितने समय इंद्रियों को श्रम में लगाया जायगा, उतनी ही योग्यता और संपन्नता बढ़ेगी ।

यह सत्य स्वीकार करने वाले खिलाड़ी लंबे समय तक अभ्यास का श्रम करते हैं । शिल्पी और व्यापारी लंबे समय अपने-अपने श्रम में लगाते हैं । कलाकार और संगीत साधक भी लंबी अवधि तक अपनी कला निखारने के श्रम करते हैं । इसी आधार पर संपन्नता और योग्यता पाते हैं । इसीलिए कहा है, जितना समय इस प्रकार श्रम पुरुषार्थ में लगा, उतना ही जीवन जिया समझा जाना चाहिए ।

स्वाद ने तप चाट लिया

एक तपस्वी थे । वन में रहकर घोर तप करने लगे । इंद्र घबराया, इतना कठोर तप करने वाला इंद्रासन का हकदार बन सकता है । ऐसा उपाय करना चाहिए कि तपस्वी का व्रत खंडित हो । इंद्र ने फुसलाने के लिए अप्सरायें भेजीं । डराने को राक्षस भेजे । पर तपस्वी ज्यों के त्यों रहे, वे जरा भी डगमगाये नहीं ।

अब की इंद्र को दूसरी सूझ सूझी । वे भक्त का रूप धारण कर पकवान, मिष्ठान्न लेकर पहुँचने लगे । तपस्वी ने पहले तो उपेक्षा दिखाई, पीछे उनकी जीभ चटोरी हो गयी । रोज उस भक्त की प्रतीक्षा करने लगे ।

एक दिन वनपरी अपने घर ५६ भोग पकवान खिलाने का निमंत्रण देने आयी । उसे खाकर तपस्वी बहुत प्रसन्न हुए । परी ने कहा–"आप मेरे घर ही निवास करें । इससे भी बढ़कर भोजन कराया करूँगी ।"

तपस्वी सहमत हो गए । रोज-रोज पकवान खाते थे । परी पर मुग्ध हो गए और उसके साथ गांधर्व विवाह करने पर सहमत हो गए ।

तप भ्रष्ट हुआ । इंद्र बहुत प्रसन्न हुए, बोले–"अन्य रस छोड़े जा सकते हैं पर स्वाद बड़ों-बड़ों की साधना चट कर जाता है ।"

गाँव में वैद्य जरूरी नहीं

कोई राजा भटकता हुआ किसी गाँव में जा पहुँचा । परिचय न होते हुए भी ग्रामवासियों ने बहुत-बहुत अतिथि सत्कार किया । सज्जनता से प्रभावित होकर राजा ने उन गाँववासियों के लिए किसी विशेष सुविधा का प्रबंध करने की बात सोची ।

वहाँ एक साधन संपन्न अस्पताल बना दिया गया । आशा की जाती थी कि उस क्षेत्र के सभी लोग बहुत लाभ उठायेंगे ।

एक साल बीत गया । कोई भी मरीज नहीं आया । राजा को सूचना मिली तो वह कारण जानने स्वयं आये । उस सुविधा से लाभ न उठाने का कारण पूछा तो ग्रामीणों ने कहा–"हम लोग आहार का संयम बरतते हैं और कठोर परिश्रम करते हैं । इससे बीमारी एक तो आती ही नहीं । आती भी है तो पसीने के रास्ते तत्काल बाहर निकल जाती है ।"

हृदय और जीभ

जिज्ञासु ने ज्ञानी ने पूछा–"जीवन को अलंकृत करने वाले देवता कौन से हैं ?" उत्तर मिला–"हृदय और जीभ ।"

दूसरा प्रश्न था–"जीवन को नष्ट करने वाले दो दैत्य कौन से हैं ?" उत्तर मिला–"हृदय और जीभ ।"

हृदय की निष्ठुरता और सहजता व्यक्ति को पतित और महान बनाती है । जीभ के असंयम से मनुष्य स्वास्थ्य और सहयोग खो बैठता है । मधुर और उपयुक्त संभाषण से श्रेय और स्नेह की भरपूर मात्रा हस्तगत होती है ।

आहार का संयम

एक तत्वज्ञानी उपस्थित लोगों को भोजन को सात्विक और स्वल्प मात्रा में, प्रकृति की मर्यादा में करने के लाभ समझा रहे थे ।

सुनने वालों ने इसमें शंका की और ऐसे पहलवान का नाम बताया जो राजसिक भोजन बड़ी मात्रा में करता है । उसकी कुश्ती पछाड़ने में ख्याति भी बहुत थी ।

तत्वज्ञानी ने कहा–"पेटू लोग दूसरों को पछाड़ने वाली क्षमता तो पा सकते हैं, पर उठने और उठाने के लिए जिस स्तर की बलिष्ठता चाहिए वह आहार का संयम बरतने पर ही उपलब्ध होती है । दूसरों को पछाड़ना नहीं, जीवन में स्वयं उठना, दूसरों को उठाना ही श्रेष्ठता का परिचायक है ।"

ब्रह्मचर्य संयम और अंतःक्षेत्र

स्वामी रामतीर्थ से एक विदेशी छात्र ने पूछा–"स्वामी जी, आज का चिकित्सा विज्ञान ब्रह्मचर्य को उतना जरूरी नहीं मानता । वे मानते हैं कि मनुष्य अपनी वासना को रोके नहीं और पौष्टिक भोजन करके वीर्य की पूर्ति करता रहे तो ठीक है ।"

स्वामी जी ने समझाया–"बेटे, पौष्टिक भोजन वीर्य पैदा करता रह सकता है यह एक सीमा तक ठीक है । जैसे पानी आग पर चढ़ाने से भाप बनती रहती है । परंतु यदि भाप से इंजन चलाना है तो उसे एक निश्चित दबाव तक रोकना पड़ता है । उसके बिना चाहे जितनी भाप बनाई जाय इंजन चलेगा नहीं । उच्च आंतरिक शक्तियों के उभार के लिए ऊँचे दबाव, ऊँचे संयम से ही पैदा होते हैं । इसलिए हमारे यहाँ उसे महत्व दिया गया है । वासना का वेग न रोकें, यह ठीक है, पर साधक विचार परिष्कार द्वारा वासना उभरने ही नहीं देता । इसलिए उच्च संयम साध लेता है । ब्रह्मचर्य की महत्ता इसी कारण है ।

जंग लगा मनुष्य

भगवान बुद्ध के पास श्रेष्ठि पुत्र सुमंत और श्रमिक पुत्र तरुण ने एक साथ प्रव्रज्या ली । दोनों भावनापूर्वक संघाराम के निर्देशों का पालन करने लगे । कुछ माह बाद प्रगति सूचना देते समय प्रधान भिक्षु ने बतलाया–"सुमंत तरुण की अपेक्षा स्वस्थ और अध्ययन की दृष्टि से अधिक आगे है । भावना भी उसकी कम नहीं है । परंतु कार्यों की उपलब्धियाँ तरुण की सुमंत से श्रेष्ठ रहती हैं, यह कारण समझ में नहीं आता ।"

तथागत बोले–"सुमंत अभी जंग लगा पुर्जा है, जंग छूटने में समय लगेगा ।" प्रधान भिक्षु प्रश्नवाचक दृष्टि से देखते रह गए । भगवान ने स्पष्ट किया–"उसका लंबा जीवन आलस्य-प्रमाद में बीता है, इससे मनुष्य जंग लगे औजार जैसा हो जाता है । तरुण ऐसा औजार है जिसमें जंग नहीं है । इसीलिए तुरंत फल पा रहा है । सुमंत की पर्याप्त साधना जंग छुड़ाने में लग जायगी तब वह ठीक प्रकार से प्रयुक्त हो सकेगा ।

दलदल में न फँसने की नसीहत

अरस्तू अपने शिष्य सिकंदर को विश्व विजयी बनाना चाहते थे । इसके लिए आवश्यक था वह पराक्रमी कामुक न हो । सिकंदर का उठती उम्र में ही एक वेश्या के यहाँ आना-जाना चल पड़ा था । अरस्तू ऐसा उपाय सोच रहे थे कि सिकंदर स्वयं ही उस मार्ग से हटे । जहाँ मन लिप्त हो रहा हो वहाँ नसीहतें भी काम नहीं देतीं । क्रमशः उसकी इंद्रिय शक्ति नष्ट होने लगी, भावी प्रतिभा को जंग लगने लगी ।

पानी सिर से ऊपर निकलते देख अरस्तू ने एक तरकीब सोची । उस वेश्या से उन्होंने प्रणय निवेदन किया । उसने शर्त रखी कि चार घंटे आपको घोड़ा बनना पड़ेगा । उतनी देर तक मैं आप पर सवारी करूँगी । वे सहमत हो गए । वेश्या यह दिखाकर सिकंदर का मन गुरु से हटाना चाहती थी ।

अरस्तू नियत समय पर पहुँचे और घोड़ा बनकर वेश्या को पीठ पर लादकर उसके आँगन में फिरने लगे । धीमे चलते तो उनकी खबर ली जाती । नियत समय पर पहुँचे सिकंदर ने यह सारा दृश्य देखा । अरस्तू ने भी उसके पैर की आवाज सुनकर आगमन का पता लगा लिया ।

सिकंदर ने प्रकट होकर पूछा–"गुरुदेव ! यह क्या ?" अरस्तू ने कहा–"जिस मार्ग पर कदम बढ़ाते ही मेरे जैसे ज्ञानवानों की यह दुर्गति हो रही है । मूर्ख, उस दलदल में फँसने पर तेरा तो निकलना ही असंभव हो जायेगा ।

सिकंदर ने वस्तुस्थिति समझी और पतन की ओर जाने वाला रास्ता बदल लिया । इसी नसीहत ने उन्हें सिकंदर महान बनाया ।

मन से निकाल न सके

दो भिक्षु साथ-साथ जा रहे थे । रास्ते में नदी पड़ी । नाव थी नहीं । एक युवा महिला भी पार जाने का साधन ढूँढ़ने के लिए प्रतीक्षा में बैठी थी ।

महिला ने साधुओं से कहा–"भाई जी, मुझे पार लगा दो ।" एक साधु ने उसे कंधे पर बिठाकर पार लगा दिया । आगे चलकर दूसरे साधु ने कहा–"तुमने भला नहीं किया । युवती को कंधे पर नहीं बिठाना चाहिए था ।" निकालने वाला साधु चुप हो गया । आगे चलकर साधु ने वही बात कही । वह चुप रहा । और आगे चलने पर फिर साधु ने कहा–"तुमने भला नहीं किया ।"

निकालने वाले साधु ने कहा–"मैंने तो कंधे पर रखकर उसको निकाल दिया था, पर तुम तो उसे सिर पर बिठाये फिर रहे हो । उसे निकाल नहीं सके ।"

सच है, वासना मन में बसी हो, विचार उसी में लिपटे हों तो भले ही कोई कृत्य प्रत्यक्षतः न किया गया हो, तो ब्रह्मचर्य टूटने के समान ही है । जबकि इसके विपरीत कोई कर्म उस भावना से न किया गया हो और न वैसे विचार मन में आये हों तो उसमें मर्यादा उल्लंघन नहीं माना जाता ।

विषय विकारों का फेर

एक अंधा था । किसी अपराध में आजीवन कारावास का भागी बना । बहुत दु:खी रहता । राजा को दया आई । वे दंडमुक्त तो नहीं कर सकते थे पर उतनी व्यवस्था कर दी गई कि यदि यह जेल द्वार से अनायास ही निकले तो कोई रोके नहीं ।

अंधा इतने से ही प्रसन्न हुआ । उसने जेल की दीवार पकड़ी और फाटक की तलाश में उसके सहारे चलने लगा ।

फाटक पर सुंदर उद्यान था और शीतल वातावरण भी ।

अंधे के सिर में खाज थी । ठंडक पाकर वह जोर से खुजलाने लगी । अंधे ने दीवार छोड़ दी और दोनों हाथों से सिर खुजलाने लगा । चलने से रुका नहीं और फाटक निकल गया । वह फिर उस कुचक्र में परिभ्रमण करने लगा ।

हर बार यही हुआ । बार-बार फाटक आया और गंज खुजाने के कारण वह अंधा बार-बार उसी प्रकार भटकता रहा । बाहर निकलने का सुयोग पा नहीं सका ।

चौरासी लाख योनियों का परिभ्रमण एक कारावास है और जीव अंधा । वह चाहे तो मनुष्य जन्म के फाटक के बाहर निकल सकता है पर जब वह फाटक आता है तो विषय-विकारों की गंज खुजाने लगती है और जीव बार-बार फिर उसी कोल्हू में घूमता रहता है । यदि गंज खुजाने पर नियंत्रण कर सके तो पार होने का सहज सुयोग हाथ से क्यों जाये ?

संयम और प्रयास

यूनेस सेंडो बचपन से ही बीमार और दुबला था । एक दिन पिता के साथ पहलवानी का दंगल देखने गया । सुडौल शरीरों को देखकर बच्चे ने पिता से पूछा-"कोई ऐसा भी उपाय है क्या, जिसे अपनाकर मैं भी ऐसा ही बन सकूँ ।"

पिता ने विस्तारपूर्वक समझाया कि संयम और प्रयास पुरुषार्थ से कोई भी, कुछ भी उन्नति कर सकता है । स्वास्थ्य सुधारने में भी निजी प्रयास ही काम देते हैं । बाहर की सहायता से बात बनती नहीं । तुम भी वह बल अर्जित कर सकते हो जो तुम्हें अभीष्ट है ।

सेंडो ने दूसरे दिन से ही स्वास्थ्य सुधार के नियम कड़ाई से पालन करने शुरू कर दिए और उन प्रयासों में तत्परतापूर्वक जुट गया ।

सुविदित है कि बड़ा होने पर सेंडो संसार के मूर्धन्य पहलवानों में गिना गया ।

समय की कीमत

जार्ज बर्नार्ड शा अपने आरंभिक जीवन में एक दुकान पर कर्मचारी बने । मालिक खुश था कि उनकी सूझ-बूझ से दुकान अच्छी चलती थी । पर शा असंतुष्ट थे क्योंकि उन्हें प्राय: आधा समय बेकार बैठकर गँवाना पड़ता था ।

शा ने वह अधिक पैसे की नौकरी छोड़कर, दूसरी कम पैसे वाली नौकरी कर ली । कारण पूछने वालों को उनने यही बताया कि मैं खाली रहकर अपनी आदत बिगाड़ना और अपनी आँखों में अपनी इज्जत गिराना नहीं चाहता ।

पुस्तक के साथ समय की कीमत

उन दिनों बेंजामीन फ्रेंकलीन किताबों की दुकान चलाते थे । उनने एक काम का सिद्धांत अपनाया था ताकि ग्राहक का मोल भाव करने में नष्ट होने वाला समय बचे और दुकानदार पर विश्वास बढ़े । दूध का जला छाछ को भी फूँक कर पीता है । एक ग्राहक ने पुस्तक का दाम पूछा, दुकानदार ने एक शिलिंग बतला दिया । वह दाम घटाने के लिए बार-बार आग्रह करने लगा । बेकार का समय खर्च कराने पर खीजते हुए कर्मचारी ने अब की बार कीमत सवा शिलिंग बढ़ा दी ।

निराश ग्राहक मालिक के पास पहुँचा और कर्मचारी के दाम बढ़ा देने की शिकायत करने लगा । फ्रेंकलीन ने कहा-"अब वह आपको डेढ़ शिलिंग की मिलेगी, क्योंकि उसके साथ मेरे बर्बाद हुए समय की भी कीमत जुड़ गयी है ।"

जितना जला उतना जिया

एक समय एक लड़का दीपक लेकर जा रहा था । रास्ते में उसे महात्मा हुसेन बसराई मिले । उन्होंने बच्चे से पूछा-"अरे भाई ! यह दीपक कहाँ से लाये ?"

लड़का कुछ प्रत्युत्तर दे उसके पहले ही हवा का एक झोंका आया और दीपक बुझ गया । लड़के ने तुरंत प्रश्न किया-"मौलवी साहब ! पहले आप यह बताइये कि दीपक कहाँ गया ? बाद में मैं बताऊँगा कि दीपक कहाँ से लाया था ?"

'शाबाश' उस लड़के को उत्तर देते हुए उस महान महात्मा को अल्लाह की दी हुई हिदायत और पूरी खल्क का ख्याल आ गया ।

मनुष्य का जीवन दीपक-सा ही है । उसे जलते और बुझते कितनी देर ? जितनी देर उजाला किया वही मुख्य सार है । समय की महत्ता इसी में है कि एक क्षण भी व्यर्थ न गँवाया जाय ।

हाय ! अभागे हम

सूफी संत महिला राबिया हँसती भी जाती थी और रोती भी । दोनों काम एक साथ करते देख कर उपस्थित लोगों ने आश्चर्य भी किया और कारण भी पूछा ।

राबिया ने कहा-"परमात्मा ने ऐसा सुंदर संसार और शरीर बनाया । इस पर मैं हँसती हूँ । रोती इसलिए हूँ कि इन दोनों का, उपलब्ध समय का हम सही उपयोग नहीं कर पाते और अभागों की तरह हाथ मलते चले जाते हैं ।

उम्र कम-जीवन लम्बा

आदि शंकराचार्य ३२ वर्ष की आयु में शरीर छोड़ गए । अंतिम समय उनके सहयोगी भक्त आस-पास थे । वे दुःख प्रकट करने लगे-"आप जैसों को जीवन लंबा मिलता तो हम सबका अधिक हित होता ।"

आचार्य शंकर गंभीर स्वर में बोले-"मैं कम उम्र लेकर आया था पर जीवन तो मैंने लंबा जिया है । १०० वर्ष में जितना कुछ किया जा सकता था, मैंने उससे कम नहीं किया है । तुम सब यही मान कर चलो । कम उम्र में जाने का दुःख मनाने की अपेक्षा शानदार लंबे जीवन का लाभ लोगों तक पहुँचाने का प्रयास करो ।"

अपनी-अपनी दृष्टि

लुकमान सौ वर्ष जिए । मरने लगे तो उनने दहशत से हाथ मले और कहा-"थोड़े दिन जीने का मौका मिला, अधिक जी सकते तो कितना अच्छा होता ।"

नूह हजार वर्ष जिये । फूस की झोंपड़ी को पक्की बना देने के लिए उनके मित्रों ने कहा, तो वे बोले-"जीना ही कितने दिन है जो बेकार का जंजाल जुटाएँ । अंतर जीवन सम्पदा संबंधी दृष्टिकोण का था ।

बलमान्तरिकं नूनं विचारोऽयं तथैव च ।
स यस्मिन् क्वापि लक्ष्ये तु तत्तथा विनियुज्यते ।। २५ ।।
प्रगतिस्तदनुरूपेण तत्र साफल्यमप्यलम् ।
जायते परमेनं तु लोकास्ते नाशयन्त्यपि ।। २६ ।।
कल्पनासु विनिक्षिप्य विकृतासु च तं नराः ।
बाधाः प्रकृतिमार्गे च भावयन्ति सुकण्टकाः ।। २७ ।।

टीका-विचार आंतरिक बल और पुरुषार्थ है, उसे जिस किसी भी लक्ष्य पर नियोजित किया जाता है, उसी में तदनुरूप प्रगति होती है और सफलता मिलती है । लोग अस्त-व्यस्त और विकृत कल्पनाओं में उलझाये रहकर उसे नष्ट भी करते हैं और विकृतियों में उलझा कर अपने लिए संकट भी उत्पन्न करते हैं ।। २५-२७।।

अर्थ-विचार शक्ति के संबंध में बड़ा महत्वपूर्ण और व्यावहारिक तथ्य स्पष्ट किया गया है । लक्ष्य तक पहुँचने का पुरुषार्थ इंद्रिय शक्ति के माध्यम से ही करना पड़ता है और उसी आधार पर सफलताएँ प्राप्त होती हैं । पर इंद्रिय शक्ति को पकड़ कर विशेष दिशा में लगा देने का पुरुषार्थ विचार बल द्वारा ही संभव होता है । जो विचार दुर्बल हैं उस दिशा में इंद्रिय शक्ति कभी लग ही नहीं पाती और उपलब्धियाँ तो उसके बाद ही मिलती हैं ।

सही दिशा में इंद्रिय शक्ति न लग पाने से उपलब्धियाँ नहीं मिलतीं । बात यहीं तक सीमित नहीं, विचार बहकते हैं तो इंद्रियाँ भी बहकती हैं और हजार तरह की परेशानियाँ मनुष्य स्वयं पैदा कर लेता है ।

भर्तृहरि-जैसा चिंतन वैसा सृजन

राजा भर्तृहरि का चिंतन प्रारंभिक दिनों में हास-विलास की तरफ ही चलता था । उस कारण उनकी काव्य प्रतिभा उसी दिशा में लगी और शृंगार शतक लिखा गया ।

दूसरे चरण में राजनैतिक उत्तरदायित्वों पर उनका चिंतन चलने लगा तो उनकी शक्ति उधर लगी, कुशल राजा तथा नीति शतक के रचयिता के रूप में ख्याति पायी ।

तीसरे चरण में चिंतन घूम गया अध्यात्म की ओर । तदनुरूप गुरु गोरखनाथ का अनुग्रह पाया तथा वैराग्य शतक के रचयिता कहलाये । तीन तरह की उपलब्धियाँ एक ही व्यक्ति को उसके चिंतन विचार शक्ति की दिशा धारा के आधार पर प्राप्त हुईं ।

कौन हूँ ? क्या करूँ ?

कार्लाइल की ज्ञान गोष्ठी में अनेक दार्शनिक उपस्थित थे और इस प्रश्न पर विवाद चल रहा था कि मैं कौन हूँ ?

कार्लाइल ने कहा–"इस व्यर्थ प्रश्न को छोड़िये और यह सोचिए कि हमें क्या करना है ? और हमारी जिम्मेदारी क्या है ? यह चिंतन अधिक हितकारी परिणाम लायेगा ।"

बात सच भी थी । हममें से कितने ही व्यक्ति इस अनावश्यक तत्व चर्चा में अपना तथा दूसरों का समय नष्ट करते रहते हैं कि हम कौन हैं, हमें किसने भेजा है, वह कौन है ? इत्यादि । यदि यही समय इस चिंतन में लगा होता कि हमें वस्तुतः क्या करना है ताकि यह जीवन सार्थक हो, उपलब्ध विभूतियों का सुनियोजन हो जाता, तो कितना कुछ सृजनात्मक कार्य हमारे माध्यम से हो गया होता ।

यों सोचो मित्र

जब तक मैं हरा था, मुझमें फूल लगते थे, फल आते थे तब तक यही लोग मेरे पास झोलियाँ लेकर आते थे, सेवा और सत्कार करते थे और आज जब मैं सूख गया हूँ तब देखो यही लोग कुल्हाड़े लिए मुझे काटने आ रहे हैं । एक वृक्ष ने अपने साथी वृक्ष को दूर से आते हुए लोगों की ओर उँगली उठाकर कहा ।

दूसरे वृक्ष ने उत्तर दिया–"ऐसा सोचने की अपेक्षा"–आप यह सोचते कि मेरी तो मृत्यु भी सार्थक हुई जो अब भी मैं लोगों की आवश्यकताएँ पूरी कर सकता हूँ तो मित्र इस समय भी तुम्हें कितना संतोष मिलता ?

बृहदारण्यक उपनिषद में उल्लेख है, हृदय ही प्रजापति है, मन ही प्रजापति है । प्रजापति अर्थात् प्रजा की सृष्टि करने वाला प्रजा का स्वामी ।

देवता मनुष्य, असुर सभी उसकी प्रजा हैं । मन ही कहीं देवता कहीं मानवता कहीं असुरता का सृजन करता है, पालता है । सभी वृत्तियाँ उसी से समाधान चाहती हैं । कवि, कलाकार, वैज्ञानिक, दार्शनिक सभी मन की प्रजा हैं । इस प्रजापति को संभाला जाय तो सब संभल जाय । विचारों की संपदा इस प्रजापति का ही वैभव साम्राज्य है । इसे संभालना, सुनियोजन करना मनुष्य के ही हाथ में है ।

खरगोश की चिंता एवं शेष जीवों की निश्चिन्तता

कुकल्पनाएँ भी क्या-क्या खेल दिखाती हैं । मनुष्य इसमें अपवाद नहीं है । एक बूढ़े खरगोश ने वन्य जीवों को बुलाकर कहा–"तुम निश्चिंत बैठे हो देखते नहीं, कभी भी मुसीबत आ सकती है । आसमान गिर सकता है, धरती डगमगा सकती है और भोजन समाप्त हो सकता है । कोई भरोसा नहीं, आज की स्थिति के आधार पर कब तक रह सकेंगे । कोई उपाय सोचो ।

अन्य जानवर हँसते हुए चले गए कि जब मुसीबत आवेगी तब उपाय भी सोच लेंगे । पर तीन जानवरों के पेट में भय समा गया । टिटहरी रात को आसमान की ओर पैर करके सोती है । बंदर बार-बार पेड़ से उतरकर देखता है कि धरती कहीं खिसक तो नहीं रही । केचुए ने मिट्टी खाना शुरू कर दिया कि जब भोजन निबट जायगा तो वह इस प्रकार पेट भरेंगे ।

कहते हैं उस भय की कल्पना में खरगोश के तीन साथी ही रह गए हैं–टिटहरी, बंदर और केंचुआ । शेष को अपने पुरुषार्थ और विवेक पर विश्वास बना रहा सो उनकी निश्चिंतता में कमी नहीं आई ।

मनुष्य के बारे में भी चिंतकों-मनीषियों का यही मत है । अधिकांश मनुष्य चित्र-विचित्र कल्पनाओं के जाल में उलझे रहते हैं । अपनी मृत्यु, आसन्न विभीषिकाओं की चिंता से स्वयं कलपते एवं अन्यान्यों को त्रास देते हैं ।

रावण की भूल से बचना

रावण का पराभव हुआ और विभीषण का राज्याभिषेक । राजा विभीषण भगवान राम के समक्ष कर्तव्य पालन संबंधी निर्देश प्राप्त करने की जिज्ञासा से खड़े हुए ।

भगवान राम बोले–"अपने बड़े भाई पंडित राज रावण के ज्ञान-विज्ञान का रक्षण और विकास करना पर अपना चिंतन क्रम हमारे भक्तों जैसा आदर्श निष्ठ तथा व्यवस्थित रखना ।"

विभीषण ने जानना चाहा कि रावण से चिंतन स्तर पर क्या भूल हुई तो करुणा निधि बोले–"उसने सत् पुरुषों का व्यवस्थित चिंतन छोड़ दिया, लोलुपों का अस्त-व्यस्त क्रम अपनाया । इसलिए अपने ज्ञान के ठोस लाभ समाज

को न दे सका । आदर्शनिष्ठ चिंतन छोड़कर, संकीर्ण स्वार्थगत चिंतन ने उसे हीन कर्मों में लगा दिया और दुर्गति करा दी । उसकी रुचि के और संसार की आवश्यकता के ढेरों श्रेय कार्य प्रतीक्षा में ही रखे रह गए ।

दो यात्री एक था यात्री, दूर देश की यात्रा पर निकला था । वह अभी एक योजन ही चला था कि एक नदी आ गई, किनारे पर नाव लगी थी । उसने कहा–"यह नदी मेरा क्या करेगी ?" पाल उसने बाँधा नहीं, डांड उसने खोले नहीं, जाने कैसी जल्दी थी । मल्लाह को उसने पुकारा नहीं । बादल गरज रहे थे । लहरें तूफान उठा रही थीं । फिर भी वह माना नहीं, नाव को लंगर से खोल दिया और आप भी उसमें सवार हो गया ।

किनारा जैसे-तैसे निकल गया पर जैसे ही नाव मँझधार में आई वैसे ही भँवरों और उत्ताल-तरंगों ने आ घेरा । नाव एक बार ऊपर तक उछली और दूसरे ही क्षण यात्री को समेटे जल में समा गई ।

एक दूसरा यात्री आया । किनारे लगी नाव टूटी-फूटी थी, डांड कमजोर थे, पाल फटा हुआ था, तो भी उसने युक्ति से काम लिया । नाविक को बुलाया और कहा–"मुझे उस पार तक पहुँचा दो ।" नाविक यात्री को लेकर चल पड़ा । लहरों ने संघर्ष किया, तूफान टकराये, हवा ने पूरी ताकत लगाकर नाव को भटकाने का पूरा प्रयत्न किया पर नाविक उन सब कठिनाइयों से परिचित था, एक-एक को संभालता हुआ यात्री को सकुशल दूसरे पार तक ले आया ।

मनुष्य जीवन भी एक यात्रा है, जिसमें पग-पग पर कठिनाइयों के महासागर पार करने पड़ते हैं, जो नाव छोड़ने से पूर्व भगवान् को अपना नाविक नियुक्त कर लेते हैं, भगवान् उनकी यात्रा को सरल बना देते हैं, क्योंकि जीवन पथ की सभी कठिनाइयों के वही ज्ञाता और वही मनुष्य के सच्चे सहचर हैं । अपने अहंकार और अज्ञान में डूबे मनुष्यों की स्थिति तो उस पहले यात्री जैसी है जो नाव चलाना न जानने पर भी उसे तूफानों में छोड़ देता है और बीच में ही नष्ट हो जाता है ।

न्यूनता साधनानां न विद्यते कुत्रचित्क्षितौ ।
तेऽधिगन्तुं च शक्यास्तु योग्यतां श्रमशीलताम् ।। २८।।
मनोयोगमथोद्बोध्य सर्वैरेव च मानवैः ।
सार्थयन्ति धनं सद्भ्यो युञ्जते ये सदागमम् ।। २९।।
मात्राऽल्पाऽपि च तस्यैषा प्रयच्छति महत्फलम् ।
सन्निवेशं समाश्रित्य यद्यप्यतुल्यवैभवाः ।। ३०।।
नरा दुरुपयुञ्जाना नाशयन्तस्तु तत्स्वयम् ।
यान्ति नाशं यथा नौका छिद्रे जाते निमज्जन्ति ।। ३१।।

टीका–साधनों की कहीं कमी नहीं । वे योग्यता, श्रमशीलता और मनोयोग बढ़ाकर अभीष्ट मात्रा में उपार्जित किए जा सकते हैं । ईमानदारी से कमाने और सत्प्रयोजनों में ही उन्हें प्रयुक्त करने वाले धन को सार्थक बनाते हैं । उसकी थोड़ी मात्रा भी सदुपयोग के आधार पर महान प्रतिफल प्रदान करती है, जबकि विपुल संपदा वाले भी उसका दुरुपयोग करने पर उसे नष्ट करते, साथ ही स्वयं भी नष्ट होते हैं । छेद होने पर नौका पानी में डूब जाती है ।। २८–३१।।

अर्थ–यह एक स्मरणीय तथ्य है कि योग्यता, श्रम और मनोयोग के संयोग से ही साधन बनते हैं, बढ़ते हैं ।

धन सार्थक बनता है नेकी से कमाने और भलाई में खर्च करने से । घातक बनता है दुरुपयोग से । छोटी भी छिद्र हीन नौका पार कर देगी, बड़ी से बड़ी छेद वाली होगी तो डुबो देगी ।

साधन कमाना मनुष्य के हाथ में है । गई-गुजरी परिस्थितियों में भी अनेक व्यक्तियों ने अध्यवसाय पुरुषार्थ के माध्यम से साधन जुटाकर स्वयं को संपन्न बनाया है । योग्यता अकेली पर्याप्त नहीं । योग्यता के साथ परिश्रम एवं काम में तन्मयता का संपुट न हो तो वह भी निरर्थक ही चली जाती है । एक बार कमा लेने पर भी उसके यदि सदुपयोग का मार्ग न बनाया गया तो वह सारा परिश्रम व्यर्थ ही जाता है, उपार्जन कर्ता को कष्ट पहुँचाता व अपयश का भागी बनाता है ।

साधन घटे, विभूतियाँ बढ़ीं

राजकुमार पद्म महामंत्री मार्तंड के संरक्षण में व्यावहारिक प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे थे । उन्हें साधनों और विभूतियों का महत्व समझाते हुए महामंत्री ने एक उदारहण रखा । दो युवक नकुल और प्रदीप को व्यवसाय करने के लिए अनुमति और साधन दिए गए । नकुल को नगर के बीच में तमाम अचल संपदा तथा लागत के लिए प्रचुर धनराशि दी गई । प्रदीप को अनुमति के साथ थोड़ा सा धन देकर विदा किया गया । पाँच दिनों के बाद उपस्थित होने के लिए कहा गया ।

निर्धारित समय पूरा होने पर नकुल आए फटे हाल । बतलाया कि धन समाप्त हो गया, अचल संपत्ति बिक गई और वे श्रेष्ठि प्रदीप के दीनों को राहत कार्यक्रम के आधार पर गुजारा चला रहे हैं । श्रेष्ठि प्रदीप और कोई नहीं सामान्य धन लेकर व्यवसाय प्रारंभ करने वाले युवक प्रदीप थे ।

महामंत्री ने राजकुमार को समझाया-देखा । नकुल जैसों के साधन विभूतियों के अभाव में नष्ट हो जाते हैं और प्रदीप जैसों के पास उनकी योग्यता, श्रमशीलता, लगन के आधार पर साधन पैदा हो जाते हैं । यह सत्य जो समझता है वही सही विभूतियों को महत्व दे पाता है ।

स्वल्प साधनों से गुरुकुल कांगड़ी

स्वामी श्रद्धानंद ने अपना घर बेचकर उस पैसे से हरिद्वार के पास कांगड़ी गाँव में दस विद्यार्थियों को लेकर एक गुरुकुल चलाया । अध्यापक, पालक, संचालक वे स्वयं ही थे । जिस तत्परता से उनने बच्चों को पढ़ाया तथा विद्यालय चलाया, उसने देखने वालों के मन जीत लिए । ख्याति के साथ-साथ छात्रों की संख्या तथा उदार जनों की सहायता भी बढ़ती गई । एक-एक करके गुरुकुल विकसित होता गया । स्वामी जी के जीवन काल में ही यह संस्था उन्नति के चरम लक्ष्य तक पहुँची थी । आज उसे विश्वविद्यालय का दर्जा प्राप्त है ।

गरीब विद्यार्थी से डायरेक्टर

एक लड़का बिना किसी से सहायता माँगे अति निर्धन होते हुए भी फीस अपने पास से जमा करता और किताबें भी स्वयं ही खरीदता । ईर्ष्यालुओं ने उस पर लांछन लगाया कि यह पैसा कहीं से चुराता है । प्रधानाध्यापक ने जाँच की तो मालूम हुआ कि वह स्कूल से बचे समय में एक माली के यहां सिंचाई का काम करता है और उससे कुछ उपार्जन कर लेता है । फीस माफ क्यों नहीं करा लेते ? इस प्रश्न का उसने उत्तर दिया-"समर्थ होते हुए भी मैं अपनी गणना असमर्थों में क्यों कराऊँ ?"

यह सिद्धांत निष्ठ पुरुषार्थी लड़का सदानंद चट्टोपाध्याय २० वर्ष बाद बंगाल के उसी शिक्षा संगठन का डायरेक्टर बनाया गया ।

गुणों ने उछाला

एक देहाती लड़का कलकत्ता में नौकरी के लिए गया । बहुत ही खोज के बाद एक सेठ के यहाँ चार घंटे नित्य अखबार और पुस्तकें सुनाने की छः आने रोज की नौकरी करने लगा । एक दिन सेठ के ८००) रु० के नोट कूड़े में पड़े रह गए । लड़के ने उन्हें देख लिए और सही मालिक तक पहुँचाने की दृष्टि से कूड़े से ढक दिए ।

दूसरे दिन रुपयों की खोज बीन हुई । चपरासी पर सब का शक था । लड़के ने आते ही कूड़के ढेर में से वे रुपये लाकर दे दिए । इस ईमानदारी से सभी को बड़ी प्रसन्नता हुई । सेठ की आँखों में भी इज्जत बढ़ी । उसकी आगे की पढ़ाई का कुछ प्रबंध हो गया । यही लड़का आगे चलकर प्रसिद्ध साहित्यकार राम नरेश त्रिपाठी हुआ ।

संत का कार्यक्रम सफल हुआ

विष्णु पुलस्कर का संगीत कार्यक्रम तीन घंटे का होना था । टिकट पाँच ही बिके । प्रश्न यह उठ रहा था टिकट लौटा दिए जांए । पर पुलस्कर ने पाँच श्रोताओं के सामने अपने तीन घंटे का पूरा कार्यक्रम चलाया ।

इस ईमानदारी और कलाकारिता पर सुनने वाले मुग्ध हो गए । उन्होंने दूसरे दिन सभी जगह गायन की भूरि-भूरि प्रशंसा की तो रात्रि को हजारों श्रोता उपस्थित हो गए ।

गुणवत्ता अधिक महत्वपूर्ण

साधन जुटाना जितना जरूरी है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण है, उस कार्य के साथ जुड़ी ईमानदारी-नीति निष्ठा ।

विश्व के सर्वश्रेष्ठ वायलिन निर्माता स्ट्रैडिवरी को एक वायलिन के बनाने में दो माह का समय लगता था, जबकि उनके प्रतिस्पर्धियों को वायलिन बनाने में केवल सात-आठ दिन ही लगते थे । एक दिन उनके मित्र

ने पूछा–"आप तो विश्व विख्यात निर्माता हैं फिर तो आप अन्य कलाकारों से भी जल्दी वायलिन बनाकर बेच सकते हैं इससे आपको आर्थिक लाभ ही न होगा वरन् संगीतकारों को अधिक समय तक प्रतीक्षा न करनी पड़ेगी ।"

"आर्थिक लाभ के संबंध में तो भली-भाँति मैं नहीं कह सकता पर इतना अवश्य जानता हूँ कि जल्दबाजी में किया गया कार्य अधूरा ही रहता है । मैं अपने लाभ से अधिक महत्व विक्रेताओं की लाभ-हानि को देता हूँ । क्योंकि जल्दबाजी में बनाए 'वायलिन उन्हें पूरा आनंद न दे सकेंगे ।'–स्ट्रैडिवरी ने कहा ।

गरीब से अमीर बना

संसार के जिन चार बड़े धनियों की गणना होती है उनमें एक एक का नाम रॉकफेलर है । यह दौलत उन्होंने कठिन परिश्रम और अध्यवसाय से कमाई । उनकी माँ एक छोटा सा मुर्गीखाना चलाती थीं । निष्ठा से माँ के काम में हाथ बटाने पर उसे १) रु० मासिक अतिरिक्त मजूरी मिलने लगी । एक के बाद एक कदम उठाते हुए वे तेल व्यवसाय से अरबपति बने ।

उनने कितनी ही संस्थाओं को जन्म देने में अरबों रुपया खर्च किया । चलती हुई संस्थाओं की सहायता के लिए उन्होंने करोड़ों की राशि दान दी । फिर भी उनकी नम्रता और मितव्ययिता देखने ही योग्य थी ।

सत्कार्यों में सुनियोजन

डा० माम उस पुरुषार्थी का नाम है जिसने अपने बलबूते लेखक बनने का प्रयत्न किया और उसमें पूरी तरह सफल हुआ । उनकी एक पुस्तक की ही अब तक १५ करोड़ प्रतियाँ बिक चुकी हैं । इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि उनकी लगभग ५० पुस्तकों से कितनी आय हुई होगी । यह सारा पैसा उन्होंने लेखन कला सिखाने का विद्यालय चलाने और निर्धनों की सहायता करने के लिए दान कर दिया । यों उनकी पुत्री ने अपना हक सिद्ध करने के लिए एक मुकदमा भी चलाया कि यह पैसा उत्तराधिकारी के नाते उसे मिलना चाहिए ।

दो अनाथ बालकों की पुरुषार्थ साधना

पिता के स्वर्गवास हो जाने पर दस और बारह वर्ष के दो बच्चे अपना गाँव छोड़कर कहीं आजीविका की तलाश में चल पड़े । रतलाम में एक पुजारी का आश्रम मिला । वहाँ कुछ कमाई करके बंबई चल दिए । वहाँ फुटपाथ पर सस्ती किताब बेचने लगे । यह धंधा उन्हें पसंद आया । फेरी लगाकर धार्मिक पुस्तकें बेचने लगे । हिम्मत बढ़ी और सफलता मिली तो दो रुपये मासिक के झोपड़े में ही एक हैंड प्रेस लगा लिया । काम इतना बढ़ा कि धार्मिक पुस्तकें प्रकाशित करने का वह भारत का माना हुआ प्रेस बन गया । धार्मिक विचार के होने के कारण धार्मिक कार्यों में सदा मुक्त हस्त से दान दिया करते थे । अंत में प्रेस और प्रकाशन की संपत्ति करोड़ों रुपयों की हो गयी । इन्हें खेमराज श्रीकृष्ण के नाम से जाना जाता है ।

जमना लाल बजाज

सेठ जमना लाल बजाज करोड़पति बच्छराज जी को गोद आए थे । उन्हें जो धन मिला । उसका अधिकांश भाग गाँधी जी की राष्ट्रीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए लगा दिया । इसे कहते हैं धन का सदुपयोग ।

नौकर की बहूदगी

संत शिबली को खलीफा ने बुलाया और उनकी इज्जत करने के बाद कीमती कपड़े उन्हें उपहार में दिए । साथ में नौकर भेजा जो सामान को घर तक पहुँचा आया ।

नौकर ने बेशकीमती कपड़े नाक और मुँह के कफ से गंदे कर दिए । फलतः वे फेंकने पड़े । खलीफा को नौकर की इस हरकत का पता चला तो उसे नौकरी से बरखास्त कर दिया ।

जब इस प्रसंग की चर्चा सत्संग में हुई तो संत ने कहा–"ईश्वर हम सबको कीमती कपड़ों जैसा शरीर और साधन संपदा देता है । पर अगर हम उस पिटारे को गंदा कर दें, उस बहुमूलय संपदा को यों ही मूर्खतावश गँवा दें तो फिर नाराजी, बदनामी और बर्खास्तगी के सिवाय और क्या मिलेगा ?

समझ की परख

एक पिता के दो लड़के थे । दोनों की समझ परखने के लिए पिता ने दस-दस रुपये दिए और कहा–"इनकी ऐसी वस्तु खरीद लाओ जो फर्श से छत तक जा पहुँचे ।"

एक लड़का सड़ा हुआ भूसा खरीद लाया और दूसरा एक बढ़िया लालटेन । लालटेन की रोशनी फर्श से आसमान तक मुद्दतों तक बनी रही और सड़े भूसे को बाहर फिकवाने के लिए उल्टा दाम खर्चना पड़ा ।

ईश्वर की दी हुई जीवन संपदा के बदले में हम क्या खरीदते हैं यह बुद्धिमानी और मूर्खता पर निर्भर है ।

छिद्रहीन व्यक्तित्व बनाओ

माँ मदालसा ने चौथे पुत्र अलर्क को राजा बनाया । पहले तीन पुत्र ब्रह्म ज्ञानी बन गए थे । अलर्क ने पूछा बड़े भाइयों को आत्म कल्याण के लिए साधन संपन्न नगरवासी जीवन की अपेक्षा कम साधनों से युक्त वनवासी जीवन क्यों रुचा ?

माँ बोली–"बेटे, बताओ जिसका उद्देश्य नदी पार करना हो वह सुविधा सामग्री से भरी विशाल, लेकिन छिद्र वाली नौका चुनेगा, या सामान्य सी छिद्रहीन नौका ?" अलर्क ने कहा–"निश्चित रूप से छेदहीन सामान्य नौका चुनी जाने योग्य है ।"

माँ ने समझाया–"बेटे, सांसारिक सुख-सुविधाओं भरे जीवन में मनुष्य के व्यक्तित्वों में दोषों के छिद्र बन जाते हैं । साधना युक्त जीवन से व्यक्तित्व छिद्र हीन बनता है । इसीलिए साधन-सुविधाएं छोड़कर छिद्रहीन व्यक्तित्व वाला जीवन चुनते हैं । तुम भी ऐसा ही व्यक्तित्व बनाना, साधनों को जरूरत से ज्यादा महत्व मत देना ।

दुग्धे दुग्धे च चालन्यां पश्चात्तापोऽभिलभ्यते ।
असंयमस्य छिद्रेषु पूर्वोक्तेषु चतुर्ष्वपि ।। ३२।।
सम्पदाया जीवनस्य स्रवन्त्यंशास्ततो नरः ।
दीनं दरिद्रमात्मानमभाग्यमसहायकम् ।। ३३।।
अनुभवन्ति नरा ये तु समये सावधानताम् ।
आश्रित्य संयमं चात्मशक्तिस्त्रोतोऽन्तयन्ति नो ।। ३४।।
परं विवेकपूर्वं तत्सर्वं सद्भ्यो नियुञ्जते ।
क्रोपयोग्या संयमेन सञ्चिताः सम्पदा इति ।। ३५।।
सम्बन्धे बोधयत्यस्मान् यत्तुधर्मानुशासनम् ।
भद्राः शृण्वन्तु तत् सर्वे भवन्तो ध्यानपूर्वकम् ।। ३६।।

टीका–चलनी में दूध दुहने पर मात्र पश्चात्ताप ही हाथ रहता है । इसी प्रकार असंयम के उपरोक्त चार छिद्रों में होकर जीवन संपदा के महत्वपूर्ण अंश बह जाते हैं और मनुष्य अपने आपको दीन, दरिद्र, असहाय, अभागा अनुभव करता है । बुद्धिमान वे हैं, जो समय रहते इस दिशा में सतर्कता बरतते हैं और संयमी रहकर अपने शक्ति भंडारों को नष्ट नहीं होने देते, वरन् विवेकपूर्वक उन्हें सत्प्रयोजनों में ही नियोजित किए रहते हैं । संयम द्वारा संचित संपदा का कहाँ उपयोग करना चाहिए, इस संबंध में धर्मानुशासन जो कहता है, उसे भद्रजनो ! आप ध्यानपूर्वक सुनें ।। ३२–३६।।

अर्थ–शक्ति का मूल स्रोत जीवन संपदा जब तक संचित है, उसके अपव्यय के छिद्र बंद कर दिए गए हैं, जीवन को साध लिया गया है तो मनुष्य से बढ़कर सौभाग्यशाली कोई नहीं । आगे बढ़ने का मार्ग उसके लिए खुला है । भौतिक उपलब्धियों आत्मिक प्रगति का पथ उसे समृद्धि के चरम शिखर पर ले जाता है । अक्षय जीवन जीते हुए वह स्वयं तो धन्य होता ही है, संचित संपदा सामर्थ्य के सुनियोजन द्वारा विश्व वसुधा को भी लाभान्वित करता है । असंयम के माध्यम से इस जीवन को क्रमशः खोखला बनाते हुए उपलब्धियों को खोते जाना एक ऐसी विडंबना है, जिसका वर्णन करते हुए शास्त्र वचनों में अनेक अनुशासन मनवी गरिमा के अनुरूप बताए गए हैं । वह स्वयं को तो हानि पहुँचाता ही है, समष्टि का एक अंग होने के नाते स्रष्टा के प्रति कृतघ्नता बरतने का दोषी भी ठहरता है । ऋषि यहाँ पर मात्र संयम को ही नहीं, संचित सामर्थ्य के सुनियोजन परमार्थ हेतु उनके सदुपयोग को एक प्रकार का धर्मानुशासन बताते हुए उसे अमल में लाने के लिए जोर दे रहे हैं ।

वे अपने दोषों से जर्जर थे

सुग्रीव का राज्याभिषेक हो चुका था । वे श्रीराम के बल की प्रशंसा करते हुए कहने लगे, उन्होंने बालि जैसे बलवान को एक ही वाण में धराशायी कर दिया ।

राम बोले देखने वालों को यही लगा । परंतु बालि के दोषों ने उसको छेद-छेद कर जर्जर बना दिया था, इसीलिए सिद्धांत के एक ही आक्रमण से वह ढह गया ।

भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को दिव्य दृष्टि देकर वह दिखाया था कि कौरवादि किस प्रकार अपने ही पातकों के जबड़ों में पिस रहे हैं, नष्ट हो रहे हैं । उसे तो मात्र अपना पुरुषार्थ दिखाना है । वे स्वतः नष्ट हो जाएंगे । मोह भंग होने एवं यथार्थता की अनुभूति होने पर अर्जुन ने परम सत्ता के सहयोग के बलबूते पर वह सब कर दिखाया, जो उसे अकेले के बलबूते असंभव जान पड़ रहा था ।

मौन की सामर्थ्य

व्यास जी महाभारत के प्रसंग बोलते गए और गणेश जी लिखते गए । बोलने की गति स्वभावतः लिखने की गति से अधिक होती है, तो भी व्यतिरेक न पड़ा । गणेश जी के लिखने में कहीं कोई व्यवधान न पड़ा ।

कार्य की समाप्ति पर सूत जी ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए गणेश जी से पूछा कि आपके ऊपर समझने और हाथ चलाने, कागज उलटने का अतिरिक्त श्रम पड़ा जबकि व्यास जी मात्र जोर से बोलते ही रहे । इतना अधिक कार्य आप किस प्रकार कर सके ।

गणेश जी ने कहा–"मैं इस बीच सर्वथा मौन रहा । मौन से शक्तियों का एकीकरण जो होता है । उसे अपनाने वाले को सामर्थ्य की कमी नहीं पड़ती है ।"

रावण का पतन

युद्ध भूमि में रावण का मृत शरीर पड़ा था । उसमें सहस्रों छिद्र थे और उन सभी से रक्त बह रहा था । अन्य दल नायकों के साथ राम-लक्ष्मण भी उसे देखने पहुँचे ।

लक्ष्मण ने मृत शरीर में सहस्र छिद्र देखे तो चकित रह गए । राम से पूछा–"देव ! आपने तो एक ही बाण में इसका वध किया था फिर सहस्र छिद्र कैसे ?"

राम ने गंभीरतापूर्वक कहा–"मैंने तो एक ही बाण मारा था । यह हजार छिद्र तो उसके अपने असंयम जन्य पाप कर्म के कारण हैं, जो स्वयं ही फूटे और स्रवित हो रहे हैं ।" महा पंडित रावण की दुर्गति का कारण समझ कर सबने इस मर्म को जाना कि संयम की उपेक्षा से हुए जर्जर जीवन केलिए एक ही प्रहार पर्याप्त है ।

सम्पदा का श्रेष्ठतम सदुपयोग

भगवान बुद्ध उन दिनों दान और अपरिग्रह का प्रचार करते थे । उस क्षेत्र का सबसे बड़ा धनाड्य अर्थवसु था । उसने प्रवचन ही सुने पर दिया एक पैसा भी नहीं ।

पुत्र ठाट-बाट के साधन माँगते थे और पुत्र वधुएं जेवर । पर अर्थवसु उन्हें सादगी का उपदेश करते और खर्चने में स्पष्ट इन्कार कर देते ।

नालंदा विश्वविद्यालय का निर्माण और विस्तार कार्य चल रहा था । उस प्रयास की परिणति समझाई जा रही थी । अर्थवसु ने ऐसे ही उच्च प्रयोजन के लिए कृपणों की तरह अपना धन बचाया था ।

दूसरे ही दिन वे तथागत के पास पहुँचे और अपनी लाखों की संपदा उनके चरणों पर रख दी और कहा–"मैंने जीवन भर धन इसीलिए बचाया कि इसे श्रेष्ठतम कार्य में लगा सकूँ, आज मेरे सामने वह कार्य आ गया । आप मेरी सारी संपदा उसी कार्य में लगा दें ।"

सच्चे व्रती

श्री रामकृष्ण परमहंस विवाहित थे । सपत्नीक रहते थे । मिल-जुल कर अनेक महत्वपूर्ण कार्य करते थे । पर काम सेवन से पूरी तरह बचे रहे । गाँधी जी ने भी भरी जवानी में ब्रह्मचर्य का व्रत लिया था और उसके उपरांत वे पत्नी को सदा बा (माता) कहते रहे ।

लक्ष्य के लिए समर्पित–डॉ० लोहिया

डाक्टर राममनोहर लोहिया संपन्न घर के थे । विद्या और प्रतिभा के धनी । शरीर सुंदर और सुगठित । उनके विवाह के लिए अनेक प्रस्ताव आते थे । घरवालों का दबाव भी बहुत था । पर वे अपने अटल निश्चय पर दृढ़ रहे कि जब तक देश स्वतंत्र नहीं हो जाता तब तक उस लक्ष्य को पूरा किए बिना मैं अपना समय और ध्यान किसी अन्य दिशा में नहीं लगा सकता । उनका आशीर्वाद उनके साथियों को सतत प्रभावित करता रहा ।

जिन्हें राज वैभव और मकबरों से चिढ़ थी

शाहजहाँ की लाडली बेटी जहानआरा को तथा औरंगजेब की पुत्री जेबुन्निसाँ को पैतृक संपदा तो मिली थी, पर परिवार में आए दिन धन के लिए मचे रहने वाले षड्यंत्रों और हत्याकांडों से वे अत्यंत दुःखी थीं । वे जीवन के अंतिम दिनों अपनी संपदा परमार्थ में लगाकर सूफी मतानुयायी हो गई थीं । उन्हें इस बात से भी चिढ़ थी कि कुकर्मी राजा अपने मरने के बाद

कीमती मकबरे बनवाकर यशस्वी बनना चाहते हैं ।

दोनों के मरने के समय में भी थोड़ा ही अंतर रहा । उनने अपने दफनाए जाने के लिए जगह भी स्वयं ही चुनी और हिदायत की कि उस पर घास के अतिरिक्त और कोई सरंजाम इकट्ठा न किया जाय । यह कब्रें हजरत निजामुद्दीन चिस्ती की दरगाह के पास मिट्टी के टीले के रूप में अभी भी बनी हुई हैं । ये बताती हैं कि राज वैभव की तुलना में सत्प्रयोजनों में नियोजित संपदा अधिक सार्थक है । ताजमहल के वैभव की तुलना में ये उपेक्षित कब्रें आदर्शवादियों के लिए सदा प्रेरणा स्रोत बनी रहेंगी ।

मल्ली ने विवाह नहीं किया

मिथिला नरेश की पुत्री थी मल्ली । रूप और गुणों में प्रख्यात । विवाह योग्य हुई तो अनेक राजा उसे अपनी पुत्रवधू बनाने के लिए व्याकुल थे । मल्ली का मन बिल्कुल ही न था । पर पाने के इच्छुक इतने व्याकुल थे कि उनने मिथिला पर चढ़ाई कर दी और मिथिला नरेश को हरा दिया ।

मल्ली ने दूरदर्शिता से काम लिया उसने अपनी एक प्रतिमा बनवाई । उसमें मलमूत्र भर दिया । वस्त्र बहुत सुंदर पहनाए । आड़ में बैठकर मल्ली ने उपस्थित सब राजाओं को संबोधित करते हुए कहा–"यही है वह पुतली जिसके लिए आप लोग उतावले हैं ।" पुतली खोल कर दिखाई तो उसमें मलमूत्र भरा था और दुर्गंध आ रही थी ।

राजाओं को स्थिति का बोध हुआ और वे सभी वापस लौट गए । मल्ली ने सिर मुड़ा लिया । राजमहल छोड़कर वह जन कल्याण के कार्यों में जुट गई । उसे जैन धर्म में महती प्रतिष्ठा साध्वियों की तरह मिली । उसने असंख्य व्यक्तियों को ऊँचा उठाया और परमार्थ में लगाया ।

राज्य कोष जन कल्याण की योजनाओं में खर्च

राजा रघु के दरबार में एक प्रश्न चल रहा था कि राज्य कोष का उपयोग किन प्रयोजनों के लिए किया जाए ?

एक पक्ष था सैन्य शक्ति बढ़ाई जाय ताकि न केवल सुरक्षा वरन् क्षेत्र विस्तार की योजना भी आगे बढ़े । इसमें जो खर्च पड़ेगा वह पराजित देशों से नए लाभ मिलने पर सहज पूरा हो सकेगा ।

दूसरा पक्ष था प्रजा जनों का स्तर उठाने में राज्य कोष खाली कर दिया जाय । खुश, संतुष्ट, साहसी और भावनाशील नागरिकों में से प्रत्येक एक दुर्ग होता है । उन्हें जीतना किसी शत्रु के लिए संभव नहीं । इस प्रकार युद्ध विजय से क्षेत्र जीतने की अपेक्षा मैत्री का विस्तार कहीं अधिक लाभदायक है, उससे स्वेच्छा, सहयोग और अपनत्व की ऐसी उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिनके कारण छोटा देश भी चक्रवर्ती स्तर का बन सकता है ।

दोनों पक्षों के तर्क चलते रहे । निदान राजा ने निर्णय दिया । युद्ध पीढ़ियों से लड़े जाते रहे हैं । उनके कड़ुए, मीठे परिणाम भी स्मृति पटल पर अंकित हैं । अबकी बार युद्ध प्रयोजनों की उपेक्षा करके लोक मंगल की परिणति को परखा जाय और समस्त संपत्ति जन कल्याण की योजनाओं में खर्च कर दी जाय ।

वैसा ही किया गया । धीरे-धीरे प्रजा जन हर दृष्टि से समुन्नत हो गए । पड़ोसी राज्यों को समाचार मिले तो उनके हौसले टूट गए । आक्रमण की चर्चाएं समाप्त हो गईं । सुख शांति के समाचार पाकर अन्य देशों के समर्थ लोग वहाँ आकर बसने लगे । बंजर भूमि सोना उगलने लगी और उत्साही प्रजा जनों ने अपने देश को ऐसा बना दिया जिसके कारण अयोध्या क्षेत्र में सतयुग दृष्टिगोचर होने लगा ।

मनस्वी की अजेयता

एन्थिस स्थित वेदांत केन्द्र अमेरिका का सुप्रसिद्ध अध्यात्म केन्द्र था । वहाँ बाइबिल से लेकर गीता तक के सारगर्भित प्रवचन होते थे ।

उस दिन गीता के उन श्लोकों की व्याख्या स्वामी विवेकानंद द्वारा हो रही थी जिसमें मन की उस कुटेव की विवेचना की गई थी जिसमें कहा गया है कि वह न चाहते हुए भी कुमार्ग पर चला जाता है और मनुष्य को पतन के गर्त में गिरा देता है ।

भाषण बड़ा सारगर्भित और हृदय ग्राही था । मंत्र मुग्ध श्रोता गण आदि से अंत तक उसे सुनते रहे । समाप्त होने पर वे विदा तो हुए पर लगा किसी ने उनके अंतःकरण को हिला दिया हो ।

सभी चले गए । विवेकानंद भी चाँदनी रात में अपने निवास गृह की ओर पैदल जा रहे थे । एक असाधारण सुंदरी उनके पीछे-पीछे चल रही थी । अवसर देखकर उसने प्रणय निवेदन किया । उनका हाथ अपने हाथ से पकड़ लिया और छाती से सट गई ।

विवेकानंद न झिझके, न द्रवित हुए उनने उस युवती का हाथ थाम लिया और कहा–"माँ ! तुम कैसी कल्याणी हो । लगता है माँ शारदा मणि का सा दुलार देने यहाँ आई हो । कितनी महान हो तुम ।

एक ईर्ष्यालु पादरी ने षड्यंत्र बनाकर विवेकानंद को बदनाम करने के लिए उसे भेजा था । पर विवेकानंद का हाथ छूते ही उसे लगा कोई देवता उस पर अमृत बरसा रहा है । वापस लौटते हुए उसने इतना ही कहा–"देवता ! तुम्हें गिराने आई थी पर तुम हो जिसने मुझे आसमान तक उठा दिया ।" विकार के स्थान पर उसका मातृत्व उदय हो आया था ।

प्राकृतिक जीवन से नव यौवन

संत बिनोवा के बड़े भाई बालकोवा एक बार अपना स्वास्थ्य बुरी तरह गँवा बैठे और मृत्यु की तैयारी करने लगे । गाँधी जी ने उन्हीं दिनों उरुली कांचन में प्राकृतिक चिकित्सालय खोला था । वे उसमें भर्ती हो गए और संयम, नियम पर इस प्रकार चलने लगे कि बीमारी को उनने पछाड़ दिया । उसके बाद वे उसी आश्रम में संचालक बने और अपने जैसे अनेक निराश रोगियों को प्राकृतिक जीवन की शिक्षा देकर नव जीवन प्रदान करने में सफल हुए ।

तप से शोधन

आचार्य बसु ने बटू को मनु का सूत्र समझाया–'तपसा किल्बिं हन्ति' अर्थात जैसे अग्नि में डालकर सोना शुद्ध किया जाता है, उसका मल दूर किया जाता है, उसी प्रकार तप द्वारा कायागत, मनोगत स्वभावों का शोधन किया जाता है ।

एक बटू ने पूछा–"आचार्य प्रवर ! इस दृष्टि से तो तप सूक्ष्म साधना क्रम है । पर लोग कष्ट साध्य स्थितियों में शरीर को रखकर उसे भी तप की संज्ञा देते हैं–यह कहाँ तक ठीक है ।"

आचार्य ने समाधान किया–"वत्स ! सहनशक्ति, श्रमशक्ति का अभाव तथा आलस्य आदि भी दोष हैं । कष्ट साध्य स्थिति में शरीर को डालकर यह दोष हटाने में मदद मिलती है । इस दृष्टि से वह भी तप है । यह उद्देश्य पूरा न हो तो उसे दुराग्रहपूर्ण प्रक्रिया ही समझना चाहिए ।" आगे वे बोले–"तप का अर्थ दमन नहीं है, संचित सामर्थ्य जो तितिक्षा द्वारा अर्जित की गयी है, उसका सुनियोजन है । जो इस चिंतन से तप में निरत होते हैं, वे निश्चित ही दैवी अनुदानों के अधिकारी होते हैं ।"

मनुष्याय प्रभुर्यत्र व्यतरच्चिन्तनं महत् ।
स्वतन्त्रमपि कर्तृत्वं तत्राऽबध्नादपि प्रभुः ।। ३७।।
नरं त्वनेककर्तव्यशृंखलाभिरुदारधीः ।
संगच्छध्वं संवदध्वं कर्तुं स व्यवहारगम् ।। ३८।।

टीका–मनुष्य को ईश्वर ने जहाँ स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता प्रदान की है, वहाँ उसे अनेकानेक कर्तव्यों की जंजीरों में भी जकड़ा है, क्योंकि वह उदारचेता है, 'संगच्छध्वं संवदध्वम्' को व्यावहारिक रूप देना चाहता है ।। ३७–३८।।

अर्थ–परमात्मा 'उदार चेता' है । अर्थात प्राणी मात्र के हित के लिए अपने अनुदान उदारतापूर्वक खर्च करना चाहते हैं । परंतु साथ ही साथ 'संगच्छध्वं' अर्थात सबकी सहयोगात्मक प्रगति को भी व्यावहारिक स्वरूप देना चाहते हैं । मनुष्य को स्वतंत्र चिंतन और कर्तृत्व की क्षमता इसलिए दी है कि वह स्वयं भी बढ़े और सहयोगात्मक वातावरण बनाते हुए औरों को भी बढ़ाए ।

सौंपे गए विशेष कर्तव्य पूरे कर सकने योग्य विशेष विभूतियाँ, विशेष क्षमताएं मनुष्य को दी गई हैं । यदि मनुष्य कर्तव्यों से मुकरता है अथवा विशेष क्षमताओं का अन्य कोई उपयोग करता है तो ईश्वरीय अनुबंधों का उल्लंघन करता है ।

उदारता मात्र देने को नहीं कहते । देने के साथ अनुशासन का जुड़ा होना यही बताता है कि परमेश्वर कितना न्यायकारी, नियम व्यवस्था को पसंद करने वाला है । यदि यह न होता तो अनुदान लुटाते रहते, अनुकंपाएँ बरसती रहतीं, कुपात्र भी उसी बहती गंगा में हाथ धोते एवं कहीं भी कर्तव्यों का, मर्यादा का स्थान नहीं होता । मनुष्य स्रष्टा को प्रिय है, उसका राजकुमार है उसी कारण दुलार व सुधार की समन्वित नीति के नाते उसे अनुदानों के साथ कर्तव्यों से भी बाँध दिया गया है । यह प्रकारांतर से मानव के

हित में ही है । मनुष्य आजादी से अपने संबंध में सोच सकता एवं अपने कर्तृत्वों का निर्धारण कर सकता है पर यह छूट एक सीमा विशेष में ही है । परमात्मा एक स्वनियंत्रित, सुनियोजित व्यवस्था है जिसके चलते वह मर्यादाओं का उल्लंघन करते ही तुरंत उनके दुष्परिणामों को भी भोगता है । ये उसे सचेत करने एवं सही मार्ग पर लाने हेतु व्यावहारिक दृष्टि से जरूरी भी हैं ।

पशु अधिक स्वच्छंद

राजकुमार शालिवाहन गुरु आश्रम में अध्ययन कर रहे थे । आश्रम में अन्य प्राणियों के जीवन क्रम को देखने-समझने का भी अवसर मिला तथा मानवोचित मर्यादाओं के पालन की कड़ाई में से भी गुजरना पड़ा । उन्हें लगा पशुओं पर मनुष्यों जैसे अनुशासन नियंत्रण नहीं लगते वे इस दृष्टि से अधिक स्वतंत्र हैं । मनुष्य को तो कदम-कदम पर प्रतिबंधों को ध्यान में रखना पड़ता है । एक दिन उन्होंने अपने विचार गुरुदेव के सामने रख दिए ।

गुरुदेव ने स्नेहपूर्वक समाधान किया-"वत्स ! पशु जीवन में चेतना कुएँ या गड्ढे के पानी की तरह रहती है । उसे अपनी सीमा में रहना है इसलिए उस पर बाँध या किनारे बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती । मनुष्य जीवन में चेतना प्रवाहित जल की तरह रहती है उसे अपने गंतव्य तक पहुँचना होता है । इसलिए उसे मार्ग निर्धारण बिखराव व भटकाव से रोक आदि की आवश्यकता पड़ती है । कर्तव्य-अकर्तव्य के बाँध बनाकर ही उसे मानवोचित लक्ष्य तक पहुँचाया जा सकता है ।"

अन्य प्राणी अपने तक सीमित हैं । मनुष्य को यह उत्तरदायित्व सौंपा गया है कि वह अनेक का हित करते हुए विशाल आत्मीयता का बोध करते-कराते आगे बढ़े । इसलिए उसे प्रवाह की क्षमता भी मिली है और कर्तव्यों के बंधन भी आवश्यक हैं ।

राजकुमार समझ गए, पशु स्वच्छंद हो सकते हैं, स्वतंत्र नहीं । मानव को स्वतंत्रता मिली है, स्वच्छंदता नहीं । कर्तव्य बंधन स्वच्छंदता को रोकते हैं स्वतंत्रता को नहीं ।

मूर्ख ने गुरु बनना चाहा

मनुष्य जन्म तो सहज ही मिल जाता है किन्तु उसे सार्थक कम लोग ही बना पाते हैं ।

एक बार एक मूर्ख किसी सिद्ध पुरुष के पास पहुँचा और बोला मुझे अपना शिष्य बना लीजिए ताकि आपकी करामातें हासिल कर सकूँ ।

सिद्ध पुरुष ने कहा-"शिष्य बनना कठिन है उसमें झिड़कियाँ सुननी पड़ती हैं । गुरु तो अपनी गरिमा से सम्मान भी पाते हैं और उपहार भी ।"

इस पर मूर्ख बोला-"तब तो आप मुझे अपना गुरु बना लीजिए । शिष्य बनने का इरादा मैंने छोड़ दिया ।"

क्या यह सच नहीं कि आज बहुतायत ऐसे ही लोगों की है जो कर्तव्यों की उपेक्षा कर सुगम रास्ते को ही तलाशते रहते हैं ।

संत शिवली की अंतःवेदना

सूफी संत शिवली एक दिन लंबी सी जलती लकड़ी लेकर दौड़े जा रहे थे । लोगों ने पूछा-"ऐसा किसलिए ?"

उनने कहा-"जन्नत में आग लगाने जा रहा हूँ जिसमें लोग खुदा की मुहम्मद करने नहीं, ऐशो आराम के लालच में जाने के लिए चोर दरवाजा तलाश करते हैं । कर्तव्यों को भूल जाते हैं स्वच्छंद आचरण करते फिरते हैं ।"

राजा के मौसेरे भाई

ऊँचे पद पर पहुँचने पर भी मानव तन धारी मनुष्य को अपने लक्ष्य का बोध रहता नहीं है । कभी-कभी विधाता स्वयं संकेत देने-दिशा देने जा पहुँचते हैं । राजा के दरबार में एक वृद्ध पहुँचा और बोला-"भगवन् ! मैं आपका मौसेरा भाई हूँ । कभी आपकी तरह मैं भी था । ३२ नौकर थे, एक-एक करके चले गए । दो मित्र थे वे भी साथ चलने से कतराने लगे । दो भाई हैं सो बड़ी मुश्किल से थोड़ा बहुत काम करते हैं । पत्नी भी उल्टे-सीधे जबाव देती है । मेरी मुसीबत देखते हुए यदि आप कुछ सहायता कर सकें तो कर दें ।"

राजा ने उसका आदर किया और रुपयों की एक थैली थमा दी । सभासदों ने पूछा-"यह दरिद्री आपका मौसेरा भाई कैसे हो सकता है ?"

राजा ने कहा-"इसने मुझे मेरे कर्तव्यों का ज्ञान कराया है । इसके मुँह में मेरी ही तरह ३२ दाँत थे सो भी

उखड़ गए । दो पैर मित्र थे सो डगमगा गए । दो भाई हाथ हैं जो अशक्त होने के कारण थोड़ा बहुत ही काम करते हैं । बुद्धि इसकी पत्नी थी सो वह भी अब सठिया गई है । कुछ का कुछ जबाव देती है । मेरी माँ अमीरी और गरीबी हैं । ये दोनों बहने हैं । इसलिए हम दोनों मौसेरे भाई भी हैं । वृद्ध का कहना गलत नहीं है ।"

इन संकेतों में राजा ने स्वयं के लिए एक संदेश पाया और अपना शेष समय सत्कार्यों में, प्रजाजनों के कल्याण हेतु नियोजित करने का संकल्प किया । समझदारी ने शीघ्र ही कर्तव्यों का ज्ञान करा दिया, इस पर राजा ने वृद्ध का सम्मान कर विदा किया ।

समुद्र की कर्तव्य निष्ठा

चंद्रमा समुद्र से बोला–"सारी नदियों का पानी आप अपने ही पेट में जमा करते हैं । ऐसी तृष्णा भी किस काम की ?"

समुद्र ने कहा–"जिनके पास अनावश्यक है उनसे लेकर बादलों द्वारा सर्वत्र न पहुँचाऊँ तो सृष्टि का क्रम कैसे चले ? यदि सब एकत्र ही करते रहेंगे तो औरों को मिलेगा कैसे ? मैं तो अपना कर्तव्य निभाता हूँ । अन्य क्या करते हैं, यह नहीं देखता ।"

मानवता के पक्षधर– डॉ० गोमेज

डा. गोमेज गोवा में जन्मे ईसाई थे । इनकी शिक्षा और योग्यता को देखते हुए उन्हें पुर्तगाल की संसद का सदस्य बनाया गया । सरकार का विचार था कि पद की रिश्वत और जन्म जात ईसाई होने के कारण वे हर बात में सरकार का समर्थन करेंगे । पर वैसा हुआ नहीं उनने ईसाई धर्म के प्रति अपनी निष्ठा व्यक्त करते हुए भारतीय संस्कृति को विश्व संस्कृति एवं मानव संस्कृति के रूप में व्यक्त किया ।

उनने सारे यूरोप का दौरा किया और न केवल भारतीय संस्कृति की आत्मा का स्वरूप दिखाया वरन् गोवा की स्वतंत्रता की वकालत भी की । पुर्तगाल सरकार की नाराजी तो उन्हें मिली पर ईसाई समाज को जो भारतीयता की आत्मा समझने का अवसर मिला उससे वे विश्व विख्यात हो गए ।

सार्थक संन्यास लेने वाले– त्यागी जी

सारन (बिहार) के बड़ा गाँव नामक एक कृषक परिवार में जन्मे कैलाश नाथ त्यागी की पारिवारिक उत्तरदायित्वों से निवृत्त होकर संन्यास लेने की इच्छा थी । सो ढलती आयु में उनने संन्यास ले भी लिया । आरंभ के कुछ दिनों तीर्थ यात्रा और साधु संगति में भटकते रहे पर कुछ ही दिनों में उस समय क्षेप की निरर्थकता समझ में आ गई । उनने कुछ रचनात्मक काम पूरे किए ।

मात्र एक पैसा हर आदमी से चंदा लेकर उससे एक अच्छा सार्वजनिक मंदिर बनाया जिसमें उस रूढ़िवादी जमाने में भी हरिजनों को प्रवेश खुला था ।

इसके बाद दो पैसा फंड एकत्रित करके उनने एक हाईस्कूल खड़ा किया । जिसमें एक हजार से ऊपर छात्र पढ़ने लगे । एक पैसा वाला मंदिर और दो पैसे वाला हाईस्कूल बनाने वाले त्यागी जी को इस बहाने हजारों से संपर्क साधना और अपने विचारों से अवगत कराना पड़ा । इन दो निर्माणों के माध्यम से उनने उस क्षेत्र में नई चेतना भर दी ।

पशवो नाभिजानन्ति कार्याकार्यस्थितिं ततः ।
कार्यं स्वं कुर्वते सर्वं प्रकृतेः प्रेरणानुगम् ।। ३९ ।।
स्वातन्त्र्यं च मनुष्याय दत्त्वाऽपेक्षितमत्र यत् ।
उपयोगं विशेषायाः सुविधायाः स आचरेत् ।। ४० ।।
कर्तव्यपालनाख्येषु कार्येष्वेव न चाऽन्यथा ।
चित्तं सन्तुलितं स्वस्थं वपुश्चारित्र्यमुज्ज्वलम् ।। ४१ ।।
कर्तुं दायित्वमस्यास्ति त्रीण्येतानि प्रभोश्च मे ।
न्यासं विविच्य रक्षन्ति तान्ययोग्योपयोगतः ।। ४२ ।।
प्रयोजनेषु सत्स्वेव योजना बद्धरूपतः ।
युञ्जते ते दृढन्यासा लक्ष्यं यान्ति च निश्चितम् ।। ४३ ।।

टीका–पशुओं को कर्तव्य–अकर्तव्य का ज्ञान नहीं होता, वे मात्र प्रकृति–प्रेरणा का अनुसरण करके ही अपना काम चला लेते हैं, किन्तु मनुष्य को जो स्वतंत्रता प्रदान की गई है, उसके साथ ही ईश्वर ने यह अपेक्षा भी की है कि वह इस विशेष सुविधा का उपयोग मात्र उन्हीं कार्यों में करेगा, जिन्हें कर्तव्य पालन कहते हैं । शरीर को नीरोग, मन को संतुलित और चरित्र को उज्ज्वल रखना मनुष्य का उत्तरदायित्व है । इन तीनों को ईश्वर की धरोहर समझकर जो उन्हें अनुपयुक्तताओं से बचाए रहते हैं, सत्प्रयोजनों में योजनाबद्ध रूप से जुटाए रहते हैं, उनके पैर लड़खड़ाते नहीं और अभीष्ट लक्ष्य तक निश्चयपूर्वक पहुँचते हैं ॥ ३९–४३॥

अर्थ–ध्यान देने योग्य सूत्र है, विशेष शक्तियों के उपयोग की स्वतंत्रता केवल निर्धारित कर्तव्यों के लिए है ।

यह भी ईश्वर द्वारा सौंपे गए कर्तव्य हैं कि (१) शरीर को स्वस्थ-निरोग रखें, (२) मन को संतुलित बनाएँ-भटकने न दें तथा (३) अपने चरित्र को साफ-सुथरा बनाकर रखें; क्योंकि इनके बिना उच्चस्तरीय कर्तव्यों का पालन संभव नहीं होता ।

इन उद्देश्यों में भी मनुष्य भटक जाता है । शरीर को उच्चादर्शों में लगाने के लिए स्वस्थ रखना है, यह भूल जाता है । उसे सुंदर और ताकतवर इसलिए बनाना चाहता है कि दूसरों को रिझा सके और मनमानी कर सके । इसी तरह मन को संतुलित नहीं, तुष्ट करने के फेर में पड़ जाता है । चरित्र उज्ज्वलता की जगह झूठी वाहवाही के लिए प्रयास करने लगता है । ऋषि कहते हैं कि भ्रमों में जो नहीं पड़ते, वे न लड़खड़ाते हैं, न भटकते हैं, लक्ष्य तक पहुँच ही जाते हैं ।

खरगोश पकड़ूँ या छुड़ाऊँ

एक राहगीर एक जंगल से गुजर रहा था । शाम हो चली थी । पशु-पक्षी अपने घरों को लौट रहे थे । सहसा उसने देखा एक शशक-शावक किसी अज्ञात भय से पास के झुरमुट में आ छिपा । शावक बड़ा लुभावना था । राहगीर के मन में विचार उठने लगा–"क्यों न इसे मैं घर ले चलूँ ।" दूसरे ही क्षण उसने देखा एक अन्य शावक रास्ते के दूसरी ओर भागा जा रहा है । अगले ही पल उसे एक गीदड़ ने धर दबोचा ।

राहगीर असमंजस में पड़ गया । वह झाड़ी में छिपे शावक को पकड़े या दूसरे को गीदड़ से रक्षा करे । एक क्षण में ही यह निर्णय लेना था । पल की भी देरी होती, तो शावक की जान चली जाती ।

तभी आत्मा की आवाज उभरी–"कर्तव्य धर्म सबसे बड़ा होता है । संकटकालीन घड़ी में किसी की जीवन रक्षा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा से बड़ी है ।" बुद्धि और समझदारी ने भी इसका समर्थन किया । फिर क्या था । छिपे शावक को मोह त्याग वह गीदड़ के पीछे भागा और खतरे में पड़े खरहे के बच्चे की प्राण रक्षा की ।

लोभ और कर्तव्य का द्वंद्व

एक चोर किसी सुनसान सड़क से गुजर रहा था । उससे आगे थोड़े फासले पर एक पथिक भी चला जा रहा था । तभी पीछे से दनदनाती एक कार आयी । पथिक बहरा था । हॉर्न की आवाज वह सुन न सका और कार की चपेट में आ गया । भावी आशंका जान, चालक गाड़ी सहित दफा हो गया । उच्चका वहाँ भागा-भागा पहुँचा, तो देखा, कुछ रुपये बिखरे हैं । पास पड़ी थैली को टटोला उसमें ढेर सारे नोट दिखाई पड़े । उसका मन-मयूर नाच उठा । जल्दी-जल्दी उसने नोट बटोरे और भागने को हुआ, कि तभी राहगीर की करुण-कराह उभरी; वह दर्द से बुरी तरह छटपटा रहा था । चोर के दिल के किसी कोने में छिपा देवता पथिक की तड़फड़ाहट सहन नहीं कर पा रहा था; किन्तु दूसरे ही क्षण उसका दैत्य जागा, कुसंस्कार प्रबल हुए और वह भागने को उद्यत हुआ; मगर मानवी करुणा तत्क्षण सक्रिय हुई, उसे रोका, विवेक ने समझाया । वह आगे बढ़कर पथिक को कंधों पर उठाकर घर ले आया, उसका उपचार कर, फिर विदा किया ।

इस मानवीय कर्तव्यपालन से उसे जो आत्म संतोष मिला वह बड़ी से बड़ी सफलता और सुखोपभोग से भी नहीं मिला था । इस अनुभूति ने उसका जीवन ही बदल दिया ।

सुग्रीव पर शर-संधान

श्रीराम ने सुग्रीव से मित्रता की और बालि का वध करके उन्हें राजा बना दिया । मित्रता की शर्त थी कि राज्य सत्ता का उपयोग सीता की खोज और असुरता के विरुद्ध संघर्ष के लिए ही किया जाएगा; परंतु सुग्रीव भूल गए । सुख भोग में ही उसका उपयोग करने लगे ।

निर्धारित कर्तव्य के निमित्त दी गयी शक्ति का अन्यत्र उपयोग प्रभु को सहन नहीं । उन्होंने लक्ष्मण से कहा कि जाओ सुग्रीव को समझाओ, यदि न माने तो उसका भी वध उसी बाण से करूँगा, जिससे बालि का किया था ।

सुग्रीव समय पर चेत गए; अपने निर्धारित कर्तव्य में लग गए, विनाश से बचे और यशस्वी हो गए ।

परमहंस डिगे नहीं

श्री रामकृष्ण परमहंस कैंसर की पीड़ा से ग्रस्त थे । उपचार चल रहे थे; परंतु पीड़ा घटती न थी । एक बार कुछ मुँह लगे भक्तों ने कहा--"भगवन्, आपने अपनी शक्ति से सैकड़ों को पीड़ा-मुक्त किया है, उसका प्रयोग अपने लिए भी कर लें ।"

परमहंस बोले-"बेटे ! मुझे जो मिला है, वह किसलिए मिला है, वह मैं जानता हूँ; परमार्थ के लिए दी गयी शक्ति को स्वार्थ में प्रयुक्त करके दाता की निगाह में अप्रामाणिक मैं नहीं बनूँगा ।"

कुमार जीव

कुमार जीव के पिता बिहार प्रांत में एक रियासत के दीवान थे । उस कार्य में अनीति बरतनी पड़ती थी, उससे खिन्न होकर उनने नौकरी त्याग दी और धर्म साधना में लग गए । उनकी माता ने भी बौद्ध भिक्षुणी के रूप में पति का अनुकरण किया ।

बालक जब थोड़ा समर्थ हुआ तब कश्मीर के एक विद्यालय में उनने संस्कृति, पाली तथा बौद्ध धर्म का अध्ययन किया । इसके उपरांत वे चीन में धर्म प्रचार के लिए चले गए । विदेशी जासूस समझकर उन्हें गिरफ्तार किया गया । पर वास्तविकता प्रकट होने पर वे छोड़ दिए गए ।

कुमार जीव ने चीन में बौद्ध धर्म का प्रचार करने का निश्चय किया । उनके तपस्वी जीवन से कई सामंत प्रभावित हुए और उनकी सहायता से वे चीनी भाषा में बौद्ध धर्म के ग्रंथों का अनुवाद एवं प्रचार करने में समर्थ हुए ।

चीन में उनने कितने ही बौद्ध विहार और मठ स्थापित किए । हजारों अनुयायी बने और उन्हें उस देश के जन समुदाय को बौद्ध बनाने में भारी सफलता मिली ।

कुमार जीव चीन में ही स्वर्गवासी हुए । जीवन पर्यंत अपने लक्ष्य के अतिरिक्त और किसी ओर ध्यान नहीं दिया । कर्तव्य धर्म निबाहते हुए देश से हजारों मील दूर वे आजीवन रहे पर इतिहास में अपना नाम स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गए ।

मातृभूमि के लिए समर्पित

सुभाष चंद्र बोस ने इंग्लैंड जाकर आइ०सी०एस० परीक्षा पास की । अन्य साथियों का विचार कोई बड़ा सरकारी पद प्राप्त करने का था । पर स्वामी विवेकानंद के परामर्शानुसार उनने देश लौटने से पहले ही निश्चय कर लिया था कि वे देश को स्वतंत्र बनाने के लिए कार्य करेंगे और कष्ट सहेंगे ।

उन्होंने कांग्रेस क्रांतिकारी दल के माध्यम से कार्य किया और पीछे विदेश जाकर आजाद हिन्द फौज का गठन किया । उनका संपूर्ण जीवन मातृभूमि के लिए समर्पित हुआ ।

विद्रुथ उवाच-

साधका ज्ञातुमिच्छन्ति प्राज्ञ ! संयमकारणान् ।
संचितां शक्तिमत्रैतै कर्तव्यस्यैव पालने ।। ४४ ।।
कथं न साधकाः सर्वे समर्थास्तु भवन्त्यहो ।
महत्तामार्ग आर्षे का गन्तुं बाधास्तु वृत्तयः ।। ४५ ।।

टीका-विद्रुथ बोले-हे प्राज्ञ ! साधक समझना चाहते हैं कि संयम द्वारा अपनी शक्तियाँ बचाकर कर्तव्यपालन में प्रयुक्त करने में साधक समर्थ क्यों नहीं होते ? महामना के इस ऋषि प्रणीत मार्ग पर बढ़ने में कौन-सी प्रवृत्तियाँ बाधक होती हैं ? ।। ४४-४५ ।।

आश्वलायन उवाच-

भद्रा ! मर्त्यस्य तृष्णा सा वासनाऽहंत्वमप्यलम् ।
गभीरत्वं समुद्रस्य तिरस्कुर्वन्ति वस्तुतः ।। ४६ ।।
एतेषां पूर्तिहितोश्चेत्समस्ताः सुविधास्तथा ।
सम्पदा अपि विश्वस्य दत्ता स्यान्नहि तृप्तिदा ।। ४७ ।।

दावानलस्य ज्वालेव सन्ति त्रीण्यपि निश्चितम् ।
एतेषां शान्तये न्यूनं जगतो वैभवेन्धनम् ।। ४८ ।।

टीका–आश्वलायन बोले–भद्रजनो ! मनुष्य की वासना, तृष्णा, अहंता समुद्र से भी अधिक गहरी है । इनकी पूर्ति के लिए संसार की समस्त सुविधा–संपदा झोंक दी जाए, तो भी पूर्ति न हो सकेगी । यह तीनों ही दावानल जैसी अग्नि ज्वालाएं हैं । इन्हें शांत करने के लिए संसार के समस्त वैभव का ईंधन भी कम है ।। ४६–४८ ।।

अर्थ–सत्राध्यक्ष ने वासना, तृष्णा और अहंता को समुद्र और अग्निज्वाला के समकक्ष कहा है । समुद्र तीन-चौथाई है और सूखी जमीन एक चौथाई । एक चौथाई से तीन चौथाई को कभी पाटा नहीं जा सकता । इसी तरह साधनों से वासना, तृष्णा, अहंता का पेट भरा नहीं जा सकता ।

ज्वाला देखने में छोटी दीखती है । लगता है, उसे थोड़े से सामान से ढँक देना संभव है । पर वह सामान ईंधन के समान है, वह उससे शांत नहीं होती । पुरातन काल से लोग इस भ्रम में पड़ते आ रहे हैं । प्रयास बहुतों ने किए; पर सफल कोई न हो सका ।

कंबल ने पकड़ लिया

एक नदी में एक कंबल बहता दीखा । एक लोभी उसे निकालने कूद गया । तैराकी पर भरोसा था; सोचा जरा सी देर में ले आऊँगा; पर वह कंबल के साथ-साथ बहने, डूबने-उतराने लगा । पत्नी किनारे से चिल्लायी–"जल्दी से किनारे लग जाओ; यदि कंबल नहीं खिंचता, तो छोड़कर लौट आओ ।"

पति चीखा–"मैं तो कब का लौट आता; पर कंबल की पकड़ से छूट नहीं पा रहा हूँ ।"

वास्तव में वह कंबल नहीं रीछ था । उसकी पकड़ से छूटना कहाँ संभव था । वासना, तृष्णा आदि को व्यक्ति इसी प्रकार अपने काबू में करने के भ्रम में पकड़ता है । काबू में न कर पाने पर छोड़ भागने का प्रयास करता है; परंतु फिर छूटना इसी प्रकार कठिन हो जाता है ।

ययाति की दुर्गति

ययाति ने काम-वासना की पूर्ति के लिए जीवन भर प्रयास किया । राजा थे, किसी प्रकार की कमी न थी; परंतु यौवन समाप्त हो गया, वासना शांत न हुई । साधन तो बहुतेरे थे; पर उन्हें भोगे कौन ? वासना में अंधा होकर उसने अपने बेटों से जवानी माँगी । बेटों ने दे भी दी; पर अपनी जवानी से वासना का पेट नहीं भरा, तो बेटों की जवानी भी क्या करती ? ऋषियों ने, सत्पुरुषों ने उसे धिक्कारा, कहा–"विश्व की सारी जवानियाँ भोग ले, तो भी तुझे शांति न मिलेगी और लोक-तिरस्कार के साथ शाप भी भोगना पड़ा ।"

कीचक की करतूत

कीचक राजा विराट का साला भी था और प्रधान सेनापति भी । वीर इतना था कि जब पांडव अज्ञातवास में थे, तो अकेले कौरवों को परास्त करके संधि में युधिष्ठिर के मुकुट आदि ले आया था । द्रौपदी को देखकर वासना में बह गया । राजा स्तर के अधिकार उसके पास थे, किसी प्रकार की कमी न थी; परंतु दासी द्रौपदी के आगे प्रणय-निवेदन में भी लाज न आयी ।

द्रौपदी ने सावधान भी किया, कहा–"मेरे रक्षक यक्ष हैं, वे क्रुद्ध होंगे; परंतु अहंता में उसने न राजा विराट की नाराजी को कुछ समझा, न यक्षों की परवाह की । वासना और अहंता की लपेट में उसे यश, सम्मान और जीवन सभी से हाथ धोना पड़ा ।

तृष्णा के विनाश-बीज

रावण का सारे भू-मंडल पर दबदबा था । सभी राज्य और संपन्न व्यक्ति उसे कर देते थे । पर उससे उसकी तृष्णा शांत न हुई । उसने ऋषियों से भी कर वसूलना आवश्यक समझा । सलाहकारों ने ऋषियों की शक्ति और उनके क्रोध की बात समझाने का प्रयास किया भी, तो अहंता ने उसे कुछ महत्व न दिया । उसने व उसके साथियों ने ऋषियों के कार्य में विघ्न डाल-डालकर उन्हें रुष्ट किया । ऋषियों ने कर के रूप में एक-एक बूँद रक्त घड़े में भरकर भेज दिया; उसी से सीता का जन्म हुआ और रावण को सपरिवार विनाश के गर्त में जाना पड़ा ।

तृष्णा मृत्यु का कारण बनी

दो लोमड़ियाँ थीं–एक जवान, दूसरी बूढ़ी । दोनों एक मुर्गी फार्म में जा पहुँचीं । मालिक था नहीं । सोचने लगीं–"किस प्रकार घात लगाएं, और पेट भरें ।"

दोनों ने दो तरह की तैयारी की; जवान का मन था कि सात मुर्गियाँ एक ही बार में भकोस ले

और सात सप्ताह तक माँद में निश्चिंततापूर्वक सोए । बूढ़ी का मन अगले दिनों का ख्याल रखते हुए एक-एक कर खाने को था । दोनों ने अपनी-अपनी उपयोगिता बतायी, जिद की और किसी एक निर्विवाद निर्णय पर पहुँचे बिना वही किया, जो मन में था ।

जवान ने सात मुर्गियाँ खायीं । माँद में पहुँचते-पहुँचते पेट फूला और वह कराहती हुई दम तोड़ गयी । बूढ़ी को एक दिन तो कुछ न हुआ; पर दूसरे दिन मालिक को पता चल गया और चोर का सफाया करने के लिए छिप कर बैठ गया । जैसे ही बूढ़ी लोमड़ी घुसी, वैसे ही मालिक की कुल्हाड़ी चमकी और गरदन कलम हो गयी ।

एक लोमड़ी ने दुबारा आने का खतरा समझा, दूसरे ने धीरे-धीरे खाने का धैर्य साधा । यह दोनों गुण ठीक थे; पर तृष्णा दोनों ने न छोड़ी इसलिए तृष्णा दोनों को खा गयी ।

जो था वह भी खोया

दो बिल्लियाँ किसी घर से एक रोटी चुरा लाईं और बटवारे पर झगड़ने लगीं । एक बंदर यह सब देख रहा था । उसने कहा-"मैं नाप-तौल कर बाँट दूँगा । तराजू में दो टुकड़े रखे । जो भारी था उसमें से तोड़कर मुँह में रखा । अब दूसरा भारी हो गया । इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके वह सारी रोटी खा गया । तराजू में चूरा बचा सो भी उसने यह कह कर खा लिया कि यह मेरी बटवारे की फीस है ।

दोनों ने चोरी की रोटी तो खोई ही, यह सीख भी ली कि तृष्णा के जंजाल में फँसने पर बीच-बचाव करने वाले धूर्त उसका अंशमात्र भी हाथ लगने देंगे क्या ? तृष्णा है ही ऐसी ।

ठग एवं हलवाई

एक ठग था । उसने हलवाई को लूटने की योजना बनाई । सामने छप्पर के नीचे बैठा रहा और बिक्री के पैसे गिनता रहा । जब दुकान बंद करके हलवाई चलने लगा तो उसने पैसों की पोटली छीन ली तथा भाग गया ।

छीन-झपट में हो हल्ला मचा तो ठग कहने लगा कि पैसा मेरा है । या तो हलवाई गिनती बता दे या मैं बताए देता हूँ । पंचों ने दोनों के अलग-अलग बयान लिए । ठग ने पूरी गिनती बता दी; पर हलवाई न बता सका, उसे गिनने की फुरसत ही कहाँ मिलती थी ।

अंतिम फैसले के लिए झगड़ा राजा के पास पहुँचा । उसने पैसों को पानी भरी बाल्टी में डलवाया । उनमें लगा घी ऊपर तैरने लगा । फैसला हुआ पैसा हलवाई का है क्योंकि चिकनाई से उसी के हाथ सने हो सकते हैं ।

न्यायकर्ता की सूझ-बूझ पर सभी लोग दंग रह गए । साथ ही यह भी बोले कि लोभी-लालची का भेद अंततः खुलता ही है । अंत में सत्यनिष्ठा ही जीतती है ।

एतेषां तुष्टये सर्वं न्यूनमेवार्जितं नृणाम् ।
लोभादिकं तु पूर्त्यै स्यादलं नाऽसीमितं कृतम् ।। ४९ ।।
घृतेन दीप्यते वह्निर्मोहान्धस्तेन मानवः ।
कर्तव्यपालनं नैव चिन्तयत्येष चात्मनः ।। ५० ।।
लोभातिरिक्तं नैवायं किञ्चित् कुत्राऽपि पश्यति ।
कर्तव्यनिश्चये बुद्धिर्नैवास्यैवं प्रवर्तते ।। ५१ ।।
तस्य पालनहेतोश्च साहसोत्साहयोः कथम् ।
भावः स उदयं गच्छेद् विनाऽऽभ्यां सिद्धिरेव का ।। ५२ ।।

टीका-इनकी तुष्टि के लिए जो कुछ भी जुटाया जायेगा, वह कम पड़ जायेगा । लोभ, मोह और अहंकार की पूर्ति के लिए कितना ही कुछ किया जाय, वह कम ही पड़ता जायेगा । घृत डालने से आग और भड़कती है । ऐसी दशा में मोहांध व्यक्ति कर्तव्यपालन की बात सोच ही नहीं पाता । उसे लालच के अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं । ऐसी दशा में कर्तव्य निर्धारण में उसकी बुद्धि काम ही नहीं देती । उसका पालन करने के लिए उत्साह और साहस जगेगा ही कैसे ? और बिना कर्तव्यपालन के कोई लक्ष्य सिद्ध नहीं हो सकेगा ।। ४९-५२ ।।

अर्थ-वासना से मोह, तृष्णा से लोभ और अहंता से अहंकार उसी प्रकार बढ़ते हैं जैसे घी या ईंधन

से अग्नि । जब ये दोष बढ़ जाते हैं तो मनुष्य की सोचने-समझने की शक्ति क्षीण और नष्ट हो जाती है । उनका सम्मोहन मनुष्य पर छा जाता है । गीता में लिखा है--सम्मोहित व्यक्ति की स्मृति भ्रमित हो जाती है । स्मृति भ्रम होते ही बुद्धि की क्षमता नष्ट हो जाती है । बुद्धि नाश के साथ मनुष्य भी नष्ट हो जाता है ।

यहाँ ऋषि समझा रहे हैं कि कर्तव्य के प्रति और साहस जागे तब कर्तव्य सधता है । पर दोषों से सम्मोहित व्यक्ति तो कर्तव्य-अकर्तव्य सोच ही नहीं पाता । उसे निभाने की स्थिति तो दूर की बात है । आदमी लक्ष्य सिद्धि तो चाहता है, पर लक्ष्य तक जाने का मार्ग कर्तव्यपालन से ही बना है । उस पर चले बिना लक्ष्य पर कैसे पहुँचे ?

सूर्पणखा को क्या हो गया

सूर्पणखा रावण जैसे प्रतापी राजा,पुलस्त्य के नाती की बहन थी । अपने आचरण के स्तर और गौरव को समझना यों कठिन न था । परंतु वासना ने उसके सोचने की शक्ति हर ली । सीता के होते हुए भी राम से संबंध स्थापित करना चाहा । उनके टालने-बहलाने से भी न समझ सकी कि यह इस प्रकार के व्यक्ति नहीं हैं । निर्लज्जता बढ़ाती ही गयी और नाक कटा बैठी ।

उसके बाद अहंता ने शांत न बैठने दिया । खरदूषण वध से भी वह सीख न ले सकी और उसी आग में रावण को भी सपरिवार झोंक दिया ।

उन्हें हारना ही था

महाभारत समाप्त हुआ । पुत्रों के वियोग में दुःखी धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर को बुलाया । उनके साथ सत्संग में दुःख हल्का करने लगे । चर्चा के बीच धृतराष्ट्र ने पूछा-"विदुर जी ! हमारे पक्ष का एक योद्धा इतना सक्षम था कि सेनापति बनने पर उसने पांडवों के छक्के छुड़ा दिए । यह जीवन-मरण का युद्ध है, यह सबको पता था । यह सोचकर सेनापति बनने पर एक-एक करके अपना पराक्रम प्रकट करने की अपेक्षा कर्तव्य बुद्धि से एक साथ पराक्रम प्रकट करते तो क्या युद्ध जीत न जाते ?"

विदुर जी बोले-"राजन ! आप ठीक कहते हैं । वे जीत सकते थे यदि अपने कर्तव्य को ठीक प्रकार समझ और अपना पाते । परंतु अधिक यश अकेले बटोर लेने की तृष्णा तथा अपने को सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शित करने की अहंता ने वह कर्तव्य सोचने, उसे निभाने की उमंग पैदा करने का अवसर ही नहीं दिया ।"

थोड़ा रुक कर विदुर जी बोले-"पर राजन, उनके इतना न सोच पाने और न जीते पाने का दुःख न करें । उन्हें तो हारना ही था । कर्तव्य समझे बिना जीत का लक्ष्य नहीं मिल सकता, यह भी ठीक है और कर्तव्य को महत्व दे पाते तो युद्ध का प्रश्न ही न उठता । कर्तव्य के नाते भाइयों का हक देने से उन्हें किसने रोका था । स्वयं युग पुरुष श्रीकृष्ण समझाने आये थे । पर उस समय भी तृष्णा ने पाँच गाँव भी न छोड़े, अहंता ने न पितामह की सुनी, न युग पुरुष की । जिन वृत्तियों ने युद्ध पैदा किया, उन्हीं ने हरा भी दिया ।"

डाकू की सीख

तृष्णा में अंधे होकर दोनों हाथों से लूट-खसोट करने वाले कभी सम्मान के पात्र नहीं बनते । सिकंदर के हमले से खिन्न होकर मैसीटोनिया के लोगों ने समुद्री डाकू की तरह काम करना और सिकंदर के जहाज लूटना, डुबोना आरंभ कर दिया ।

पकड़े हुए डाकुओं के सरदार को सिकंदर के सामने पेश किया गया । उसने मृत्युदंड निश्चित समझते हुए भी निर्भीकतापूर्वक कहा-"आप बड़े डाकू हैं, हम छोटे । आप बुरे उद्देश्य के लिए हमला करने के कारण किसी भले आदमी की दृष्टि में सम्मानास्पद नहीं हो सकते ।" सिकंदर को संधि करनी पड़ी और आक्रमण बंद कर दिया ।

मुर्दे की खोपड़ी से तत्त्वज्ञान का पाठ

दार्शनिक च्वाँगत्से को रात्रि के समय कब्रिस्तान में होकर गुजरते समय पैर में ठोकर लगी । टटोल कर देखा तो किसी मुर्दे की खोपड़ी थी । उठाकर झोली में रख लिया और सदा साथ रखने लगे । शिष्यों ने इस पर उनसे पूछा-"यह कितनी गंदी और कुरूप है इसे आप साथ क्यों रखते हैं ?"

च्वाँगत्से ने उत्तर दिया-"यह मेरे दिमाग का तनाव दूर करने की अच्छी दवा है । जब अहंकार का आवेश चढ़ता है, लालच सताता है तो यह मुझे अपने कर्तव्य का बोध कराती है । मैं इस खोपड़ी को गौर से देखता हूँ । कल परसों अपनी भी ऐसी ही दुर्गति होनी है तो अहंकार और लालच किसका किया जाय ? क्यों न सतत कर्म निष्ठा में जुटा रहा जाय ।"

वे मृत्यु को स्मरण रखना, अनुचित आवेशों के समय का उपयुक्त उपचार बताया करते थे और इसके लिए मुर्दे की खोपड़ी का ध्यान करने की सलाह दिया करते थे । खुद तो उसे साथ रखते ही थे ।

कर्तव्यपालनं नूनं गौरवं महतां महत् ।
तेनैवाप्नोति सन्तोषः पुरुषो दुर्लभं परम् ।। ५३ ।।
कर्मयोगो मतः सर्वसुलभः सर्वसम्मतः ।
कल्याणकारकोऽत्यर्थं यत्र चैकमतं नृणाम् ।। ५४ ।।
कर्तव्यपालकान् मर्त्यान् शूरान् धर्मरतांस्तथा ।
भक्तान् वदन्ति कर्तव्ये सार्थक्यं जीवनस्य तु ।। ५५ ।।
व्यवस्था प्रगतिश्चात्र विद्यन्ते सुप्रसन्नता ।
दायित्वमुह्यते कर्मपालनाधारमाश्रितम् ।। ५६ ।।
मनुष्यश्रेदृशो याति गौरवं दर्शयत्यपि ।
मार्गं स्वयं मनुष्येभ्योऽसंख्येभ्यो धन्यजीवितः ।। ५७ ।।

टीका–कर्तव्यपालन ही सबसे बड़ा गौरव है । संतोष उसी से मिलता है । कर्मयोग को सर्वसुलभ, सर्वमान्य और सर्वोपरि कल्याणकारक माना गया है । इसमें सबका एक मत है । कर्तव्य कर्म करने वाले शूरवीर, धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त माने जाते हैं । जीवन की सार्थकता भी कर्तव्यपालन में है । प्रसन्नता, व्यवस्था और प्रगति भी इसी में हैं । उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर्तव्यपालन के आधार पर ही बन पड़ता है । ऐसा ही स्वनामधन्य मनुष्य गौरवशाली बनता और असंख्यों का मार्गदर्शन करता है ।। ५३–५७।।

अर्थ–कर्तव्य के लिए मनुष्य के मन में उत्साह क्यों उभरे ? इस मनोवैज्ञानिक समस्या का हल ऋषि जानते हैं । व्यक्ति को उत्साह आता है उपलब्धियों के लिए । ऋषि स्पष्ट करते हैं कि जीवन की महानतम उपलब्धियाँ कर्तव्य के आधार पर मिलती हैं, जैसे–

गौरव, जिसे पाने के लिए मनुष्य सदा लालायित रहते हैं और शास्त्र भी उसे पाने योग्य कहते हैं ।

संतोष, जिसे जीवन की सर्वोपरि उपलब्धि कहा है । बड़ी से बड़ी चीज या पद पाकर भी यदि संतोष अनुभव न हुआ तो वह निरर्थक सी ही लगती है । संतोष, प्यार के दो शब्दों में भी मिला तो उस पर राज्य न्योछावर हो जाते हैं ।

शूरवीर, धर्मनिष्ठ और ईश्वर भक्त कहलाना असामान्य गौरव माना जाता है । इसका भी आधार कर्तव्य ही है ।

जीवन की सार्थकता तथा दूसरों का हित कर सकने का पुण्य-परमार्थ, यह भी ऐसी उपलब्धियाँ हैं, जिन्हें छोटे से छोटे व्यक्ति से लेकर बड़े से बड़े महापुरुष तक महत्व देते हैं ।

यश भी पुण्य के आधार पर मिलता है । रामचरित मानस में लिखा है–'पावन यश कि पुण्य बिनु होई' पुण्य कुछ और नहीं, उच्चस्तरीय कर्तव्यों का फलितार्थ है ।

इन सब आधारों, तथ्यों को जो ध्यान में रखते हैं, उनमें कर्तव्यों के प्रति उत्साह, साहस और उमंग रहती है; वे कर्तव्य समझने में या उसके परिपालन में कभी नहीं चूकते ।

कवि माघ आग में कूदे

धारा नगरी में आग लग गई । दो सुकुमार बच्चे आग की लपट में घिर गए । महाराज भोज चिल्लाये जो इन बच्चों को बचायेगा उसे पुरस्कार दिया जायेगा । भीड़ में से कोई आगे नहीं बढ़ रहा था । तभी एक ओर से एक व्यक्ति आया और आग में घुस गया । दोनों बच्चों को निकाल तो लाया पर स्वयं बुरी तरह जल गया । उपचार के बाद पहचान में आया कि वह तो महान् उदार और दयालु कवि माघ थे । भोज ने उन्हें शीश झुकाते हुए कहा–"कविवर आज तो तुमने काव्य से भी अधिक अपनी कर्तव्य परायणता से हम सबको जीत लिया ।"

कवि बोले–"महाराज ! आप सबका स्नेह सम्मान बहुमूल्य है, परंतु आज मैंने अपना कर्तव्य पूर्ण करके

अपनी अंतरात्मा का स्नेह सम्मान पा लिया है । इस आत्म संतोष के आगे सीमित चमड़ी की जलन कोई महत्व नहीं रखती ।

ताना जी का आत्मोत्सर्ग

तानाजी के पुत्र का विवाह था, तभी कोंडण दुर्ग के लिए युद्ध की सूचना आ पहुँची । तानाजी ने कहा–"अपने देश और समाज के आगे व्यक्तिगत स्वार्थ तुच्छ हैं ।" वह युद्ध के लिए चल पड़े । युद्ध में जीत उन्हीं की हुई; पर उनका शरीर काम आ गया । उनकी स्मृति में ही इस दुर्ग का नाम सिंहगढ़ रखा गया ।

शिवाजी ने कहा–"तानाजी जैसी जीवन की सार्थकता विरलों को मिलती है ।"

थामस स्कॉट अपनी नाव न्यूयॉर्क में नार्थ नदी में चला रहा था । इसी समय उसे नजदीक ही उसे एक दूसरी नाव डूबती दिखाई दी । उसमें स्त्री-बच्चों की भरमार थी ।

थामस– हाथ टूटा, हिम्मत नहीं

थामस अपनी नाव को बढ़ा कर डूबती नाव के पास ले गया, देखा कि उसकी तली में एक बड़ा छेद हो गया है और पानी भरता जा रहा है । बचाव का और कोई उपाय न देखकर वह उछल कर डूबती नाव पर चढ़ गया और छेद में अपना एक हाथ ठूँस कर बढ़ते पानी को रोक दिया । किसी प्रकार नाव किनारे लगी और उस पर चढ़ी सवारियाँ बच गयीं ।

थामस का एक हाथ हिमवत ठंडे जल के कारण क्षतिग्रस्त हो पूरी तरह टूट गया । वह अपार कष्ट सहता हुआ हाथ को तब तक छेद में ही लगाए रहा, जब तक कि नाव किनारे तक पहुँच न गयी ।

राजा दिलीप और सिंह

राजा दिलीप उन दिनों गुरु वशिष्ट के आश्रम में रह रहे थे । उन्हें आश्रम की गायें चराने का काम सौंपा गया । वे उस छोटे काम को भी बड़ा मानते थे और तत्परतापूर्वक सौंपी जिम्मेदारी निबाहते । एक दिन एक सिंह ने गुरु की नंदिनी गाय को दबोच लिया । राजा के धनुष वाण काम नहीं आये । अब किया क्या जाय ? गुरु की सौंपी जिम्मेदारी कैसे निभे ? दिलीप ने अपने आप को सिंह के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया, ताकि वह गाय को छोड़ कर उन्हें खा ले । उठाये उत्तरदायित्व को न निभाने का कलंक ओढ़ने की अपेक्षा उन्हें अपना शरीर देना अधिक श्रेयस्कर लगा ।

इस आदर्शवादी साहसिकता से सिंह भी सहम गया । गाय भी बच गयी और उत्तरदायित्व निर्वाह की परीक्षा में सफल होने के कारण गुरुदेव का अभीष्ट आशीर्वाद भी मिला ।

देशभक्त छत्रसाल

बुंदेलखंड के राजा छत्रसाल आरंभ में मुगलों से स्थानीय और क्षेत्रीय लड़ाइयाँ लड़ते रहे । पर पीछे शिवाजी के परामर्श से उनने अपना ध्येय भारत को स्वतंत्र बनाना निश्चित कर लिया । राणा प्रताप भी यही कर रहे थे । इन तीनों शक्तियों के मिल जाने और योजनाबद्ध कार्यक्रम बनाने से दिल्ली दरबार की जड़ें हिल गईं ।

इतना ही नहीं इन तीनों ने अपने अपने प्रभाव क्षेत्र में हिन्दू धर्म के प्रति गहरी आस्थाएँ उत्पन्न करने और समूचे भारत को अपना देश समझने की भावना को भी पूरी तरह उभारा ।

छत्रसाल अच्छे कवि भी थे । उनका व्यक्तिगत चरित्र अन्य सामंतों जैसा नहीं था । उनने बुढ़ापे में वानप्रस्थ लिया और जन जागरण के कार्य में जुटे । किन्तु परिस्थितियों के निमंत्रण पर उन्हें ८६ वर्ष की आयु में फिर तलवार पकड़नी पड़ी ।

छत्रसाल की गिनती सीमित क्षेत्र में लड़ने-मरने वाले सामंतों में नहीं की गई वरन् उन्हें देश के महान संरक्षकों की श्रेणी में गिना गया ।

पुत्र मोह नहीं न्याय प्रधान

अंग्रेजी जमाने में बैजनाथ एक बड़े ही न्यायनिष्ठ जज हुए हैं । उन्होंने किसी की भी सिफारिश या रिश्वत की ओर आँख उठाकर नहीं देखा ।

एक बार उनका सगा दामाद एक फौजदारी के कत्ल के केस में फँस गया । उनने सरकार से प्रार्थना की कि मामला उनके सगे-संबंधी का है, इसलिए केस दूसरी किसी अदालत में भेज दिया जाय; पर वैसा न हो सका । कानून के अनुरूप उन्हें दामाद को फाँसी की सजा सुनानी पड़ी । सभी इस पर आश्चर्यचकित रह गए । गवर्नर ने अपने विशेष अधिकार का प्रयोग करके अभियुक्त की सजा कम कर आजीवन कारावास में बदल दी । साथ ही उन्हें सेशन जज से हाईकोर्ट का चीफ जज बना दिया ।

बालक धन्य देश धन्य

हालैंड की पुरानी घटना है । नदी की बाढ़ से रेल का पुल टूट गया । गाड़ी आने का समय हो गया । टूटने की जानकारी न होने से वह चली आती तो, डूब जाती ।

एक छोटा लड़का वहाँ मौजूद था । आने वाली गाड़ी को रोकने के लिए उसने तुरंत उपाय सोच लिया कुर्ता फाड़कर झंडी बनायी । भुजा काटकर खून निकाला और उसे लाल रंग लिया । पटरी पर लकड़ी में लाल झंडा फहराता हुआ वह खड़ा था । गाड़ी चली आती तो जान जोखिम का खतरा भी था । पर उसने उसकी परवाह न की ।

ड्रायवर ने लड़के को खड़ा देख लिया । गाड़ी रोकी । दुर्घटना रुकी । गाड़ी वापस लौटी । उस लड़के जॉर्ज स्टेनले को उस देश के निवासी और सुनने वाले कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते और मन ही मन धन्यवाद देते हैं ।

योगेषु कर्मयोगोऽतो विद्यते महतां महान् ।
गीता सर्वस्वमप्येतन्मूलं संसारसम्पदाम् ।। ५८ ।।
कर्तव्यपालनं नूनं सुलभं मोददं तथा ।
भूयो भूय इदं सर्वैः स्मर्तव्यं हि दिवानिशम् ।। ५९ ।।
व्यवधानं च तस्याऽत्राकरणे केवलं त्विदम् ।
दुष्प्रवृत्तीर्न मर्त्यास्तु क्षमन्ते रोद्धुमात्मनः ।। ६० ।।
लोभे नियन्त्रणं नैव सम्भवत्यपि चैव हि ।
अन्धस्येव स्थितिर्मोहाज्जायते च नृणामिह ।। ६१ ।।

टीका–योगों में कर्मयोग की महत्ता महान् कही गयी है । यही गीता का सार व विश्व वैभव का मूल है । कर्तव्यपालन सुलभ भी है और आनंददायक भी, यह बात बार–बार दिन–रात याद रखनी चाहिए, किन्तु उसके न बन पड़ने में एक मात्र व्यवधान यही है कि लोग अपनी दुष्प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रख पाते । लालच पर नियंत्रण करते नहीं बन पड़ता । मोह के अंधे जैसी स्थिति बन जाती है ।। ५८–६१ ।।

अर्थ–जो कर्तव्य मानव होने के नाते सौंपा गया है, उसे पूरा करना ही मानव का सबसे बड़ा धर्म है । योगत्रयी की जीवन साधना में कर्मयोग को सर्वोपरि स्थान प्राप्त है । व्यावहारिक अध्यात्म की इस साधना से गीताकार के अनुसार व्यक्ति जीवन्मुक्ति की दिशा में सहज ही बढ़ता रह सकता है । मोक्ष निर्वाण संबंधी सारा ब्रह्मज्ञान अपने स्थान पर है एवं कर्मयोग की जीवन साधना अपनी जगह । जो इसकी उपेक्षा करता है वह इहलोक तो खोता ही है; परलोक को भी खो देता है । गीताकार कहते हैं–'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' । मनुष्य को कर्म साधना का उपदेश देते हुए कहा गया है कि वह फल के परिणाम की आकांक्षा किए बिना, उसमें लिप्त हुए बिना सतत कर्म करता रहे । यही सच्चा अध्यात्म है ।

कर्मयोग सुलभ होते हुए भी उसमें निरत न हो पाने का एक ही कारण है, चिंतन में सतत समाने वाली व्यामोह पैदा कर देने वाली दुष्प्रवृत्तियों का पनपते रहना, उन पर नियंत्रण न होना एवं विवेक को खोकर अपना लक्ष्य भूल जाना । यह मानव के साथ जुड़ी एक ऐसी विडंबना है जो उसे आत्मिक प्रगति के मार्ग पर चलने में सतत रोड़े अटकाती रहती है ।

कर्तव्य को मत त्यागो

एक राजा ने संन्यासी से कहा–"राजकाज में बड़े झंझट हैं तथा संन्यास में निश्चिंतता । आप मुझे संन्यास की दीक्षा दे दीजिए ।"

संन्यासी ने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी । पर पूछा–"राजकाज कौन करेगा ?" उत्तर मिला–"किसी को दान कर दूँगा और अपने निर्वाह के लिए कुछ मेहनत–मजूरी कर लूँगा ।"

संन्यासी ने कहा–"राज मुझे दान कर दो । मेरे नौकर की तरह शासन की व्यवस्था चलाओ, कर्म से पलायन मत करो । वह तो अध्यात्म दर्शन का मूल है । तुम्हारे ऐसा करते रहने पर संन्यास भी सध जायगा और गुजारे के लिए गुरु का सौंपा हुआ काम करते हुए शांतिपूर्वक निर्वाह भी होता रहेगा । स्वामित्व को त्यागना और कर्तव्य को धर्म मानकर करते रहने से घर में रहकर भी सन्यास सध सकता है ।"

गुलाब और मधुमक्खी

गुलाब से मधुमक्खी बोली–"तुम जानते हो कि एक-एक करके तुम्हारे सब पुष्प तोड़ लिए जाते हैं, फिर भी तुम पुष्प उत्पन्न करना बंद क्यों नहीं करते ?" गुलाब ने हँसकर कहा–"देवि ! मनुष्य क्या करता है, यह देखकर संसार को सुंदर बनाने के कर्तव्य से मैं क्यों गिरूँ ? फिर तुम जैसी मधु संचय करने वालों की मदद भी तो करनी है । बहन, फूल टूटने का दुःख कम है, दूसरों को प्रसन्नता बाँटने का संतोष अधिक महत्व का है ।"

कर्मयोग सर्वसुलभ

जिज्ञासु कात्यायन ने देवर्षि नारद से पूछा–"भगवन् ! आत्म-कल्याण के लिए विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न उपाय बताये हैं । गुरुजन भी अपनी-अपनी मति के अनुसार कितने ही साधन विधानों के माहात्म्य बताते हैं । जप, तप, त्याग, वैराग्य, योग, ज्ञान, स्वाध्याय, तीर्थ, व्रत, ध्यान, धारणा, समाधि आदि के अनेक उपायों में से सभी को कर सकना एक के लिए संभव नहीं । फिर सामान्य जन यह भी निर्णय नहीं कर सकते कि इनमें से किसे चुना जाय ? कृपया आप ही मेरा समाधान करें, कि सर्वसुलभ और सुनिश्चित मार्ग क्या है ? अनेक मार्गों के भटकाव से निकाल कर मुझे सरल अवलंबन का निर्देश कीजिए ।"

उत्तर देते हुए नारद ने कात्यायन से कहा–"हे मुनि श्रेष्ठ ! सद्ज्ञान और भक्ति का एक ही लक्ष्य है कि मनुष्य सत्कर्मों में प्रवृत्त हो । स्वयं संयमी रहे और अपनी सामर्थ्यों को गिरों को उठाने और उठों को उछालने में नियोजित करे । सत्प्रवृत्तियाँ ही सच्ची देवियाँ हैं । जिन्हें जो जितनी श्रद्धा के साथ सींचता है, वह उतनी ही विभूतियाँ अर्जित करता है । आत्म-कल्याण और विश्व-कल्याण की समन्वित साधना करने के लिए परोपकाररत रहना ही श्रेष्ठ है ।"

स्कंद पुराण के इस वार्ता प्रसंग में कात्यायन की तरह अन्यान्य जिज्ञासुओं का भी समाधान विद्यमान है ।

तिलक की कर्तव्यनिष्ठा

पूना में उन दिनों भयंकर प्लेग फैला था । लोकमान्य तिलक का बड़ा पुत्र प्लेग से पीड़ित हो गया था । पुत्र की दशा चिंताजनक होने के बावजूद तिलक 'केसरी' के अंक का अधूरा काम पूरा करने के लिए कार्यालय जाने लगे । किसी ने उन्हें टोका–"लड़का मौत से जूझ रहा है । अगर आप कार्यालय न जायें तो क्या काम न चलेगा ।"

गंभीर एवं संयत स्वर में तिलक ने उत्तर दिया–"सारा महाराष्ट्र 'केसरी' की प्रतीक्षा में बैठा है, तब कार्यालय न जाने से भला कैसे चलेगा ?"

मोह पर अंकुश लगाकर कर्तव्य पथ पर चल पड़ने के साहस ने ही उन्हें लोकमान्य का गौरव दिलाया ।

प्रकाश स्तम्भ का दीपे न बुझा

फ्रांस के कारडीनस प्रकाश स्तंभ की लालटेन घुमाने वाले चौकीदार को भयंकर बीमारी हो गई । पत्नी सेवा में लगी थी । दो छोटे बच्चे थे । मौसम उस दिन खराब था । लालटेन न घुमाने पर इस हालत में उधर से निकलने वाले जहाज के टकरा जाने या डूब जाने का खतरा था, क्या किया जाय ? दोनों बच्चों को तट पर लालटेन घुमाने की जिम्मेदारी सौंपी गई । पत्नी कभी पति के पास, कभी बच्चों के पास चक्कर लगाती रही । उस भयंकर रात्रि में ही पति का देहांत हो गया । किन्तु उस परिवार ने पूरी निष्ठा के साथ अपना कर्तव्य निभाया ।

कार्यवाही चलती रही

सरदार बल्लभ भाई पटेल तब नेता नहीं, वकील थे । एक मुकद्दमे में बहस कर रहे थे । इसी बीच चपरासी ने एक कागज हाथ में थमाया । पढ़ कर वे सन्न रह गए । पर दूसरे ही क्षण बहस आरंभ कर दी और कचहरी समाप्त होने तक काम चलू रखा ।

बहस बंद हुई तो सरदार की आँखों से आँसू टपक पड़े । अदालत समेत उपस्थित लोगों ने कारण पूछा तो पता चला कि चपरासी ने जो तार दिया था उसमें उनकी पत्नी की मृत्यु का समाचार था ।

बहस अधूरी छोड़ने से दोनों पक्षों का तथा अदालत का जो समय खराब होता उसे देखते हुए सरदार ने अपने पर अंकुश लगाना ही ठीक समझा ।

मात्र साहस के बलबूते

मद्रास से निकलने वाले अंग्रेजी पत्र 'हिन्दू' की न केवल भारत में वरन् विदेशों में भी बड़ी ख्याति थी । देश की भाषाएं उपेक्षित और विदेशी भाषा को इतना मान मिले यह बात उसके संपादक अय्यर महोदय को बहुत अखरी । उन्होंने तमिल भाषा में दैनिक न सही साप्ताहिक तो निकालने का निश्चय कर ही डाला । मित्रों ने उसके न चल सकने का खतरा दिखाया । तो भी उनने अपने साहस के बलबूते 'स्वदेश मित्रम्'

निकाल ही डाला । जो आगे चलकर दैनिक हो गया । अय्यर महोदय ने निरंतर अपना व्यक्तित्व खपाकर उसे मूर्धन्य पत्र बना दिया । व्यवधानों ने उन्हें विचलित नहीं किया ।

तिलक ने यश नहीं कर्तव्य चुना

बंबई के चौपाटी मैदान में लोकमान्य तिलक का स्वतंत्रता के समर्थन में बड़ा विद्वत्तापूर्ण भाषण हुआ ।

उपस्थित लोगों में से कइयों ने कहा–"आप जैसे विद्वान किसी अन्य विषय पर खोजपूर्ण लेख लिखें या भाषण दें तो उसका प्रतिफल कितना शानदार हो ।"

तिलक ने कहा–"स्वतंत्रता मिल गई तो मेरे जैसे कितने ही विद्वान लिखने और बोलने के लिए पैदा हो जाएंगे । अभी तो मुझे स्वतंत्रता के लिए काम करना चाहिए जिससे विद्वानों की कमी न रहे ।

अहंकारी भवत्येवोन्मादीवावेशतां गतः ।
सत्सु चैतेषु दोषेषु समीहा मानवस्य तु ।। ६२।।
आकांक्षाः केवलं ताश्च सदा पूरयितुं द्रुतम् ।
उच्छलन्ति स्वकर्तव्यपालने स्युस्तथाऽक्षमाः ।। ६३।।
स्पृहास्तं तु नयन्त्येव यत्र कुत्राऽपि वै बलात् ।
स्पृहावात्यागृहीतश्च शान्तिं विन्दति नो मनाक् ।। ६४।।
त्यागोऽप्यपेक्ष्यते नूनं कर्तव्यस्यात्र पालने ।
श्रमश्चाऽपि तथा सार्वभौमं पौरुषमप्यलम् ।। ६५।।
इमाः सर्वाविभूतीश्च लिप्सा सा पूर्वमेव हि ।
उदरस्थाः करोत्येवं लुब्धोऽकिञ्चित्करो भवेत् ।। ६६।।

टीका–अहंकारी उन्मादी जैसा आवेशग्रस्त होता है । इन दोष–दुर्गुणों के रहते मनुष्य की इच्छा मात्र महत्वाकांक्षाएँ पूर्ण करने के लिए ही उभरती रहती हैं । वह कर्तव्यपालन में समर्थ हो ही नहीं पाता । लिप्साएँ उसे कहीं से कहीं घसीट ले जाती हैं । लिप्सापूर्ति के झंझावात में पड़ा हुआ व्यक्ति क्षण भर भी शांति प्राप्त नहीं कर पाता है । कर्तव्यपालन में त्याग भी करना पड़ता है और श्रम–पुरुषार्थ भी । इन सब विभूतियों को लिप्सा अपने पेट में पहले से ही उदरस्थ कर लेती है । ऐसी दशा में लोलुपों से कुछ करते–धरते नहीं बन पड़ता ।। ६३–६६।।

अर्थ–कर्तव्य के लिए आदर्शनिष्ठ उत्साह उमड़ना चाहिए । पर अहं के कारण महत्वाकांक्षाओं का उन्माद उमड़ता है तो फिर कर्तव्य किस के सहारे हो ?

कर्तव्य में त्याग, श्रम, पुरुषार्थ लगाना पड़ता है पर लूट, खसोट, मौज, मजा की लिप्सा के रहते वे कहाँ पैदा हों, कहाँ रुकें ?

शांत चित्त से कर्तव्य निर्धारण और विवेकपूर्वक प्रगति के चरण बनाए जाते हैं । महत्वाकांक्षा में लिप्त व्यक्ति को क्षण भर भी शांत चित्त से सोचने का अवसर ही नहीं मिलता ।

ऐसी स्थिति में कुछ कर न पाना ही नियति बन जाती है । जो सोचने, करने की स्थिति बनाए रह पाते हैं वे विपरीत स्थिति में भी करने योग्य कर ही लेते हैं ।

सबसे बड़ा मेरा 'मैं'

पांचों तत्व देवता एकत्रित हुए और अपनी–अपनी महिमा बघारने लगे । वायु नेकहा–"मैं प्राण फूँकता हूँ ।" आकाश बोला–"सब मेरे पेट में हैं ।" धरती ने कहा–"मैं सबका वजन उठाती हूँ । " जल बोला–"शीतलता मैं बखेरता हूँ ।" अग्नि ने कहा–"ऊर्जा मैं ही तो हूँ ।"

इन पाँचों से मिलकर बने मनुष्य ने कहा–"मैं बहुत कुछ हूँ । जो तुम सब मिलकर करते हो । उससे हजार गुना बड़ा है मेरा 'मैं' ।"

मेढक का अहंकार

उस तालाब में एक बड़े आकार का पीला मेढक रहता था । अपने को इस तालाब का स्वामी बताता और छोटे जीव–जंतुओं को धमकाता रहता था ।

एक दिन हाथी उधर से निकला और रास्ते में तालाब देखकर उसमें पानी पीने घुस गया ।

इस पर पीले मेढक को ताव आया । उसने लात उठाकर हाथी को धमकाया और कहा–"मूर्ख, जानता नहीं यहाँ मेरा साम्राज्य है । तेरी इतनी हिम्मत कैसे पड़ी जो बिना पूछे मेरे क्षेत्र में घुस आया । जानता नहीं, लात के मारे तेरा कचूमर निकाल दूँगा ।"

हाथी ने ध्यान न दिया वह पानी पीकर देर तक तालाब में नहाता रहा और बाहर निकल कर अपना रास्ता पकड़ा ।

चरवाहे मेढक का कथन और हाथी की उपेक्षा देख रहे थे । वे हँसे और आपस में कहने लगे–"अनाड़ी का अहंकार किस हद तक जा सकता है देखा ।"

'ला' और 'ले' का झंझट

एक सेठ कुएँ में गिर पड़े । गड्ढा गहरा नहीं था । सो वे निकलने के लिए चिल्लाने लगे । एक किसान ने सुना तो पहुँचा और बोला–"ला, अपना हाथ उसमें अपनी रस्सी बाँध कर ऊपर खींच लेंगे ।" सेठ जी हाथ ऊपर करने और किसी के फंदे में फँसने को तैयार नहीं हो रहे थे । झंझट देखकर दूसरा समझदार आदमी वहाँ पहुँच गया और हुज्जत का कारण समझ गया । उसने कहा–"सेठजी, रस्सी लीजिए और इसे अपनी ओर खींचते हुए ऊपर चढ़ आइए ।"

बात उन्होंने मान ली और बाहर निकलने का उपाय बन गया ।

पहली बार किसान कह रहा था 'ला हाथ' । दूसरे समझदार ने कहा था–'ले रस्सी' । 'ला' और 'ले' का झंझट था जिसके कारण कुएँ से निकलने में इतनी देर लगी । यह कशमकश कितनों को ही नष्ट कर डालती है । अहमन्यता के दुष्चक्र में फँसा व्यक्ति अपना हित भी समझ नहीं पाता ।

अहंकार एवं धैर्य

अहंकार और धैर्य दो मित्र थे । साथ–साथ चला करते । एक का ताप दूसरे की शीतलता से संतुलित होता रहता ।

एक दिन अहंकार ने कहा–"आपकी कायरता मुझे तनिक भी नहीं सुहाती । मेरे साथ मत रहा करो ।"

धैर्य ने उसका साथ समझदारीपूर्वक छोड़ दिया । कहते हैं तब से अहंकार अकेला फिरता है स्वयं जलता और दूसरों को जलाता हुआ ।

कर्तव्य ने दुबारा पहुँचाया

डॉ० विश्वेश्वरैया भारत के माने हुए इंजीनियर थे । एक गाँव से होकर गुजरे तो वहाँ के अध्यापकों ने स्कूली बच्चों के सामने कुछ भाषण करने को कहा । थोड़ी आनाकानी के पश्चात वे सहमत हो गए और एक छोटा सा भाषण दे भी दिया ।

मार्ग में बिना तैयारी का अस्त–व्यस्त भाषण देने की भूल पर दु:खी हुए और अगले सप्ताह स्कूल में दुबारा भाषण देने की बात लिखी ।

अध्यापक गण पत्र पाकर आश्चर्य में थे कि इतने व्यस्त व्यक्ति दुबारा बिना बुलाए क्यों आ रहे हैं ?

आने पर उनने अपना लिखा भाषण पढ़ा और कहा आप लोग बच्चे हैं इससे क्या ? मुझे अपने भाषण का स्तर नहीं गिराना चाहिए था, अच्छी चीज तैयारी के बाद ही बनती है । मुझे अपनी पिछली भूल का प्रायश्चित्त करने के लिए दुबारा आना पड़ा ।

डॉ० मेरी का पुरुषार्थ फला

डा० मेरी नौकरी के आरंभिक दिनों में एक छोटे से देहात में भेजी गईं । कहने को तो वहाँ १५० प्रसूति वेड थी । पर भरती वहाँ मुश्किल से १५ प्रसूता थीं । दाइयाँ घर जाकर प्रजनन कराती थीं और ऊपरी आमदनी करती थीं । मेरी ने जनसंपर्क साधा और दाइयों को फटकारा तो १५० के स्थान पर पूरे ३०० पलंग भरे रहने लगे । मेरी की लगन के साथ ही उनकी पदोन्नति भी होती गई । अंतत: वे सर्जन जनरल के पद से रिटायर हुईं । उनके समय में अस्पताल ने असाधारण उन्नति की ।

जो कर्तव्य नहीं वह व्यसन है

चीन का एक अमीर च्याँग भेड़ पालने का धंधा करता था । एक बार उसने दो लड़के नौकर रखे और चराने के लिए भेड़ें बाँट दीं ।

देखने पर पता चला कि भेड़ें दुबली भी हो गईं और मर गईं । अमीर ने चरावाहों को जिम्मेदार ठहराया । जाँच की कि किस कारण इतनी हानि हुई ।

पता लगा कि दोनों अपने–अपने व्यसनों में लगे रहे । एक को जुआ खेलने की आदत थी, जब भी दाँव

लगता जुए में जा बैठता । भेड़ें कहीं से कहीं पहुँचतीं और भूखी-प्यासी कष्ट पातीं । यही बात दूसरे की थी, वह पूजा-पाठ का व्यसनी था । भेड़ों पर ध्यान न देता और अपनी रुचि के काम में लगा रहता ।

दोनों पकड़े गए । न्याय के लिए कनफ्यूशियस के सामने प्रस्तुत किए गए । दोनों के कारणों में भेद था पर कर्तव्यपालन की उपेक्षा करने के लिए दोनों समान रूप से दोषी थे ।

न्यायाधीश ने दोनों को समान रूप से दंड दिया और कहा-"कर्तव्य भाव के बिना जो किया जाता है वह व्यसन है, व्यसन में जुआ खेला या पूजा की । कर्तव्य की तो उपेक्षा की ही । उसी का दंड दिया गया है ।"

क्रिया विचारणा भिन्ने कर्तव्यस्यात्र पूर्तये ।
मनोयोगः श्रमोऽथाऽपि संयमश्चाप्यपेक्षिताः ।। ६७।।
योक्तुं, तेषां च प्राप्त्यर्थं नरः संयमशीलताम् ।
भजेदेव स्पृहा चाऽपि नियम्यैव च वै नरैः ।। ६८।।
इयत्रैव च ये कर्तुं पारयन्ति नरा भवेत् ।
दिवास्वप्नायितं तेषां कर्मयोगः सदैव तु ।। ६९।।
प्रतिकूलस्थितौ चाऽपि कर्मयोगी न त्रस्यति ।
युद्धयमानस्तु ताभिः स बुद्धया तरति चापदः ।। ७०।।

टीका-सोचना और करना भिन्न है । कर्तव्यपालन के लिए जिस मनोयोग और श्रम-संयम का लगाया जाना आवश्यक है, उसे बचाने के लिए मनुष्य को संयमशील बनना पड़ता है । लिप्साओं पर अंकुश लगाना पड़ता है । जो इतना नहीं कर पाते, उनके लिए कर्मयोग एक दिवास्वप्न मात्र बनकर रह जाता है । प्रतिकूल स्थिति आ जाने पर भी कर्मयोगी त्रस्त नहीं होता है, उन स्थितियों से युद्ध करता हुआ, वह बुद्धि से उन विपत्तियों पर वियज प्राप्त करता है ।। ६७-७०।।

अर्थ-सही सोचना प्रथम चरण है । परंतु सोचने के साथ श्रम, पुरुषार्थ, अभ्यास का क्रम न बिठाया जाय तो कर्तव्य नहीं सधता ।

लिप्सा पर अंकुश लगाना आना चाहिए । आकांक्षा पूर्ति नहीं उनके शोधन का, अध्यात्म और ईश्वर निष्ठ जीवन का अधिक महत्व है, जो यह नहीं कर पाते वे प्रगति के स्वप्न शेखचिल्ली की तरह देख सकते हैं । या तो कर्तव्य पथ पर बढ़ ही नहीं पाते और बढ़ते हैं तो जरा से व्यवधानों से अस्त-व्यस्त हो जाते हैं । कर्मयोगी व्यवधानों को अपने श्रम-पुरुषार्थ के बल पर पार करते हैं और धन्य कहलाते हैं ।

लड़के ने रास्ता बताया

एक शिकारी तीर कमान लेकर शिकार मारने निकला । पर कोई बड़ा जानवर हाथ न लगा । एक छोटा खरगोश भर पकड़ सका तो उसे घोड़े पर लादकर वापस लौट पड़ा । अपने वतन का रास्ता भूल गया । सो उसने पेड़ के नीचे बैठकर चिड़ियाँ चुगा रहे लड़के से पूछा-"क्या तुम मेरे गाँव का रास्ता बता सकते हो ?"

लड़के ने कहा-"मैंने दो ही रास्ते सुने हैं-एक दोजख का जो तुम्हारे जैसे बेरहम लोगों को बिना किसी से पूछे मिल जाता है । दूसरा मेरी तरह नेकी करने का जो जन्नत की ओर जाता है । तुम्हें जिस पर जाना हो बिना पूछे चले जाओ ।

शिकारी के मन में बात चुभ गई । उसने खरगोश को नजदीक की झाड़ी में स्वच्छंद घूमने के लिए छोड़ दिया और फिर कभी शिकार न करने की कसम खाई ।

योगी क्या जो पर पीड़ा न समझे

उन दिनों कलकत्ता में प्लेग फैला था । लोग धड़ाधड़ मर रहे थे । रामकृष्ण मिशन के एक स्वामी अपने सारे धार्मिक क्रिया-कृत्य छोड़कर साथियों समेत रोगियों के सेवा कार्य में जुट गए । पैसे की आवश्यकता पड़ी तो रामकृष्ण मठ की भूमि तक बेचने को तैयार हो गए ।

शिष्यों ने पूछा-"आप तो वीतराग योगी हैं । दुनिया के सुख-दुःख से आपको क्या मतलब होना चाहिए ? आप तो भजन-ध्यान की बात सोचें ।"

स्वामी जी ने कहा–"योगी के लिए दूसरों का दु:ख और सुख अपना बन जाता है । पीड़ित लोगों की व्यथा मुझे अपनी व्यथा से कम नहीं लगती । पीड़ा से पहले छूटना पड़ता है, और भजन बाद में होता है ।

अनाम कर्मयोगी, जो डिगा नहीं

एक वायुयान ७४ यात्रियों को लेकर वाशिंगटन से उड़ा पर इंजन में खराबी आ जाने से बर्फीली पोटोमेक नदी के पुल से टकराया और पानी में जा गिरा ।

यात्रियों को बचाने के लिए सुरक्षा दल के दो सदस्य और एक पुल का चौकीदार तीनों ही प्राणपण से जुटे रहे और कितनों को ही डूबने से बचाने में सफल भी हुए ।

इन लोगों की खूब प्रशंसा हुई और उन्हें एक समारोह में राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत भी किया गया पर साथ में एक और अविज्ञात नाम वाले को पुरस्कृत किया गया जो यात्रियों में से ही कोई एक था, वह जहाज के पिछले हिस्से पर बैठा रहा । बचाव के लिए जब भी रस्से फेंके गए तब उसने उसे पकड़ कर दूसरों को थमा दिए । इस प्रकार छ: को बचाने के उपरांत जहाज के साथ खुद भी डूब गया ।

लालच नहीं न्याय चुना

बहुत समय पूर्व जापान के एक जिले के जिलाधीश थे–चाईसेन । उनके हाथ में सरकार ने बहुत सत्ता दे रखी थी ।

एक व्यापारी अपना कुछ बड़ा काम सरकार से निकालना चाहता था । इसके लिए जिलाधीश का सहयोग अपेक्षित था । व्यापारी अशर्फियों की थैली लेकर पहुँचा और बोला–"यह भेंट स्वीकार करें, मेरा काम कर दें । इस भेंट की बात कोई भी नहीं जान पायेगा ।"

चाईसेन ने कहा–"यह कैसे हो सकता है कि कोई न जाने । धरती, आसमान, मेरी आत्मा, देवात्मा और परमात्मा–पाँच की जानकारी में जो बात आ गयी, उस पाप का भेद तो खुल ही गया । कृपाकर अपनी अशर्फियाँ वापस ले जाइए, अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को झुठलाना मेरे लिए किसी भी प्रलोभन के बदले संभव न हो सकेगा ।"

लोभ छोड़ा लाभ नहीं

रेखागणित के अनेक सिद्धांतों का आविष्कारक यूक्लिड पिता के विरोध करने पर भी अपने काम में लगा रहा । एक दिन उसके पिता ने कहा–"यह बेवकूफी का काम अगर तुम नहीं छोड़ेगे तो मेरी सम्पत्ति में हिस्सा न पा सकोगे ।" यूक्लिड ने कहा–"आप अपना धन भले ही अपने भाइयों को दे दें मुझे अपने काम में इतना आनंद आता है कि आपकी दौलत उसके सामने तुच्छ है ।"

यूक्लिड पिता के धन का लोभ न छोड़ते तो दुनिया को गणित के उच्च सिद्धांतों के लाभ देने में सफल न होते । छोटे लोभ में बड़े लाभ से वंचित रह जाते ।

सुरसावदनात् सोऽयं मारुतिर्निर्गतो बहिः ।
मशकं रूपमाश्रित्य मनुजन्माऽपि चेदृशम् ।। ७१ ।।
परित्यज्य निराशां वै दुराशां दूरयन्नपि ।
कर्मयोगी भवेदेवं जीवश्चेश्वरतां व्रजेत् ।। ७२ ।।
योगाभ्यासेषु सर्वेषु तपः संयमजं मतम् ।
अनिवार्यमहंकारो लोभो मोहस्तथैव च ।। ७३ ।।
अङ्कुशास्त्रय एवैते दम्भा उन्नतिबाधकाः ।
स्वल्पसन्तोषवृत्त्या च वर्तितव्यं सुयोगिभिः ।। ७४ ।।
उत्साहः स्वस्तथाऽऽकांक्षा आदर्शैः योक्तुमुत्तमाः ।
विनाऽऽदर्शं सदिच्छां च ज्ञानं पापायतेऽपि तु ।। ७५ ।।

टीका–सुरसा के मुख से हनुमान मच्छर बनकर बाहर निकल आये । कुत्साओं को नियंत्रित करके ही मनुष्य कर्मयोगी बन सकता है–जीव होता हुआ भी ईश्वर बन सकता है । हर योगाभ्यास में संयम की तपश्चर्या अनिवार्य रूप से आवश्यक बताई गई है । कर्मयोगी को लोभ मोह और अहंकार के तीन शत्रुओं का दमन करना चाहिए । स्वल्प संतोषी बनकर रहना चाहिए और उमंगों–आकांक्षाओं को आदर्शों के साथ जोड़ना चाहिए ।

बिना सदिच्छाओं के, बिना आदर्श के ज्ञान भी पापपूर्ण हो जाता है ।। ७१-७५।।

अर्थ-हनुमान अपने लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे, सुरसा से मुक्ति पाना आवश्यक था । लिप्सायें लौकिक पुरुषार्थ के अनुपात में बढ़ती ही जाती हैं । लिप्साओं के सामने पुरुषार्थी नहीं स्वल्प-संतोषी बनकर ही पार जाना उचित है । हनुमान जी ने यही किया । प्रत्येक प्रगति के इच्छुक साधक के लिए भी यही अभीष्ट है । योग का लक्ष्य है जीवन ऊपर उठकर ईश्वरत्व तक पहुँचे, इसके लिए नीचे खींचने वाली कुत्साओं से बचना है । यह कार्य संयम से ही संभव है । इसीलिए हर प्रकार के योग में संयम का अनिवार्य स्थान है ।

आदर्श पहचानना ही पर्याप्त नहीं । अपनी आकांक्षायें और उमंगें उनके साथ जोड़नी होती हैं । मात्र जानकारी है पर आकांक्षा नहीं तो जानते हुए न बढ़ना और भी बड़ा पाप बन जाता है ।

तुच्छ कामनाओं पर अंकुश

तुलसीदास रत्नावली के रूप और वैभव के सुख की कामना पर अंकुश न लगा पाते, तो भक्ति साधना में कैसे लग पाते ?

भर्तृहरि राज्य वैभव और पिंगला जैसी रमणी के सान्निध्य की लालसा पर काबू न पा सके होते तो कैसे नाथपंथ के महान संन्यासी बन पाते ?

गांधी झूठ-मूठ बोलकर सफल वकील कहलाने की हीन कामना से ऊपर न उठते तो उस महान व्यक्तित्व के धनी कैसे बनते जिसके सामने ब्रिटिश हुकूमत झुक गई । मृत्यु के शोक में सारे विश्व के झंडे झुक गए ।

संयम के बिना कोई उपलब्धि न हुई है, न हो सकती है ।

जिस बालक ने समय का संयम करके अध्ययन नहीं किया, वह शिक्षा पाकर विद्वान नहीं बन सकता ।

जिस युवक ने आहार, व्यायाम का संयम-संतुलन नहीं बिठाया, उसे पहलवान बनने की कामना नहीं रखनी चाहिए ।

कंठ को नियंत्रित रखकर जो स्वर नहीं निकाल सकता, उससे संगीत साधना किसी भी रूप में नहीं सध सकती । हाथ की गति पर जिसका संयम नहीं, वह न कोई वाद्य बजा सकता है, न चित्र बना सकता है ।

जिसके विचार क्रमबद्ध नहीं हो सकते, वह न लेखक बन सकता है, न कवि ।

जिसका अपने हावभावों पर नियंत्रण नहीं वह न व्यक्ति बन सकेगा, न अभिनेता ।

इसी प्रकार अपनी आकांक्षाएं जिसने प्रभु के अनुरूप नहीं बनाईं वह अपनी शक्ति गलत कार्यों से न बचा सकेगा, न प्रभु के अनुरूप लगा सकेगा, उससे कोई योग कैसे सधेगा ?

फूल पत्थर से भी दृढ़

एक दिन पत्थर फूल पर बहुत नाराज हुआ । उसने कहा-"जानता नहीं मेरी शक्ति । तुझे जरा सी देर में पीस कर रख दूँगा ।"

फूल मुस्कराया और बोला-"तब तो आप मेरी सुगंध को दूर-दूर तक फैला देने का उपकार ही करेंगे, महोदय ! इसमें मुझे न खिन्न होना है और न उद्विग्न । शरीर का मोह करूँगा तो भयभीत रहूँगा और ऊँचे लक्ष्यों का आनंद न ले सकूँगा ।"

उद्देश्य मोह छुड़ाना है, कर्म छुड़ाना नहीं

महात्मा ईसा कहीं जा रहे थे कि मार्ग में उन्होंने मैथ्यू नामक शिष्य को देखा । उसके पिता की मृत्यु हो गई थी और वह उसे रो-रोकर दफन कर रहा था ।

मैथ्यू ने जैसे ही ईसा को देखा, वैसे ही दौड़ कर उनके पास आया और आस्तीन चूमकर तुरंत ही अपने पिता के शव की ओर लौट पड़ा ।

ईसा ने समझा कि इसकी ममता नहीं मरी । अतः उन्होंने मैथ्यू को पुकारकर अपने पास बुलाया और उसे आज्ञा दी-"जिसकी मृत्यु हो गयी, वह भूत का साथी हुआ, तू उसकी लाश से मोह कर, वर्तमान से दूर क्यों होना चाहता है ।"

मैथ्यू इस असमंजस में था कि क्या करें ? तभी उसने ईसा की स्पष्ट आज्ञा सुनी-"भूत को भूत देखता रहेगा, तू यहाँ मेरे साथ आ ।"

संयोग की बात है कि जब यह दोनों आगे बढ़े तो ईसा का एक अन्य शिष्य भी उन्हें अपने पिता की लाश

दफनाता मिला । परंतु जैसे ही उसने अपने गुरु को देखा, वैसे ही दौड़ कर उनके पास पहुँचा और उनके साथ चल दिया । ईसा ने उसे देखा तो बोले–"अरे, तू क्यों चला आ रहा है ?"

शिष्य ने साथ चलने का हठ किया तो ईसा बोले–"ऐसी कोई जल्दी नहीं है । मैं आगे के गाँव में ठहरूँगा । तुम लाश को दफना कर वहीं चले आना ।"

वह शिष्य तो चला गया, परंतु एक समान घटनाओं पर दो प्रकार की व्यवस्था सुनकर मैथ्यू को बड़ा आश्चर्य हुआ । उसने अपने गुरु से पूछा–"इसका क्या कारण है गुरुदेव ! आपने मुझे अपने पिता की लाश को दफनाने भी नहीं दिया और उसे अपने पिता को दफन करने की आपने स्वयं आज्ञा दी । एक प्रकार की घटनाओं पर ही दो प्रकार की आज्ञा क्यों ?"

ईसा ने कहा–"जो राग में फँसा है उसे वैराग्य का उपदेश दो, परंतु जो रागमुक्त है, उसे वैराग्य का उपदेश देने से कोई लाभ नहीं ।"

त्रिपक्षीय खिंचाव में गति कहाँ ?

एक लकड़ी पानी के किनारे पड़ी थी, उसे तीन जानवर खींच रहे थे । मछली नीचे ले जाना चाहती थी । बतख ऊपर उड़ा ले जाने की फिकर में थी । कछुआ जमीन पर घसीट रहा था । तीनों पूरा जोर लगा रहे थे । पर वह जहाँ की तहाँ रही । एक इंच भी आगे न बढ़ सकी ।

मन, बुद्धि और चित्त जीवन की गाड़ी को अपनी-अपनी दिशा में ले जाना चाहते हैं, पर लक्ष्य एक न होने के कारण जीवन जहाँ का तहाँ ही बना रहता है । प्रगति जरा भी नहीं हो पाती । जब मन, बुद्धि और चित्त तीनों सदिच्छा से जुड़ जाते हैं तो शक्ति संयुक्त हो जाती है, जीवन प्रगतिशील बन जाता है ।

जानकार को दंड मिला

यमराज के सामने चार अपराधी लाए गए । चारों पर आरोप था कि इन्होंने सामाजिक सम्पत्ति का अनधिकार प्रयोग किया ।

यमराज ने पूछा–"तुम्हें यह नहीं पता कि सार्वजनिक सम्पत्ति का व्यक्तिगत उपयोग नहीं किया जाना चाहिए ।" तीनों व्यक्तियों ने कहा–"हम वनवासी हैं । प्रकृति से जो मिला उसे आवश्यकतानुसार प्रयोग में ले लिया । हमारे सामने जो आया उसका उपयोग किया । हमें इससे अधिक और कुछ पता नहीं ।"

उपस्थितगण उनकी ना जानकारी पर हँस पड़े । चौथा बोला–"यह तीनों मूर्ख हैं । मैं तो समझता हूँ कि सामाजिक सम्पत्ति क्या है, व्यक्तिगत क्या है । मुझे इनमें न गिनें ।"

यमराज ने पहले तीन को सामान्य दंड दिया अज्ञानी होने का । चौथे को बड़ा दंड दिया, पापी होने का । कहा–"जानकारी भूल से बचाती है, पर जानकारी हो फिर भी गलत इच्छा न रुक सके तो पाप है ।" इसलिए चौथे को पापी के रूप में नरक भुगतने की सजा दी गई ।

तृष्णाः स्वाश्च वशीकुर्याद् यावदेव नरः स्वयम् ।
तावदेव स्वकर्तव्यपालनं सम्भवेद् भृशम् ।। ७६ ।।
संयमधारमाश्रित्य सञ्चितैर्विभवैर्नरः ।
साधनानि स्वकर्तव्यपालनस्यार्जितुं क्षमः ।। ७७ ।।
ब्राह्मणविप्रवृत्तेश्चाऽभ्यस्ता वै साधवो मताः ।
अस्यार्थश्चायमेवास्ति दुष्प्रवृत्तीरिमास्तथा ।। ७८ ।।
महत्वपूर्णाकांक्षाश्च नियम्मैव च सम्भवेत् ।
परोपकारो विप्राणां यश्च नैसर्गिको गुणः ।। ७९ ।।

टीका–जो मनुष्य अपनी तृष्णाओं पर जितना अंकुश लगा सकेगा, उसके लिए उतनी ही तत्परता के साथ कर्तव्यपालन संभव हो सकेगा । संयम के आधार पर संभव हुई बचत से ही कर्तव्यपालन के आवश्यक साधनों को लगाया जा सकना संभव होता है । ब्राह्मण तथा ब्रह्मवृत्ति के व्यक्ति ही साधु बन सकते हैं । इसका अर्थ है–महत्वाकांक्षाओं–त्रिविध दुष्प्रवृत्तियों का दमन करने के उपरांत ही परमार्थ–परायण हो सकना संभव है, जो ब्राह्मणों का स्वाभाविक गुण देखा जाता है ।। ७६–७९ ।।

अर्थ–यहाँ ऋषि कहते हैं कि ब्राह्मण वह है जिसमें संयम की सहज वृत्ति है । जो आवश्यकतायें बढ़ाने में नहीं, दुष्प्रवृत्तियों के दमन में गौरव समझता है । साधु का अर्थ है, सहज परमार्थ-परायण । जिसमें ब्राह्मणवृत्ति नहीं, उससे साधु के कर्तव्य-उत्तरदायित्व नहीं संभल सकेंगे ।

श्रेष्ठि दीन, भिक्षु तुष्ट

श्रेष्ठि बेधारक ने तथागत से पूछा–"आपकी मंडली के सभी सदस्यों की कठिन और कष्ट साध्य दिनचर्या है, कभी भोजन मिलता है, कभी नहीं, पैदल लंबी यात्राएं करते हैं, जमीन पर सोते हैं, फिर भी क्या कारण है कि हमारा श्रेष्ठि समुदाय दुर्बल और उदास रहता है और आपके परिव्राजक कमल के फूल जैसे खिले और प्रसन्न दिखाई पड़ते हैं ।

तथागत ने कारण बताया । साधुजन केवल आज के गुजारे पर संतुष्ट रहते हैं, उन्हें कल की चिंता नहीं रहती । जो भी इस तरह रहेगा, प्रसन्नतापूर्वक जियेगा ।

सिकंदर से संत ने कहा

सिकंदर ने भारत में तत्वज्ञानी रहने की प्रशंसा सुनी थी, सो उसने उनमें से एक को अपने देश ले चलने का विचार किया और वैसा कोई मिले इसकी तलाश करने लगा । किसी जंगल में एक झोंपड़ी में रहने वाले ब्रह्मज्ञानी का पता लगा, सो वह वहाँ जा पहुँचा । साधनों का सर्वथा अभाव रहते हुए भी प्रसन्नता और तेजस्विता फूटी पड़ रही थी । लगा यही उस वर्ग का व्यक्ति है जिसकी उसे तलाश थी ।

सिकंदर ने साधु को अपने साथ चलने और विपुल ऐश्वर्य भोगने का प्रलोभन दिया । साधु मुस्कराये और बोले–"इन वस्तुओं की नश्वरता देखकर मैं विवेकपूर्वक बहुत समय पहले ही त्याग चुका हूँ । इन्हें पाने के लिए प्रकृति छोड़कर महलों की कैद में क्यों जकड़ूँ ?"

सिकंदर को इसमें अपना अपमान लगा और प्रताप का परिचय देते हुए तलवार म्यान से निकाल ली, बोला–"कहना न माना तो सिर धड़ से अलग कर दूँगा ।"

ब्रह्मज्ञानी अबकी बार मुस्कराये नहीं, हँस पड़े, बोले–"आप काल से अधिक बली नहीं हैं, जो उसके विधान को मिटा सकें । जब तलवार से आज ही मरना हो, उस अमिट को निकट आया देखकर मैं डरूँगा क्यों ? बंधन मुक्ति पर प्रसन्न क्यों नहीं हूँगा ।"

सिकंदर ने तत्वज्ञानी की मनःस्थिति को लोभ और भय से ऊँचा उठा पाया और फिर बलपूर्वक अपने देश ले चलने का विचार छोड़ दिया ।

संतत्व पारस से भी बड़ा

रैदास की निस्पृहता और कर्तव्यनिष्ठा से इंद्र बहुत प्रसन्न हुए, सोचने लगे इनकी दरिद्रता दूर करनी चाहिए, सो पारसमणि लेकर उनके पास पहुँचे और बोले–"इसे रखिए जब आवश्यकता हो, लोहे का इससे स्पर्श करायें और सोना बना लें । आपको किसी वस्तु का अभाव न होगा ।"

संत ने इंद्र का सत्कार किया और उनका अनुग्रह स्वीकार करते हुए किसी कोने में सुरक्षित रख दिया ।

बहुत दिन बीते इंद्र उधर से फिर निकले, सोचा रैदास की सम्पन्नता को देखते चलें । सो उनकी कुटिया में जा पहुँचे, देखा तो पहले जैसी ही अभावग्रस्त परिस्थितियाँ बनी हुई थीं । सम्पन्नता का वैभव रंचमात्र भी नहीं था ।

इंद्र ने पारस के उपयोग करने की बात का स्मरण दिलाया, तो उनने इतना ही कहा–"बिना परिश्रम की सम्पदा का उपयोग करने पर संतवृत्ति से हाथ धोना पड़ेगा । इतनी हानि उठाते मुझसे नहीं बन पड़ेगी ।"

कोने में से ढूँढ़ कर पारस इंद्र को लौटा दिया और वे सच्ची संतवृत्ति के प्रति नतमस्तक होकर वापस स्वर्ग चले गए ।

धर्मस्याऽपरयुग्मस्य कर्तव्यसंयमाख्योः ।
द्वयोरन्योऽन्यसम्बन्धे ज्ञाते ते तुतुषुः स्थिताः ॥८०॥
स्पृहानियमनान्नूनं बिना कर्तव्यपालनम् ।
सम्भवेन्नैव तथ्यं च जना जानन्ति ये त्विदम् ॥८१॥

समर्थास्ते नरा एव धर्तुं धर्मस्य पावनम् ।
पादं तृतीयं येनेमे देवत्वं प्राप्नुयुर्ध्रुवम् ।। ८२।।
प्रतिपादनमेतच्च ज्ञानगोष्ट्यामभून्मतम् ।
समेषां कृतकृत्यांश्च मेनिरे स्वान् समे ततः ।। ८३।।
नियते समये सोऽयं समारोहो विसर्जितः ।
भ्रान्तेर्वात्या विधूता च यया लोको विखण्डितः ।। ८४।।

टीका—धर्म के दूसरे युग्म संयम और कर्तव्य का अन्योन्याश्रय संबंध समझने पर सभी उपस्थितजनों को बहुत संतोष हुआ । लिप्सा—नियमन के बिना कर्तव्य—धर्म का पालन नहीं बन सकता, इस तथ्य को जो लोग समझते हैं, वे ही धर्म के तीसरे चरण की अवधारणा करने में समर्थ होते हैं, जिससे सभी देवत्व को प्राप्त हो सकते हैं । ज्ञानगोष्ठी में आज का प्रतिपादन सभी को बहुत भाया और उन्होंने अपने को इस प्रतिपादन से कृत—कृत्य माना । नियत समय पर समारोह विधिवत् विसर्जित हुआ । भ्रांति का वातचक्र ध्वस्त हो गया, जिसने मनुष्यों को खंड—खंड कर अलग—अलग फेंक दिया था ।। ८०—८४।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीआश्वलायन-विदुष ऋषिसम्वादे "संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता चे" ति
प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ।। ४।।

।। अथ पञ्चमोऽध्यायः ।।

❁ अनुशासनानुबन्धप्रकरणम् ❁

पञ्चमे दिवसे तत्र निश्चिते समये पुनः ।
ज्ञानगोष्ठी समारब्धा सत्संगसमयोद्भवा ।। १ ।।
जिज्ञासवः समे स्वानि चासनानि तु भेजिरे ।
प्रेरणा भावबोधिन्यो लभ्यन्ते प्रतिपादनैः ।। २ ।।
प्रतिपादनमाश्रुत्य सर्वं सर्वे व्यधुश्च तत् ।
हृदयंगममेतेऽत्र संगताः पुरुषाः स्वयम् ।। ३ ।।

टीका–पाँचवे दिन संत समागम की ज्ञानगोष्ठी नियत–निर्धारण के अनुसार निश्चित समय पर आरंभ हुई । सभी जिज्ञासुओं ने अपने–अपने आसन संभाले । प्रवचन–प्रतिपादनों से सभी को भावभरी प्रेरणाएं मिल रही थीं । सभी प्रतिपादनों को सुनने के साथ–साथ गंभीरतापूर्वक हृदयंगम भी कर रहे थे ।। १–३ ।।

उद्दालक उवाच–

देवधर्मस्य श्रुत्वैतद् युग्मयोस्तु विवेचनम् ।
आनन्दः परमः प्राप्तः समैरस्माभिरुत्तमः ।। ४ ।।
तत्पालनाय सर्वेषामुत्साहः समुदेति च ।
वचोऽमृतमिदं नव्यं जीवनं नः प्रयच्छति ।। ५ ।।
प्रकाशमपि, तद् युग्मं तृतीयं कृपया भवान् ।
प्रकाशयतु सम्बन्धः कोऽनुबन्धस्य चाऽस्य तु ।। ६ ।।
अनुशासनस्य मध्ये स भिन्नता का च विद्यते ।
व्यवहारोपयोगी च बोधो धर्मस्य स्यादयम् ।। ७ ।।

टीका–उद्दालक बोले–हे देव ! धर्म के दो युग्मों की विवेचना सुनकर हम सब को बड़ा आनंद प्राप्त हुआ है । उनके परिपालन में सभी को भारी उत्साह उमड़ रहा है । आपके अमृत वचन हम सबको नया जीवन, नया प्रकाश दे रहे हैं । अब कृपा कर तृतीय युग्म पर प्रकाश डालें और बताएं कि अनुशासन और अनुबंध का परस्पर क्या संबंध है ? उनके बीच भिन्नता क्या है, जिससे धर्म का व्यवहारोपयोगी बोध हो जाय ।। ४–७ ।।

आश्वलायन उवाच–

अनुशासनमत्राहुर्गुणं सामाजिकं बुधाः ।
सभ्यताशब्दितोऽप्येतदनुबन्धस्तथास्ति सः ।। ८ ।।
गुणस्त्वान्तरिको यां च संस्कृतिं कथयन्त्यपि ।
सुसंस्कारित्वशब्देन जना जानन्ति कुत्रचित् ।। ९ ।।
द्विधैतयोः प्रयोगस्तु क्षेत्रयोर्भवति द्वयोः ।
एकमुद्गममूलं तु द्वयोरेवास्ति वस्तुतः ।। १० ।।

टीका–श्री आवश्वलायन ने कहा–विद्वानों ने अनुशासन को सामाजिक गुण कहा है और इस बाह्य अनुबंध को सभ्यता के नाम से भी जाना जाता है । इसका दूसरा रूप आंतरिक गुण के रूप में होता है, जिसे सुसंस्कारिता या संस्कृति के नाम से जाना जाता है । इनके प्रयोग तो दोनों क्षेत्रों में दो प्रकार से होते हैं, पर उनका मूल उद्गम एक ही है ।। ८–१० ।।

अर्थ–धर्म के तृतीय युग्म के रूप में यहाँ पर सभ्यता अनुशासन के रूप में बहिरंग में कार्य करने वाले एवं संस्कृति अनुबंध के रूप में अंतरंग में क्रियाशील दो गुणों की चर्चा की गयी है । सभ्यता एक प्रकार का बाह्य अनुबंध है एवं संस्कृति एक प्रकार का आत्मानुशासन । इस प्रकार दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं मिलकर समग्र बनते हैं । इन दोनों का मूलभूत स्रोत एक ही है । शब्दों के रूप में इन्हें चाहे जिस तरह अभिव्यक्ति दी जाय; व्यक्तित्व को निखारने, उसे पूर्ण मानव के रूप में विकसित करने के लिए इन दोनों ही गुणों को अपरिहार्य माना गया है ।

अनुबंध की व्याख्या करते हुए उसे अंतः से उद्‌भूत अनुशासन बताया गया है । संस्कृति, जो संस्कारों का अभिवर्द्धन कर अंतःक्षेत्र को प्रखर बनाती है, इसी का पर्यायवाची शब्द है । सभ्यता बहिरंग से निभने वाला अनुशासन है, अंतः की बाहर अभिव्यक्त होने वाली प्रतिक्रिया है । इस प्रकार मोटे तौर से दोनों ही गुण एक ही मूल से उपजने वाले वृक्ष की दो शाखाएँ हैं ।

सुसंस्कारिता को किसी भी वर्ग, समाज, देश या संस्कृति का मेरुदंड कहा जा सकता है । इसके अभाव में बाह्योपचार निरर्थक है । सारा वैभव इसके न होने की स्थिति में धूलि के समान हो जाता है । कितने ही समूह बाहर से संपन्न पर संस्कारों की दृष्टि से खोखले नजर आएँ तो समझना चाहिए कि उनका यह वैभव क्षणिक है । अंदर का शून्य बाहर भी विपन्नता उपजाकर छोड़ेगा । यह भी उचित ही कहा गया है कि सभ्यता अथवा अनुशासन आंतरिक अनुबंध सुसंस्कारिता के पूरक हैं । दोनों का सह अस्तित्व एक दूसरे के कारण है, यद्यपि दोनों के कार्य क्षेत्र अलग-अलग हैं ।

अनुशासन मर्यादापालन को कहते हैं और अनुबंध आत्मसंयम के लिए किए गए पुरुषार्थ को । मनुष्य को स्वतंत्रता तो मिली है । वह स्वेच्छा से कुछ भी भला-बुरा कर सकता है, किन्तु धर्म-धारणा ने उस पर सन्मार्ग में ही चलते रहने हेतु अनुशासन के अंकुश भी लगाए हैं । हाथी बलिष्ठ होता है । उसकी उपयोगिता भी है, किन्तु अंकुश के बिना वह सही रास्ते पर चलता नहीं । स्वच्छंद होने की स्थिति में कहीं भी भटकता है, पर जब महावत का अंकुश अनुशासन उसकी गतिविधि को नियंत्रित करता और अभीष्ट दिशा में चलने का मार्गदर्शन करता है, तभी उसकी क्षमता का सही उपयोग होता है । उसके बिना वह उच्छृंखलता अपनाकर विनाशकारी घटनाक्रम भी खड़े कर सकता है । हर समाज, वर्ग, समूह के लिए ऋषिगणों ने बाह्य मर्यादाओं, वर्जनाओं एवं संस्कार रूपी आत्मानुशासन का प्रावधान यही सोचकर किया है कि मनुष्य स्वभावतः उच्छृंखल है । उसे नियंत्रित रखने एवं आत्मिक प्रगति के पथ पर बढ़ाने हेतु इस प्रकार का सीमा बंधन अनिवार्य है । देव संस्कृति की यह विशेषता अपने आप में अनुपम है ।

अपने लिए नहीं जब तक सामुदायिक जीवन में संस्कृति एवं सभ्यता का प्रवाह बना रहता है, तब तक समाज फलते-फूलते रहते हैं । इसलिए युग निर्माता महामानव अपने आचरण में इस परंपरा का प्रायोगिक प्रशिक्षण करते पाए जाते हैं ।

गाँधी जी गाँधी जी के आश्रम में कभी-कभी उनकी पोतियाँ भी आ जाती थीं । जितने दिन ठहरतीं, उतने दिन का खर्च उनके पिताजी को बिल बनाकर भेजा जाता था । आश्रम का पैसा सार्वजनिक कामों में ही खर्च होना चाहिए । व्यक्ति के निजी कार्य के लिए चाहे वह गाँधी जी का संबंधी ही क्यों न हो, उसमें से एक पैसा भी खर्च नहीं किया जा सकता था ।

गाँधी जी समर्थ ब्रिटिश शासन के सम्मुख प्रचंड प्रतिरोध तभी खड़ा कर सके जब उनके पीछे अनुशासनबद्ध स्वयंसेवकों की लंबी कतार थी । उन दिनों कांग्रेस का प्रत्येक सदस्य अनुशासन का पालन करता था । उनकी विजय का यही एकमात्र रहस्य था ।

बापू का विनम्र चपरासी बिहार के चंपारन जिले में महात्मा गाँधी का शिविर लगा था । किसानों पर होने वाले सरकारी अत्याचारों की जाँच चल रही थी । हजारों की तादाद में किसान आ-आकर बापू से अपना दुःख निवेदन कर रहे थे । उस समय उस जाँच आंदोलन में कृपलानी जी का बड़ा प्रमुख सहयोग था । वे गाँधी जी के कैंप सेक्रेटरी के रूप में काम कर रहे थे । इसलिए जिला अधिकारियों के आँख की

किरकिरी बने हुए थे । इस जाँच-पड़ताल के दौरान महात्मा जी को अनेक चिट्ठियाँ दिन में बहुत बार कलेक्टर के पास भेजनी पड़ती थीं । यह सब डाक ले जाने का काम कृपलानी जी ही करते थे ।

कृपलानी जी को डाक लाते-ले जाते देखकर एक बार कलेक्टर ने पूछा-"आप ही तो वह प्रो० कृपलानी हैं, जो इस सब हलचल के मुखिया हैं । फिर आप यह डाक लाने-ले-जाने का काम क्यों करते हैं ?"

कृपलानी जी ने उत्तर दिया-"मैं तो एक साधारण कार्यकर्त्ता और बापू का चपरासी हूँ ।" उनकी यह विनम्रता एवं गाँधी जी की हर बड़े से बड़े व्यक्ति से छोटा कार्य भी करा लेने की क्षमता ने उन दिनों महामानवों का एक विशाल समुदाय विनिर्मित कर दिया था । स्वतंत्रता प्राप्ति में बहिरंग के प्रयास की कम एवं इन मूल्यों की महत्ता अधिक आँकी जानी चाहिए ।

राष्ट्र की रक्षा सबसे पहले

हालैंड समुद्र से निचाई पर बसा हुआ है । पानी भीतर न घुसे इस लिए उस देश के किनारे पर दीवारें बनी हुई हैं । कभी पानी भीतर आने लगता है तो बड़े-बड़े पंप उसे उलीचने के लिए लगाने पड़ते हैं ।

एक दिन रात होते-होते एक लड़का पीटर समुद्र की दीवार पर से निकला । उसने देखा कि दीवार में छेद हो गया है और उससे होकर पानी नगर में तेजी से दौड़ रहा है । स्काउटिंग की शिक्षा प्राप्त अनुशासन प्रिय छात्र ने कोई और उपाय न देखकर अपनी बांह उस छेद में ठूँस कर बहाव को रोका । सहायता के लिए औरों को पुकारता रहा पर उस सुनसान में किसी ने उसकी आवाज ही नहीं सुनी । बारह घंटे भयंकर शीत और पानी में डूबा हुआ लड़का मरणासन्न हो गया । सबेरे जब लोग उधर से निकले तो लड़के को इस स्थिति में पानी को रोके हुए पड़े देखा । उपचार कराने पर बड़ी कठिनाई से ही उसकी जान बचाई जा सकी । हालैंड को डूबने से बचाने वाले इस व्यक्ति पीटर का नाम हालैंड के इतिहास में अमर है ।

ऐसे ही व्यक्ति अपने ऐसे ही गुणों के कारण विश्ववंद्य महामानव के रूप में पूजे जाते हैं । उनकी गाथाएँ अनेक के लिए प्रेरणा स्रोत बन जाती हैं ।

कोई चोर नहीं

अनुशासन परंपरा का जितने व्यापक क्षेत्र में विस्तार होगा, उसका उतना ही बड़ा प्रतिफल भी मिलेगा । जापान आज चोटी के देशों में से एक है । उसकी सफलता का रहस्य इसी एक उदाहरण से उद्घाटित होता है । एक बार कुछ जापानी छात्र बस छोड़कर तीन मील ऊपर पर्वत पर चढ़ रहे थे । एक अमेरिकी बस पीछे से आई । उसके एक यात्री ने छात्रों से पूछा-"आप लोगों का सामान खुला पड़ा है, कोई चौकीदार भी नहीं ।"

छात्रों ने कहा-"जापान में कोई चोरी नहीं करता, इसीलिए तो हमारा देश इतना प्रगतिशील है ।"

कैदी भागे नहीं

एक बार आस्ट्रेलिया-तस्मानिया के हॉवर्ट नगर में बहुत जोर की आग लगी । जेल का फाटक भी जल गया । कैदी निकल कर आग बुझाने में लग गए । आग बुझ जाने पर सभी कैदी अपनी कोठरियों में वापस आ गए । गिने तो सब मौजूद थे ।

अफसर ने पूछा-"आप लोग इस अवसर का लाभ उठाकर भाग भी सकते थे ।" कैदियों ने कहा-"हम अपनी सरकार और कानून के प्रति वफादार हैं । ऐसे काम नहीं कर सकते, जिससे न्याय-व्यवस्था बिगड़े ।"

सरकार ने प्रसन्न होकर ऐसे नीतिनिष्ठ सभी कैदियों को छोड़ दिया ।

कनाडा के निर्माता

कनाडा अपने आरंभिक दिनों में छोटी-छोटी ऐसी रियासतों का समूह था, जो हमेशा आपस में लड़ते-झगड़ते रहते थे । इस फूट-फिसाद से सभी को हानि थी । इन्हें एक सूत्र, एक अनुशासन में बाँधने का काम मेकडोनल्ड ने किया । वह किसी बड़े घराने में पैदा नहीं हुआ था और न शिक्षा या प्रतिभा की दृष्टि में कोई उच्च श्रेणी का व्यक्ति था । पर सूझ-बूझ और मधुर वार्तालाप की दृष्टि से ऐसा कुशल था कि एकीकरण मार्ग में अड़ी हुई सैकड़ों गुत्थियों को उसने बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक सुलझा लिया ।

मैकडोनल्ड को आज के कनाडा का निर्माता माना जाता है । उसने ऐसी नींव रखी कि वह देश निरंतर उन्नतिशील होता चला गया । उसके व्यक्तित्व में ऐसा जादू था कि कट्टर विरोधी भी पानी पानी हो जाते थे ।

स्वयं को भी देखें

आत्मानुशासन का अर्थ है--अपने आप की पैनी समीक्षा और यदि कोई कमी दिखाई दे, तो उसे हटाने के लिए अपने साथ ही बरती गई कठोरता ।

एक शिष्य बहुत दिन से गुरु की सेवा कर रहा था । एक दिन उसने कहा--"कोई सिद्धि सिखाइए ।"

शिष्य अनपढ़ था । उसे सिद्धि कैसे सिखाई जाय । गुरु ने झोली में से निकालकर एक डंडा दे दिया और कहा इसमें यह सिद्धि है कि किसी का अंतर्मन तुम देख सकोगे ।

शिष्य ने डंडा ले लिया और सबसे पहले गुरु का ही अंतर्मन देखा । उसमें मक्खी-मच्छर जैसे कीड़े-मकोड़े भिन-भिना रहे थे ।

शिष्य की श्रद्धा चली गई । गुरु के भीतर तो इतनी गंदगी है ।

अब गुरु ने कहा--"डंडे को अपनी ओर करके देख ।" देखा तो साँप-बिच्छू जैसे भयंकर जीव दौड़ रहे थे ।

शिष्य समझ गया कि मुझसे गुरु सौ गुना अच्छे हैं । तुलना करने पर उसकी श्रद्धा वापस लौट आई । उसने सोचा मुझे पहले अपनी गंदगी मिटानी चाहिए, बाद में कहीं और देखना चाहिए ।

संरक्षक मात्र

नासिरुद्दीन दिल्ली के बादशाह थे; पर वे अवकाश के समय टोपियाँ बनाकर व कुरान की नकल करके जो धन मिलता, उसी से अपना खर्च चलाते । बादशाह की बेगम हाथ से खाना पकाया करती थीं ।

एक बार खाना पकाते समय बेगम का हाथ जल गया । वह सोचने लगीं--एक बादशाह की बेगम होते हुए भी उसे एक नौकर भी मयस्सर नहीं । उसने अपने पति से कहा--"आप राज्य के स्वामी हैं । क्या आप हमारे लिए भोजन पकाने वाले एक नौकर का प्रबंध नहीं कर सकते ?"

"बेगम, आपके लिए नौकर रखा जा सकता है, बशर्ते कि हम अपने सिद्धांतों से डिग जाँय । राज्य, धन, वैभव तो प्रजा का है । हम तो उसके संरक्षक मात्र हैं । उसका उपयोग अपने लिए करें; यह तो बेईमानी होगी ।"--नासिरुद्दीन ने उत्तर दिया । उनकी सिद्धांत निष्ठा के आगे पत्नी को झुकना ही पड़ा ।

फाटक नहीं खुला

इस समीक्षा में थोड़ी भी ढील दी गई, बस उसी समय से पतन-पराभव की परंपरा पनपने लगती है । इस पुण्य भूमि का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कठिन परिस्थितियों में भी हमने यह अनुबंध नहीं तोड़ा ।

जोधपुर महाराज एक युद्ध में लड़ने के लिए सेना समेत गए । हार होती देखकर अपनी जान बचाकर भाग आए । रात्रि को किले का दरवाजा खटखटाया; प्रहरी रानी के पास गए । उस स्थिति में रात्रि के समय दरवाजा उनकी आज्ञा से ही खुल सकता था ।

रानी ने पूरा विवरण सुनने के बाद दरवाजा न खोलने का हुक्म दिया और राजा से कहलवा भेजा--"जोधपुर नरेश होते तो पीठ दिखाकर न आते । या तो जीत कर लौटते या उनकी लाश वापस आती । भगोड़ा तो कोई छद्मवेषधारी हो सकता है ।"

राजा को पहरेदारों ने रानी का आदेश सुनाया । वे उल्टे पैर वापस लौट गए । पूरे जोश के साथ दुबारा लड़े और जीतकर वापस लौटे ।

इस देश और जातीय जीवन की समर्थता ऐसे ही कठोर अनुबंधों के सहारे विकसित हुई थी ।

चतुर घोड़ा

इसके लिए आवश्यक है कि मन को पहले से ही सुसंस्कारिता का अभ्यस्त बनाया जाए ।

एक बार एक रईस ने एक घोड़े की बहुत प्रशंसा सुनी । सो उसने उसे खरीदने का निश्चय किया और मुँह माँगा मूल्य देकर खरीद लिया ।

घोड़ा बहुत चतुर था । उदाहरण उसने प्रत्यक्ष देखा--मालिक पीठ पर से गिरा, तो घोड़े ने सहारा देकर उसे उठाया, पीठ पर बिठाया और डाक्टर के यहाँ पहुँचाया ।

बहुत दिन बाद संयोगवश वैसी ही दुर्घटना उस रईस के साथ घटी, वह दौड़ते हुए गिर पड़ा । घोड़े ने उसे उठाया, पीठ पर बिठाया और डाक्टर के यहाँ पहुँचाया ।

पर असमंजस यह रहा कि उसे जानवरों के अस्पताल में पहुँचाया गया । घोड़ा उसी को जानता था । मनुष्यों

के डाक्टरों से उसका वास्ता ही न पड़ा था । वहाँ पहुँचता तो कैसे ?

रईस उस प्रसंग की चर्चा कर रहे थे कि एक संत ने कहा–"मन ऐसा ही बहुमूल्य घोड़ा है; सो उसने जो सीखा है, वही करता है । खरीदने वाले को चाहिए कि उसे वह सिखाए जो कराना है ।

हम तो कभी झगड़े भी नहीं

ईश्वरीय अनुशासन को मानने वाले को डर किस बात का । थोरो अमरीका के सुप्रसिद्ध दार्शनिक थे । महात्मा गाँधी भी उनके विचारों से समय-समय पर प्रेरणा लिया करते थे । वे जब मृत्यु-शैया पर पड़े थे, तब उनकी दूर की रिश्ते की एक चाची उनसे मिलने आई । उसने कहा–"बेटा, ईश्वर से शांति की प्रार्थना करके तूने उससे आज तक के अपराधों की क्षमा माँगी या नहीं ?"

थोरो ने मुस्कराकर कहा–"चाची, हम दोनों का कभी मनमुटाव हुआ हो या किसी बात पर आपस में झगड़े हुए हों, ऐसा मुझे तो याद नहीं आता । मैंने कभी उनके आदेशों का उल्लंघन नहीं किया, हमेशा उनके इशारे पर ही चलता रहा तो क्षमा किस बात की माँगू ?"

आत्मानुशासन मानने वाले, संस्कार संवर्द्धन की महत्ता समझने वाले ईश्वर को प्रिय हैं । उन्हें किसी प्रकार का आडंबर रचने की क्या आवश्यकता ?

संत द्वारा बाग की रखवाली

संत इब्राहीम ने ईश्वर भक्ति के लिए घर छोड़ दिया और वे भिक्षाटन पर निर्वाह करके साधनारत रहने लगे । किसी किसान के यहाँ वे भिक्षा माँग रहे थे तो उसने रोक कर कहा–"आप जवान हैं, परिश्रमपूर्वक निर्वाह करें । बचे समय में साधना करें । समर्थ का भिक्षा माँगना उचित नहीं ।"

इब्राहीम को बात जँच गई । उनने इस सदुपदेश कर्ता का एहसान माना और पूछा–"तो फिर इतनी कृपा और करें कि मुझे काम दिला दें ताकि गुजारे के संबंध में निश्चिंत रहकर भजन करता रह सकूँ ।"

किसान का एक आम का बगीचा था । उसकी रखवाली का काम सौंप दिया । साथ ही निर्वाह का प्रबंध कर दिया । दोनों को सुविधा रही ।

बहुत दिन बाद आम की फसल के दिनों में किसान बगीचे में पहुँचा और मीठे आम तोड़कर लाने के लिए कहा । इब्राहीम ने बड़े और पके फल लाकर सामने रख दिए । वे सभी खट्टे थे । नाराजी का भाव दिखाते हुए किसान ने पूछा–"इतने दिन यहाँ रहते हो गए । इस पर भी यह नहीं देखा कि कौन पेड़ खट्टे और कौन मीठे फलों का है ?"

इब्राहीम ने नम्रतापूर्वक कहा–"मैंने कभी किसी पेड़ का फल नहीं चखा । बिना आपकी आज्ञा के चोरी करके मैं क्यों चखता ?"

किसान इस रखवाले की ईमानदारी-वफादारी पर बहुत प्रसन्न हुआ । उसने कहा–"आप पूरे समय भजन करें । निर्वाह मिलता रहेगा । रखवाला दूसरा रख देंगे ।"

इब्राहीम दूसरे दिन बड़े सबेरे ही उठकर अन्यत्र चले गए । चिट्ठी रख गए–"आपने आरंभ में कहा था बिना परिश्रम के नहीं खाना चाहिए । आपकी उस अनुशासन भरी शिक्षा से ही मेरी श्रद्धा बढ़ी थी । अब तो आप ठीक उल्टा उपदेश करने लगे । मुफ्त का खाने लगूँ, यह कैसे होगा ? आपकी बदली हुई शिक्षा को देखकर मैंने चला जाना ही उचित समझा ।"

संस्कारों की प्रबलता सही मार्ग पर चलने वाले को कभी दिग्भ्रांत नहीं कर सकती ।

शालीनतासमुद्भूतं द्वयमेवेति मन्यताम् ।
यदाऽऽदर्शान् प्रति त्वास्था सद्भावः सद्विचारणाम् ।। ११ ।।
तत्रोदयं समायातो यत्रोत्कृष्टं च चिन्तनम् ।
अपरान् प्रति सम्मानभावना यत्र चात्मनि ।। १२ ।।
सौजन्यस्य समारोहस्तत्रैवैतत्तु सम्भवेत् ।
कर्तव्यपालनं नूनं नागराणां न चान्यथा ।। १३ ।।
निर्वहेच्च सदाचारस्तत्र चाऽप्यनुशासनम् ।
व्यवहारे समागच्छेत् सभ्यताशब्दितं तु यत् ।। १४ ।।

संभवेच्छलयुक्तं न नाटकीयस्य वस्तुतः।
सौजन्यस्य च पाखण्डं झटिति प्रकटं भवेत् ।। १५।।

टीका–दोनों ही शालीनता के उत्पादन हैं । जहाँ आदर्शों के प्रति आस्था होगी, वहाँ सद्भावना–सद्विचारणा पनपेगी । जहाँ उत्कृष्ट चिंतन चल रहा होगा, दूसरे के प्रति सम्मान का भाव होगा, अपने में सज्जनता का आरोपण रहा होगा, वहीं नागरिक कर्तव्यों का परिपालन बन सकेगा । वहीं शिष्टाचार निभेगा और सभ्यता के रूप में जाना जाने वाला अनुशासन अपनाया जा सकेगा, यह छलपूर्वक नहीं हो सकता । नाटकीय सज्जनता का पाखंड प्रकट होने में देर नहीं लगती ।। ११–१५।।

अर्थ–सभ्यता का व्यवहार सुसंस्कारिता के बलबूते ही बन पड़ता है । जैसा अंतरंग होता है, वैसा ही बहिरंग में परिलक्षित होता है । कोई यह चाहे कि वह बाहर से साज-सज्जा एवं वेष-भूषा से स्वयं को सभ्य-सम्माननीय बना ले तो भी उसका अंतरंग उसके चिंतन के अनुरूप होने के कारण, वह व्यवहार में कहीं न कहीं अपनी झलक दिखा ही देगा । उच्चस्तरीय भावपरक चिंतन की परिणति सभ्य, अनुशासित व्यवहार के रूप में होती है । आदर्शनिष्ठा सदैव अच्छे आचरण, दूसरों के प्रति परमार्थ परायणता, परदुःखकातरता, एकात्मभाव के रूप में परिलक्षित होती है । अंतः की सुसंस्कारिता कभी भी अंतः तक ही सीमित होकर नहीं रह जाती । चिंतन श्रेष्ठ हो एवं व्यवहार में उसका कोई प्रतिबिंब न झलके तो उस चिंतन से क्या लाभ ? सुसंस्कारिता सदाचार, सभ्य व्यवहार, कर्तव्य परायणता को जन्म दे तो ही उसकी सार्थकता है । इस प्रकार संस्कृति व सभ्यता एक दूसरे से अन्योन्याश्रित रूप से संबद्ध हैं ।

शालीन व्यवहार से सद्गुरु प्राप्ति

कबीर को सद्गुण की तलाश थी । निकट में स्वामी रामानंद के अतिरिक्त और कोई सूझता न था । अनुरोध को वे स्वीकार कर नहीं पा रहे थे । जुलाहे को दीक्षा देने में उन्हें अन्य शिष्यों के कुपित होने का भय था ।

कबीर ने रास्ता निकाल लिया । वे गंगाघाट में सीढ़ियों पर जा लेटे । वृद्ध स्वामी जी को कम दिखता था । भोर के अंधेरे में नियत रास्ते चलते हुए उनका पैर सीढ़ियों पर लेटे लड़के की छाती पर पड़ा । पता चलते ही वे राम-राम कहते हुए पीछे हट गए ।

कबीर उठकर चल दिए । चरण स्पर्श को उनने दीक्षा माना और राम-नाम उच्चारण को गुरु मंत्र । गुरु शिष्य को एक तत्व जैसा संबंध बन गया ।

कबीर कहते रहते थे–'शिष्य अपनी शालीनता, अपनी श्रद्धा के बल पर गुरु को और भक्त अपनी भावना के बल पर भगवान को समर्थ बनाता है ।'

अहंकार त्यागें

कबीर ने जो पाया वैसी विभूतियाँ प्रत्येक व्यक्ति में भरी होती हैं; पर एक ताला है, जिसे लगा देने पर सारी क्षमताएँ बंदिनी हो जाती हैं । वह लग जाता है तो कुछ भी हाथ नहीं आता ।

एक तपस्वी किसी धर्मात्मा राजा के महल में पहुँचे । राजा गद्गद् हो गए और कहा–"आज मेरी इच्छा है कि आपको मुँह माँगा उपहार दूँ ।" तपस्वी ने कहा–"आप ही अपने मन से सबसे अधिक प्रिय वस्तु दे दें, मैं क्या माँगूँ ।"

राजा ने कहा–"अपने राज्य का समर्पण कर दूँ ।" तपस्वी बोले–"वह तो प्रजाजनों का है । आप तो संरक्षक मात्र हैं ।" राजा ने बात मानी और दूसरी बात कही–"महल, सवारी आदि तो मेरे हैं, इन्हें ले लें ।" तपस्वी हँस पड़ो–"राजन् ! आप भूल जाते हैं । यह सब भी प्रजा जनों का है । आपको कार्य की सुविधा के लिए दिया गया है ।"

अबकी बार राजा ने अपना शरीर दान देने का विचार व्यक्त किया । उसके उत्तर में तपस्वी ने कहा–"यह भी आपके बाल-बच्चों का है, इसे कैसे दे पाएँगे ।"

राजा को असमंजस में देखकर तपस्वी ने कहा–"आप अपने मन का अहंकार दान कर दें । अहंकार ही सबसे बड़ा बंधन है ।" राजा दूसरे दिन से अनासक्त योगी की तरह रहने लगा । तपस्वी की इच्छा पूर्ण हो गई ।

बिना पात्रता के अनुदान स्वीकार नहीं

संस्कार यदि मन में दृढ़ हों तो श्रेष्ठ व्यक्ति अनुदान भी उस नाते अर्जित करते हैं । श्वेतकेतु ब्रह्म विद्या जानने के लिए बहुत दिन से गुरु गृह में निवास कर रहे थे, पर अभीष्ट अनुदान उन्हें मिला नहीं ।

गुरु की निष्ठुरता से खिन्न होकर एक दिन आश्रम की यज्ञाग्नि ने कहा–"तुम पर दया आती है । गुरु का पल्ला छोड़ो । वे जब तक लौट कर आयें तब तक मैं ही तुम्हें ब्रह्म विद्या बता दूँगी ।"

श्वेतकेतु ने अग्नि देव के अनुग्रह का बड़ा उपकार माना, साथ ही अत्यंत विनम्रतापूर्वक बोले–"सेवा किए बिना, आपसे जो अनुदान मिलेगा वह बिना मूल्य मिलने के कारण फलेगा कहाँ ? पात्रता विकसित किए बिना, अपने अंदर सुसंस्कारिता उपजाए बिना जो उपहार हाथ लगेगा वह टिकेगा कहाँ ?"

अग्निदेव लज्जित होकर अंतर्धान हो गए । श्वेतकेतु ने गुरु सेवा करके अपनी पात्रता परिपक्व की और नियत समय पर अभीष्ट अनुदान लेकर वापस लौटे ।

सब सौंप दिया, ढेरों पा लिया

हसन ने राबिया से पूछा–"आपने खुदा को किस इबादत से पाया ?"

इस पर राबिया बोलीं–"मैंने अपनी हर चीज खुदा के तालाब में डुबो दी है और बदले में खुदा को पाया । जिसे पाना हो इसी तरह पाये । इसे इबादत के किस्सों में न ढूँढ़े ।"

दूसरों का उपकार न भूलें

अहंकार वही लोग करते हैं जिन्हें औरों के उपकार याद नहीं आते । लोग उपकारों का स्मरण करना सीखें, तो दुष्ट भी अच्छे लगने लगेंगे ।

गुलाब के फूल ऊपर टहनी पर खिल रहे थे और सड़ा गोबर उसकी जड़ में सिर झुकाए पड़ा था । गुलाब ने अपने सौभाग्य से सड़े गोबर के दुर्भाग्य की तुलना करते हुए गर्वोक्ति की और व्यंग्य की हँसी हँस दी ।

माली उधर से निकला तो उसने यह सब देखा । उससे चुप न रहा गया । गुलाब के कान से मुँह सटा कर बोला–"तुम्हें इस स्थिति में पहुँचाने में, इन पिछड़े समझे जाने वाले कितनों का योगदान रहा है, तनिक इसे भी समझने का प्रयत्न करो ।"

फूल का श्रेष्ठ चिंतन

चिंतन में वरिष्ठता हो तो वह आचरण एवं व्यवहार में भी प्रकट होती है ।

"काँटों के साथ जिंदगी काटना तुम्हें असह्य तो नहीं हो जाता ?"–चाँदनी ने गुलाब के फूल से पूछा ।"

फूल बोला–"भिन्न प्रकृति वाले फूलों के साथ रहने में जब काटों को कोई शिकायत नहीं, तो सहिष्णुता का महत्व समझने वाले मुझ वरिष्ठ को क्यों कोई कठिनाई होगी ?"

एक लौटा तो सारे गुण और आए

राजा गहरी नींद में सोया हुआ था । उसने देखा राजमहल से एक देव पुरुष निकल कर जा रहे हैं और उसके पीछे तीन देवियाँ भी प्रयाण कर रही हैं ।

स्वप्न में राजा ने देव पुरुष से पूछा–"आप कौन हैं और आपके पीछे जाने वाली यह तीन देवियाँ कौन हैं ? आप सबके जाने का कारण क्या है ?"

देव पुरुष ने कहा–"मेरा नाम है सुसंस्कार । विवेक इसी से जन्म लेता है । जहाँ विलास और अधर्म के पैर जमते हैं वहाँ मैं नहीं रहता और यह तीन देवियाँ भी मेरे साथ ही विदा हो जाती हैं । इनका नाम है–लक्ष्मी, कीर्ति और बुद्धि ।"

राजा की आँख खुली । उसने यथार्थता पर विचार किया और पाया कि उनके क्षेत्र में विलास और अधर्म बढ़ रहा है । सुसंस्कारजन्य अन्यान्य प्रवृत्तियाँ घट रही हैं, अनाचार बढ़ रहा है । ऐसी दशा में इन विभूतियों का विदा होना स्वाभाविक ही है ।

राजा ने अपनी कार्य पद्धति में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया ।

दूसरे दिन स्वप्न आया कि वे चारों ही लौट आए हैं । जहाँ विवेक रहता है, चिंतन में श्रेष्ठता रहती है, वहाँ सभी विभूतियाँ बनी रहती हैं ।

बीज तो महान् है

एक बहेलिया जैन धर्म की दीक्षा लेने गया । श्रावक मुनि ने कहा–"अहिंसा व्रत पालन करने की शर्त पूरी करनी पड़ेगी ।" उसने कहा–"यह कैसे हो सकेगा ? मेरी आजीविका तो यही है ।"

श्रावक मुनि ने कहा–"अच्छा, तो निराश मत लौटो । कम से कम एक प्राणी के प्रति अहिंसा व्रत निर्वाह का प्रण करो ।" बहुत सोच विचार के बाद उसने 'कौआ' न पकड़ने, न मारने का संकल्प लिया ।

अहिंसा की बात मस्तिष्क में घूमनी शुरू हुई तो उसने एक-एक करके सभी प्राणियों का वध छोड़ दिया और वह स्वयं भी मुनि बन गया । छोटा शुभारंभ भी विकसित होते-होते उच्च स्थिति तक जा पहुँचता है । बीज यदि पुष्ट-प्रबल है तो परिणति भी महान होगी । शुभ संकल्प, आदर्शों के प्रति निष्ठा यदि दृढ़ है तो निश्चित ही कालांतर में उसके श्रेष्ठ परिणाम होंगे ।

प्रकृति देखो, परिस्थिति नहीं

मार्ग चलते-चलते थक कर बुद्ध पेड़ के नीचे बैठ गए और आनंद से बोले–"सामने वाले झरने से पानी ले आओ ।"

आनंद जब पहुँचे तो उसी समय एक बैलगाड़ी पानी में होकर निकली और वह गंदला हो गया । आनंद लौट आए और बोले–"गंदला पानी लाने की अपेक्षा कहीं अन्यत्र से लेने जाता हूँ ।"

बुद्ध ने कहा–"उतावली न करो । झरने से ही पानी लाओ ।" वह दुबारा पहुँचे तो गंदलापन बह चुका था । आनंद ने प्रसन्नतापूर्वक कमंडलु भर लिया ।

पीने के बाद तथागत ने कहा–"प्रकृति को देखो, परिस्थिति को नहीं । परिस्थिति बदल जाती है पर प्रकृति स्थिर रहती है ।" आनंद ने उपदेश में निहित तत्व दर्शन समझा कि मूल प्रकृति मनः स्थिति ही है । यदि वहाँ श्रेष्ठता-सुसंस्कारिता है, सद्गुणों का समुच्चय है तो बहिरंग में दृश्यमान मलिनता सामयिक है । प्रकृति निश्चित ही प्रबल है, वह शीघ्र ही जोर मारेगी और श्रेष्ठता उभर कर आयेगी । तथागत ने मुस्कराकर आनंद के चिंतन से सहमति प्रकट की ।

बहुमत की अपनी शक्ति

एक अनाड़ी ने कहीं से सुना–रुपया-रुपये को खींचता है । धन प्राप्त करने का यह तरीका उसे बहुत सरल लगा । सो एक रुपया लेकर राज्य कोषाध्यक्ष के पास गया और दूर से बार-बार अपना रुपया खजांची के रुपयों को दिखाने लगा ।

बार-बार ऐसा करने पर रुपया उसके हाथ से छूटकर खजांची के रुपयों में जा गिरा । अनाड़ी रोने लगा । खजांची के पूछने पर उसने सारी बात बता दी ।

खजांची हँसा और उसने कहा–"तुमने जो सुना था वह तो ठीक था पर इसमें इतनी कमी रह गई कि अधिक संख्या थोड़ी संख्या को अपनी ओर खींच लेती है । बहुमत की भी तो अपनी शक्ति है ।"

उस व्यक्ति ने उस दिन जाना कि जहाँ श्रेष्ठ व्यक्ति समाज में बहुतायत में रहते हैं, वहाँ स्वतः वह समाज भी सुसंस्कारी बन जाता है । जब कभी बहुमत अनाड़ियों, दुष्टों, दुष्प्रवृत्ति प्रधान व्यक्तियों का बढ़ता है, तब सारे समूह का चिंतन, दिशाधारा व व्यवहार भी वैसे ही हो जाता है ।

सज्जनता का पाखण्ड

मनुष्य का मन बड़ा वकील है । खरगोश अपने समर्थन में अनुचित को भी उचित ठहराने में बड़ा समर्थ है, पर याद रखना चाहिए उसका यह हल देर तक नहीं टिकता ।

लोमड़ी और खरगोश पास-पास रहते थे । वह घास चरता और खेत को नुकसान न पहुँचाता । किसान भी उसकी इस सज्जनता से परिचित था । सो रहने के लिए एक कोने में जगह दे दी ।

एक दिन लोमड़ी उधर से आई और खरगोश से पूछने लगी–"मक्की पक रही है, कहो तो पेट भर लूँ ।" खरगोश ने कहा–"खेत से पूछ लो । वह जैसा कहे, वैसा करना ।" लोमड़ी ने खेत से पूछा और फिर आवाज बदलकर खेत की ओर से कहा–"खा लो, खा लो ।"

इतने में किसान का पालतू कुत्ता आ गया । वह सब देख और सुन रहा था । उसने आते ही खेत से पूछा–"बताओ तो इस धूर्त लोमड़ी को मजा चखा दूँ ।" फिर उसने स्वर बदलकर कहा–"धूर्त लोमड़ी की टाँग तोड़ दो ।"

कुत्ते को झपटते देखकर लोमड़ी नौ दो ग्यारह हो गई । सज्जनता का व्यवहार छद्म युक्त होने के कारण आकर्षक तो लगता है पर उसकी पोल अंततः खुल ही जाती है ।

प्रयासाऽऽसादितो यस्तु शिष्टाचारः स जायते ।
अल्पेऽपि प्रतिकूल्ये तु विशीर्णत्वं स्वतः क्षणात् ।। १६।।

टीका–सीखा हुआ शिष्टाचार, तनिक सी प्रतिकूलता पड़ते ही अस्त-व्यस्त हो जाता है ।। १६।।

अर्थ—बाह्य जगत का लोकाचार जिस नींव पर टिका है वह है—आत्मानुशासन, संस्कारों की श्रेष्ठता, आदर्श निष्ठा । ऐसे लोकाचार में स्थिरता होती है । मात्र प्रदर्शन के लिए किए जाने वाले आडंबर तो क्षणिक होते हैं; थोड़ी सी चमक भर दिखाकर तिरोहित हो जाते हैं । दुनिया की यह रीति है कि यहाँ बहिरंग को अधिक प्रधानता दी जाती है । जो दूरदृष्टि संपन्न विवेकशील होते हैं वे मात्र बहिरंग के सभ्य व्यवहार को ही नहीं देखते, अंतरंग की सुसंस्कारिता को ही दृष्टि में रखकर व्यक्ति का तदनुसार मूल्यांकन करते हैं । यदि शिष्टाचार, शिक्षण द्वारा अभ्यास में आ भी गया तो भी उसकी जड़ें तब तक कमजोर ही हैं जब तक कि वह संस्कारों में समाविष्ट न हो जाए । यहाँ पर सत्राध्यक्ष ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की है कि बाहर से थोपी सभ्यता-शिष्टता अस्थिर होती है एवं परिस्थितियाँ थोड़ी भी विरुद्ध होने पर गड़बड़ा जाती है । अंतः का यथार्थवादी स्वरूप दृष्टिगोचर हो जाता है ।

जादूगरी मात्र ढोंग

ईरान में उन दिनों सामाजिक असंतुलन की पराकाष्ठा थी । लोगों के अज्ञान का लाभ उठाकर दुष्ट स्वभाव के व्यक्ति जादू-टोने के सहारे मनमानी करते थे । जरथुस्त के पिता पौरुषस्य ने प्रतिष्ठित लोगों को अपने यहाँ आमंत्रित किया । उसमें दो दुष्टात्मा जादूगर भी थे जिनसे लोग भय के कारण कतराते तो थे पर आतंक के मारे कुछ कहते नहीं थे ।

जरथुस्त सबके बीच में ही, अपने पिता से पूछने खड़े हो गए । बोले—"पिताजी, जादूगरी करके लोगों को भ्रमित करना पाप माना गया है, आपने जादूगरों को सम्मानित व्यक्तियों के साथ क्यों बुलाया ? ये सम्मान के योग्य नहीं हैं ।"

जादूगर उत्तेजित होकर उन्हें गालियाँ देने लगे, अपनी शक्ति का हवाला देकर भयभीत करने लगे । जरथुस्त शांत खड़े रहे, बोले—"मुझे तुम डरा नहीं सकते, गालियाँ देकर सबके सामने अपना स्तर उजागर करना चाहो तो करते रहो ।" जादूगर शक्तियाँ तो नहीं दिखा सके, शर्मिंदा होकर चले गए ।

रंगा सियार

बहुत पुराने जमाने की बात है कि गाँव के कुत्तों द्वारा खदेड़ा हुआ एक सियार रंगरेज की नाद में छिप गया । नाद में नीले रंग का पानी भरा था, सो उसमें वह रंग गया ।

कुत्ते चले गए, तो सियार वापस जंगल में लौटा । उसकी विचित्र काया देखकर सभी जानवर हतप्रभ रह गए और कोई विलक्षण प्राणी समझने लगे । इस अवसर का उसने लाभ उठाया और कहने लगा उसे देवताओं ने जंगल का राजा बना दिया है । कलेवर इसीलिए बदल गया है । सब लोग मेरा अनुशासन मानें ।

बातों ही बातों में सियार जंगल का राजा बन गया और बहुत दिनों तक गाड़ी इसी प्रकार चलती रही; पर एक दिन उधर से गुजर रहे सियारों का झुंड हुँआ-हुँआ चिल्लाया । पुरानी आदत ने जोर मारा और मस्ती में वह भी सुर में सुर मिलाने लगा ।

असलियत प्रकट हो गयी । सियार की धूर्तता पर क्रुद्ध सभी जानवर उससे लड़ने-मरने को आमादा हो गए । उसे दुम दबा कर भागते बना । वास्तविकता छिपाए नहीं छिपती ।

पुनर्मूषाकोभव

किसी की कृपा, देवता के वरदान से कोई कुछ भी बन जाये तो भी संस्कार विकसित किए, पकाये बिना उस वरदान का लाभ नहीं ।

एक चूहा था । किसी तपस्वी की कुटी में रहता था । बिल्ली उधर से निकलती तो चूहा डर से काँपने लगता ।

महात्मा ने उससे भयातुरता का कारण और निवारण पूछा । चूहे ने कहा—"बिल्ली का भय सताता है । मुझे बिल्ली बना दीजिए, ताकि निर्भय रह सकूँ ।"

तपस्वी ने वैसा ही किया । चूहा बिल्ली बन गया और सिर उठाकर उस क्षेत्र में विचरण करने लगा ।

कुत्तों ने उसे देखा तो खदेड़ने लगे । बिल्ली पर फिर संकट छाया और फिर तपस्वी से अनुरोध किया—"इस बार भी संकट से छुड़ायें और कुत्ता बना दें ।"

दयालु महात्मा ने उसकी मनोकामना पूरी कर दी । बिल्ली अब कुत्ता बनकर भौंकने लगा ।

अधिक दिन बीतने न पाये थे कि जंगली भेड़ियों ने उसकी गंध पाई और मार खाने के लिए चक्कर लगाने लगे । कुत्ते का त्रास फिर लौट आया । डरे-घबराये कुत्ते ने महात्मा का फिर आँचल पकड़ा । नया वरदान माँगा जरक

भेड़िया बन जाने का । इस बार की कामना भी पूर्ण हो गई ।

जरक भेड़िये को सिंह नहीं देख सकते । वे उससे घोर शत्रुता मानते हैं । सिंह परिवार को सूचना मिली, तो वे उस भेड़िये की जान लेने पर उतारू हो गए ।

जरक क्या करता । महात्मा ही उसे त्राण दिला सकते थे । सिंह बनकर निश्चिंत रहने की कामना जगी और गिड़गिड़ा कर किसी प्रकार अब की बार भी उसकी पूर्ति करा ली । अब उसका परिवर्तित रूप सिंह का था । दहाड़ से उसने सारा क्षेत्र गुँजाना आरंभ कर दिया ।

बहुत दिन नहीं बीते थे कि शिकारियों के एक दल ने उस क्षेत्र के सभी सिंह मार डाले थे । एक बचा था । उसी की तलाश करने वे महात्मा की कुटी वाले क्षेत्र में ढूँढ़-खोज चला रहे थे ।

वरदान से बने सिंह का पता चला, तो संकट की घड़ी सिर पर मँडराती दिखी । जाता कहाँ, तपस्वी के पास ही पूरा करने पहुँचता था । इस बार भी पहुँचा ।

अब की बार तपस्वी की मुद्रा बदली हुई थी । उन्होंने कमंडल से जल छिड़का और सिंह को फिर चूहा बना दिया । बोले-"संकटों का सामना करने का जिसमें साहस-पराक्रम नहीं, उसके लिए दूसरों की सहायता से ही कब तक काम चल सकता है ।"

मगर की असलियत समय के रहते खुल गई

जामुन के पेड़ पर बंदर रहता था । नीचे तालाब में मगर । दोनों में दोस्ती हो गई । बंदर ऊपर से फल तोड़कर डालता, मगर नीचे उन्हें खाता रहता । इसी प्रकार लंबा समय बीत गया ।

एक दिन मगर के मन में कुटिलता आई । उसने बंदर से कहा-"आज तुम्हारी भावज ने दावत रखी है । बहुत पकवान बनाए हैं और आपको आग्रहपूर्वक बुलाया है । थोड़ी आना-कानी के बाद बंदर सहमत हो गया । पीठ पर बैठकर उसके घर चलने की बात तय हुई ।

बीच धार में पहुँचने पर मगर ने करवट बदलनी चाही तो बंदर ने पूछा-"यह क्या ?" मगर ने असली बात बताई । जो नित्य ही ऐसे स्वादिष्ट फल खाता है उसका कलेजा भी वैसा ही स्वादिष्ट होगा । सो तुम्हें खाने के लिए ही यह बहाना बनाया था ।"

बंदर मगर की धूर्तता देखकर आक्रोश से भर गया किन्तु घबड़ाया नहीं, उसने सूझ-बूझ से काम लिया और जोर से हँस पड़ा, बोला-"मूर्ख, इतनी सी बात थी तो कहा क्यों नहीं ? मैं तो कलेजा पेड़ पर ही सूखता छोड़ आया । अब खायेगा क्या ?"

वार्तालाप चला और नये सिरे से नया निर्धारण हुआ कि लौट चला जाय और कलेजा लेकर फिर वापस आया जाय ।

किनारे पर पहुँचकर बंदर उछल कर पेड़ पर जा बैठा और अपनी जान बचाई । उसने उस दिन यह सूत्र हृदयंगम किया कि जो भी बाह्य व्यवहार किसी का नजर आता है, कोई जरूरी नहीं कि वह अंतः से वैसा ही हो । प्रतिकूल परिस्थितियों में मगर के अंदर समाई कुटिलताओं का रहस्योद्घाटन हो जाने से उसने जीवन व्यापार के मर्म को भली-भाँति समझ लिया ।

हैसियत न भूलो

विचारशील लोग जहाँ पर हैं, वहीं से आगे बढ़ने की बात सोचते हैं, दूसरों की नकल नहीं करते ।

ऊँट नदी के उस पार हो गया । इस पार खड़े गधे ने पूछा-"पानी कितना है ।" ऊँट ने कहा-"[illegible] तक, बेखटके चले आओ ।"

गधे ने कहा-"पर मेरी तो पीठ पर से पानी ऊपर हो जायगा और मैं डूबे बिना न रहूँगा । आपकी नकल मैं कैसे करूँ ? मुझे तो अपनी हैसियत देखकर चलना है ।" गधा बेवकूफी का पर्यायवाची रूप भले ही माना जाता हो पर इतनी समझ उसमें भी है कि वह अनुकरण सोच-समझ कर करता है ।

यथार्थत्वं गंभीरत्वं यत्र तत्र समापतेत् ।
झञ्झावातोऽपि चेत्तर्हि सदाचारतरुर्दृढः ।। १७।।
न भवेच्चलमूलः स स्थिरता तत्र पूर्ववत् ।
पारम्पर्येण संस्कारनिर्मितिर्युज्यते त्वतः ।। १८।।

टीका–जहाँ यथार्थता और गंभीरता होती है, वहाँ आँधी–तूफान आने पर भी सद्व्यवहार रूपी परिपुष्ट वृक्ष की जड़ें हिलती नहीं । स्थिरता यथावत् बनी रहती है । अतः संस्कारों को पैदा करने की परंपरा बनाये रखनी चाहिए ॥ १७–१८॥

अर्थ–संस्कारों को व्यवहार में समाविष्ट करके ही कोई व्यक्ति सुसंस्कृत कहलाया जा सकता है । महामानवों की यही रीति-नीति रही है । वे वास्तविकता एवं गंभीर आदर्शवाद में विश्वास रखते हैं । न तो स्वयं हवा में उड़ते हैं, न दूसरों को इसके ख्वाब दिखाते हैं । अंतः में दृढ़ता से जमे संस्कार व्यक्ति को प्रखर-तेजस्वी-मनस्वी बनाते हैं । ऐसे व्यक्ति जो कहते हैं, वह प्रभावकारी होता है । कथनी व करनी में अंतर न होने से वे सहज ही सभी के लिए अनुकरणीय बन जाते हैं । महामानव प्रगति का समापन किसी बिंदु विशेष को न मानकर सतत संस्कार अभिवर्द्धन की, आदर्शवादिता को अंतः में समाविष्ट करते रहने की अपनी परंपरा सतत चलाए रखते हैं । उनका जीवन जीती-जागती किताब बन जाता है । वह बताता है कि किसी को भी ऊँचा उठना हो तो उसे पहले अपनी जड़ें मजबूत बनाना चाहिए । उथलेपन की विडंबना से बचना चाहिए ।

मंत्री का चुनाव

एक राजा को अपने मंत्री का चुनाव करना था । सभी दरबारी इकट्ठे किए गए । राजा ने दरबार में एक बोतल बंद करके पानी छिड़का दिया और सभी से पूछा–"यह इत्र कन्नौज से आया है । इसकी सुगंध कैसी है अपनी-अपनी सम्मति बताओ तो ?"

राजा को खुश करने के लिए सभी दरबारी सुगंधि की भरपूर प्रशंसा करने लगे । अंत में दबी जबान से एक जमींदार ने कहा–"सुगंधि तो जरा भी नहीं आती । कारण मेरी नाक खराब होना भी हो सकता है ।" राजा ने उस स्पष्ट वक्ता को मंत्री बनाया ।

अस्त-व्यस्त घोंसले

कुसंस्कारी एवं अनपढ़ की स्थिति ऐसी ही होती है जैसी कि कबूतर के उदाहरण से प्रकट होती है । सब पक्षी अपने मजबूत घोंसले बनाते हैं और अंडे-बच्चों समेत उनमें गुजारा करते हैं । पर एक मूर्ख कबूतर ऐसा था जो लापरवाही से तिनके रखता और हवा का झोंका आते ही घर गँवा बैठता ।

उसने अन्य पक्षियों से कहा–"वे उसे घोंसला बनाना सिखा दें ।" उनने बनाकर दिखाया और समझाया । पर कृतघ्न कबूतर ने उन्हें दुतकारते हुए कहा–"इसमें कौन बड़ी बात थी । आप लोग न बताते तो भी मैं ऐसा बना लेता ।"

पक्षी उसकी कृतघ्नता, अनगढ़ता एवं अहमन्यता पर खिन्न होकर वापस लौट गए और फिर बुलाने पर भी न आए ।

कबूतर अभी भी औंधे-तिरछे घोंसले बनाता है और बार-बार घर उजड़ जाने का कष्ट उठाता है ।

जहाँ धर्म, वहाँ विजय

महानता के संस्कारों का जीवन में, स्वभाव में आत्मसात हो जाना ही प्रवणता है । महाभारत का घमासान युद्ध चल रहा था । दोनों पक्षों के असंख्य योद्धा घायल होते और मरते । रात्रि को युद्ध बंद रहने का नियम था । अँधेरा होते ही युधिष्ठिर वेष बदल कर निकलते और दोनों पक्ष के घायलों को चिकित्सालय पहुँचाने से लेकर पानी पिलाने जैसे उपचार में लगे रहते । दिन निकलने से पूर्व घर लौट आते ।

युद्ध समाप्त होने पर उनकी सेवा-सद्भावना का भेद खुला तो प्रजा ने उन्हें धर्मराज की उपाधि दी । उनमें अपने-पराये में भेद न था । इस धर्म परायणता को अपनाने के कारण ही शक्ति की दृष्टि से हल्का पड़ने वाला पांडव पक्ष जीता और **'यतो धर्मस्ततो जयः'** का उद्घोष गूँजा ।

प्रखर सिद्धांतवादी शिवप्रसाद गुप्त

बनारस के एक बड़े जमींदार घराने में श्री शिवप्रसाद गुप्त का जन्म हुआ । बड़ी जमींदारी होने के कारण पैसे की कमी न थी, पर उनकी सबसे बड़ी विशेषता थी पैसे का सदुपयोग करने की प्रवृत्ति । उनके स्थायी निर्माणों में काशी विद्यापीठ, भारत माता मंदिर, दैनिक आज, ज्ञानमंडल आदि हैं । राष्ट्रीय कार्यों में उनने खुले हाथों दान दिया । व्यक्तिगत रूप से दीन-दुखियों, पिछड़े लोगों, विद्यार्थियों की वे सदा सहायता किया करते थे । सिद्धांतों की दृष्टि से वे बड़े कट्टर थे । मोटरकार पर हिन्दी में

नंबर प्लेट लगाने के कारण उन पर १) रुपये जुर्माना हुआ । उस मुकदमे को वे हाईकोर्ट तक लाये । चुनावों में खड़े होने से उनने सदा इन्कार किया और कहा–"सरकार के प्रति वफादारी की शपथ कैसे निभेगी ?"

धनराशि का उपयोग सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन में

राजा रघु के दरबार में एक प्रश्न चल रहा था कि राज्यकोष का उपयोग किन प्रयोजनों के लिए किया जाय ?

एक पक्ष था–सैन्य शक्ति बढ़ायी जाय ताकि न केवल सुरक्षा वरन् क्षेत्र-विस्तार की योजना भी आगे बढ़े । इसमें जो खर्च पड़ेगा वह पराजित देशों से नए लाभ मिलने पर सहज पूरा हो सकेगा । दूसरा पक्ष था–प्रजाजनों का स्तर उठाने में राज्यकोष खाली कर दिया जाय । सुखी, संतुष्ट, साहसी और भावनाशील नागरिकों में से प्रत्येक एक दुर्ग होता है । उन्हें जीतना किसी शत्रु के लिए संभव नहीं । इसी प्रकार युद्ध विजय से क्षेत्र जीतने की अपेक्षा मैत्री का विस्तार कहीं अधिक लाभदायक है । उससे स्वेच्छा, सहयोग और अपनत्व की ऐसी उपलब्धियाँ होती हैं, जिनके कारण छोटा देश भी चक्रवर्ती स्तर का बन सकता है ।

दोनों पक्षों के तर्क चलते रहे । निदान राजा ने निर्णय दिया–"युद्ध पीढ़ियों से लड़े जाते रहे हैं । उनके कड़ुवे-मीठे परिणाम भी स्मृति-पटल पर अंकित हैं । अब की बार युद्ध प्रयोजनों की उपेक्षा करके लोकमंगल की परिणति को परखा जाय और संचित कोष को सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन एवं जन-जन में सुसंस्कारिता अभिवर्द्धन की योजनाओं में खर्च कर दिया जाय ।

वैसा ही किया गया । धीरे-धीरे प्रजाजन हर दृष्टि से समुन्नत हो गए । पड़ोसी राज्यों को समाचार मिले, तो उनके हौसले टूट गए । आक्रमणों की चर्चाएँ समाप्त हो गयीं । आदर्शनिष्ठा, सुख, शांति के समाचार पाकर अन्य देशों के समर्थ लोग वहाँ आकर बसने लगे । खाली भूमि सोना उगलने लगी और उत्साही प्रजाजनों ने अपने देश को ऐसा बना दिया जिसके कारण अयोध्या क्षेत्र में सतयुग दृष्टिगोचर होने लगा ।

जीवन भर सीखूँगा

संस्कार अर्जन हेतु सत्पुरुषार्थ करना पड़ता है । वे अनायास आकर सदा के लिए नहीं जम जाते । ग्रीस के दार्शनिक प्लेटो से दूर-दूर के लोग कुछ सीखने आते थे । पर वे बताने के साथ-साथ उन बातों को उनसे भी पूछते थे जो उन्हें आती थीं ।

लोगों ने कहा–"जो आपसे पूछने आते हैं आप उनसे भी जानने का प्रयत्न करते हैं । इसमें आपकी इज्जत घटती है ।"

प्लेटो ने कहा–"मैं जीवन भर विद्यार्थी बना रहना चाहता हूँ । यह पदवी मुझे सबसे बड़ी लगती है ।"

सत्कार्य अभिनंदनीय होते हैं

भारत की उत्तरी सीमा पर तक्षशिला एक राज्य था । उसका धर्मात्मा राजा आय का अधिकांश भाग वहाँ स्थापित विश्वविद्यालय में लगा देता था । सेना नाम मात्र की थी ।

सिकंदर ने मोर्चा सरल देखकर उस पर आक्रमण कर दिया । राजा ने सोचा प्रत्याक्रमण या प्रतिशोध से पहले विचार-विनिमय की नीति अपनानी चाहिए । उनने अपने आय-व्यय का ब्यौरा सिकंदर के सामने रखा । अपने यहाँ चल रही संस्कार संवर्द्धन की योजनाएँ बताईं और स्वागत सम्मान में कुछ आभूषण भेंट किए ।

सिकंदर वस्तुस्थिति समझ गया । उसे भेंट में जो मिला था उससे दूनी राशि लौटा कर उसकी सज्जनता एवं आदर्शवादी कार्य विधियों को भूरि-भूरि सराहा । देव संस्कृति के प्रति उसके मन में आदर्शनिष्ठा की जो भावनाएँ बनी थीं वे और दृढ़ हो गयीं ।

सहायता– एक कर्तव्य

हिन्दुस्तान की तरह इंग्लैंड में गली-चौराहों पर कुली नहीं मिलते । एक सज्जन के पास बिस्तर असबाब ज्यादा था । वह कुली को आवाज लगा रहे थे ।

एक सज्जन ने उनकी कठिनाई को समझा और असबाब बग्घी पर लदवा दिया । उन सज्जन ने कुली की मजूरी पूछी तो उनने अपना परिचय देते हुए कहा कि वे वहाँ की एक बैंक के मैनेजर हैं । उनकी कठिनाई देखकर अपनी गाड़ी एक ओर खड़ी करके सहायता के लिए आए हैं । "मजूरी आप से क्या वसूल की जा सकती है ।"–इतना कहकर वे अपने काम पर चल दिए । भारतीय सज्जन ने ब्रिटिश समाज में दृढ़ता से जमें बैठे सुसंस्कारों की झलक एवं स्वावलंबन की महत्ता को उस दिन सही अर्थों में समझा ।

बचपन से डाले गए श्रेष्ठ संस्कार

गुजरात के रविशंकर महाराज एक दिन बच्चों को गुड़ बाँट रहे थे । एक लड़की ने लेने से इन्कार कर दिया और कहा-"मेरी माता ने सिखाया है कि मुफ्त की किसी की चीज नहीं लेनी चाहिए ।" महाराज लड़की के साथ गए और ऐसे संस्कार देने वाली उस माँ का बहुत-बहुत अभिवादन किया ।

सफलता के चार सूत्र

मनुष्य जीवन में ऐसे ही लोग सफल होते हैं, भले ही उन्हें प्रारंभ में कठिनाइयाँ ही क्यों न आवें । कठिन परिस्थिति से जूझते हुए भारत के माने हुए इंजीनियर बनने में सफल हुए विश्वेश्वरैया ने अपनी आत्मकथा में उन सिद्धांतों पर प्रकाश डाला है, जिनके कारण वे प्रगति पथ पर अग्रसर हो सके । पुस्तक का नाम है-"मेमायर्स आफ माई वर्किंग लाइफ ।"

वे लिखते हैं-"मैंने चार सिद्धांतों को आदि से अंत तक अपनाए रखा । जो मेरी ही तरह सफल जीवन जीना चाहते हैं, उन्हें उन्हीं का स्मरण दिलाना चाहता हूँ और अनुरोध करता हूँ, कि इन्हें मेरी ही तरह अपनायें । वे सिद्धांत इस प्रकार हैं-

(१) लगन से काम करो । मेहनत से जी न चुराओ । आराम कड़ी मेहनत के उपरांत करने पर ही अच्छा लगता है ।

(२) निर्धारित कामों के लिए निर्धारित समय नियत करो । समय पर काम करने की आदत डालने से काम अधिक भी होता है और अच्छा भी ।

(३) यह सोचते रहो कि आज की अपेक्षा काम किस तरह अधिक अच्छा हो । जो सीख चुके हो उससे अधिक सीखने का प्रयत्न करो । सोचो, योजना बनाओ, गुण-दोषों पर गंभीरतरपूर्वक विचार करने के उपरांत काम में हाथ डालो ।

(४) अहंकारी न बनो । नम्रता का स्वभाव बनाओ । साथियों के साथ मिल-जुल कर काम करने की आदत डालो ।"

इसके विपरीत येन-केन-प्रकारेण सफलता पा लेने वालों को तो एक दिन अपमान, असंतोष और असफलता का ही मुँह देखना पड़ता है ।

सम्बन्धे संस्कृतेरेतद् विद्यते साऽऽत्मनिर्भरा ।
भवति स्वगरिम्णस्तु द्रष्टारः सम्मुखे स्थिताः ।। १९।।
नराः किं कुर्वते नैतज्जातु पश्यन्ति कुत्रचित् ।
अशुभेषु शुभेष्वेते सन्ति कालेषु मानवैः ।। २०।।
भिन्नप्रकृतिभिर्योगे स्वौत्कृष्ट्यं प्रतिनिर्भराः ।
झञ्झावाते न जायन्ते विक्षुब्धा गिरयश्चलाः ।। २१।।

टीका-संस्कृति की यह विशेषता है कि यह आत्म-निर्भर होती है । अपनी गरिमा का बोध रखने वाले यह नहीं देखते कि सामने वाले क्या करते हैं । वे भले और बुरे अवसरों पर विपरीत प्रकृति के व्यक्तियों से पाला पड़ने पर भी अपनी उतकृष्टता के संबंध में आत्मनिर्भर रहते हैं । बवंडर पर भी पर्वत न तो हिलते हैं और न विक्षुब्ध-विपन्न होते हैं ।। १९-२१।।

अर्थ-अनुकूलतायें-प्रतिकूलतायें जीवन में सदैव आती रहती हैं । किन्तु इन झंझावातों से अप्रभावित बने रहकर आदर्शनिष्ठ व्यक्ति प्रयास-पुरुषार्थ में सतत निरत रहते हैं । वे इन क्षणिक परिवर्तनों से विचलित नहीं होते । उन्हें अपने सुदृढ़ संस्कारों के कारण स्वयं पर, अपने श्रेष्ठता के समर्थक चिंतन पर विश्वास होता है एवं वही उन्हें सारी कठिनाइयों से उबार कर महानता के पथ पर ले जाता है ।

सिद्धांतप्रियता

श्रीपति जी अकबर के दरबारी कवियों में से एक थे । किसी की झूठी प्रशंसा करना उनको भाता नहीं था । अन्य दरबारी कवियों ने उनकी इस आदर्शनिष्ठा को तोड़ने का संकल्प ले लिया । सबने मिलकर एक ऐसे कवित्त-पाठ आयोजन का प्रस्ताव पारित करा लिया, जिसमें प्रत्येक कवित्त की

अंतिम पंक्ति 'करौ मिलि आस अकबर की' से युक्त हो ।

सबने इस प्रकार अकबर की खूब प्रशंसा की । परंतु श्रीपति जी की जब बारी आयी तो उठकर गाया– ***'जिनको हरि की कछु आस नहीं, सो करौ मिलि आस अकबर की ।'*** दरबार में सर्वत्र सन्नाटा छा गया था, परंतु अकबर श्रीपति जी की सिद्धांतप्रियता तथा आदर्शवादिता पर मुग्ध हुए बिना न रह सके ।

स्वयं पर दृढ़ विश्वास

अल्बर्ट आइन्स्टीन को जर्मनी से निकल जाना पड़ा था–हिटलर, उसके नाजी प्रचार और यहूदियों के विरोध के कारण । जब आइन्स्टीन अमेरिका पहुँचे तो खबर मिली कि हिटलर ने सौ वैज्ञानिक तैनात किए हैं, यह सिद्ध करने को कि आइन्स्टीन की सारी खोजें गलत हैं । सौ वैज्ञानिकों ने बड़ी मेहनत भी की । आइन्स्टीन को जब खबर मिली तो उसने हँसकर कहा–"अगर मैं गलत हूँ तो एक वैज्ञानिक उसे सिद्ध करने को काफी है । सौ की कोई जरूरत नहीं और अगर मैं गलत नहीं हूँ, तो सारी दुनिया के वैज्ञानिकों को भी हिटलर इकट्ठा करे तो भी मैं गलत हो जाने वाला नहीं हूँ और हिटलर को सौ की आवश्यकता इसलिए पड़ रही है कि वह सत्य के एकाकी स्थिर रहने और जीतने की बात पर विश्वास नहीं करता ।"

सुसंस्कारिता आरंभ में कुछ कष्टप्रद तो हो सकती है, पर अंततः महानता का पथ उसी से प्रशस्त होता है ।

लिंकन ने कीमत चुकाई

बालक अब्राहम लिंकन को महापुरुषों के जीवन पढ़ने का बहुत शौक था । गरीबी के कारण पुस्तकें खरीद तो नहीं सकते थे; पर जहाँ–तहाँ से माँग कर लाते, पढ़ते, लौटाते और अपनी जिज्ञासाओं का समाधान करते थे ।

एक बार वे दस मील चलकर एक पुस्तक माँग कर लाये । रात को वर्षा हुई । छत टपकी और पुस्तक भीग गई । सुरक्षित लौटाने की शर्त कैसे निभेगी–लिंकन इस चिंता में डूबे जा रहे थे ।

नियत समय पर लौटाने पहुँचे पर साथ ही उसके खराब होने की बात भी कही । झंझट का फैसला यह हुआ कि लिंकन उन सज्जन के यहाँ इतने दिन मजदूरी करें, जितने में नई पुस्तक खरीदने जितना पैसा चुक जाय ।

लिंकन खुशी–खुशी तैयार हो गए और पैसे चुकाकर वापस लौटे ।

सारा जीवन अनाचार के आवरण में

अल्मोड़ा से बाईस मील दूर ताला ग्राम में बद्रीप्रसाद वैष्णव जन्मे । उनके पिता ज्योतिष का काम करते थे । ग्रह गणित देखकर उनने बालक को अभागा माना और थोड़ा समझदार होते ही इस पिता ने बालक को एक दूसरे पुरोहित के हाथों बेच दिया ।

बच्चे को इस अंधविश्वास पर बड़ा क्रोध आया । कहीं से मनचाही पुस्तक सत्यार्थ प्रकाश हाथ लग गयी । वे अंधविश्वासों और कुरीतियों के प्रति मन में आक्रोश भरकर घर से निकल पड़े । कुछ दिन तीर्थयात्रा की, कुछ दिन फौज में नौकरी । इसके बाद उनने निश्चय किया कि वे जीवन को अनाचार के विरोध में लगावेंगे । उनने कांग्रेस और आर्य समाज दोनों से संपर्क साधा और दोनों के विचारों को समय के अनुरूप पाया ।

उन दिनों सन् १९२१ का कांग्रेस आंदोलन चल पड़ा था । उनने कुमाऊँ के गाँव–गाँव में दौरा किया और इन दोनों संस्थाओं के समर्थक बनाए । समाज सुधार का क्रम तो चला ही, साथ ही इस क्षेत्र में कांग्रेस के सत्याग्रही समाज–सेवक भी बड़ी संख्या में मिले ।

अंग्रेजी सरकार ने उन्हें कई बार गिरफ्तार किया, जेल में डाला । पर वे मरते समय तक अपने निश्चित क्रम को पूरा करने में ही लगे रहे । वे जेल में रहे अथवा बाहर, महर्षि दयानंद की तरह आजीवन उस पाखंड के निवारण में लगे रहे, जिस कारण वे पिता द्वारा बिक्री के अनाचार का शिकार बने थे ।

नये भारत का निर्माता स्कंदगुप्त

आत्मावलंबन के बलबूते पर कितने ही व्यक्ति छोटे स्तर से ऊँचे उठकर प्रतिकूलताओं से जूझते प्रगति का पथ–प्रशस्त करते हैं ।

देश टुकड़ों में बँटा हुआ था, सामंत व्यक्तिगत अहंकार और लिप्सा के कारण आए दिन लड़ते रहते थे । फलतः संगठित शक्ति केन्द्रित न हो पाने से विदेशी बर्बरों के आक्रमण अधिक से अधिकतम होने लगे ।

इन परिस्थितियों में मगध का एक प्रतापी स्कंदगुप्त जो कि था तो छोटे राज्य का राजा किन्तु उस प्रतिकूल समय में, अंधकार में एक प्रकाशवान नक्षत्र की तरह उदय हुआ । उसने देश के शासकों को जीता ही नहीं, वरन् एक

सूत्र में बाँधा । साथ ही बर्बर आक्रमणकारियों पर उस संयुक्त शक्ति के सहारे आक्रमण किया । आक्रामकों की हेकड़ी धूल में मिल गयी । भारत का एक नए समर्थ राष्ट्र के रूप में उदय हुआ ।

अर्जुन की चरित्र निष्ठा

महानता के पथगामी कभी मार्ग के आकर्षणों से विचलित नहीं होते । देवताओं की सहायता के लिए अर्जुन उनके यहाँ असुरों के विरुद्ध लड़ने गए । पराक्रम और सौंदर्य से प्रभावित उस लोक की वरिष्ठ सुंदरी उनके पास प्रणय निवेदन करने गई, बोली–"मुझे आप जैसी संतान चाहिए ।"

अर्जुन ने उसकी चरणरज मस्तक पर लगाते हुए कहा–"आप मुझे ही अपना पुत्र मान लें । संतान के रूप में मुझ जैसा पुत्र मिलेगा ही, इसका क्या भरोसा । प्रतीक्षा में बैठने की अपेक्षा यह क्या बुरा है कि तत्काल ही आपको पुत्र प्राप्ति हो जाय । मैं आपको सदा कुलीन माता के समतुल्य मानूँगा ।"

देवताओं ने इस विवरण को सुना तो अर्जुन की चरित्रनिष्ठा से अत्यंत प्रभावित हुए और दिव्य अस्त्र गांडीव उन्हें प्रदान किया ।

साहसी बिस्मिल

मनुष्य जीवन एक संघर्ष है । जहाँ यह सच है, वहाँ सच यह भी है कि इस संघर्ष में जीतते वही हैं, जो आत्मबल संपन्न होते हैं । आत्मबल सच्चाई का दूसरा नाम है ।

क्रांतिकारी रामप्रसाद बिस्मिल को जिस दिन फाँसी लगनी थी, उस दिन सबेरे जल्दी उठकर वे व्यायाम कर रहे थे । जेल वार्डर ने पूछा–"आज तो आप को एक घंटे बाद फाँसी लगने वाली है, फिर व्यायाम करने से क्या लाभ ?" उनने उत्तर दिया–"जीवन आदर्शों और नियमों में बँधा हुआ है । जब तक शरीर में साँस चलती है, तब तक व्यवस्था में अंतर आने देना उचित नहीं ।"

थोड़ी सी अड़चन सामने आ जाने पर जो लोग अपनी दिनचर्या और कार्यव्यवस्था को अस्त-व्यस्त कर देते हैं, उनको बिस्मिल जी मरते दम तक अपने आचरण द्वारा यह बता गए हैं कि समय का पालन, नियमितता एवं धैर्य ऐसे गुण हैं, जिनका व्यक्तिक्रम प्राण जाने जैसी स्थिति आने पर भी नहीं करना चाहिए ।

कर्मवीर राम मनोहर लोहिया

राम मनोहर लोहिया का जीवन एक कठिन मार्ग पर चलते हुए बीता पर उन्हें अनेक प्रकार के कार्य करने पड़े । कालेज जीवन में ही उनने निश्चय कर लिया कि देश के लिए जिएँगे और उसी के लिए मरेंगे । घर के लोग संपन्न थे और वे उनका विवाह करना चाहते थे । उनने स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा–"स्वराज्य के अतिरिक्त वे और किसी काम के लिए समय, श्रम नहीं लगायेंगे और न ध्यान बँटायेंगे ।"

यूरोप के कई देशों की उनने अध्ययन व स्वतंत्रता का वातावरण बनाने के लिए यात्राएँ कीं । इसी अवधि में 'सत्याग्रह' पर शोध प्रबंध लिखकर उन्होंने डाक्टर की उपाधि प्राप्त की ।

देश में लौटते ही वे कांग्रेस आंदोलन में जुट गए । उनकी देश की ऊँचे नेताओं में गणना थी । उनने कांग्रेस समाजवादी दल की स्थापना की और समाजवादी पत्र निकाला । उनने बंबई और कलकत्ता में कांग्रेस रेडियो स्टेशन बनाए । विभिन्न धाराओं के अंतर्गत उन्हें बार-बार जेल में ठूँसा जाता रहा ।

अंत में उन्हें पौरुष ग्रंथि के आपरेशन के संबंध में शरीर त्यागना पड़ा । मरते समय अनेक डाक्टरों से घिरा देखकर उनने आश्चर्य से पूछा–"करोड़ों भारतीयों के लिए डाक्टरों का कोई प्रबंध नहीं और मेरे लिए इतने डाक्टर ?"

श्रेष्ठतानां समाजस्था मर्यादा अनुशासनम् ।
उच्यते पालनीयं तत्सर्वैरेव च मानवैः ।। २२।।
अनुशासनजा नूनं व्यवस्था स्थिरता ततः ।
प्रगतिः स्थिरताहेतोः समागच्छति च क्रमात् ।। २३।।

टीका–श्रेष्ठता की समाजगत मर्यादाओं को अनुशासन कहते हैं । वह सभी के लिए पालने योग्य है । उसके प्रति किसी को उपेक्षा या अवज्ञा नहीं बरतनी चाहिए । अनुशासन से व्यवस्था चलती है । व्यवस्था से स्थिरता रहती और प्रगति होती है ।। २२-२३।।

अर्थ–समाज की सुव्यवस्था का मूलभूत आधार है निर्धारित अनुशासनों का परिपूर्ण निष्ठा के साथ निर्वाह । न्याय एवं प्रशासनिक विभाग शासन तंत्र की ओर से इस कार्य को निभाते हैं । वे नागरिकों को

इस बात का आश्वासन देते हैं कि समूहगत व्यवस्था में कहीं ढील न आने दी जाएगी । जहाँ भी कहीं वर्जनाओं का उल्लंघन होगा, वहाँ समुचित दंड का भी प्रावधान होगा ।

जहाँ तक समाज का नागरिक स्तर पर प्रश्न उठता है, वह जन-जन के मन में संव्याप्त अनुशासन पर निर्भर है । सामाजिक बंधनों से कोई भी मुक्त नहीं है । वे सबके ऊपर समान रूप से लागू होते हैं । किसी भी समूह, समाज या तंत्र की व्यवस्था का मूल है—हर एक के मन में अनुशासन की, जिम्मेदारी की भावना का विकसित होना । राष्ट्रीय चरित्र का यही मापदंड है कि वहाँ के नागरिक अपने कर्तव्यों के प्रति कितने सचेत हैं । किसी ने उनके लिए क्या किया, इससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि वे समाज एवं राष्ट्रगत वर्जनाओं का पालन करते हैं अथवा नहीं ?

किराया चुकाया

स्वर्गीय पंडित दीनदयाल उपाध्याय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के कार्यकर्ताओं के साथ बंबई से नागपुर तक तीसरे दर्जे में रेल द्वारा यात्रा पर जा रहे थे । उन दिनों वे भारतीय जनसंघ के अध्यक्ष थे । उसी ट्रेन के प्रथम श्रेणी के डिब्बे में गुरू मा० स० गोलवलकर भी जा रहे थे । उन्होंने किसी महत्वपूर्ण विषय पर विचार-विमर्श करने हेतु उपाध्याय जी को अपने पास बुलाया ।

दो स्टेशन तक उनका प्रथम श्रेणी के डिब्बे में ही वार्तालाप होता रहा । अपने डिब्बे में आने पर वे टी० टी० ई० को खोजने का प्रयास करने लगे । हर स्टेशन पर नीचे उतरते और टी० टी० ई० को खोजते ।

तीसरे दर्जे का टिकट रखते हुए दो स्टेशन तक प्रथम श्रेणी में यात्रा करना किसी व्यक्ति को कोई असामान्य बात नहीं लगती किन्तु जो निरंतर आत्म-निरीक्षण करता चलता है, उसके लिए यह सामान्य नहीं, असामान्य बात हो जाती है । एक तो राष्ट्रीय संपदा का उपयोग बिना मूल्य चुकाए करना तथा दूसरा अपने अंत:करण को झुठलाना ।

श्री उपाध्याय को टी० टी० ई० की खोज करते देख उनके साथी यह जानने को उत्सुक थे कि आखिर उनको टी० टी० ई० से ऐसा कौन सा आवश्यक कार्य है । हर स्टेशन पर उतर कर दौड़-धूप करते हैं ।

किन्तु पंडित जी की दौड़-धूप का प्रयास सफल हुआ । उन्हें शीघ्र ही सामने से टी० टी० ई० आता दिखाई दिया । जब उन्होंने अपना अधिक किराया जमा करने को कहा तो वह विस्मय भरी दृष्टि से उनकी ओर देखने लगा । एक साधारण-सा दीखने वाला व्यक्ति प्रथम श्रेणी में यात्रा करे और वह भी स्वयं आकर अपना किराया जमा कराए । किन्तु दूसरे ही क्षण वह कुछ नहीं बोला और चुपचाप हिसाब लगाकर पैसे ले लिए ।

पैसे लेने के साथ ही पूछ बैठा-"क्या आप रसीद भी चाहते हैं ?" पंडित जी ने तत्काल ही उत्तर दिया-"अवश्यमेव ।"

टी० टी० ई० उस राशि को रिश्वत रूप में अपने ही पास रखना चाहता था किन्तु उपाध्याय जी ने कहा-"मेरे टिकट के पैसे न देने और टी० टी० ई० के जेब में रख लेने के दोनों अपराध समान हैं । दोनों से ही देश खोखला होता है ।

नागरिक कर्तव्यों के प्रति चेतना जगाई

इंग्लैंड के प्रख्यात पत्र ग्लासेस्टर टाइम्स के संपादक और प्रकाशक एवर्ट रेक्स एक दिन किसी काम से सूटी आले मुहल्ले से होकर गुजर रहे थे । उसे गंदी बस्ती कहा जाता था । माँ-बाप जहाँ-तहाँ मजदूरी करने चले जाते और बच्चे आवारा फिरते । उन्हें शिष्टाचार का तनिक भी ज्ञान न था । रेक्स जब उधर से निकले तो आवारा लड़कों ने उन पर कीचड़ फेंकना शुरू किया और सारे कपड़े गंदगी से सराबोर कर दिए । लड़कों पर समझाने का कोई असर नहीं हुआ । माँ-बाप वहाँ थे नहीं ?

रेक्स पर इस घटना का बड़ा प्रभाव पड़ा । उनने लंदन के समीपवर्ती इलाकों का सर्वे किया । साथ ही यह भी पाया कि संपन्न लोगों में भी शिष्टाचार एवं नागरिक कर्तव्यों के प्रति रुचि बहुत कम है । इस सब ने उन्हें कुछ करने के लिए प्रेरित किया ।

रेक्स ने अपनी पत्रिका द्वारा शिष्टाचार का प्रसार किया । पुस्तिकाएँ भी लिखीं और मुहल्ले-मुहल्ले रविवासरीय कक्षाएँ लगाने का भी प्रयत्न किया । आरंभ में तो इसे निरर्थक ठहराया जाता रहा पर पीछे उस प्रयास की उपयोगिता समझी गई । पाँच वर्ष की अवधि में ऐसे एक हजार स्कूल खुले और उनमें एक लाख से अधिक शिक्षार्थियों ने नागरिक कर्तव्यों की प्रारंभिक शिक्षा पायी ।

वकील नहीं लोकसेवी

टामस जैफर्सन वर्जीनिया में एक धनी किसान के बेटे थे । वकालत पास करते ही उन्हें न्यायाधीश का पद मिल गया । पिता के मरते ही उत्तराधिकार में मिली वस्तुओं में से वे गुलामों की मंडली को तुरंत स्वतंत्र करना चाहते थे । पर तत्कालीन कानून के अंतर्गत वैसा करना भी अपराध था ।

उनने उस पद को छोड़ दिया जिसमें अनुचित कानूनों के पालन करने के लिए वे बाध्य होते थे । उनने अवांछनीय कानूनों के विरुद्ध आवाज उठायी और प्रचलित अनुचित प्रचलनों में क्रांतिकारी परिवर्तनों के लिए कमर कस ली । वे अपने समय के क्रांतिकारी नेता बने । पार्लियामेंट के चुनाव लड़े और जीते । इसके बाद वे राष्ट्रपति के पद तक पहुँचे । जिन सुधारों के लिए उनकी इच्छा थी उनमें से अधिकांश को उनने ८३ वर्ष के जीवन में ही पूरा करा लिया ।

पुरस्कार लेने से इन्कार

'वाशिंगटन पोस्ट' की समाचार संपादिका कुमारी जेनेट कुक को उनकी कुशलता के लिए 'पुलित्जर' पारितोषिक प्रदान किया गया । उस देश में पत्रकारिता के लिए मिलने वाला यह सबसे बड़ा पारितोषिक समझा जाता है । जो प्राप्त करते हैं, उनकी प्रतिष्ठा में चार चाँद लग जाते हैं ।

इनाम की घोषणा वाले समारोह में ही कुमारी कुक ने उसे अस्वीकार कर दिया, साथ ही अपनी बहुत पैसे और प्रतिष्ठा वाली नौकरी से भी इस्तीफा दे दिया । इस अवसर पर उनने उन सभी छद्मों को प्रकट कर दिया जिनके कारण उन्हें सफलता और प्रतिष्ठा मिली । कुक के इस साहस पर सभी ने उनकी ईमानदारी को अंतरात्मा के दुस्साहस की संज्ञा दी और भूल सुधार को तथा पश्चात्ताप को भूरि-भूरि सराहा । उनकी प्रतिष्ठा घटी नहीं, वरन् बढ़ी ।

समय-समय पर इस तरह की परंपराओं का पुनर्जीवन न हो, तो समाज में अनाचार फैलता है । महामानव ही यह प्रतिष्ठापनाएँ करते और आने वाली पीढ़ी का उज्ज्वल पथ-प्रशस्त करते हैं ।

सुकरात ने जहर पिया

जिन दिनों सुकरात पर धर्म विरोध और जनता को भड़काने का मुकदमा चला, उन दिनों जूरी ही न्यायाधीश होते थे । ५०० जूरियों की मीटिंग बैठी । २२० छोड़ने के पक्ष में थे और २८० दंड देने के । उन दिनों यह रिवाज था कि कोई अपराधी निर्वासन स्वीकार करे तो मृत्यु दंड से छोड़ा जा सकता था । सुकरात ने मृत्युदंड स्वीकार किया और साथ ही व्यंग्य करते हुए कहा-"मुझे टाउन हाल में एक प्रीतिभोज दिया जाय ।" यह चिढ़ाने वाली बात थी । इससे चिढ़कर ५० जूरी और खिलाफ हो गए ।

शिष्य चाहते थे कि जेल की दीवार तोड़कर सुकरात को बाहर निकाल दिया जाय । उनने कहा-"किसी देश के नागरिक को उसके कानूनों का पालन करना चाहिए । मैं यहाँ से कहीं जाने वाला नहीं हूँ ।"

जो कपड़े ताबूत में रखते समय पहने जाने चाहिए, वे उन्होंने खुद ही पहने । जेलर से इतने महान् दार्शनिक की मृत्यु आँखों से देखी न गयी । उसने आँखों पर रूमाल बाँध लिया ।

जहर का प्याला पीने के बाद पैर लड़खड़ाने लगे । वे मुँह ढककर लेट गए । फिर उन्हें एक आदमी के मुर्गों के पैसे उधार होने की बात याद आयी । सो शिष्यों से बोले-"वे पैसे चुका देना ।" फिर उनने मुँह ढक लिया और सदा के लिए सो गए ।

हमारे देश में इस सामाजिक अनुशासन का कड़ाई से पालन करने का प्रचलन था । सामान्य प्रजा ही नहीं मूर्धन्यों के लिए भी यह अनिवार्य था कि वे अनुशासन व्यवस्था को भंग न करें ।

अपना सो अपना

महामनीषी चाणक्य राज्य के प्रधान मंत्री भी थे । दिन भर वे संपर्क और व्यवस्था कार्यों में निरत रहते । रात्रि को सरकारी फाइलें देखते और उपासना कृत्य पूरा करते ।

उनके पास दो दीपक थे । एक को तब जलाते जब राजकाज का काम करते, उसमें राजकोष का तेल जलता । पर जब वे उपासना करते तो पहला दीपक बुझाकर दूसरा जलाते, जिसमें उनके निजी परिश्रम का उपार्जित तेल जलता ।

चाणक्य कहते थे-"उपासना निजी लाभ के निमित्त की जाती है । उसकी सुविधा में दूसरों की सहायता क्यों ली जाय ?"

जब तक जन जीवन इन आदर्शों से आप्लावित रहा, तब तक राष्ट्र की गरिमा कितने उच्च शिखर पर थी उसका एक अनूठा उदाहरण इस घटना से मिलता है ।

प्रचंड आत्मविश्वास

धर्मपाल बड़ा होने पर तक्षशिला विद्यालय में पढ़ने लगा । एक दिन प्रधानाचार्य के पुत्र का स्वर्गवास हो गया । समाचार सुनकर सभी विद्यार्थी रोने लगे । धर्मपाल नहीं रोया । उसने कहा–"तुम लोग मिथ्या वचन कह रहे हो । हमारे वंश में किसी युवा की मृत्यु नहीं होती, फिर आचार्य जी के कुल में ऐसा कैसे हो सकता है ।"

अंत्येष्टि के उपरांत आचार्य ने धर्मपाल को बुलाया और पूछा–"क्या यह सच है कि तुम्हारे वंश में बड़ों के रहते छोटों की मृत्यु नहीं होती ?"

धर्मपाल ने कहा–"यदि आप मिथ्या समझते हैं, तो मेरे घर जाकर तलाश कर लें ।"

आचार्य एक पोटली में अस्थियाँ बाँधकर धर्मपाल के घर पहुँचे और कहा–"तुम्हारे लड़के का स्वर्गवास हो गया है । यह उसकी अस्थियाँ हैं ।"

इस कथन पर उस परिवार के सदस्यों में से किसी ने विश्वास नहीं किया और कहा–"ऐसा हो ही नहीं सकता । हमारे वंश में बड़ों के आगे किसी छोटे की मृत्यु न तो हुई है और न होगी ।"

आचार्य ने इसका कारण पूछा तो उसके पिता ने कहा–"हमारे वंश में सब लोग मर्यादाओं का पालन करते हैं । कोई कुधान्य नहीं खाता । व्यभिचारी नहीं है । कोई अशिष्टता नहीं बरतता । फिर ऐसा अनर्थ कैसे होगा ।"

आचार्य नतमस्तक हो गए और कहा–"यह अस्थियाँ आपके बेटे की नहीं हैं । वह तो जीवित है ।"

व्यक्तिगत जीवन के लिए अनुशासन सारे समाज को लाभ देते हैं । ऐसे अगणित उदाहरण इतिहास के पन्नों में भरे पड़ें हैं ।

रोग की जड़ काटें

इंग्लैंड के डाक्टर रीड कॉलेज के अंतिम वर्ष की परीक्षा दे रहे थे । वहाँ की व्यवस्था के अनुसार उन्हें एक कस्बे के डाक्टर के यहाँ अनुभव प्राप्त करने भेजा गया । जहाँ वे गए, वहाँ का तरीका आश्चर्यजनक देखा । वे मात्र दवा देकर छुट्टी नहीं करते थे, वरन् रोग के कारण की तलाश करते थे और रोगी के शारीरिक-मानसिक दोष-दुर्गुणों को पूछकर उन्हें दूर करने के लिए घंटों समझाते थे । इस रीति से रोगियों का कायाकल्प ही हो जाता था और वे रोगों से स्थायी रूप से छुटकारा पा जाते थे ।

डॉ० रीड को यह तरीका बहुत ही पसंद आया । उन्होंने शिक्षा पूरी करने के बाद यही तरीका अपनाया । आमदनी तो अन्य डॉक्टरों जैसी नहीं होती थी पर जो रोगी उनके यहाँ आते, स्थायी रूप से रोग मुक्त हो जाते थे । सारे इंग्लैंड में उनकी बहुत ख्याति बढ़ी ।

व्यक्तिगत जीवन भी महान् आचरण से घाटे में नहीं रहता ।

सच्चा अधिकार

गोपाल कृष्ण गोखले को सभी प्रश्नों के सही उत्तर देने के उपलक्ष्य में कक्षा का प्रथम पुरस्कार मिला, अध्यापक ने उनकी मेधा तथा लगन को सराहा भी ।

पुरस्कार उस समय तो उनने रख लिया पर रात बेचैनी से बिताई और दूसरे दिन उठते ही अध्यापक के घर जा पहुँचे । पुरस्कार वापस लौटाते हुए उनने कहा–"यह उत्तर तो मैंने चुपके से अमुक छात्र से पूछकर दिए थे । पुरस्कार का असली अधिकारी वही है ।"

अध्यापक इस हिम्मत भरी ईमानदारी पर स्तब्ध रह गए । उनने दुबारा वही इनाम लौटाया और कहा–"यह तुम्हारी ईमानदारी और बहादुरी के उपलक्ष्य में है । उत्तीर्ण होने के कारण नहीं ।"

सिद्धि, स्वर्ग एवं मुक्ति वस्तुतः बाहर मिलने वाले वरदान नहीं, अपितु अंतःस्थिति के विकास के ही प्रतिफल हैं । उसी से महामानव ऋषि स्तर तक पहुँचते हैं ।

मातृवत् सर्वदारेषु

रामकृष्ण परमहंस से एक बार उनके एक परिचित ने पूछा–"महाराज ! आप अपनी पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन क्यों नहीं बिताते ?"

प्रश्न सुनकर परमहंस कुछ पल चुप रहे, फिर मुस्कराते हुए बोले कि तुमने कार्तिकेय का किस्सा सुना है ? एक दिन बालक कार्तिकेय ने खेल-खेल में एक बिल्ली को नोंच-खरोंच दिया । घर आये तो अपनी माँ का मुख देखकर हैरान रह गए । माँ के गालों पर नाखूनों की खरोंच के वैसे ही निशान पड़े थे । कार्तिकेय ने आश्चर्य से खरोंच के निशानों का कारण पूछा तो माँ बोली–"बेटा, यह तेरा ही कार्य है । तूने ही तो अपने नाखूनों से मुझे नोंचा है ।"

"मैंने नोंचा है ?" बालक कार्त्तिकेय का आश्चर्य और बढ़ा । अविश्वास के स्वर में बोला–"मैंने तुमको कब नोचा ?"

"क्यों, भूल गया क्या ? आज तूने बिल्ली को नोंचा-खरोंचा नहीं था ।"

"बिल्ली को तो जरूर नोंचा था....."–कार्त्तिकेय ने उसी स्वर में कहा–"लेकिन तुम्हारे गालों पर निशान कैसे पड़ गए ?"

"अरे बेटा"–माँ बोली–"मेरे सिवा इस संसार में और है ही कौन ? सारा संसार मेरा ही स्वरूप है । यदि तू किसी को सताता है तो मुझे ही तो सताता है ।"

कार्त्तिकेय से कुछ कहते न बना । निश्चय कर लिया उसने–मैं विवाह ही नहीं करूँगा । संसार की सब स्त्रियाँ जब मातृवत् हैं तो विवाह करूँ भी तो किसके साथ ?

रामकृष्ण ने इतना कहकर कारण बताया–"कार्त्तिकेय के समान मेरे लिए भी संसार की सारी स्त्रियाँ मेरी माँ के समान हैं । तुम्हीं बताओ, गृहस्थ जीवन किसके साथ बिताऊँ ?"

उद्धता शिक्षिता मर्त्याः स्वाहंकारसमुद्भवम् ।
कुसंस्कारत्वमाश्रित्योच्छृंखलत्वं चरन्त्यलम् ।। २४।।
फलतस्तु सहन्ते ते दुःखान्यन्येभ्य एव च ।
भवन्ति दुःखदा नीचैः पतन्तः पातयन्त्यपि ।। २५।।
अनुशासनहीनत्वात् विशीर्णत्वमुपैति यत् ।
तस्मात्सम्पन्नता नश्येत् सामर्थ्येन सहैव तु ।। २६।।
अपेक्षया च लाभस्य ततो दृश्यं तु दुःखदम् ।
प्रत्यक्षतामुपैत्येवं पश्चात्तापोऽवशिष्यते ।। २७।।

टीका–उद्धत या अनगढ़ लोग अपनी अहंता की कुसंस्कारिता से प्रेरित होकर उच्छृंखलता बरतते हैं । फलतः स्वयं गिरते और दूसरों को गिराते हैं । अनुशासनहीनता से जो बिखराव उत्पन्न होते हैं, उसके कारण उपलब्ध समर्थता एवं सम्पन्नता बुरी तरह नष्ट–भ्रष्ट हो जाती है और उनके द्वारा लाभ के स्थान पर हानि का दुःखदायी दृश्य ही सामने आता है एवं पश्चात्ताप ही शेष रहता है ।। २४–२७।।

अर्थ–समाज समग्ररूप में एक अनुशासनबद्ध तंत्र है । मनुष्य उसकी एक इकाई है । किसी भी भवन का यदि एक भाग कमजोर होता है तो वह शीघ्र ही गिर जाता है । लकड़ी में लगी घुन शहतीर को खोखला कर उसे टूटने को विवश कर देती है । इस पर टिकी बुनियाद कमजोर ही होती है । सेना के सिपाही एक होकर जब लड़ते हैं तो सामने वालों के छक्के छुड़ा देते हैं । किन्तु यदि ये ही स्वतंत्र रूप से निर्णय लेकर अनियंत्रित युद्ध करें तो मुट्ठी भर व्यक्ति ही इन पर काबू पा सकते हैं ।

समाज तंत्र पर भी यही बात लागू होती है । अहमन्यता व्यक्ति को उद्धत बना देती है एवं वे सभ्यता की अपनी वर्जनाएँ भूल कर जो व्यवहार करते हैं, अंततः वह उनके एवं सारे समूह-समाज के विनाश का कारण बनता है । झाड़ू की सींकें जब तक एक साथ बँधी हैं, तब तक उपयोगी भी हैं । एक बार अलग होने पर वे कूड़े में फेंकने लायक रह जाती हैं । मनुष्य समर्थ है, सर्वगुण संपन्न है । किंतु अनुशासन के अभाव में वह एक उच्छृंखल, वन में घूमते शेर के समान है । संस्कारवश उत्पन्न अनगढ़ता और चिंतन में समाई अहंता उनकी सामर्थ्य को भी क्षीण कर डालती है एवं ऐसे व्यक्ति अंततः दुःख के कारण बनते हैं । इन्हें जानना-पहचानना व इनके सुधार के प्रयास करना बहुत अनिवार्य है, ताकि समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से चलती रहे, सभी सुख-शांतिपूर्वक एक साथ रह सकें ।

महंतजी पर विपदा बरसी

मनुष्य का उद्धत अहंकार जो न कराये, वह कम है ।

एक बार एक मठाधीश तीर्थयात्रा को गए । अपने स्थान पर शिष्य को छोड़ गए । मंदिर का चढ़ावा और मान-सम्मान देखकर शिष्य का मन मठाधीश बनने का हुआ ।

उसने इसके लिए एक तरकीब सोच ली ।

महंत जी के आने से पहले ही उसने अफवाह फैला दी कि लौटने पर महंत जी के बालों से करामात होगी । जो एक भी बाल प्राप्त कर लेगा, उसकी मनोकामनाएँ पूरी होंगी । लोग प्रतीक्षा करने लगे ।

जैसे ही महंतजी लौटे, लोग उनके बाल माँगने लगे । इतनी माँग देखकर वे हड़बड़ाने-घबराने लगे, तो लोगों ने उनकी दाढ़ी-मूँछों पर हाथ साफ करना शुरू कर दिया । थोड़ी ही देर में सारे बाल नुच गए । यहाँ तक कि सिर पर भी एक बाल बाकी न रहा । जड़ें उखाड़ने से लहू टपकने लगा ।

महंत जी इस नयी विपत्ति से घबरा कर स्थान छोड़ गए । शिष्य ने उस स्थान पर कब्जा कर लिया । करामातों की अफवाह तक संकट उत्पन्न करती है, फिर कुछ सचाई भी हो तो समझ लो कि प्रदर्शनकर्त्ता की खैर नहीं । अहमन्यता ही चमत्कारों के, सिद्धि के प्रदर्शन की ललक में उभरती है व अव्यवस्था उत्पन्न करती है ।

तलवार नकली बनाम असली

स्वर्ग-नरक कहीं दूर नहीं, वस्तुतः उद्धत अहंकार नरक और अनुशासनबद्ध आत्मीयता ही स्वर्ग है ।

एक बार की बात है । वांग ली नाम का एक योद्धा संत कन्फ्यूशियस के पास गया और बोला-"स्वर्ग और नरक की परिभाषा करके बताइए ।"

संत ने कहा-"तुम योद्धा कहाँ हो ? भिखारी जैसे लगते हो ।" इस पर ली आग-बबूला हो गया और म्यान से तलवार निकाल ली । कन्फ्यूशियस ने कहा-"यह तलवार नकली है, मेरी गरदन नहीं काट सकती ।"

वांग ली कुछ देर शांत रहा और विचार करके तलवार म्यान में डाल ली ।

कन्फ्यूशियस ने कहा-"देख लिया न । जब तुम आग-बबूला होकर तलवार चमका रहे थे तब नरक में थे और जब सूझ-बूझ से काम लेकर तलवार म्यान में डाल ली तब तुम स्वर्ग में पहुँच गए ।"

अनुशासन जब तक अंतरंग से न उभरे वह किसी काम का नहीं; बाहर से कोई सिखा तो सकता है, प्रेरणा और मार्गदर्शन भी दे सकता है; पर अनुपालन की जिम्मेदारी हर व्यक्ति को स्वयं निबाहनी पड़ती है ।

कला व शिल्पी का विवाद

शिल्पी और उसकी कला, आपस में ही उलझ पड़े । शिल्पी से कला बोली-"मेरे ही कारण तुम्हारा नाम संसार में अमर रहता है । अतः मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ ।"

शिल्पी का कहना था-"मैं तेरा जन्मदाता हूँ । मेरे ही कारण तुझे अमरत्व प्राप्त होता है । अगर मैं न होऊँ, तो तेरी अभिव्यक्ति कौन करे ? अतः मैं तुझसे श्रेष्ठ हूँ ।"

विवाद बड़ी देर तक चलता रहा, कोई हार मानने को तैयार न हुआ । तभी पास पड़ा हुआ पत्थर का टुकड़ा बोला-"बावलों ! क्यों झगड़ते हो आपस में ? मेरे बिना न तो तुम्हारी भावाभिव्यक्ति हो सकती है, न अमरता । शिल्पी ! और कला बहन तुम भी तो आकार मुझ ही से पाती हो । कोई एक नहीं; हम तीनों मिलकर ही अभिनंदनीय बनते हैं । एकाकी हमारी कोई हस्ती नहीं है ।"

लक्ष्मी जी लौट आयीं

जहाँ आपसी अहंता ही एक दूसरे को लड़ाती हो वहाँ लक्ष्मी भी नहीं रहती ।

देवता चिरकाल से अनुरोध करते रहे कि लक्ष्मी जी असुरों के यहाँ न रहें, देवलोक में निवास करें । पर उनकी प्रार्थना अनसुनी होती रही । लक्ष्मी जी ने असुर परिकर को छोड़ा नहीं ।

एक दिन अनायास ही लक्ष्मी जी देव लोक में आ गयीं । देवता प्रसन्न भी थे और चकित भी । उन्होंने सत्कारपूर्वक बिठाया तो पर साथ ही असमंजस भी व्यक्त किया कि वे असुरों को छोड़कर चल क्यों पड़ीं ।

लक्ष्मी जी ने कहा-"सुर और असुर होने का पुण्य-पाप भगवान देखते हैं । मेरा काम पराक्रम, संयम एवं सहकारिता की जाँच-पड़ताल करना है । जब तक असुर पराक्रमी और संयमी रहे, तब तक साथ-साथ रहे, मैं भी उनके साथ रही । अब वे बदल गए हैं । अहमन्यता, आलस्य और दुर्व्यसन अपनाने लगे हैं । ऐसे लोगों के साथ मेरा निर्वाह कैसे हो सकता था ?"

हातिम और औलिया

हातिम हाशिम के निमंत्रण पर एक औलिया उनके दरबार में आए । वे कभी ऊपर आसमान की ओर देखते थे और कभी जमीन की ओर । हातिम ने इस विचित्र व्यवहार का कारण पूछा । उनने कहा-"यह आसमान कितना बड़ा है, जिसमें तेरी जैसी हजारों हुकूमतें समा सकती हैं । जमीन इसलिए

देखता हूँ कि तेरे जैसों की असंख्यों कब्रें इसमें बन चुकी हैं और न जाने कितनी और बनने वाली हैं ।'' हातिम अपनी प्रशंसा सुनने की आशा लगाए बैठे थे । पर जब ऐसी खरी बातें सुनीं तो स्तब्ध रह गए । उनने समझा कि उनकी उच्छृंखलता ने बदनामी का अपयश एवं कितनों की बद्दुआ उन पर लाद दी है । तब से उन्होंने अपने जीवन की दिशा-धारा ही बदल दी ।

आंतरिक अनुशासन की अवहेलना

आंतरिक अनुशासन जीवन में कितना अनिवार्य है, इसे एक बार राजा को उनके मंत्री ने समझाया ।

पारस्परिक चर्चा के दौरान मंत्री ने राजा से कहा–''यदि अवसर मिले, तो कोई चालाकी से चूकता नहीं । अवसर मिलते ही लोग धूर्तता का अवलंबन लेते हैं ।''

राजा ने कहा–''इसका अर्थ यह हुआ कि संसार में भलमनसाहत है ही नहीं ।'' मंत्री ने कहा–''है तो पर उसे जीवित या सुरक्षित तभी रखा जा सकता है, जब सामाजिक नियंत्रण व रोकथाम का समुचित प्रबंध हो । छूट मिले तो कदाचित् ही कोई बेईमानी से चूके ।''

बात राजा के गले न उतरी । मंत्री ने ताड़ लिया और अपनी बात का प्रमाण देने के लिए एक उपाय किया ।

प्रजा में घोषणा करायी गयी कि किसी राजकाज के लिए हजार मन दूध की आवश्यकता पड़ेगी । सभी प्रजाजन रात्रि के समय खुले पार्क में रखे हुए कड़ाहों में अपने-अपने हिस्से का एक-एक लोटा दूध डाल जाँय ।

रात्रि के समय पार्क में बड़े-बड़े कड़ाहे रख दिए गए । चौकीदारी का कोई प्रबंध नहीं किया गया । स्थिति का पता कानों-कान सभी को लग गया । रात्रि का समय और चौकीदारी का न होना, इन दो कारणों का लाभ उठाकर प्रजाजनों ने दूध के स्थान पर पानी डालना आरंभ कर दिया । इतने लोटे दूध होगा तो हमारे एक लौटे पानी का किसी को पता भी न चलेगा । सभी ने एक ही तरह सोचा और अपने हिस्से के दूध के बदले पानी डाला ।

दूसरे दिन मंत्री राजा को दूध के कड़ाह दिखाने ले गए । सभी पानी से भरे हुए थे । दूध का नाम तक न था ।

राजा ने उस दिन समझा कि समाज तंत्र में नीतिनिष्ठा को जीवित बनाये रखने के लिए सामाजिक अनुशासन की कितनी आवश्यकता है ।

शासक बनाम अनुशासन

एक बार मेंढकों को अपने समाज की अनुशासनहीनता पर बड़ा खेद हुआ और वे शंकर भगवान के पास एक राजा भेजने की प्रार्थना लेकर पहुँचे ।

प्रार्थना स्वीकृत हो गयी । कुछ समय बाद शिवजी ने अपना बैल मेंढकों के लोक में शासन करने भेजा । मेंढक इधर-उधर निःशंकभाव से घूमते फिरे सो उसके पैरों के नीचे दबकर सैकड़ों मेंढक ऐसे ही कुचल गए ।

ऐसा उन्हें पसंद नहीं आया । मेंढक फिर शिव लोक पहुँचे और पुराना हटाकर नया राजा भेजने का अनुरोध करने लगे ।

यह प्रार्थना भी स्वीकार कर ली गई । बैल वापस बुला लिया गया । कुछ दिन बाद स्वर्गलोक से एक भारी शिला मेंढकों के ऊपर गिरी, उससे हजारों की संख्या में वे कुचलकर मर गए ।

इस नयी विपत्ति में मेंढकों को और भी अधिक दुःख हुआ और वे भगवान के पास फिर शिकायत करने पहुँचे ।

शिवजी ने गंभीर होकर कहा–''बच्चो ! पहली बार हमने अपना वाहन बैल भेजा था । दूसरी बार, हम जिस स्फटिक शिला पर बैठते हैं, उसे भेजा । इसमें शासकों का दोष नहीं है । तुम लोग जब तक स्वयं अनुशासन में रहना न सीखोगे और मिल-जुल कर अपनी व्यवस्था बनाने के लिए स्वयं तत्पर न होगे तब तक कोई भी शासन तुम्हारा भला न कर सकेगा ।'' मेंढकों ने अपनी भूल समझी और शासन से बड़ी आशाएँ रखने की अपेक्षा अपना प्रबंध आप करने में जुट गए ।

सृष्टिस्थितौ हि सर्वत्र व्यवहारोऽभिजायते ।
अनुशासनजः सर्वे निर्जीवा जीविनोऽथवा ।। २८ ।।
ग्रहाः पदार्थाः पिण्डाद्या वनस्पतिसमा अपि ।
अनुशासनसम्बद्धाः स्थिराः सन्त्यात्मसत्तया ।। २९ ।।

एषु येऽपि च गृह्णन्ति स्वेच्छाचारं व्रजन्ति ते।
विनाशं स्वयमन्येभ्यो विपत्तीर्भावन्त्यपि ।। ३०।।

टीका–सृष्टि व्यवस्था में सर्वत्र अनुशासन ही बरता जा रहा है । ग्रह–पिंड, पदार्थ, वनस्पति तथा सजीव–निर्जीव सभी सृष्टि व्यवस्था के अनुशासन में जकड़े रहकर ही अपनी सत्ता बनाए हुए हैं । इनमें से जो भी स्वेच्छाचार बरतता है, वह स्वयं तो नष्ट होता ही है, दूसरों के लिए भी विपत्ति खड़ी करता है ।। २८–३०।।

अर्थ–मनुष्य की काया से लेकर जीव-जंतु समुदाय तक, पदार्थों में दौड़ लगाते अणु-परमाणु समूहों से लेकर ब्रह्मांडव्यापी ग्रह-नक्षत्रों तक तथा विराट् प्रकृति के अनन्य घटक वृक्ष-वनस्पति समुदाय तक में एक ही एकात्म भाव समाया हुआ है । वह है समष्टिगत अनुशासन का । कोई भी क्रिया-व्यापार अनुशासन की परिधि से बाहर नहीं है । यदि ऐसा न होता तो सारी सृष्टि में अराजकता की स्थिति आ गयी होती एवं विधाता का सारा सिराजा बिखर गया होता । इसका दूसरा पक्ष भी उतना ही सही है । जो भी इस नियम को तोड़ता एवं प्रकृति व्यवस्था के प्रतिकूल आचरण करता है, उसे स्वयं दंड भुगतना पड़ता है । बिगाड़ से अव्यवस्था उत्पन्न कर समूह के अन्य घटकों के लिए तो विपदा वह उत्पन्न कर ही जाता है ।

ब्रह्मांडव्यापी अनुशासन

विश्व ब्रह्मांड के समस्त ग्रह–नक्षत्र अपनी सूत्र–संचालक आकाश–गंगाओं के साथ जुड़े हैं और आकाश–गंगाएँ महातत्व हिरण्यगर्भ की उँगलियों में बँधी हुई कठपुतलियाँ भर हैं । अगणित सौर मंडल भी एक–दूसरे का परिपोषण करते हुए अपना क्रिया–कलाप चला रहे हैं । सूर्य ही अपने ग्रहों को गुरुत्वाकर्षण में बाँधे हो और उन्हें ताप-प्रकाश देता हो सो बात नहीं है, बदले में ग्रह परिवार भी अपने शासनाध्यक्ष सूर्य का विविध आधारों पर पोषण करते हैं । सौर परिवार के ग्रह अपनी जगह से छिटक कर किसी अंतरिक्ष में अपना कोई और पथ बना लें तो फिर सूर्य का संतुलन भी बिगड़ जायेगा और वह आज की स्थिति में न रहकर किसी चित्र-विचित्र विभीषिका में उलझा हुआ दिखाई देगा ।

अपना सूर्य ही नहीं, इससे भी हजारों गुने बड़े सूर्य करोड़ों की संख्या में अपने सौर मंडलों सहित ब्रह्मांड में घूम रहे हैं । उन सबकी गरिमा का लेखा–जोखा कैसे लिया जाय ? पर देखते हैं कि वे समस्त शक्ति केन्द्र अपने–अपने कार्य में नियमितता, व्यवस्था और मर्यादा लेकर चल रहे हैं । कहीं न उद्धतता है, न उच्छृंखलता । निर्धारित कर्तव्य–कर्म को अणु से लेकर महत् तक सभी पालन कर रहे हैं । यदि ऐसा न होता तो यह इतना बड़ा ब्रह्मांड–व्यवसाय एक क्षण में बिखर जाता । ग्रह–नक्षत्र आपस में टकरा जाते या शक्ति का व्यतिक्रम करके सारी ईश्वरीय व्यवस्था को नष्ट–भ्रष्ट करके रख देते ।

चिकित्सक का परामर्श

राजमहिषी को क्षयरोग हो गया । चिकित्सा के लिए जीवक बुलाए गए । उनने कहा–"एक महीने एक करवट से, दूसरे महीने दूसरे करवट से, तीसरे महीने ऊपर को मुँह करके लेटना पड़ेगा । यदि यह शर्त स्वीकार हो तो मैं इलाज करूँगा ।" रानी सहमत हो गईं । जीवक ने कहा–"तो आपका निरोग होना निश्चित है ।" रोगी यदि पथ्य से रह सके, चिकित्सक का अनुशासन मान सके तो उसके रोग मुक्त होने में कोई संदेह नहीं । जो पथ्य से नहीं रहते उन्हीं का रोग असाध्य होता है ।

प्रकृति का दंड

आस्ट्रिया के डाक्टर क्रिथ के दवाखाने में मरीजों की भीड़ लगी रहती, पर वे इस असमंजस में फँसे रहते कि आदमी कीमती आहार–विहार भोगने पर भी बार–बार बीमार क्यों होता है ? दूसरा प्रश्न उनके मन में यह उठा कि पशु–पक्षी क्यों रोगग्रस्त नहीं होते ?

इसका कारण तलाश करने पर वे इस नतीजे पर पहुँचे कि प्रकृति के अनुबंधों को तोड़ना, प्रकृति का अनुसरण न करना ही इसका एक मात्र कारण है । रोगी होने पर इलाज करने की अपेक्षा यह क्या बुरा है कि रोगी हुआ ही न जाय । उनने आहार–विहार का प्राकृतिक तरीका ढूँढ़ा और जो भी मरीज उनके यहाँ आते, उन्हें वही अपनाने के लिए कहते । फलतः मरीजों की संख्या तो घटी और जिनने उनकी शिक्षा मानी, वे बीमार पड़ने से सदा के लिए बच गए । वे कहते थे प्रकृति की ओर लौटो । इसका प्रयोग जिनने भी किया, वे बीमारियों से सदा के लिए बच गए ।

किसान की शिक्षा

कुँए पर रहट चल रही थी । घुड़सवार ने घोड़े को पानी पिलाने के लिए इधर मोड़ा तो वह आवाज सुनकर बिदकने लगा । पीठे हटता, आगे न बढ़ता ।

इस पर सवार ने अकड़कर किसान से कहा–"आवाज बंद करो ।" किसान ने रहट बंद कर दी ।

घोड़ा आगे तो बढ़ा पर तब तक नाली में पानी बहना ही बंद हो चुका था । सवार फिर अकड़ा–"पानी तो खोलो ।"

किसान ने नम्रता से कहा–"पानी तभी बहेगा, जब रहट चले । रहट चलेगी तो आवाज होगी ही । आप नीचे उतरें, घोड़े की लगाम थामें और उसे पानी पिला दें।"

पानी पी लेने के बाद किसान ने नम्रता से सवार को समझाया कि कुछ पाने के लिए अनुशासन का क, ख, ग, स्वयं से आरंभ करना पड़ता है ।

अनुशासनपराश्चात्र संयुक्तां सैनिका निजाम् ।
परिचाययन्ति शक्तिं ते लोके मान्या भवन्ति च ।। ३१ ।।

टीका–सैनिक अनुशासन पालते और संयुक्त शक्ति का परिचय देते हैं, इसी से सभी पर उनकी धाक रहती है ।। ३१ ।।

अर्थ–जीवन क्षेत्र में भी अनुशासन पालन करने वाले अपनी धाक जमाए और दूसरों पर छाए रहते हैं । इसका प्रत्यक्ष उदाहरण गाँधी जी थे ।

फर्मे जलवा दिए

गाँधी जी अनुशासन और प्रामाणिकता के कट्टर पक्षपाती थे । वे चाहते थे कोई काम अप्रामाणिक न हो और व्यक्ति अनुशासनहीनता न बरते ।

स्वर्गीय गोखले के लेखों और भाषणों का अनुवाद गुजराती में करने का कार्य एक सज्जन को सौंपा गया । वह छपने भी लगा । उसकी भूमिका गाँधी जी को लिखनी थी । छपे फर्मे सामने आये और अनुवाद का स्तर देखा गया तो वह घटिया प्रतीत हुआ ।

गाँधी जी ने कहा–"अप्रामाणिक वस्तु जनता को दूँ, यह मुझसे न हो सकेगा ।" उन्होंने सारे छपे हुए फर्मे जलवा डाले, उन्हें रद्दी में भी नहीं बेचने दिया गया ।

सामान्य लोगों का कल्याण इसी में है कि वे ऐसे महापुरुषों के कथन की अनसुनी न करें, अपितु अनुगमन करें ।

पूर्वाग्रह छोड़े–समाधान पायें

मनुष्यों ने दुःखद परिस्थितियों के निवारण हेतु ब्रह्माजी से प्रार्थना की । उनने समाधान के लिए देवदूत भेजना स्वीकार कर लिया ।

स्वार्थ और अहंकार से घिरे मनुष्य अपनी मर्जी तो देवदूतों से पूरी कराना चाहते थे पर उनकी बात सुनने-मानने के लिए तैयार न थे । सो कोई बात बनते, रास्ता न निकलते देखकर देवदूत वापस चले गए ।

स्थिति और भी अधिक बिगड़ती गई । देवताओं का अनुग्रह पाने के अतिरिक्त बचने का और कोई उपाय न देखकर मनुष्यों ने फिर ब्रह्मा जी से वही प्रार्थना की ।

ब्रह्मा जी इसी शर्त पर भेजने को तैयार हुए कि वे अपनी कामना-मान्यता देवताओं पर न थोपें, वरन् उनको सुनें और जो कहा जाय उसे अपनायें ।

मनुष्य तैयार हुए तो देवदूत आये और गुत्थियों को सुलझा गए ।

पहले खुद तो अनुशासित बनो

एक गृहस्थ अपनी पत्नी-बच्चों समेत लंबे प्रवास पर जा रहा था । रास्ते में एक पेड़ के नीचे टिके । बच्चों को भूख लगी । विचार हुआ आग जलाई जाय और कुछ पकाकर खाया जाय । बड़ा लड़का लकड़ी बीनने चला । मँझला भी दूसरी ओर चल पड़ा । तीसरे छोटे ने कहा कि मैं क्या ऐसे ही बैठा रहूँगा । मैं भी कुछ तो बीन कर ला ही सकता हूँ ।

तीनों छोटे-बड़े लकड़ियाँ बीनकर लाए । पेड़ पर एक भूत रहता था । उसने हँसकर कहा–"तुम्हारे पास पकाने-खाने को तो कुछ है नहीं । लकड़ियाँ जलाने भर से पेट कैसे भरेगा ?"

तीनों बच्चों और दोनों अभिभावक । सबों ने मिलकर कहा–"तुझे पकाकर खाएँगे ।"

भूत डर गया । जिनमें इतनी एकता है, वे जरूर मुझे भी मार कर खा जाएँगे । उसने कहा–"मुझे न मारना मैं तुम्हें पास में गड़ा खजाना बताए देता हूँ । उसे खोद लेना और जिंदगी चैन से बिताना ।"

खजाना पाकर वे बहुत खुश हुए और हँसते हुए घर लौट गए ।

भूत द्वारा खजाना बताए जाने का कारण और विवरण पड़ोसियों ने सुना तो उनमें से एक वैसा ही नाटक करने के लिए उसी पेड़ के नीचे पहुँचा और रात को ठहर गया, लकड़ी बीनने का ड्रामा फिर होने लगा ।

तीनों लड़के एक दूसरे को लकड़ी बीनने का हुक्म दे रहे थे पर स्वयं कोई जा नहीं रहा था । झगड़ा-झंझट न निपटा तो माँ-बाप ही किसी प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते लकड़ी बीन कर लाए और जलाने का उपाय करने लगे ।

भूत ने भी पिछले दिन की तरह ही पूछा-"मूर्खों ! तुम्हारे पास कुछ पकाने को तो है नहीं, खाओगे क्या ?"

उनमें से एक बोला-"तुझे खाएँगे ।"

भूत ने कहा-"मुझे खा सकने वाले कल आये थे जो खजाना लेकर चले गए । तुम्हें तो आपस में लड़ने-झगड़ने से ही फुरसत नहीं, मुझे क्या खाओगे ।"

भूत विकराल वेश बनाकर उन्हें काटने दौड़ा तो वे पाँचों जान बचाकर मुट्ठी बाँधकर दौड़े और जैसे-तैसे खाली हाथ घर पहुँचे ।

लघवः कीरकास्ताश्च चीटिका मधुमक्षिकाः ।
वल्मीककृमयश्चाऽपि तेऽनुशासनगौरवम् ।। ३२।।
जानन्ति मानवा एव ततः किं ज्ञानशीलताम् ।
परित्यज्य हि स्वीकुर्युरौच्छृङ्खल्यमनीप्सितम् ।। ३३।।
अपमानं गरिम्णो यत्तस्य नूनं च विद्यते ।
व्यवहारे नात्ममानी तत् कदाचिन्नियोजयेत् ।। ३४।।

टीका-चींटी, दीमक तथा मधुमक्खी जैसे छोटे कृमि-कीटक अनुशासन का महत्व समझते हैं, फिर मनुष्य ही क्यों अपनी विवेकशीलता खोकर अनभीष्ट उच्छृंखलता बरते । यह उसकी गरिमा का अपमान है, जिसे कभी भी आत्म-सम्मानी को अपने व्यवहार में सम्मिलित नहीं होने देना चाहिए ।। ३२-३४।।

अर्थ-यहाँ पशु-पक्षियों, जीव-जंतुओं के उदाहरणों द्वारा प्रकृतिगत अनुशासन की महत्ता बताते हुए मनुष्य के लिए तो उसे अनिवार्य बताया ही गया है । मनुष्य जीवधारी समुदाय में सर्वश्रेष्ठ बुद्धि संपन्न प्राणी माना जाता है । उससे तो विधाता की अपेक्षाएँ और भी अधिक हैं ।

बूँद को विलय न रुचा

बूँद को समुद्र में अपनी सत्ता का विलय अच्छा न लगा । वह अपनी अहंता और पृथकता बनाये रखना चाहती थी । नदियों ने उसे इस आग्रह से विरत भी किया पर वह मानी नहीं । अलग ही बनी रही ।

कड़ाके की धूप निकली और वह भाप बनकर हवा में उड़ गई । बादलों के साथ मिलना उसे फिर पसंद नहीं आया ।

रात हुई और वह पत्तों पर ओस बनकर अलग-थलग पड़ी रही । धूप रोज निकलती, उसे ऊपर उठाती पर उसे नीचे ही गिरना पसंद जो था ।

सर्प ने उस ओस को चाटा और विष में बदल दिया ।

जो न समुद्र बनते हैं और न बादल, ऐसे उच्छृंखलों को विष बनकर रहना पड़ता है ।

शक्ति प्रदर्शन नहीं, सेवा

आँधी ने मंद वायु से कहा-"शक्तिवान बनने में ही गौरव है, मैं जब अपने वेग के साथ चलती हूँ तो पेड़ उखड़ जाते हैं, तालाबों का पानी उछलने लगता है, प्राणियों की मेरे सामने ठहरने की हिम्मत नहीं होती, सभी अपना बचाव करने के लिए छिपते फिरते हैं । जिंदगी ऐसी जीनी चाहिए कि लोग जिसका लोहा मानें और डरते रहें ।"

मंद वायु बोली-"दीदी, तुम सामर्थ्यवान हो, जो चाहो सो कर सकती हो, पर मुझे तो सेवा में आनंद आता है । धीमी चलती हूँ ताकि किसी को कष्ट न हो, निरंतर बहती हूँ ताकि सेवा के आनंद से क्षण भर के लिए भी वंचित न रहना पड़े । मुरझाये चेहरों पर शीतल सुगंधित पंखा झलते हुए जो संतोष प्राप्त होता है मेरे लिए वही बस है । तुम्हें

शक्ति का हर्ष प्रिय लगता है पर मेरे लिए तो सेवायुक्त समर्पण ही सब कुछ है ।"

अशोक का सर्वमेध

विधाता के अनुशासन को किसने अपने जीवन में कितना उतारा इसकी कसौटियाँ अलग-अलग हैं ।

उन दिनों धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए अधिक दान करने की प्रतिस्पर्धा समर्थों के बीच चल रही थी । तथागत ने लेखाध्यक्ष से पूछा-"इस वर्ष सबसे बड़ी राशि किसने प्रदान की ?"

कोष पुस्तिका देखकर उनने बताया-"इस वर्ष के अनाथ पिंडक सबसे बड़े दानी हैं । उन्होंने सौ करोड़ मुद्राएँ संघाराम के लिए भेजी हैं ।"

सम्राट् अशोक वहाँ सभा में मौजूद थे । सोचने लगे-'जब सामान्य व्यक्ति इतना दान कर सकता है, तो वे ही क्यों पीछे रहें ।' उनने घोषणा की कि राज्यकोष में जो है, सो अभी और शेष क्रमशः भेजते हुए वे भी सौ करोड़ मुद्राएँ दान करेंगे ।

क्रम चल पड़ा । राज्य कोष में जितना जुड़ता, उतना संघाराम के पास पहुँच जाता ।

लंबा समय बीता । अशोक का आयुष्य पूरा हो चला । रुग्ण शरीर मृत्यु के दिन गिन रहा था । उनने कोषाध्यक्ष को बुलाया और पूछा-"संकल्पित राशि संघाराम के पास पहुँची या नहीं ?" लेखा देखकर उनने बताया-"अभी ९६ करोड़ ही पहुँचा है । चार करोड़ देने बाकी हैं ।"

समय निकट आया देखकर अशोक ने अपने निजी प्रयोग के सभी पात्र-उपकरण भेज दिए और स्वयं मृतिका पात्रों में खाने और भूमि पर सोने लगे । इतने पर भी राशि पूरी न हुई । मृत्यु का निमंत्रण आ पहुँचा ।

आशोक ने चारों ओर दृष्टि पसारी । जो शेष हो, उसे भी भेजा जाय । देखा तो सिरहाने आज के आहार में एक सूखा आँवला सामने था । उन्होंने उसे उठाया और बौद्ध-विहार भेजते हुए कहा-"जो शेष था, जा रहा है । इसी से संकल्प को पूर्ण कर लिया जाय ।"

सूखा आँवला पीसकर उस दिन के महाप्रसाद में मिला दिया गया । घोषित किया गया कि सर्वमेध की यह पूर्णाहुति दान संपदा में सर्वश्रेष्ठ मानी जाय । महत्व दान का नहीं, इस आत्मानुशासन का है जो सम्राट् ने जीवन की इस संधि वेला में अपने जीवन पर लागू किया ।

सम्मानं नृगरिम्णः सा ह्यनुशासनसंसृतिः ।
अनुशासिताः समर्थाः स्युरन्यांश्चाप्यनुशासितान् ।। ३५ ।।

टीका-अनुशासन पालना मानवी गरिमा का सम्मान है । जो अनुशासन पालते हैं, वे ही दूसरों को अपने अनुशासन में रख सकने में समर्थ होते हैं ।। ३५ ।।

अर्थ-स्वयं अपने पर अनुशासन निभा पाने में ही वह समर्थता विकसित हो पाती है, जिसमें वह अन्य व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय बनता है । जीवन की दैनंदिन गतिविधियों में इसका कितना समावेश हुआ, इसी पर समर्थन-सहयोग एवं जन सम्मान निर्भर है ।

निस्पृह तिलक

लोकमान्य तिलक ने पूना में एक विद्यालय स्थापित किया । वे ही उसके व्यवस्थापक और प्रिंसपल थे । पूरे दिन लगे रहना पड़ता । वेतन मात्र तीस रुपया मासिक लेते ।

मित्रों ने कहा-"आपकी योग्यता तो इससे कहीं अधिक कमाने की है, फिर आपको अपने पद के अनुरूप शान से भी रहना चाहिए और भविष्य के लिए भी कुछ बचाना चाहिए । वेतन बढ़ा क्यों नहीं लेते ।"

लोकमान्य ने कहा-"लोकसेवियों को भविष्य की चिंता ईश्वर पर छोड़ देनी चाहिए और खर्च के लिए औसत भारतीय स्तर पर ही निर्वाह रखना चाहिए । उतना मैं ले ही रहा हूँ । अधिक लेकर क्या करूँगा ।"

सादगी व आत्मानुशासन की गरिमा

सांस्कृतिक परंपराओं का प्रचलन जातीय जीवन को अनुशासनबद्ध रखने के लिए हुआ था । देखने में आता है कि आज लोग उसकी भी उपेक्षा करने लगे हैं । पालन करने से अपना गौरव घटता नहीं बढ़ता है ।

भारत के प्रथम राष्ट्रपति स्व० श्री राजेन्द्र प्रसाद ने प्रेसीडेंसी कालेज में प्रवेश लिया । सादगी उनके व्यक्तित्व की अपनी एक महती विशेषता थी ।

जब पहले दिन वे कक्षा में गए तो अचकन, पाजामा और टोपी पहने हुए थे । शेष सब लड़के कोट, पतलून तथा टाई में थे ।

वे सब लड़कों को देखकर समझे कि इनमें अधिकांश एंग्लो इंडियन होंगे और उन्हें देखकर सब लड़कों ने ऐसा भाव व्यक्त किया जैसे पूछ रहे हों, 'कहाँ से रस्सा तुड़ाकर भाग आये हो' । बहुत मजाक बनाया सबने उनका ।

जब कक्षा में प्राध्यापक आये और सबका नाम व परिचय सबको मिला तो दोनों ही आश्चर्य में थे ।

राजेन्द्र बाबू इसलिए कि मालूम पड़ा कि सभी विद्यार्थी भारतीय ही थे । और शेष विद्यार्थी इसलिए कि राजेन्द्र बाबू ने जिन्हें वे निरा गँवार ही समझ रहे थे, विश्वविद्यालय में सर्वप्रथम स्थान प्राप्त किया था ।

विद्यार्थी अब आश्चर्यचकित थे उनकी सादगी तथा भारतीय वेषभूषा में छिपी ज्ञान गरिमा पर । उन्होंने फिर कभी मजाक नहीं बनाया । यही राजेन्द्र बाबू आगे चलकर भारत के प्रथम राष्ट्रपति बने ।

नेपोलियन की सेना अजेय क्यों ?

कैसर (जर्मन का शासक) फ्रांस के शासक नेपोलियन का अतिथि था । उसने नेपोलियन से पूछा–"आपके पास कौन सी ताकत है ? सेना की संख्या तथा युद्ध के साधन औरों के समान ही हैं । फिर ऐसी कौन सी शक्ति है, जो आप अजेय रहते हैं ?" नेपोलियन ने कुछ दिन बाद उत्तर देने का वायदा किया ।

एक दिन सबेरे कैसर समुद्र के किनारे टहल रहे थे । देखा सेना की एक टुकड़ी अपने टोप में पानी भरकर उसकी धार को जाँघ पर छोड़ते हुए उसे रस्सी की तरह बँटने का प्रयास कर रहे हैं । उनसे पूछा–"यह क्या कर रहे हो ?" सीधा सा उत्तर मिला–"जैसा हमारे नायक ने हुक्म दिया ।"

कैसर ने नायक से पूछा तो उसने भी कहा–"हमारे अफसर ने ऐसा ही करने को कहा था ।" कैसर खीझ कर बोले–"अजीब तुम्हारा अफसर और अजीब हो तुम । ऐसे बेवकूफी के काम में सैनिकों को लगा रखा है ।"

नायक की त्योरी चढ़ गयी । बोला–"सर, आप शाही मेहमान हैं, इसलिए सम्मानीय हैं । आप ऊपर तक हुक्म का कारण पूछ सकते हैं, लेकिन हमारे तंत्र को मूर्ख मत कहिए । जो बात एक बच्चा भी समझ सकता है, उतनी बात भी समझने की अक्ल जिसमें नहीं ऐसा आदमी अधिकारी तो क्या सैनिक भी नहीं बन सकता । हुक्म दिया गया है तो उसके पीछे कोई और वजह होगी जो न मैं जानता हूँ न आप ।"

कैसर नायक की निष्ठा और दृढ़ता से प्रभावित हुए । उन्होंने कारण जानने का प्रयास किया । मुख्य सेनाधिकारी तक पहुँचने पर पता चला, यह हुक्म स्वयं सम्राट् नेपोलियन द्वारा दिया गया था । जिनसे भी बात की, सभी में नायक जैसी ही अनुशासन वृत्ति देखी गयी ।

दोपहर के भोजन के समय कैसर ने नेपोलियन से इस घटना की चर्चा की और पूछा कि आपने ऐसा हुक्म क्यों दिया ? नेपोलियन मुस्कराये, बोले–"आपके प्रश्न का उत्तर जो देना था । मैंने और मेरे अधिकारियों ने अपनी प्रामाणिकता और व्यवहार की ऐसी छाप अपने साथ वालों पर छोड़ी है कि वे हमारे निर्देश के बाहर कुछ सोचते ही नहीं । पूरी निष्ठा से जुट पड़ते हैं । यह जन विश्वास ही मेरी अजेय शक्ति है । मैंने अनुशासन में बाँधकर ही उन्हें वह मूल मंत्र दिया है, जिसके कारण वे पराक्रम दिखा पाने में समर्थ हो पाते हैं ।"

कर्तुमुच्छृंखला ये तु स्वयं तादृक् प्रतिक्रियाः ।
अयोग्या सम्मुखे तेषामुपयान्ति सुपीडकाः ।। ३६।।
प्रकृतेरनिवार्येयं दण्डदानव्यवस्थितिः ।
श्रमं कर्तुं विशीर्णां तां नाद्धयेन्नाशमात्मनः ।। ३७।।

टीका–उच्छृंखलता अपनाने वालों को बदले में वैसी ही अनुपयुक्त प्रतिक्रिया का सामना करना पड़ता है । प्रकृति की दंड व्यवस्था अपरिहार्य है । उसे अस्त–व्यस्त करने के प्रयत्न–अपना सर्वनाश करने की मूर्खता–किसी को नहीं करनी चाहिए ।। ३६–३७।।

उच्छृंखलता न अपनायें

जंगल का राजा शेर नदी किनारे बैठकर अपने मंत्रियों से पूछने लगा–"नदी का पानी आगे कहाँ जायेगा ?"

मंत्रियों ने बताया–"यह अगले देश में जायेगा, जहाँ आपके शत्रु का राज्य है ।"

सिंह आग बबूला हो गया । जंगल के सब जानवरों को बुलाकर नदी को बाँधने का हुक्म दिया । बाँध बनते बनते बाढ़ आ गई और सिंह का सारा परिवार डूब कर मर गया ।

मंत्री ने बाँध तुड़वाया और कहा–"उच्छृंखलता अपनाने वालों की ऐसी ही दुर्गति होती है ।"

बेचारे साधक आज उपदेष्टा तो अगणित मिलेंगे, पर आचरण करने वाले तो ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते । यह ऐसा है, जैसे एक बार चार साधकों ने एक सप्ताह तक मौन व्रत पालन की प्रतिज्ञा ली और किसी एकांत आश्रम में साथ-साथ रहने लगे ।

दूसरे दिन दीपक का तेल चुकने लगा तो एक ने नौकर से कहा–"तेल डाल दो ।"

दूसरे ने यह देखा तो संकल्प तोड़ने का उलाहना देते हुए बोला–"प्रतिज्ञा के अनुसार तुम्हें बोलना नहीं चाहिए था ।"

तीसरे ने दोनों को डाँटा और कहा–"व्रत निभाते हो या चेंचें करते हो ।"

इस पर चौथे से भी न रहा गया और बोला–"मैं ही अकेला हूँ, जो बोल नहीं रहा ।"

यही है आज की स्थिति । लोग दूसरों के दोष बताते हैं पर यह भूल जाते हैं, कि स्वयं भी तो वही गलती कर रहे हैं ।

जी हुजूरी नहीं अनुशासन का अर्थ जी हुजूरी नहीं, अपितु यथार्थ के प्रति सत्याग्रह और कर्तव्यनिष्ठा है । एक बस के नीचे एक लड़का दब गया । सामने से पंडित नेहरू की कार आ रही थी । वे बच्चे को अस्पताल ले जाने की तैयारी करने लगे । भीड़ को मालूम पड़ा कि पंडित नेहरू की कार है, तो वे जय-जयकार के नारे लगाने लगे । नेहरू जी भीड़ पर झल्ला पड़े कि आप लोगों को शर्म नहीं आती । बच्चे को गाड़ी में रखवाने की बजाय जय-जयकार के नारे लगा रहे हैं ।

लोकसेवां सामाश्रित्याऽनृणः समाजिकादृणात् ।
मर्यादैवास्ति पूता च वानप्रस्थपरम्परा ।। ३८ ।।
प्रामाणिकत्वमासुं च नीतिमत्ता समीहिता ।
अनिवार्यतया, चात्र चरित्रे तु कलङ्कता ।। ३९ ।।
पवित्राणां तथा तासां मर्यादानां विलङ्घनम् ।
कुरुतो दुर्बलं मर्त्यमविश्वस्तो भवेच्च सः ।। ४० ।।

टीका–लोकसेवा अपनाकर समाज ऋण से उऋण होना मर्यादा है । वानप्रस्थ पुनीत परंपरा है । प्रामाणिकता अर्जित करने के लिए नीतिवान् होना आवश्यक है । चरित्र पर अँगुली उठवाने एवं पवित्र मर्यादाओं का उल्लंघन करने वाला मनुष्य भीतर से दुर्बल पड़ जाता है और उसका विश्वास चला जाता है ।। ३८-४० ।।

अर्थ–मर्यादा, अनुशासन, व्यवस्था–इन सबकी परिधि बड़ी विस्तृत है । व्यक्ति को स्वयं पर तो अंकुश लगाना ही पड़ता है, स्वयं को चरित्रवान् बनाना ही पड़ता है, अपने पुरुषार्थ-साधन को सत्कार्यों में नियोजित भी करना पड़ता है । अंतः से उद्भूत सुसंस्कारिता-व्यवहार में अनुशासन एवं नीति निष्ठा, परमार्थ परायणता के रूप में सार्थक बनती है । दोनों ही एक दूसरे के बिना अधूरे हैं ।

तितली और मधुमक्खी अनुशासित व्यक्ति कहीं भी रहें, सम्मान और प्रामाणिकता स्वयं अर्जित कर लेते हैं ।

तितली और मधुमक्खी दोनों एक फूल पर आकर बैठतीं । एक दिन दोनों झगड़ने लगीं कि फूल पर मेरा अधिकार है ।

फैसला कराने तोता को बुलाया गया । उसने मधुमक्खी के पक्ष में निर्णय दिया और कहा–"यह बैठने का श्रम सार्थक करती है और दूसरों के लिए शहद निकालती है । इसलिए अधिकार तो इसी का रहेगा, बैठने का आनंद तुम भी उठा सकती हो ।"

महान सेनापति– गैरीबाल्डी गैरीबाल्डी इटली का महान सेनानी था । एक दिन उनके घर उनके मित्र एडमिरल पहुँचे । उनके घर में प्रकाश की कोई व्यवस्था न थी, सो दीवाल से टकराये और चोट लग गई ।

एडमिरल व्यंग्य तथा झुंझलाहट के स्वर में बोले–"क्यों गैरीबाल्डी ! तुम प्रकाश का भी प्रबंध नहीं रख सकते ?" उसे चोट लगी जानकर गैरीबाल्डी ने प्रकाश का प्रबंध करना चाहा परंतु वहाँ एक मोमबत्ती तक न थी । वह उठा और उँगली पकड़कर घर में ले आया, फिर कहा–"मित्र क्षमा करेंगे, युद्ध मंत्री से सेनापतित्व का दायित्व प्राप्त करते समय भोजन के अतिरिक्त मोमबत्तियों की व्यवस्था के लिए कोई धन मिलने की बातचीत नहीं हुई थी । खैर कोई बात नहीं, हम लोग अँधेरे में भी बातचीत कर सकते हैं ।"

भेंट वार्ता करने के बाद एडमिरल तत्कालीन युद्ध मंत्री के पास पहुँचे तथा गैरीबाल्डी के लिए पर्याप्त धन पहुँचा दिया । अगले दिन पत्नी ने पूछा कि क्या इस पैसे से कुछ मोमबत्तियाँ खरीद मँगायी जायें । गैरीबाल्डी ने शांत स्वर में उत्तर दिया–"बिल्कुल नहीं । हमें इस राशि से अपने लिए मोमबत्ती खरीदने का कोई आदेश नहीं मिला है ।" सारा धन सैनिकों में बँटवा दिया गया । ऐसी होती है प्रामाणिकता की कसौटी पर कसी गई नीतिनिष्ठा ।

धर्मधारणा का सच्चा रूप

महान ईसाई धर्मशास्त्री संत थामस एक्विनास सलीब ने विद्वान मित्र फादर रेजिनाल्ड के सहयोग से एक पांडित्यपूर्ण शास्त्र लिखने का निर्णय लिया । परंतु शाम को सलीब के सामने प्रार्थना करने बैठे तो भाव समाधि में ऐसे डूबे कि आँखों से अश्रुधार बह निकली । घंटों मुग्धभाव से बैठे रहे । इसी बीच उनके विचारों में न जाने कैसे परिवर्तन हुआ कि शास्त्र लिखने का निर्णय ही बदल दिया ।

रात को फादर आए और उन्होंने धर्मशास्त्र लिखने की चर्चा छेड़ी तो संत थामस का उद्रेक फूट पड़ा–"शास्त्र अब कभी न लिखा जा सकेगा । आज प्रातःकाल प्रभुकृपा से सलीब ने मुझे यह अंतर्ज्ञान दिया है कि समग्र विश्व का कल्याण करना, उसकी आस्थाएँ एवं श्रद्धा विश्वास जगाना ही धर्म का सार है । पांडित्यपूर्ण शास्त्र का ज्ञान तो अहंकार ही उत्पन्न करता है, जो मानव की प्रत्येक प्रकार की प्रगति में अवरोध ही उत्पन्न करता है ।" और बताया कि उन्होंने इसी कारण शास्त्र न लिखने का निर्णय लिया है ।

अविश्वस्त भेड़िया

एक भेड़िया उथले कुएँ में गिर पड़ा । निकलने की तरकीबें सोचने लगा; पर कोई कारगर न हुई । उसने मुँडेर पर झाँकती हुई एक बकरी को देखा सो भीतर से बोला–"बहन जी ! यहाँ चारे और पानी की बहुत इफरायत है । तुम भी आ जाओ तो दोनों मिलकर चैन की जिंदगी जिएँगे ।"

भोली बकरी बातों में आ गई और गड्ढे में कूद गई । भेड़िए ने बकरी की पीठ पर चढ़कर छलांग लगाई और ऊपर आ गया । बकरी अकेले रह गई ।

बकरी की समझ में बात आई तो वह बोली–"भाई ! मैं तो दूध देने वाली जीव हूँ, मुझे तो कोई भी निकाल लेगा, पर भविष्य में तुम जैसों की सहायता करने कोई भी नहीं आयेगा ।"

वही हो भी रहा है । दुष्टों के सामने कोई मुँह चुपड़ी भले ही करे, संकट आने पर वही ऊपर से लात और जमाते देखे जाते हैं ।

कुरीतीनां तथैवान्धक्रमाणां च विरोधिता ।
अन्यरूपोपयुक्तानां व्यवस्थानामिह स्वयम् ।। ४१ ।।
सामाजिकानां दुर्वृत्योल्लङ्घनस्य प्रदर्शनम् ।
अन्यदेव चरित्रेण युक्तो भवति शक्तिमान् ।। ४२ ।।
मर्यादापालको मर्त्यः पुरुषोत्तम उच्यते ।
असामान्यं बलं तस्याऽसामान्यश्च पराक्रमः ।। ४३ ।।

टीका–कुरीतियों का, अंध परंपराओं का विरोध करना एक बात है और उपयुक्त समाज व्यवस्थाओं का उल्लंघन करने में उच्छृंखलता दिखाना सर्वथा दूसरी । चरित्रवान् ही शक्तिवान् होता है । जो मर्यादाओं का परिपालन करता है, उसे पुरुषोत्तम कहते हैं । उसका बल–पराक्रम असाधारण होता है ।। ४१–४३ ।।

अर्थ–ऐसा व्यक्ति छोटा हो, तो भी उसकी प्रामाणिकता ही उसे वजनदार बना देती है । सच बात कहने में वे हिचकते नहीं ।

मंत्री की दो टूक बातें

एक राजा था । उसने अपने मंत्री को बुलाकर कहा–"हमारे राज्य में जो सबसे बड़ा मूर्ख हो, उसे ढूँढ़ कर लाया जाय ।"

मंत्री ढूँढ़ने के लिए छुट्टी लेकर चले गए । एक सप्ताह बाद लौटे, कहा–"एक ही जगह तीन मिल गए ।"

"एक तो यह है, जो कहीं सुन आया था कि रुपया रुपये को खींचता है, सो जहाँ भी रुपयों का ढेर देखता, वहीं अपना रुपया फेंक देता । वह भी जब्त हो जाता । इस प्रकार सौ रुपये गँवा चुका; पर वह वहम अभी भी ज्यों का त्यों बना हुआ है ।"

"दूसरे मूर्ख आप है, जो विद्वानों की तलाश न कराकर मूर्खों की तलाश करा रहे हैं । तीसरा मैं हूँ जो आपको नेक सलाह देने की अपेक्षा नौकरी के लोभ में आपकी हाँ में हाँ मिलाता हूँ ।"

धर्मयुग्मे तृतीये च शास्त्रकारैस्तु मानितः ।
अनुशासनवत्सोऽयमनुबन्धो महत्ववान् ।। ४४।।
आत्मानुशासनं ह्येतद् व्यवहार्यं निजेच्छया ।
कृत्यप्रकृतिसम्बन्धे विचाराकांक्षयोरपि ।। ४५।।
सामाजिकावृतौ सत्यामपि क्षेत्रस्य चाऽस्य तु ।
औत्कृष्ट्यावरणं कार्यं स्वयमेव नरैरिह ।। ४६।।

टीका–धर्म के तृतीय युग्म में शास्त्रकारों ने अनुशासन की तरह ही 'अनुबंध' को भी महत्व दिया है । यह आत्मानुशासन है, जो अपनी आकांक्षाओं, विचारणाओं, गतिविधियों तथा आदतों के संबंध में स्वेच्छापूर्वक बरता जाता है । सामाजिक दबाव होते हुए भी, उस क्षेत्र की उत्कृष्टता का वरण स्वयं ही करना होता है ।। ४४–४६।।

अर्थ–स्वेच्छा से अपने ऊपर लागू किया गया अनुशासित जीवन क्रम इतना सरल नहीं है, जिसे सहज अपनाया जा सके । समाज-व्यवस्था, प्रचलन, रीति-रिवाज एवं तत्कालीन प्रवाह के दबाव जैसे प्रतिरोधों से जूझते हुए कसौटी पर खरे उतरना एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है । क्या उचित है, क्या अनुचित इसकी काट-छाँट करते हुए श्रेष्ठता का चयन खुद ही करना पड़ता है । इतना विवेक जिसका जागृत हो, वही महामानव बनने की दिशा में आगे बढ़ सकने की पात्रता रखता है ।

आत्मसंयम की शिक्षा

कलकत्ता के हाईकोर्ट के जज स्वर्गीय श्रीगुरुदास बनर्जी वायसराय के साथ कानपुर से कलकत्ता के लिए यात्रा कर रहे थे । कलकत्ता विश्वविद्यालय कमीशन संबंधी किसी आवश्यक चर्चा के लिए वायसराय ने उन्हें अपने ही डिब्बे में बुला लिया । बातचीत के मध्य भोजन का समय हुआ तो वायसराय ने उनसे भोजन करने का अनुरोध किया । बनर्जी साहब ने उत्तर दिया–"मैं रेल में कुछ नहीं खाता । थोड़ा-सा गंगाजल रखे हुए हूँ, वही पी लेता हूँ ।"

वायसराय को विश्वास नहीं हुआ–'इतना प्रगतिशील व्यक्ति भी धार्मिक मान्यताओं का इतना कट्टरता के साथ पालन कर सकता है ।' उन्होंने कहा–"तो फिर लड़के को ही भोजन ग्रहण करने के लिए कहिए ।" पर बच्चे ने भी इन्कार करते हुए कहा–"मेरे पास घर की बनी थोड़ी-सी मिठाई है, उसका नाश्ता कर लिया है, अन्य कोई वस्तु ग्रहण न करूँगा ।"

वायसराय आश्चर्यचकित रह गए । उन्होंने कहा–"आप लोग उपवास कर रहे हैं, तो मैं ही भोजन कैसे करूँ ।" वायसराय की आज्ञा से गाड़ी इलाहाबाद रोक दी गई । वहाँ बनर्जी ने पुत्र सहित त्रिवेणी स्नान किया, फिर गाड़ी आगे बढ़ी । लौटने पर वायसराय को धन्यवाद देते हुए कहा–"कुछ खा-पी लेने से किसी की जाति जाती हो, इस संबंध में मेरा कोई तर्क नहीं, पर इन नियमों के पालन से आत्मसंयम और अनुशासन की शिक्षा मिलती है । हमारे धर्म और संस्कृति में जो ऐसी बातें हैं, उनको मैंने इसीलिए हृदय से स्वीकार किया है ।"

राजेन्द्रबाबू की सफलता

लोग जीवन में ऐसे ही सम्मान प्राप्त करते हैं । डा० राजेन्द्रबाबू तब तक देशरत्न के नाम से प्रख्यात हो चुके थे । वे इलाहाबाद के 'लीडर' अखबार के संपादक श्री चिंतामणि से मिलने गए । अपना

कार्ड चपरासी के हाथों भेजा । मामूली कपड़े देखकर चपरासी ने कहा–"बैठ जाओ । साहब व्यस्त हैं, थोड़ी देर में बुलाएँगे ।" राजेन्द्रबाबू चपरासियों की अँगीठी पर अपने भीगे कपड़े सुखाने लगे ।

थोड़ी देर में कार्ड पर निगाह पड़ी तो श्री चिंतामणि भागते हुए स्वयं आये । ढूँढ़ा तो दिखाई ही नहीं पड़े । चपरासी ने इशारा करके बताया कि वह आदमी वही है जो अँगीठी पर कपड़े सुखा रहा है ।

श्री चिंतामणि देरी के लिए क्षमा माँगने लगे तो राजेन्द्रबाबू ने कहा–"लाभ ही हुआ । मैंने अपने गीले कपड़े सुखा लिए ।"

सेवा का श्रेष्ठ फल मृत्यु के बाद भी आत्मानुशासन के पुण्यफल साथ चलते हैं ।

विदर्भ देश में एक अपरिग्रही परिव्राजक रहता था । नाम था श्रुतिकीर्ति । भजन भाव तो नित्य कर्म जितना ही बन पड़ता; पर प्रवास में यही खोजता रहा कि पीड़ा और पतन से ग्रसितों के पास पहुँचें और उनकी श्रम एवं ज्ञान के द्वारा सेवा-सहायता करें । यही थी उसकी जीवन-चर्या जिसे किशोर वय से लेकर वृद्धावस्था तक अविचल श्रद्धा के साथ चलाता रहा ।

समय आया और मरण का दिन आ पहुँचा । स्वर्गलोक से विमान आया, देवता उसे चला रहे थे । श्रुतिकीर्ति स्वर्ग पहुँच गए; पर शीघ्र ही वहाँ के वैभव-विलास से दुःखी होकर उन्होंने अपना स्थान नरक में बदलने का निश्चय किया ।

ब्राह्मण ने देवताओं से प्रार्थना की–"यदि सचमुच मैंने पुण्य कमाया है, तो इच्छित वरदान मिले । मुझे नरक तक पहुँचा दिया जाय, जहाँ पीड़ितों और पतितों की सेवा-सहायता करते हुए आत्म-संतोष का अर्जन हो सके । स्वर्ग सुख से मुझे सेवा-संतोष अधिक प्रिय है ।"

देवताओं ने तथास्तु कहकर उसे नरक पहुँचा दिया । नरक में रह रहे श्रुतिकीर्ति की भेंट एक दिन उनके ही पितरों से हो गयी । पितरों ने पूछा–"भला, आप तो स्वर्ग में थे, फिर वापस कैसे आये ?"

संत ने कहा–"पुण्य का फल नहीं, पाप का दंड भुगतने वहाँ गया था । सेवा में प्रगाढ़ निष्ठा होती तो पहले दिन ही स्वर्ग को अस्वीकार कर देता । यही था मेरा पाप जिसका दंड विलास-व्यसन में घुटन सहनकर लौटा हूँ ।"

श्रुतिकीर्ति को देवताओं में भी श्रेष्ठ गिना गया ।

महतां मानवानां तु व्यवहारोऽथ चिन्तनम् ।
अन्तःस्थितौ प्रेरणायां यातो निर्भरतां सदा ।। ४७।।
गृह्णन्ति श्रेष्ठतामात्रमनीप्सितमिमे क्षणात् ।
पराङ्मुखं प्रकुर्वन्ति विकृतिं यान्ति नो ततः ।। ४८।।

टीका–महामानवों का चिंतन तथा व्यवहार अंतः की स्थिति तथा प्रेरणा पर निर्भर रहता है । वे दूसरों से मात्र श्रेष्ठता की प्रेरणाएँ ही ग्रहण करते हैं । अवांछनीयता के आरोपण को वे तत्काल वापस लौटा देते हैं, इसी से वे विकृत स्थिति में नहीं पहुँचते हैं ।। ४७–४८।।

अर्थ–जैसे अंदर से उद्भूत प्रेरणाएँ होती हैं, वैसा ही बाह्य जीवन क्रम ढल जाता है । श्रेष्ठता पर भी मापदंड लागू होता है । महामानव बनने की उमंग अंतः से तो जन्मती ही है, प्रचलन-प्रवाह से संव्याप्त उत्कृष्ट प्रेरणाओं के चयन पर भी यह निर्भर करता है कि कौन किस स्तर तक विकसित है । मात्र उचित का चयन एवं अवांछनीय का निरस्तीकरण ही महामानवों के जीवन की रीति-नीति होनी चाहिए ।

वापस रखो एक गृहस्थ गौतम बुद्ध से चिढ़ता था । एक दिन वे उसी के यहाँ भिक्षा हेतु जा पहुँचे । उसने बुद्ध को देखते ही गाली देना प्रारंभ कर दिया ।

बुद्ध शांत-चित्त गालियाँ सुनते रहे । शिष्य बीच में उत्तेजित होने को हुए तो उनने चुप कर दिया । गाली देकर जब वह थक गया तो गौतम बुद्ध ने पूछा–"तात ! आप किसी को कोई वस्तु दें और वह न ले, तो आप क्या करेंगे ?"

"फेंक थोड़े ही दूँगा"–उसने उत्तर दिया । बुद्ध मुस्कराये और बोले–"तो मैं आपकी गालियाँ स्वीकार नहीं करता ।" अब तो गृहस्थ पानी-पानी हो गया, उसने बुद्ध को प्रणाम कर क्षमा-याचना की और घर भोजन कराया ।

प्रलोभन ठुकराया

देशबंधु चितरंजनदास अलीपुर षड़यंत्र केस के मुकदमे की तैयारी में व्यस्त थे । श्री अरविंद तथा अन्य क्रांतिकारी देशभक्तों के बचाव के लिए वे दिन-रात जाग कर तथ्य जुटा रहे थे ।

इसी बीच एक दिन एक व्यापारी अपने २ लाख रुपये वापस माँगने आया और देशबंधु की स्थिति को उपेक्षित कर रुपया लेने के लिए जम कर बैठ गया । यह राशि उन्होंने राष्ट्रीय आंदोलन के लिए ही माँगी थी । उसी समय एक सज्जन अपने मुकदमे के लिए देशबंधु को अनुबंधित करने के लिए आ गए और प्रार्थना करने लगे, परंतु देशभक्तों को बचाने के लिए उन्हें जिस व्यस्तता के बीच काम करना पड़ रहा था, उसके कारण वह कोई दूसरा मुकदमा नहीं लेना चाहते थे । वे सज्जन पाँच लाख रुपये नकद देने तक को तैयार थे । परंतु देशबंधु ने बड़े विनम्र शब्दों में अपनी कठिनाई व्यक्त की । कहा कि इन देशभक्तों के जीवन के सम्मुख लाख तो क्या आपकी सारी संपत्ति भी मेरे लिए नगण्य है । आपको ऐसा प्रलोभन स्वीकार करने वाले तो अनेक मिले होंगे, पर ठुकराने वाले न मिले होंगे ।

दीनबंधु

दीनबंधु ऐण्ड्रयूज इंग्लैण्ड में जन्मे । पहले उनका विचार पादरी बनने का था । पीछे उनने समझा कि पिछड़ों को ऊँचा उठाना ही सच्चा धर्म है । उन्ने भारत की दुर्दशा सुन रखी थी । वे ग्रेजुएट होने के उपरांत सीधे भारत चले आये और टैगोर के शांति निकेतन में कुछ दिन रहकर सेवा के कार्यक्रम में जुट गए ।

वे गाँधी जी के सत्याग्रह आंदोलन में सहायता करने दक्षिण अफ्रीका गए । देश की जनता में नव जागरण का संचार करते रहे । इसके अतिरिक्त प्रवासी भारतीयों की स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने फिजी आदि अनेक देशों का दौरा किया ।

भारत में अंग्रेजी अत्याचारों के विरुद्ध सदा आवाज उठाते रहे । वे अंग्रेज होते हुए भी सच्चे अर्थों में भारतीय थे । गाँधी जी के नेतृत्व में उन्होंने रचनात्मक कार्य संपन्न किए ।

आदर्शवादिता को समर्पित— यदुनाथ सरकार

यदुनाथ सरकार कलकत्ता के माने हुए विद्वान् थे । इंग्लैंड में उनने शिक्षा पायी थी । उच्च पद पर आसीन होने की अपेक्षा उनने अध्यापन पसंद किया क्योंकि उसमें पढ़ने-लिखने के लिए अवकाश मिल जाता था ।

अच्छा वेतन मिलता था, कम में गुजारा करते थे । जो बचता था, उसे निर्धन विद्यार्थियों की पढ़ाई में लगा देते थे । कई तो उनमें हाईकोर्ट के एडवोकेट तक बने । कलकत्ता में प्लेग फैला तो वे सिस्टर निवेदिता के साथ सेवा और सफाई के कामों में एक स्वयंसेवक की तरह जुटे रहे ।

भारतीय इतिहास को सुव्यवस्थित और प्रामाणिक बनाने में उनने अथक परिश्रम किया । किंवदंतियों एवं निहित स्वार्थों के संकेतों पर लिखा गया इतिहास यथार्थवादी बनाने के लिए उनने जीवन भर परिश्रम किया ।

सच्चे अर्थों में लौह पुरुष

वारदोली सत्याग्रह की विजय से खीजी हुई सरकार ने वोरसद इलाके में चोर-डाकुओं को उकसाया । उन्हें हथियार दिए और सारे इलाके में आतंक पैदा करा दिया । ढाई लाख टैक्स लगा कर सुरक्षा पुलिस भेजी; पर वह सिर्फ तमाशा देखती थी ।

सरदार वल्लभ भाई पटेल ने उस इलाके में गाँव-गाँव घूम कर स्वयंसेवक मंडलियाँ खड़ी कीं । गाँव-गाँव पहरे लगवाये । लाठी चलाने की शिक्षा दी । इतनी सतर्कता देखकर डाकुओं का आतंक समाप्त हो गया ।

सरदार पटेल आंदोलन चलाना ही नहीं, व्यवस्था बनाना भी जानते थे । उन्हीं की हिम्मत थी कि बागी रियासतों को राष्ट्रीय झंडे के अंतर्गत बँधने के लिए विवश कर दिया ।

आनुकूल्यं प्रपश्यन्ति जीवात्मपरामात्मनोः ।
केवलं तेन सन्तुष्टा तिष्ठन्त्यात्मरताः सदा ।। ४९ ।।
ध्यानं ददति निन्दायां स्तुतौ वा ते यदात्विमे ।
न्यायनिष्ठैः कृते स्यातामपक्षैश्च विवेकिभिः ।। ५० ।।
विवेकहीनाः पश्यन्ति स्वानुरूपान् समानपि ।
निन्दन्ति वा प्रशंसन्ति निःसारां दृष्टिमाश्रिताः ।
तत्र ध्यायन्ति विज्ञास्तु जायन्ते न प्रभाविताः ।। ५१ ।।

टीका–वे मात्र आत्मा और परमात्मा की अनुकूलता का ही ध्यान रखते हैं और इतना बन पड़ने से ही पूर्ण संतुष्ट रहते हैं । निंदा–स्तुति पर वे तभी ध्यान देते हैं, जब वह निष्पक्ष, विवेकवान् और न्याय–निष्ठों द्वारा की गई हो । अविवेकी तो अपने अनुरूप सबको देखते हैं और उथला दृष्टिकोण अपना कर निंदा या प्रशंसा करते हैं, उस पर विज्ञजन न तो ध्यान देते हैं और न प्रभावित होते हैं ।। ४९–५१ ।।

अर्थ–निंदा विवेकवान् की ग्राह्य है, क्योंकि उससे उचित-अनुचित का पता चलता है । अनर्गल प्रलाप करने वालों की संसार में कोई कमी नहीं । उन पर न तो ध्यान देने की आवश्यकता है, न ही स्वयं के चिंतन को असंतुलित होने देने की । महामानवों की सबसे बड़ी विशेषता है, औचित्य का वरण एवं निंदा-प्रशंसा से विचलित हुए बिना सही मार्ग पर चलते जाना । इस कसौटी पर, जो 'क्षुरस्यधारा' के समान है, खरे उतरना हर किसी के लिए सहज नहीं है ।

तुकाराम के अभंग

यह निष्ठा ही महानता की परिचायक होती है । संत तुकाराम शूद्र जाति में जन्मे थे । उनकी भक्ति भावना से पंडित लोग चिढ़ते । उस क्षेत्र के प्रख्यात पंडित रामेश्वर भट्ट ने उन्हें बुलाया और धमका कर धर्म प्रचार करने और गीत लिखने से मना कर दिया ।

तुकाराम नम्रता की मूर्ति थे । उन्होंने पंडित जी से पूछा–"जो गीत अब तक लिखे जा चुके, उनका क्या करूँ ?" पंडित जी ने कहा–"नदी में फेंक दो ।" उनने वैसा ही कर दिया ।

संत बहुत दुःखी थे । किसी वंश में जन्मने में मेरा क्या दोष है ? भगवान ! मुझे भक्ति से क्यों वंचित किया जा रहा है ? आपकी गुण–गाथा गाने से मेरे ऊपर प्रतिबंध क्यों लग गया ? यही बात वे निरंतर सोचते रहते । खाना–पीना तक छूट गया ।

रात्रि में सपने में भगवान ने दर्शन दिए और कहा–"तेरे भक्ति गीत मैंने डूबने नहीं दिए । निकालकर नदी किनारे रख दिए हैं । उन्हें वापस लाकर पहले की तरह धर्म प्रचार के पवित्र कृत्य में लग ।"

तुकाराम ने वैसा ही करना आरंभ कर दिया । अब किसी के विरोध का उन्हें कुछ भय न रहा ।

गरीब गोर्की महान् बने

ऐसे लोग सहायता के अभाव में भी निरंतर आगे बढ़ते रहते हैं । उनका अंतःकरण ही प्रकाश देता है । शरीर से रुग्ण और अति दुर्बल गोर्की पर दुर्भाग्य का वार एक के बाद दूसरा होता चला गया । नाना–नानी के यहाँ पालन–पोषण हुआ । माता उसे इसी स्थिति में छोड़कर दूसरा विवाह करके अन्यत्र चली गई । ननसाल का दुर्व्यवहार बढ़ता चला तो उनने १२ वर्ष की आयु में स्वावलंबी होने की बात सोची ।

एक स्टीमर पर बर्तन माँजने का ऐसा काम मिल गया, जिससे किसी प्रकार पेट भर जाता । दो वर्ष बाद उन्हें रसोई बनाने का काम मिल गया । साथियों में से कुछ कृपालुओं की सहायता से उन्हें वर्णमाला सीखने और पढ़ने–लिखने का अवसर मिला ।

उन दिनों रूसी क्रांति की हवा चल रही थी । गोर्की ने निजी रूप से पढ़ाई जारी रखी और क्रांति में भाग लिया । टाल्स्टाय उनसे बहुत प्रभावित थे । लेखन कार्य आरंभ किया तो उसमें भी वे ऊँची श्रेणी पर पहुँचे । आज लेखकों की दुनियाँ में गोर्की का नाम मूर्धन्य श्रेणी में गिना जाता है ।

भाग्य ने जिसे पग–पग पर दुत्कराया, परिस्थितियाँ जिसके सर्वथा प्रतिकूल रहीं, ऐसा व्यक्ति विश्वविख्यात बन गया । इससे उसके पुरुषार्थ को ही सराहा जा सकता है ।

देशभक्त बदरुद्दीन तैयब जी

बंबई हाईकोर्ट में जिन उच्चस्तरीय भारतीय बैरिस्टरों की गणना होती थी, उनमें एक बदरुद्दीन तैयब जी भी थे । उन्हीं दिनों स्वतंत्रता आंदोलन जोर पकड़ रहा था । अंग्रेज 'फूट डालो, लूट खाओ' की नीति अपनाकर मुसलमानों का एक तबका कांग्रेस विरोधी गढ़ रहे थे । तत्कालीन गवर्नर उनसे इस फूट में शामिल होने के लिए कहने लगे पर उनने स्पष्ट मना कर दिया ।

कलकत्ता में मुस्लिम लीग का एक बहुत बड़ा जलसा हुआ । बहुत दबाव पड़ने पर भी वे उसमें सम्मिलित होने न गए । वे सदा एक ही बात कहते रहे, जब तक देश स्वतंत्र नहीं होता, हिन्दू–मुस्लिम झगड़े खड़े करना बेकार है ।

तैयब जी को प्रतिपक्षी बनाने के लिए उन्हें हाईकोर्ट का जज बनाया गया तो भी उनकी नीति में रत्ती भर भी अंतर न आया । 'केशरी' में एक लेख लिखने पर लोकमान्य तिलक पर मुकदमा चलाया गया । सरकार चाहती थी कि

उसमें अभियुक्त की जमानत न हो । उनने निर्भीकतापूर्वक जमानत मंजूर कर दी । उनकी देशभक्ति असंदिग्ध थी ।

मैं कहाँ जाऊँ ? एक उल्लू एक बस्ती में अकेले रहता; उसकी अशुभ बोली के कारण कोई भी पास में न आने देता । जैसे ही आवाज आती लोग उसे भगा देते । बेचारा बहुत दुःखी था । एक चमगादड़ से कहने लगा–"मैं इस स्थान को छोड़ रहा हूँ । यहाँ कोई भी मेरी वाणी को सुनना ही नहीं चाहता ।" इस पर चमगादड़ ने कहा–"इस प्रकार तुम जहाँ जाओगे, तिरस्कार पाओगे; परिस्थितियाँ हर जगह एक सी हैं । तुम अपने चिंतन को संतुलित रखो । निंदा से प्रभावित मत होओ । यही जीवन की सही रीति है ।"

अनुशासनं परैरेव द्रष्टव्यं भवतीति यः ।
पालयेत् पूज्यते स तु निन्द्यते य उपेक्षकः ॥५२॥
अन्तरङ्गोऽनुबन्धस्तु ज्ञानं तस्यात्मनो भवेत् ।
तपसा तेन स्वात्मैव बलिष्ठो जायते ध्रुवम् ॥५३॥
व्यक्तित्वं स्वं समुद्गच्छेत् सन्तोषोल्लासयोरपि ।
प्राप्तिर्भवति सोऽयं चानुबन्धो व्रतधारणम् ॥५४॥
दुर्विचारपरित्यागः सद्विचारास्तिरेव च ।
अनुबन्धो बुधैः प्रोक्तः संस्कर्त्ता यो नृणामिह ॥५५॥

टीका–अनुशासन दूसरे को दीख पड़ता है, पालन करने वालों की प्रशंसा और तोड़ने वालों की निंदा होती है; अनुबंध अंतरंग होता है । उसकी जानकारी अपने को ही रहती है । उस तपश्चर्या से अपनी ही आत्मा बलिष्ठ होती है, अपना ही व्यक्तित्व उभरता है और अपने को ही संतोष–उल्लास की प्राप्ति होती है । अनुबंध व्रत–धारण को कहते हैं । मात्र श्रेष्ठ विचारों को अपनाना, बुरे विचारों के मनःक्षेत्र में प्रवेश करते समय उन्हें खदेड़ भगाना अनुबंध है, जो मनुष्यों को सुसंस्कृत बनाता है ॥ ५२–५५॥

छोटी; किन्तु बड़ी बात बात छोटी लगती है; पर यह छोटे–छोटे प्रसंग ही मिलकर संकल्प सुदृढ़ करते हैं और दृढ़ चरित्र का निर्माण करते हैं ।

बापू का उस दिन मौन व्रत था । वे प्रातःकाल आश्रम के बच्चों को साथ लेकर टहलने गए ।

रास्ते में एक तीन इंच लंबा सुई का टुकड़ा पड़ा दिखाई दिया । गाँधी जी ने एक छोटी लड़की से उसे उठा लेने का इशारा किया ।

लड़की ने उठा तो लिया पर उलट–पुलट कर देखने पर उसे निरर्थक पाया और आगे चलकर फेंक दिया ।

शाम को मौन टूटा तो गाँधी जी ने लड़की से वह टुकड़ा माँगा, पर वह तो उसे निरर्थक समझकर फेंक चुकी थी । गाँधी जी नाराज हुए और ढूँढ़ लाने के लिए उसे भेजा ।

टुकड़ा मिल गया और उसे साफ करके गाँधी जी ने सूत काता और कहा–"वस्तुओं का पूरा सदुपयोग करने की आदत सभी को डालनी चाहिए । बर्बादी तनिक भी न करें ।"

अनावेशस्थितिर्बुद्धेः सदा सन्तुलनं तथा ।
शुभाशुभोक्तौ शान्त्या च विचारः पर्यवेक्षणम् ॥५६॥
पक्षस्याऽस्य विपक्षस्य कृत्वा निष्पक्षभावतः ।
न्यायाऽवाप्तिरिह प्रोक्तं शीलं सर्वसुखाकरः ॥५७॥

टीका–आवेश में न आना, संतुलन बनाए रहना, भले–बुरे कथन पर शांतिपूर्वक विचार करना और पक्ष–विपक्ष का पर्यवेक्षण करते हुए किसी निष्पक्ष न्याय–निष्कर्ष पर पहुँचना शील है, जो समस्त सुखों का खजाना है ॥ ५६–५७॥

राष्ट्रपति की सुशीलता महापुरुष बनाने में वस्तुतः इन्हीं सद्गुणों का योगदान प्रमुख रूप से रहता है । अमेरिका के उपराष्ट्रपति जैफरसन बहुत सादगी से रहते थे । वे कहीं बाहर गए तो अपना बिस्तर कंधे पर लादे एक होटल में ठहरने पहुँचे ।

होटल मालिक ने ऐसे साधारण आदमी को अपने यहाँ ठहराने में हेठी समझी और स्थान खाली न होने के बहाने इन्कार कर दिया । जैफरसन चले गए और किसी अन्य होटल में ठहरे ।

बाद में होटल मालिक को पता चला तो वह हड़बड़ा गया । इतने बड़े अधिकारी की अवज्ञा पर उसे डर लग रहा था । गाड़ी लेकर मैनेजर को भेजा और लौटा लाने का आदेश दिया ।

जैफरसन ने नम्रता से कहा–"जिस होटल में साधारण व्यक्ति के ठहरने तक का स्थान नहीं, उसमें उपराष्ट्रपति को ठहराने जितना स्थान कहाँ खाली होगा ?" वे गए नहीं ।

शील बनाम साहस

शील उच्चस्तरीय सिद्धियों की जननी है । महर्षि बोधायन एक बार शिष्यों के साथ वन-विहार के लिए गए । मध्याह्न होते-होते वे लोग थक गए । वृक्षों की सघन छाया में विश्राम करने लगे तो सभी को नींद आ गई ।

दिन ढल चुका था । महर्षि जगे और उनने अपने सब शिष्यों को पुकारा । जागते, सोते और नींद में सभी शिष्य गुरुदेव की आज्ञा सुनते ही उठ बैठे । पर गार्ग्य ज्यों का त्यों अब तक पड़ा रहा ।

महर्षि को आश्चर्य हुआ और गार्ग्य के पास जाकर धीरे-धीरे उसे जगाने लगे । पर वह तो जागा पड़ा था । गार्ग्य ने कहा–"भगवन् ! एक महा भयंकर सर्प मेरे पैरों में लिपटा सोया पड़ा है । कुछ देर में जागेगा तब अपने रास्ते चला जायेगा । इतनी देर धैर्यपूर्वक मेरा अविचल पड़ा रहना ही उचित है ।"

गार्ग्य ज्यों का त्यों पड़ा रहा । दो घड़ी के बाद सर्प की नींद खुली और वह पास की झाड़ी की ओर अपने बिल में चला गया ।

शिष्य उठा तो महर्षि ने उसे छाती से लगा लिया और उसके शील की भूरि-भूरि प्रशंसा की, दूसरे शिष्य मैत्रायण ने कहा–"यह तो साहस का कार्य था, गुरुदेव ! आप गार्ग्य को साहसी क्यों नहीं कहते, शीलवान् क्यों कहते हैं ?"

महर्षि के होठों पर एक हल्की मुस्कान दौड़ गई । उनने कहा–"भद्र ! शील से ही साहस की शोभा है । जो साहस शील के लिए किया जाता है, वही सराहनीय है । दुःशील के लिए दुस्साहस करने वाले निंदनीय होते हैं । सराहा वही जाता है जो विवेक, धैर्य और सदाचरण से युक्त हो ।"

कृत्यान्यवाञ्छनीयानि भ्रमविस्मृतिकारणात् ।
जायन्तेऽत्र बहून्येवं दुर्बुद्ध्याऽपि तथैव च ॥ ५८ ॥
भिन्नतामुभयोः कुर्वन्ननुरूपेण शोधितुम् ।
यत्नो यो धैर्यमाहुस्तं सर्वाण्येतानि सन्ति च ॥ ५९ ॥

टीका–कितने ही अवांछनीय कृत्य भूल या भ्रमवश बन पड़ते हैं, कई जान-बूझकर दुष्ट बुद्धि से होते हैं । दोनों में अंतर करते हुए तदनुरूप सुधार का प्रयत्न करना धैर्य कहलाता है । यह सभी व्रत अनुबंध हैं ॥ ५८-५९ ॥

अर्थ–अनुबंध की, जो आंतरिक अनुशासन का ही दूसरा नाम है, परिधि बड़ी विस्तृत है । यह एक प्रकार का व्रत बंधन है, जिसमें आंतरिक पुरुषार्थ के माध्यम से आत्मावलोकन-पर्यवेक्षण कर अपने दोष-दुर्गुण मिटाकर चिंतन को दिशा दी जाती है । यह एक समयसाध्य प्रक्रिया है । कभी-कभी व्यक्ति दुर्बुद्धिग्रस्त ऐसे कृत्य कर बैठता है जो मर्यादा लाँघ जाते हैं । इन पर कड़ी दृष्टि अनिवार्य है । इन पर रोकथाम लगाकर शील को निभाना एक बहुत बड़ा आत्मिक पुरुषार्थ है ।

सलाह न मानी

एक मूर्ख चूल्हे पर रखकर लकड़ियाँ सुखाया करता था । भले पड़ोसी ने देखा, तो सलाह दी–"आप ऐसा न किया करें । इससे तो कभी घर में आग भी लग सकती है ।"

अशुभ बोने का दोष लगाकर मूर्ख ने मुँह फेर लिया और उसकी सलाह न मानी ।

कुछ समय बाद वैसा ही हुआ । लकड़ियाँ जलने लगीं और आग लग गई । हो-हल्ला सुनकर पड़ोसी आये और बड़ी दौड़-धूप के बाद आग बुझाई ।

शांति हो जाने पर सहायता के उपलक्ष्य में उस मूर्ख ने पड़ोसियों को प्रीतिभोज दिया ।

उस पड़ोसी की खोज की गई तो पाया कि वे पहले की तरह ही किसी अन्य व्यक्ति को समझाने में लगे थे ।

समझाने का ढंग ऐसा नहीं होना चाहिए कि दूसरे लोग अहंकारी समझने लगें । तर्क और तथ्यपूर्ण ढंग से कही गई बात में ही शालीनता होती है ।

कर सकते थे, पर किया नहीं

स्पेन के नाविक कोलंबस ने दुस्साहसी नौकायन करके अमेरिका महाद्वीप खोज निकाला । उसकी कीर्ति सब ओर फैली । लौटने पर सम्मानपूर्वक अनेक समारोह हुए ।

ऐसे ही एक प्रीतिभोज में एक ने किसी दूसरे से कहा–"यह कौन सी बड़ी बात है ? अटलांटिक पार किया कि अमेरिका आ गया । इतने सरल काम के लिए इतने सम्मान की क्या जरूरत ?"

भोज समाप्त होने पर कोलंबस ने एक उबला अंडा मेज पर रखा और कहा–"आप में से कोई सज्जन इसे सीधा खड़ा कर देने की कृपा करें ।"

सभी ने बहुत अक्ल दौड़ाई, कोशिश की पर वैसा न हो सका, जैसा कि करने के लिए कहा गया था ।

कोलंबस ने अंडे का एक सिरा उँगली से तोड़कर समतल किया व उसे मेज पर खड़ा कर दिखाया । कई व्यक्ति जोर से चिल्ला उठे–"इसमें कौन सी बड़ी बात है यह तो हम भी कर सकते थे ।" कोलंबस ने नम्रतापूर्वक कहा–"कर सकते थे, पर किया नहीं । सूझ-बूझ के अभाव में सरल दीख पड़ने वाला काम भी असंभव हो जाता है । महत्व श्रम का नहीं, सूझ-बूझ का भी होता है । आप भी अमेरिका की खोज कर सकते थे; पर मैंने सूझ-बूझ के सहारे उसे खोज लिया । वह रास्ता तो सबके लिए खुला पड़ा है ।"

व्रतानुबन्धनामानि मानवोत्कर्षहेतवः ।
सदा व्यसनराहित्यं स्वभावोऽयोग्य एष यः ॥ ६०॥
तद्धानीनां परिज्ञानं तेषां त्यागः शनैः शनैः ।
एकवारेण वाऽप्येषा कथिता व्रतशीलता ॥ ६१॥

टीका–व्रत और अनुबंध ही मानव उत्कर्ष के हेतु हैं । दुर्व्यसनों से बचे रहना, जो अनुपयुक्त आदतें स्वभाव का अंग बन गई हैं, उनकी हानियों को समझना और एक बारगी अथवा धीरे-धीरे छोड़ने में लग पड़ना व्रतशीलता है ॥ ६०-६१ ॥

अर्थ–व्रतों से जुड़कर ही व्यक्ति ऊँचा उठ पाता है । संकल्पबद्ध हो जाने पर पुरुषार्थ पूरे मनोयोग से उस दिशा में नियोजित हो जाता है । जो भी अवांछनीय है उससे बचना जितना जरूरी है, उतना ही सत्प्रवृत्तियों से जुड़ना भी ।

संकल्प बोल उठा

एक खेत में एक लोमड़ी व उसके दो बच्चे रहते थे । एक दिन किसान और उसका बेटा दोनों मेंड़ पर घूम रहे थे । पिता बोला–"बेटा, खेत पक गया है । कल नौकरों को बुला लाना, खेत काट लेंगे ।" लोमड़ी के बच्चे डर गए, माँ से सारा हाल कह सुनाया । लोमड़ी बोली–"अभी चिंता करने की बात नहीं ।" दूसरे दिन नौकर न पहुँचे, बाप बोला–"बेटा, कल अपने पड़ोसियों को ही ले आना, कल जरूर खेत काटना चाहिए ।" लोमड़ी के बच्चे फिर भागने की हठ करने लगे पर लोमड़ी ने इस बार भी मना कर दिया । तीसरे दिन किसान बोला–"भाई, दूसरों के सहारे कब तक बैठें । कल हँसिया ले आना हम दोनों ही काटेंगे ।"

इस बार लोमड़ी ने स्वयं ही बच्चों को बुलाया और बोली–"बेटे, चलो अब खेत खाली कर दो ।" बच्चों ने विस्मित होकर पूछा–"माँ ! हम लोग दो दिन से कह रहे हैं, तब तो तुम चलीं नहीं, आज अपनी ओर से ही चलने को कह रही हो ।"

लोमड़ी ने कहा–"बच्चो ! और दिन किसान बोलता था पर आज तो उसका संकल्प बोल गया है । संकल्पवान् जो चाहें कर सकते हैं ।"

पंडिताइन की सीख

अपनी गलती समझ लेने में किसी प्रकार की हेठी नहीं है ।

एक थे पंडित जी और एक थी पंडिताइन । पंडित जी पूरे पंडित थे । अपने को सबसे ऊँचा मानते थे । पंडिताइन समझाती थी । ऊँच-नीच नहीं मानती थी ।

एक दिन पंडित जी को प्यास लगी । घर में पानी नहीं था । पंडिताइन पड़ोस से पानी ले आई । पानी पीकर पंडित जी ने पूछा–"कहाँ से लाई ? बहुत ठंडा है ।"

–"पड़ोस के कुम्हार से ।"

सुनते ही पंडित जी के तेवर चढ़ गए । उन्होंने लोटा फेंक दिया । चीखने लगे–"अरी, तूने तो मुझे भ्रष्ट कर दिया । कुम्हार के घर का पानी पिला दिया ।"

भय से पंडिताइन काँप उठी । उसने माफी माँगी–"अब ऐसी भूल नहीं होगी ।"

बात आई-गई हो गई । शाम को पंडित जी खाना खाने बैठे तो पंडिताइन ने उन्हें सूखी रोटियाँ दीं । पंडित जी ने पूछा–"साग नहीं बनाया ?"

–"बनाया तो था, लेकिन फेंक दिया । जिस हाँडी में पकाया था, कुम्हार के घर की थी ।"

"तू बड़ी पगली है ! हाँडी में कहीं छूत होती है ।"–कहकर पंडित जी ने रोटी के दो-चार कौर खाए फिर बोले–"पानी तो ले आ !"

"पानी ! पानी कहाँ से लाऊँ ?"–पंडिताइन ने उत्तर दिया–"बर्तन तो हैं नहीं । पानी भरती किसमें ?"

–"घड़े कहाँ गए ?"

–"वे तो मैंने फेंक दिए । कुम्हार के हाथ के बने थे न !"

पंडित जी ने रोटी के दो-चार कौर जैसे-तैसे और खाए । फिर बोले–"दूध ही ले आ । उसमें मसलकर खा लूँगा ।"

–"दूध भी फेंक दिया । गाय को जिस नौकर ने दुहा था, वह कहार है ।"

–"हद कर दी । यह भी नहीं जानती कि दूध में भी छूत नहीं लगती ।"

"यह कैसी छूत है ? वह पानी में तो लगती है, दूध में नहीं लगती ?"–पंडिताइन ने पूछा ।

पंडित जी के मन में आया कि दीवार से सिर फोड़ लें । गुर्राकर बोले–"तूने तो मुझे चौपट ही कर दिया । जा, आँगन में खाट डाल दे । नींद आ रही है ।"

–"खाट ! उसे चमार के बच्चों ने बुना था । सो मैंने वह तोड़कर फेंक दी ।"

"सब में आग लगा दी । घर में कुछ भी है ?"–पंडित जी चीखे ।

–"हाँ, घर बचा है । उसे भी छोड़ना है । वह भी तो राज-मजदूरों का बनाया हुआ है ।"

पंडित जी कुछ देर गुम-सुम खड़े रहे । फिर बोले–"तूने मेरी आँखें खोल दीं । मेरी नासमझी से सब गड़बड़ हो रहा था ।"

पंडिताइन ने बुद्धिमानी से घर की आग बुझा दी । जिनके बल पर हम सुख भोगते हैं, उन्हें नीचा समझना बड़ी भूल है ।"

प्रगति का सूत्र एक बार एक संगीत अध्यापक अपने कुछ छात्रों के साथ लोक प्रसिद्ध पियानो वादक पादरेवस्की से मिलने गए । संगीत अध्यापक ने पादरेवस्की से पूछा–"आपकी सफलता का सूत्र कौन सा है ?" पादरेवस्की ने एक पुस्तक की ओर संकेत करते हुए कहा–"मैं अभी भी हर दिन इस पुस्तक के आधार पर चार घंटे नित्य अभ्यास करता हूँ । सतत अपनी गल्ती ढूँढ़ता रहता हूँ ।"

अध्यापक उनकी बात को समझ गए और उन्होंने अपने छात्रों से कहा कि काम के प्रति निष्ठा और उसके लिए निरंतर प्रयास ही सफल होने का रहस्य है ।"

गाँधी जी का अर्थशास्त्र एक बार गाँधी जी इलाहाबाद-आनंद भवन में ठहरे । सुबह गाँधी जी हाथ-मुँह धो रहे थे और जवाहर लाल जी पास खड़े बातें कर रहे थे । कुल्ला करने के लिए गाँधी जी ने जितना पानी लिया, वह समाप्त हो गया तो उन्हें दूसरी बार फिर पानी लेना पड़ा । गाँधी जी बड़े खिन्न हुए और बातचीत का सिलसिला टूट गया । जवाहर लाल जी ने कारण पूछा तो उन्होंने कहा–"मैंने पहला पानी अनावश्यक रूप से खर्च कर दिया और अब फिर पानी लेना पड़ रहा है । यह मेरा प्रमाद है ।"

जवाहर लाल जी हँसते हुए बोले–"यहाँ तो गंगा-यमुना दोनों बहती हैं । रेगिस्तान की तरह पानी कम थोड़े

ही है । आप थोड़ा पानी अधिक खर्च कर लें तो चिंता की क्या बात है ?"

गाँधी जी ने कहा–"गंगा-यमुना मेरे लिए ही तो नहीं बहतीं । प्रकृति में कोई भी चीज कितनी ही उपलब्ध हो, मनुष्य को उसमें से उतना ही खर्च करना चाहिए जितना उसके लिए आवश्यक हो ।"

अविकासस्थिता याश्च सत्प्रवृत्तय उन्नतान् ।
तासां बीजाङ्कुरान् कर्तुं लग्नतोत्साहिनस्तु या ।। ६२।।

टीका–जो सत्प्रवृत्तियाँ अभी विकसित नहीं हो पाई हैं, उनके बीजांकुरों को अंकुरित–पल्लवित करने में उत्साहपूर्वक लग पड़ना अनुबंध है ।। ६२।।

अर्थ–संकल्प अकेले ही पर्याप्त नहीं । उन्हें खाद-पानी देना भी जरूरी है । यह तभी संभव है जब मनुष्य सत्प्रवृत्तियों के जीवन में समावेश हेतु तत्परता से जुट पड़ता है ।

दर्द मैं बँटा लूँगा

दोपहर, विद्यालय के विश्राम का समय । एक दुबला-पतला सुंदर सा लड़का विद्यालय के बाहर निकल कर खाना खाने के लिए अपने घर जा रहा था । रास्ते में उसने देखा, दो लड़के आपस में झगड़ रहे थे । उसमें एक बलवान था और दूसरा कमजोर । बलवान लड़का कमजोर को पीट रहा था । उसके हाथ में एक लकड़ी थी ।

रास्ता चलने वाले लड़के को जोश आ गया । वह तुरंत बलवान लड़के के पास चला गया । उसके भारी शरीर को देख लड़के का साहस उसे टोकने का न हुआ । कुछ क्षण सोचकर उसने बलवान लड़के से पूछा–"क्यों भाई ! तुम इसको कितने बेंत लगाना चाहते हो ?"

किसी अपरिचित लड़के को बीच में पड़ते देख बलवान लड़के का क्रोध तेज हो गया । उसने कठोर दृष्टि से देखते हुए कहा–"क्यों, तुम्हें क्या मतलब ?"

"मुझे इससे मतलब है"–राह चलते लड़के ने कहा ।

"तुम क्या कर लोगे"–बलवान लड़के ने चेतावनी दी ।

"भाई ! मैं तुमसे अधिक बलवान तो हूँ नहीं जो इस कमजोर को बचाने के लिए तुमसे लड़ सकूँ । लेकिन इतना जरूर चाहता हूँ कि इसकी पिटाई में मैं भी भागीदार बन जाऊँ"–दर्शक लड़के ने कहा ।

"तुम्हारा मतलब क्या है ?"–पीटने वाला लड़का इस पहेली का अर्थ न समझ पाया ।

"तुम इस कमजोर लड़के के शरीर पर कुल जितने भी बेंत मारना चाहते हो, उससे आधे मेरी पीठ पर लगा दो । इस तरह इसका आधा कष्ट मैं बाँट लूँगा ।"–दर्शक लड़के ने अपनी बात स्पष्ट करते हुए कहा ।

बलवान लड़का आश्चर्य से देखता रहा और कुछ क्षण बाद उसने चुपचाप अपने हाथ की लकड़ी तोड़कर फेंक दी और मन में पश्चात्ताप करता अपने रास्ते चला गया । पिटने वाले लड़के की मुसीबत टल गयी । वह बीच का लड़का जीवन भर इसी तरह सूझ-बूझ से कार्य करता रहा तथा बड़ा होकर अंग्रेजी का प्रसिद्ध कवि लार्ड बायरन के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

जय प्रकाश–लोक नायक

किसी में प्रारंभ से ही यह गुण हों, ऐसा सदैव संभव नहीं । जयप्रकाश नारायण अमेरिका पढ़ने गए । पर पैसे का प्रबंध न था । सो उन्होंने फल और होटल वाले के यहाँ नौकरी की और शेष समय में पढ़ाई जारी रखी । कई मित्रों ने सहायता देनी चाही; पर उनने स्वावलंबन ही स्वीकार कर छोटी नौकरी करते हुए पढ़ाई जारी रखी ।

इन्हीं गुणों के कारण वे एक दिन लोकनायक कहलाये ।

कर्वे की उदारता

प्रयत्न यह रहे कि सत्प्रवृत्तियों के विकास की गति धीमी न हो । नये अध्याय जुड़ते चलें । कर्वे को जो छात्रवृत्ति मिलती थी, उसी से रोटी खरीदकर पेट भरते थे । होटल वाले नाग बाबू बीमार पड़े । होटल बंद करके घर चले गए । कर्वे उस थोड़ी आमदनी में से भी कुछ पैसा बचाने लगे थे ।

नाग बाबू की बीमारी का समाचार सुनकर कर्वे उनके घर पहुँचे । नाग बाबू ने समझा इनके ५) रुपये मेरे ऊपर उधार हैं, उन्हें माँगने आये हैं । वे असमर्थता प्रकट करने लगे । कर्वे ने गाँठ में से ३) रुपये खोलकर उन्हें दिए और कहा–"माँगने नहीं, कुछ देने आया हूँ ।"

अनुबन्धः समाख्यातो गुणकर्मस्वभावके ।
क्षेत्रे सद्वृत्तिमात्राणां वर्धनस्य मनः स्थितिः ।। ६३।।
दुष्प्रवृत्तीः सदा सर्वस्तराः शीघ्रतयैव ताः ।
दूरीकर्तुं च सोत्साहं तत्परत्वमपीह च ।। ६४।।

टीका–गुण, कर्म, स्वभाव के क्षेत्र में मात्र सत्प्रवृत्तियों को ही पनपने–बढ़ने देना चाहिए, दुष्प्रवृत्तियाँ जब भी, जिस स्तर की भी उगती दीखें, उन्हें सहन न करना, अविलंब उखाड़ फेंकने में तत्परता प्रकट करना अनुबंध है ।। ६३–६४।।

अर्थ–यदा-कदा पनप उठने वाली बुराइयों की बाढ़ की कटाई-छँटाई समय पर करते रहना बहुत जरूरी है । यह अनुबंध, अनुशासन, व्रतशीलता की परिभाषा में ही समाया एक ऐसा तथ्य है, जिसे हर व्यक्ति को सतत ध्यान में रखना चाहिए ।

उदारता ने महान् बनाया

जीवन के छोटे–छोटे क्षण भी मनुष्य को महान् बनाते हैं ।

नेपोलियन तब लड़का था । खेलने गया, तो भाग–दौड़ में सामने से आती एक लड़की से टकरा गया । लड़की गरीब घर की थी । फल का टोकरा लेकर जा रही थी । टक्कर से टोकरा गिरा और फल गंदगी–कीचड़ में गिर गए ।

लड़की रोने लगी । मजूरी भी गई और मालकिन से दंड भी भुगतना पड़ेगा ।

झंझट से बचने के लिए पहले तो नेपोलियन का मन आया कि जल्दी से भाग चलें । पीछे उसका मन लड़की की परिस्थिति के बारे में सोचकर पिघल गया । वह लड़की को उसके घर ले गया और गिरे हुए फलों का पैसा चुका देने का वायदा किया ।

घर पहुँचने पर नेपोलियन ने सारा किस्सा अपनी माँ को बताया और पैसा लड़की को चुका देने के लिए कहा । माँ कठोर स्वभाव की थी और साथ में पैसे की तंगी थी । वह पैसा देने की अपेक्षा शरारत के लिए नेपोलियन की पिटाई करने लगीं ।

कहने–सुनने के बाद फैसला हुआ कि लड़की को पैसा तो चुका दिया जाएगा; पर डेढ़ महीने तक उसको नाश्ता न मिलेगा । उसी से इसे पेशगी देकर राशि की भरपाई करनी होगी ।

नपोलियन खुशी–खुशी रजामंद हो गया । कर्तव्य–न्याय निभाने के लिए डेढ़ महीने एक समय भोजन करके ही काम चलाया । ऐसे उदारचेता ही भविष्य में महान् बनते हैं ।

अन्विषन्ति कुसंस्कारान् सञ्चिताञ्जागृतात्मानः ।
उत्पाटयन्ति ता मालाकारा इव तृणादिकम् ।। ६५।।
उद्यानात् सततं व्यक्तेः स्वभावादात्मनोऽस्ति सा ।
श्रेष्ठताया अभिव्यक्तिर्दृश्यन्ते सज्जनाः सदा ।। ६६।।

टीका–जागरूक आत्माएँ संचित कुसंस्कारों को उसी प्रकार ढूँढ़ती–उखाड़ती रहती हैं, जिस तरह माली उद्यान से हानिकारक खरपतवारों को बीनता रहता है । आत्मा की उत्कृष्टता व्यक्ति के स्वभाव से ही प्रकट होती है । सज्जनों को मात्र सत्कर्म ही करते देखा जाता है ।। ६५–६६।।

अर्थ–व्यक्ति का स्वभाव ही उसके बहिरंग व्यवहार में झलकता है । माली की तरह आदमी को आत्मिक क्षेत्र मे सतत निराई-गुड़ाई कर सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ाने का अभ्यास करते रहना चाहिए । यही वास्तविक पराक्रम है, जो मानव को देव मानव बनाता है ।

दरवाजा निकाल दिया

ईश्वरचंद्र विद्यासागर के पिता कलकत्ता में दो रुपया मासिक की नौकरी करते थे । अस्तु वे स्कूल तो नहीं जा सके; पर निजी प्रयत्नों से उनने माध्यमिक परीक्षा पास कर ली । ५०) रुपया मासिक की नौकरी मिल गयी । इतने पर भी उनने अपना रहन–सहन पुराना ही रखा । जो बचता, उसे निर्धन छात्रों के लिए खर्च कर देते ।

उनकी पदोन्नति होती रही । ५००) रुपया मासिक तक मिलने लगे । उनने समीपवर्ती क्षेत्र में अनेक छोटे-बड़े स्कूल खुलवाये और उनका प्राथमिक खर्च अपने पास से दिया । सहायतार्थ अनेक व्यक्ति उनसे मिलने आते थे । एक बार दरवाजा बंद देखकर एक दु:खी वापस लौट गया । उस दिन से उन्होंने दरवाजा ही निकाल दिया ।

बहु पत्नी प्रथा, बाल विवाह और विधवा विवाह पर उनने कानून बनवाये । उच्च वर्ण वालों ने इस पर बहुत विरोध किया; पर वे तीनों कानून पास कराके रहे ।

गाँधी जी और दर्पण

गाँधी जी तो अपनी समीक्षा हर क्षण करते रहते थे ।

मीरा बेन ने गाँधी जी का एक संस्मरण लिखा है-'वे कभी दर्पण का उपयोग नहीं करते थे । बिना उसके ही अपने हाथों हजामत बनाते थे । एक दिन किसी ऐसे कमरे में ठहरना पड़ा जहाँ बड़ा सा दर्पण लगा था । गाँधी जी उसके सामने खड़े हो गए और आस-पास वालों को बुलाकर दिखाने लगे । देखो यही है न गाँधी, जिसे देखने न जाने लोग क्यों दौड़ते आते हैं और समय खराब करते हैं ।

बाँबी में कुछ न निकला

एक दिन में महान् बन जाने की कल्पना मूर्ख कर सकते हैं, समझदार नहीं । प्राचीन कथा है-ब्रह्म देश में अश्वत्थ वृक्ष की जड़ में एक देव सर्प रहता था । एक ब्राह्मण ने उसे पहचान लिया सो रोज एक कटोरा दूध बाँबी पर रख कर उसकी पूजा करने लगा ।

सर्प देव प्रसन्न हुए । वे नित्य दूध पी जाते और बदले में एक स्वर्ण मुद्रा उसी कटोरे में रख जाते । ब्राह्मण का धन भी बढ़ने लगा और लालच भी ।

ब्राह्मण ने सोचा, सर्प की बाँबी में स्वर्ण मुद्राओं का भंडार होगा, सो उसे मार कर एक ही दिन में क्यों न वह सारी राशि प्राप्त कर ली जाय । उसने घात लगाकर सर्प को मार डाला ।

खोदने पर बाँबी में कुछ भी न निकला । अति लालच से होने वाली हानि का अनुभव करके ब्राह्मण सिर धुन कर पछताता रहा । तथाकथित महान् बनने वाले भी इसी तरह उपहासास्पद बनते और घाटे में रहते हैं ।

सत्कर्माभिरता विज्ञा गुणवन्तो भवन्ति ते ।
प्रतिभाः क्षमतास्ते च वर्धयन्ति वरिष्ठताम् ।। ६७।।
कुमार्गप्रस्थितानन्यान् वीक्ष्य नानुसरन्ति तान् ।
न चाकृष्टा भवन्त्येते तैर्नैर्न प्रभाविताः ।। ६८।।
परं मार्गं विनिर्मान्ति स्वयमेवात्मनः सदा ।
निर्मान्ति श्रेष्ठतां स्वां तेऽक्षुण्णां संकल्पमात्रगाम् ।। ६९।।

टीका-विज्ञजन तो गुणवान् भी होते हैं । वे अपनी क्षमता, प्रतिभा तथा वरिष्ठता का स्तर निरंतर बढ़ाते रहते हैं । दूसरे को कुमार्ग पर चलते देखकर, उनका अनुसरण नहीं करते, न उनसे प्रभावित-आकर्षित होते हैं, वरन् अपना मार्ग आप बनाते हैं । अपनी श्रेष्ठता एकाकी संकल्प के आधार पर अक्षुण्ण रखते हैं ।। ६७-६९।।

अर्थ-कहा गया है कि मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता आप है । इसका अर्थ यही है कि चुनाव की स्वतंत्रता को ध्यान में रखते हुए मनुष्य को औचित्य के पथ का ही अवलंबन लेना चाहिए । कोई और न मिले तो एकाकी पुरुषार्थ के बल पर, अपना ध्येय निर्धारित कर, श्रेय पथ पर चल पड़ना चाहिए । महापुरुष लीक पर न चलकर, इसी कारण अपना मार्ग स्वयं बनाते एवं उत्कृष्टता का वरण कर प्रगति के चरम शिखर पर जा पहुँचते हैं ।

कम दाम बढ़िया माल

सुपर मार्केट के जन्मदाता बेकर इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं । बेकर ने एक नए ढंग की दुकान खोली । बढ़िया से बढ़िया माल और कम से कम मुनाफा । थोड़े दिनों में उनकी दुकान की सर्वत्र प्रशंसा हुई और ग्राहक अंधाधुंध आने लगे । वर्ष के अंत में जब मुनाफा देखा गया, तो चालाक दुकानदारों की अपेक्षा उन्हें अधिक ही लाभ हुआ । बेकर की नीति को अपनाकर ही आजकल जगह-जगह सुपर मार्केट दुकानें खुली हैं ।

उद्देश्यपूर्ण व्यापार

पेट भरने के लिए नौकरी या तिजारत सभी करते हैं; पर जमशेद जी टाटा दूसरी ही मिट्टी के बने थे । उन्होंने देश की आवश्यकता पूरी करने और श्रमिकों को समुचित सुविधा देने के लिए उद्योग खड़े करने का प्रयत्न किया । इन प्रयत्नों में टाटानगर का लौह कारखाना सबसे अधिक सफल और प्रख्यात रहा । नीयत के अनुरूप उन्हें भगवान ने सफलता भी दी, जबकि उनके साथियों में से अनेक स्वार्थरत् रहने के कारण दिवालिया बनते रहे ।

गाँधीवाद की प्रतिमूर्ति-मश्रुवाला

गाँधी जी की मृत्यु के उपरांत उनके पत्र 'हरिजन सेवक' के प्रकाशन की आवश्यकता समझी गयी, खोजा गया कि वह कौन व्यक्ति है जो गाँधी जी की विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व करता हो । मूर्धन्य लोगों ने दृष्टि दौड़ाई और किशोरीलाल मश्रुवाला को उपयुक्त समझकर उनके कंधे पर ही यह कार्य भार सौंपा गया ।

वे न केवल विचारों की दृष्टि से, वरन् जीवनचर्या की दृष्टि से भी सच्चे गाँधीवादी थे । उनने अपनी पुस्तकों में प्रबल तर्कों से यह सिद्ध किया कि न केवल खादी, वरन् आज की परिस्थितियों में हर क्षेत्र में, मितव्ययिता और सादगी बरतने की आवश्यकता है । उनने अपना व्यक्तिगत खर्च इतना कम रखा था, जिसे देखकर सभी को आश्चर्य होता था कि इतना बड़ा विद्वान् और दार्शनिक किस प्रकार अपने जीवन को कम खर्चे में चलाता है ।

श्री मश्रुवाला का साहित्य गाँधीवाद का मेरुदंड समझा जाता है । उनने शिक्षा, संयम, दृष्टिकोण, व्यवहार आदि के संबंध में ठीक वैसा ही लिखा है, जैसा गाँधी जी कहते और करते थे ।

एतादृशैर्नरैरन्येऽसंख्या लोकाः प्रभाविताः ।
जायन्तेऽनुसरन्त्येतान् भव्यान् मङ्गलरूपिणः ।। ७०।।
प्रभावयन्ति नो तांस्तु दुर्जना अपि तु स्वयम् ।
स्वसौजन्यप्रभावेण कुर्वते तान् स्वतोऽन्यथा ।। ७१।।

टीका–ऐसे दृढ़ निश्चय मनुष्यों से अगणित लोग प्रभावित होते और उनका अनुसरण करते हैं । ऐसे मनुष्य भव्य मंगल स्वरूप होते हैं । दुर्जन उन्हें प्रभावित नहीं कर पाते, वरन् वे अपनी सज्जनता के प्रभाव से उन्हें ही बदलने में सफल होते हैं ।। ७०–७१।।

परमहंस की परीक्षा

रामकृष्ण परमहंस आरंभ से ही ब्रह्मचर्य से रहते थे । इस बात की परीक्षा करने के लिए रासमणि के जामाता किसी बहाने उन्हें वेश्या के कोठे पर ले गए । स्वयं अलग हो गए । पूर्व योजना के अनुसार वेश्याएँ उन्हें लुभाने का प्रयत्न करने लगीं । परमहंस ने जोर-जोर से 'माँ-माँ' कहना आरंभ किया । वेश्याएँ डर गईं । परमहंस की आँखों से आँसू टपकने लगे । इस प्रकार परीक्षा वाला खेल खत्म हुआ ।

महानता के पथगामी ऐसी परिस्थितियों में हानि-लाभ का विचार नहीं करते । सिद्धांत न डिगें, उनका ध्यान इस बात में रहता है ।

झूँठी गवाही न दी

एक बार की बात है । बंगाल के दिवंगत नेता डॉ० विधान चंद्र राय कलकत्ता मेडीकल कॉलेज में डाक्टरी पढ़ रहे थे । उनके एक अंग्रेज प्रोफेसर थे-प्रौ० पैक, जो अपनी घोड़ागाड़ी से बाजार की सैर करने के लिए निकले । दुर्भाग्यवश उनकी गाड़ी एक ट्राम गाड़ी से टकरा गयी । यह घटना विधान चंद्र के सामने ही घटी । प्रौफेसर साहब ने गाड़ी के कोचवान के विरोध में विधानचंद्र राय को झूँठी गवाही प्रस्तुत करने के लिए दबाव डाला । वस्तुतः गलती कोचवान की नहीं थी । विधानचंद्र इस पर सहमत नहीं हुए । प्रौफेसर पैक उनके एक विषय की मौखिक परीक्षा के इंचार्ज थे । विधानचंद्र को मौखिक परीक्षा में फेल करके ही उनने अपनी नाराजगी का बदला चुकाया । नवयुवक के ऊपर इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और पूरी लगन, निष्ठा के साथ दूसरी परीक्षा की तैयारी में लगा रहा । कर्नल की अंतरात्मा उसे अवांछनीय कृत्य के लिए कोसती रही । अंततः उसने विधानचंद्र से क्षमा माँगी और उसकी इस आदर्शनिष्ठा की जीवनपर्यंत भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे ।

श्रेष्ठता के राजमार्ग पर चलते हुए प्राण न्यौछावर करने पड़ें तो भी जो अपने प्रण से नहीं डिगते, इतिहास पीछे उन्हीं को याद करता और उन्हीं से प्रेरणा-प्रकाश पाता है ।

सोलन तुम्हीं ठीक थे

उन दिनों दार्शनिक सोलन की बहुत ख्याति थी । उसके द्वारा कहे गए वचन सर्वत्र प्रामाणिक माने जाते थे । यूनान के बादशाह के मन में आया कि वह सोलन को राजमहल में बुलाकर अपने वैभव दिखायें, उपहार दें और उसके मुँह से अपनी प्रशंसा करायें । इस प्रकार सभी उसे बुद्धिमान, शूरवीर और धर्मात्मा मानने लगेंगे ।

सोलन को उसने किसी बहाने राजमहल में बुला लिया और सारा वैभव भी दिखा डाला । उपहारों की सारी पिटारी सामने रखी । पर दार्शनिक चुप ही रहे । बार-बार पूछने-उकसाने पर भी उनने कुछ न कहा । जब विवश किया गया तो इतना ही कहा-"मेरा चुप रहना ही भला है । प्रशंसा करने योग्य मैंने कुछ देखा नहीं और निंदा सहन न होगी ।"

बादशाह खीज गया । उसने खंभे से बाँधकर सोलन को गोली से उड़ा दिया ।

बात पुरानी हो गई । उस बादशाह पर दूसरे राजा ने चढ़ाई की और जीत लिया । हारने पर खंभे से बाँधकर गोली मारने का उन दिनों रिवाज था । सो वही उनके साथ भी हुआ । दिन ठीक वही था, जिसके दस वर्ष पूर्व सोलन को मारा गया था ।

मरते समय राजा ने कहा-"सोलन ! तुम्हीं ठीक थे । दौलत को जिस-तिस प्रकार जमा करके मैंने वस्तुतः वैसा कुछ नहीं किया था, जिस पर कि तुम जैसे विचारशील के मुँह से प्रशंसा सुन सकता ।

व्यर्थ की बातों में समय न गँवा कर जिन्होंने जीवन के क्षणों का मूल्य पहचाना वे कभी विरोधों से विचलित नहीं हुए । आगे चलकर वही महान् कहलाये ।

बहुत ऊपर न जायें

एक साहित्यकार जॉर्ज बर्नार्ड शॉ से मिलने गए । बातों-बातों में अपने देश के पूर्वजों का बढ़-चढ़ कर बखान करने लगे ।

वर्णन लंबा होते देखकर शॉ ने कहा-"पूर्वजों के पुराने बखान के चल पड़ने पर तो आपको आदिमकाल के बंदर पूर्वजों तक पहुँचना पड़ेगा । इसलिए अच्छा यही है हम अपनी और आज की बात करें ।"

खण्डयन्ति व्रतं स्वं नो दृढ़संकल्पसंयुताः ।
संयोगात् खण्डिते प्रायश्चित्तं ते कुर्वते ध्रुवम् ॥ ७२ ॥
त्रुटौ कदाचिज्जातायां पातयन्ति मनोबलम् ।
नैव तेऽपि तु द्वैगुण्यसाहसेन पुनस्तथा ॥ ७३ ॥
निश्चयं तं समादाय पुनः स्यान्न त्रुटिः क्वचित् ।
अर्जयन्ति ततस्तत्र महत्तच्च मनोबलम् ॥ ७४ ॥
मालिन्यं चिन्तनक्षेत्रसमुद्भूतं नरास्तु ये ।
क्षालयन्ति जयन्त्यत्र विचारैस्तु विचारकान् ॥ ७५ ॥
चारित्र्यं न पतत्येषां भ्रष्टता चिन्तने तु या ।
दुष्टतायाः समावेशमाचारे कुरुते तु सा ॥ ७६ ॥
तथ्यमेतद् विजानन्ति रक्षन्त्यात्मानमत्र च ।
अवाञ्छनीयताऽऽकर्षात्तैरेवात्मधनुर्धरैः ॥ ७७ ॥
प्रेम सत्सहयोगोऽपि चाऽऽप्यते परमात्मनः ।
यतात्मा यो नरो नैव स पराजयते क्वचित् ॥ ७८ ॥
विश्वजेता स एवास्ति यतात्मा मानवस्तु यः ।
बोधयन्ति नरं चैतत् पन्थानः शास्त्रदर्शिताः ॥ ७९ ॥

टीका-संकल्पवान् अपना व्रत तोड़ते नहीं, संयोगवश कभी टूटे, तो उसका प्रायश्चित करते हैं । कभी कोई भूल होने पर मनोबल गिरने नहीं देते, वरन् दूने साहस के साथ फिर उस निश्चय पर आरूढ़ होते और भूल

की पुनरावृतित न होने देने के लिए अधिक मनोबल जुटाते हैं । जो चिंतन क्षेत्र की मलीनता को धोता रहता है, कुविचारों को, सद्विचारों की सेना एकत्रित कर परास्त करता रहता है, उसका चरित्र गिरने नहीं पाता । चिंतन की भ्रष्टता ही आचरण में दुष्टता का समावेश करती है, जो इस तथ्य को जानते और अवांछनीय के आकर्षण से आत्म-रक्षा करते रहते हैं, उन आत्मिक क्षेत्र के धनुर्धरों को ही भगवान् का सच्चा प्यार और सहयोग मिलता है । जिसने अपने को जीत लिया, वह और किसी से हारता नहीं । आत्म विजयी को ही विश्वविजेता कहते हैं । शास्त्रदर्शित समस्त मार्ग मानवमात्र को यही बोध कराते हैं ॥ ७२-७९ ॥

अर्थ-अनुशासन यही सिखाता है कि जो भी मन में सत्संकल्प रूपी बीज उठा, उसे पूरी निष्ठा से निभाया जाय । ऐसी स्थिति में महामानवों के पास उनकी बहुमूल्य संपदा मनोबल ही सहायक बनती है । वे चरित्रनिष्ठा पर कड़ी दृष्टि रखते हैं एवं विचारों को विचारों से काटकर अपने चिंतन को परिष्कृत बनाये रखते हैं । जिन्होंने इस प्रकार अपने भीतर वाले को सही कर लिया, अपने पर अंकुश लगा लिया, उसे सच्चे अर्थों में शूरवीर कहा जा सकता है ।

बापू का प्रायश्चित्त

बापू के आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति के लिए सप्ताह में एक दिन का अस्वाद व्रत अनिवार्य था । एक दिन गाँधी जी के पुत्र देवदास के उपवास का दिन था । उस दिन कढ़ी बनी थी । कढ़ी देवदास को बहुत प्रिय थी । मित्रों ने उकसाया, सो उनने चुपचाप कढ़ी खा ली ।

गाँधी जी को इसका पता चल गया । बाल्यावस्था में उन्हें भी ऐसी आदत थी, सो उन्होंने इसे अपनी भूल माना और प्रायश्चित स्वरूप स्वयं एक सप्ताह अस्वाद उपवास रखा ।

पशुबलि यों रुकी

गाँधी जी के ही जीवन की एक और घटना है । बात चंपारन जिले की है । गाँधी जी उस क्षेत्र में असहयोग आंदोलन का वातावरण बनाने के लिए गाँव-गाँव घूम रहे थे ।

एक गाँव में उन्होंने पशुबलि का जुलूस निकलते देखा । देवी को बकरा चढ़ाने एक समूह गाता-बजाता जा रहा था ।

गाँधी जी ने दृश्य देखा तो उन्होंने एकत्रित लोगों को वैसा न करने के लिए समझाया । न माने तो नया प्रस्ताव रखा । पशु के रक्त से मनुष्य का रक्त उत्तम ही होगा । तुम लोग अपने देवता पर मेरी बलि चढ़ा दो । उनने सिर नीचे झुका लिया और वहाँ जा खड़े हुए जहाँ बकरा कटना था ।

सन्नाटा छा गया । ग्रामीण लौट गए । वस्तुस्थिति समझी गई और उस क्षेत्र से बलि प्रथा सदा के लिए बंद हो गयी ।

धर्मानुशासनस्येदमनुबन्धस्य विद्यते ।
द्वन्द्वं संस्कृतिशब्देन सभ्यतायाः पदेन च ॥ ८० ॥
व्यवहरन्ति जना अन्ये ययोर्योगान्नरुह्यते ।
नागरित्वस्य भावोऽयं तथा सामाजिकस्य सः ॥ ८१ ॥
ज्ञायेते लोक एते च सदाचारस्य नामतः ।
व्यवहारस्य नाम्नाऽपि सतश्च यत्र तत्र तु ॥ ८२ ॥

टीका-यह धर्म का अनुशासन और अनुबंध वाला युग्म है । कितने ही सभ्यता और संस्कृति के नाम से इसकी विवेचना करते हैं । दोनों के मिलने से नागरिकता और सामाजिकता निभती है । उन्हें सद्व्यवहार और सदाचार के नाम से भी जाना जाता है ॥ ८०-८२ ॥

राजा ने अपराध स्वीकारा

महानता के अनुयायी मूर्धन्यों में यह दोनों ही संस्कार बिना किसी पूर्वाग्रह और अहंकार के होने चाहिए । महापुरुषों के जीवन में इस सत्य के पग-पग पर दर्शन होते हैं ।

बड़ौदा नरेश खण्डेराव गायकवाड़ शिकार की खोज में काफी दूर निकल गए । जंगली सूअर का पीछा करते-करते उनके साथी भी इधर-उधर भटक गए । सूअर की भगदड़ से एक खेत की फसल को काफी नुकसान हुआ । किसान ने आगंतुक को सामान्य शिकारी समझ कर बहुत बुरा-भला कहा । बड़ौदा नरेश मौन रहकर

सब कुछ सुनते रहे । थोड़ी देर बाद उनके साथी भी उन्हें खोजते हुए वहाँ आ गए । किसान को तब यह पता चला कि यह कोई साधारण व्यक्ति नहीं वरन् बड़ौदा महाराज हैं । अब तो वह डर से काँपने लगा । उसे अपने कृत्य पर बड़ी ग्लानि हुई । परंतु उस समय महाराज की नम्रता और सौम्यता देखते ही बनती थी । उन्होंने किसान से कहा–"तुम्हारे खेत की फसल को हानि हुई है, अतः तुम मुझे पकड़ने का अधिकार रखते हो । तुम्हारी कैद से छूटने के लिए मेरी ओर से यह व्यवस्था है कि यही खेत नहीं वरन् तुम्हारे सभी खेत कर से मुक्त रहेंगे । यह सुविधा तुम्हारे उत्तराधिकारियों को भी प्राप्त होगी ।"

शिक्षा, वंश परंपरा, शरीर स्वास्थ्य से आज तक कोई भी महान् नहीं बना । इस संस्कृति के अनुपालन से ही महानतायें ढली हैं ।

गाँधी जी इस सत्य के प्रत्यक्ष उदाहरण थे ।

गाँधी जी और किसान

गाँधी जी की उन दिनों बिहार में ख्याति थी । वे जिस गाड़ी से बेतिया जा रहे थे, उसी में एक किसान भी चढ़ा । उसे गाँधी जी के दर्शनों की इच्छा थी ।

थर्ड क्लास के सीट पर पैर फैलाये हुए एक व्यक्ति को किसान ने देखा, तो पैर मरोड़कर एक कोने में ठूँस दिया और बोला–"ऐसे पैर फैलाकर बैठा है मानों बाप की गाड़ी हो ।"

गाड़ी बेतिया पहुँची । डिब्बे में से निकलते ही अपार जनसमूह प्लेटफॉर्म पर खड़ा दिखा । जय-जयकार होने लगी और गाँधी जी को फूलों से लाद दिया गया ।

किसान हड़बड़ा गया । जिसके पैर मरोड़कर कोने में ठूँसे थे, वही गाँधी जी निकले । अनजानेपन पर उसे पश्चात्ताप हो रहा था । भीड़ हटते ही उसने क्षमा माँगी । गाँधी जी ने कहा–"गलती तो मेरी थी, जो अधिकार से अधिक जगह घेरी । तुम क्यों दुःखी होते हो ?"

कल्पनाया न धर्मोऽस्ति विषयः कथनस्य च ।
कथनं श्रवणं नैव पर्याप्तं त्वस्य सम्मतम् ।। ८३ ।।
आगन्तव्यं तु धर्मेण निजाचारे तथा च सः ।
अङ्गता दिनचर्याया नेतव्यो भूतिमिच्छता ।। ८४ ।।
सार्थक्यमत्र तस्यास्ति स्थितौ चास्यां गतो नरः ।
धर्मात्मा वस्तुतस्त्वस्ति फलं प्राप्नोति पुण्यदम् ।। ८५ ।।
यदुक्तं शास्त्रकारैस्तु कृते धर्मात्मनां नृणाम् ।
पारायणं न पुण्यं तत्पाठजं केवलं स्मृतम् ।। ८६ ।।

टीका–धर्म कल्पना–जल्पना का विषय नहीं । उसे आचरण में उतारा जाता है, दिव्यता की प्राप्ति के लिए उसे जीवनचर्या का अविच्छिन्न अंग बनाया जाता है । इसी में उसकी सार्थकता है । इसी स्थिति में पहुँचकर कोई सच्चे अर्थों में धर्मात्मा बनता है और वह पुण्य–फल पाता है, जो धर्मात्माओं को मिलने की बात शास्त्रकारों ने कही है । पाठ रूप में जो पारायण दैनिक होता है, वह पुण्य नहीं है ।। ८३–८६ ।।

अर्थ–लोगों को तो न जाने कहाँ से भ्रम हो गया और सिद्धि प्रदर्शन को धर्म मानने लगे । सिद्धि सामर्थ्य न होती हो, सो बात नहीं; पर उसके सार्वजनिक प्रदर्शन पर प्रतिबंध है । ऐसा न होने और उसी के धर्मधारणा बन जाने से सार्वजनिक जीवन में आडंबर बढ़े हैं । वस्तुतः धर्म सदाचरण का पर्याय है ।

धर्म का अर्थ प्रदर्शन नहीं

चीन में एक बौद्ध भिक्षुणी थी । उसने भगवान की एक छोटी स्वर्ण प्रतिमा बनायी । उसी की पूजा-अर्चा में निरत रहती ।

एक दिन महाबुद्ध उत्सव हुआ । दूर-दूर की बुद्ध प्रतिमाएँ सजा-धजा कर लायी गईं । उनका सामूहिक पूजा-अर्चा करने का कार्यक्रम बना ।

भिक्षुणी पूजा की सामग्री तो लायी थी, पर वह अपनी ही प्रतिमा की उससे अर्चा करना चाहती थी । धूप,

दीप, नैवेद्य समारोह में जलाने पर उसे भय था कि दूसरी प्रतिमाएँ उसकी सुगंध लूट ले जाएँगी । इस हानि से बचने के लिए उसने अपनी धूप का धुँआ एक बाँस की पोंगली द्वारा अपनी प्रतिमा की नाक से सटा दिया ।

थोड़ी देर में प्रतिमा का मुँह धुएँ से काला हो गया । दर्शकों को वह कुरूप लगी और पूजने तथा लाने वाले तक की भर्त्सना हुई ।

खिन्न भिक्षुणी को समारोह के अधिष्ठाता ने कहा–"संकीर्णता एवं प्रदर्शन वृत्ति के रहते पूज्य, पुजारी, पूजा का मुँह काला ही हो सकता है । वस्तुतः धर्म का अर्थ है–सदाचरण ।"

धर्म बड़ा क्यों

गुरुकुल के शिष्यों में से एक ने उस दिन के सत्संग-समागम में अधिष्ठाता से पूछा–"देव ! धन, कुटुंब और धर्म में से कौन सच्चा सहायक है ?"

अधिष्ठाता ने सीधा उत्तर न देकर एक कथा सुनायी–

एक व्यक्ति था । उसके तीन मित्र थे । एक बहुत प्यारा, दूसरा मध्यवर्ती, तीसरा उपेक्षित । एक बार वह किसी मुसीबत में फँस गया । सहायता के लिए मित्रों के पास जाने की बात उसने सोची ।

घर से चल पड़ा । विपत्ति के समय मित्र ही साथ देते हैं । सबसे प्रिय के पास गया, परिस्थिति बतायी और सहायता माँगी कि राज दरबार तक साथी और सहायता के लिए साथ चलना पड़ेगा ।

परम मित्र ने स्पष्ट इन्कार कर दिया–'वह घर से बाहर कहीं जाने की स्थिति में नहीं है ।'

अब मध्य स्नेह वाले के पास पहुँचा और वही बात उससे भी कही । उसने अन्य प्रकार से सहायता करने का तो भरोसा दिलाया; पर राजदरबार तक जाने में जो खतरा हो सकता था, उसे उठाने से उसने भी इन्कार कर दिया ।

अब तीसरे मित्र की बारी थी । घनिष्ठता तो कम थी, तो भी सोचा चलो उसे भी परख लें । तीसरे ने मित्रता निभाई । राजदरबार तक गया और पूरी सहायता करके उसे संकट से उबार लिया ।

यह तीसरा मित्र धर्म ही था–यह विद्यार्थियों की समझ में आया और साथ ही सदाचरण को हृदयंगम करने का माहात्म्य भी ।

धर्म को जीवनचर्या में आत्मसात् करने वालों की ही आज सच्ची आवश्यकता है । ऐसे लोगों से ही धर्म धारणा का विस्तार होगा । प्राचीन काल के इस सत्य को फिर से प्रतिष्ठित किया जाना आवश्यक है ।

अप्प दीपो भव

कंबोज के राजा विंगमिंग अपने राज्य के लिए किसी धर्म पुरोहित की खोज में थे । तीर्थाटन करते हुए एक विद्वान् राजदरबार में पहुँचे और बोले–"मैं त्रिपिटकाचार्य हूँ । मैंने बौद्ध धर्म का गहन अवगाहन किया है । राज्य पुरोहित के रिक्त स्थान को भरने की अपने में मैंने क्षमता देखी सो उस पद को पाने के लिए आपकी सेवा में चला आया ।"

राजा ने त्रिपिटकाचार्य का यथोचित सम्मान किया और कहा–"आपने जो पढ़ा है, कृपया उसे एक बार फिर पढ़ें और मनन करें, तब आपको वह पद सौंपने का प्रसंग बनेगा ।"

आचार्य को बहुत क्रोध आया । यह उनकी विद्या का मखौल था । तो भी राजा से झगड़ने की अपेक्षा एक वर्ष का समय निकाल देने में उनने बुद्धिमानी समझी ।

दूसरे वर्ष फिर वे पहुँचे । राजा ने एक वर्ष के लिए धर्म का और अधिक मनन-चिंतन करने की बात कहकर टाल दिया ।

पुरोहित को बहुत खीज आयी और वे दरबार में जाने की अपेक्षा एक नदी तट पर एकांतसेवन की उपासना करने लगे ।

राजा टोह लेते रहे । नई कार्य पद्धति की सूचना पाकर वे दरबारियों समेत उन्हें चलने का आग्रह करने पहुँचे ।

अबकी बार पुरोहित बहुत झल्लाये हुए थे । उनने कहा–"अप्प दीपो भव ।" अर्थात अपने को दीपक बनाओ, ताकि उपदेश से नहीं चरित्र से लोग प्रकाश ग्रहण कर सकें ।"

राजा ने कहा–"इसी विशेषता वाले सच्चे धर्मोपदेशक होते हैं । आपको उस स्थिति तक पहुँचा देखकर हम सब निमंत्रित करने आये हैं ।"

जनैः सद्भिश्च तत्रत्यैः प्रखरत्वसमन्वयः ।
पूतत्वेन सह ज्ञातः सोऽनिवार्यतयाऽथ तैः ॥ ८७॥
विनयेनाथ सौजन्यभावेन सह च ध्रुवम् ।
अन्वभूवन्निदं सर्वे महत्तापथगामिभिः ॥ ८८॥
जीवने व्यक्तिगे भाव्यमनुशासनवर्तिभिः ।
क्षेत्रे सामाजिके भाव्यं मर्यादानिष्ठतां गतैः ॥ ८९॥
ज्ञातः समागमोऽद्यैष उपयोगी परः समैः ।
उपस्थिता जनाश्चास्य दिनस्यैतद् विवेचनम् ॥ ९०॥
मत्वा विशेषरूपेण प्रभावपरिपूरितम् ।
प्रसन्नवदनाः सर्वे ययुः सत्र विसर्जनात् ॥ ९१॥

टीका—उपस्थित संतजनों ने पवित्रता के साथ-साथ प्रखरता का समन्वय रहने की आवश्यकता समझी । नम्रता और सज्जनता के साथ इस बात की भी आवश्यकता अनुभव की कि महानता के पथ पर चलने वालों को व्यक्तिगत जीवन में अनुशासनप्रिय और सामाजिक क्षेत्र में उपयुक्त मर्यादाओं के परिपालन में निष्ठावान् होना चाहिए । आज का समागम अतीव उपयोगी समझा गया । उपस्थितजन इस दिन के प्रवचन का विशेष प्रभाव लेकर, प्रसन्नचित्त हो विसर्जित हुए ॥ ८७-९१॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीआश्वलायन-उद्दालक ऋषिसम्वादे "अनुशासनोऽनुबन्धश्चे", ति
प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥५॥

।। अथ षष्ठोऽध्यायः ।।

● सौजन्य-पराक्रम प्रकरणम् ●

प्रभाते पुण्यवेलायां प्रारब्धः सत्समागमः ।
नैमिषारण्यगां वातावृत्तिं पूतां भृशं पुनः ।। १।।
ज्ञानालोकेन कुर्वंश्च प्रखरां समशोभत ।
आगन्तारश्च सर्वेऽपि मुनयस्ते मनीषिणः ।। २।।
ज्ञानगङ्गावगाहेन श्रमे भ्रान्तेर्गते भृशम् ।
अन्वभूवन्नुदारास्ते धर्मात्मानः प्रसन्नताम् ।। ३।।
गतिशीलः प्रसङ्गोऽभूदवलम्ब्य कथं नरः ।
धर्मस्य धारणां दिव्यां सर्वसाधारणादपि ।। ४।।
जीवनादधिगन्तुं च महामानवतामिह ।
अर्हतीति कथं तिष्ठन् सामान्ये नरविग्रहे ।। ५।।
देवजीवनजं प्रासुमानन्दं संभवेदिति ।
मार्गदर्शनमस्याऽऽसीत् सत्रस्य प्रतिपादनम् ।। ६।।
आरुणिः प्रश्नकर्त्ता च पप्रच्छ विनयानतः ।
सत्राध्यक्षं च सत्रेऽस्मिन् दिव्ये सोऽद्यतनो मुनिः ।। ७।।
धर्मस्य धारणायाश्च भगवन् विषये शुभे ।
ब्रूतां युग्मस्य तुर्यस्य सौजनस्य तथैव च ।। ८।।
पराक्रमस्य सम्बन्धः वर्तते कः परस्परम् ।
धर्माधारौ कथं प्रोक्तावुभावपि बुधैरिह ।। ९।।

टीका–प्रभात की पुण्यवेला में नित्य चलने वाला संत–समागम नैमिषारण्य के पुनीत वातावरण को और भी अधिक प्रकाश–प्रखरता से भर रहा था । आगन्तुक उदार धर्मात्मा, मुनि–मनीषी इस ज्ञानगंगा का नित्य अवगाहन करते हुए भ्रांति की थकान दूर हो जाने से अतीव प्रसन्नता अनुभव कर रहे थे । प्रसंग गतिशील था । धर्म–धारणा का अवलम्बन करके किस प्रकार सर्वसाधारण से महामानव बनने का सुयोग मिल सकता है, किस प्रकार सामान्य मनुष्य कलेवर में रहते हुए भी देव जीवन का आनंद लिया जा सकता है, इसका मार्गदर्शन इस सत्र का विशेष विषय था । आज के प्रश्नकर्त्ता आरुणि ने विनयावनत होकर सत्राध्यक्ष से पूछा–हे भगवन् ! धर्म धारणा के चतुर्थ युग्म 'सौजन्य और पराक्रम' के संबंध में प्रकाश डालने का अनुग्रह करें । बताएँ कि उनका परस्पर क्या संबंध है और उनको धर्म का आधार क्यों कहा गया है ? ॥ १–९॥

आश्वलायन उवाच–

उपस्थिता जनाः सर्वे शृण्वन्त्ववदधत्वपि ।
धर्मः शब्दान्तरेणाऽत्र मन्तव्यः शुभकर्मता ।। १०।।
कर्तव्यमिदमेवास्ति मानवानां तथैव च ।
आत्मपूर्णत्वमेवाथ विश्वकल्याणमप्युत ।। ११।।
उभयं प्रयोजनं सिद्धयेदनेन विधिना स्वतः ।
सादर्शां दृढतां प्रासुमर्ज्यांश्च क्षमताः शुभाः ।। १२।।

एतासु प्रथमं युक्तं स्नेहसौजन्यमेव तु ।
तत्परत्वं समग्रं च द्वितीयमभिमन्यताम् ।। १३।।

टीका–आश्वलायन ने कहा–प्रश्नकर्त्ता समेत सभी उपस्थितजन ! ध्यान से सुनें । धर्म को दूसरे शब्दों में सत्कर्म समझें । यही मनुष्य का कर्तव्य है । आत्मिक पूर्णता और विश्व कल्याण का उभयपक्षीय प्रयोजन भी इसी से पूर्ण होता है । इस आदर्शवादी दृढ़ता को प्राप्त करने के लिए कुछ प्रमुख क्षमताएँ अनिवार्य रूप से अर्जित करनी होती हैं । इनमें एक है–स्नेह–सौजन्य और दूसरी है–समग्र तत्परता ।। १०–१३।।

एका सज्जनता प्रोक्ता तथा कर्मठताऽपरा ।
उभयोरपि सम्बन्धः कथ्यते च पराक्रमः ।। १४।।
पराक्रमश्च देवानां बलविक्रम उच्यते ।
आधारमिममाश्रित्य स्थितिमुच्चां भजन्ति ते ।। १५।।
सर्वेषां प्राणिनां ते च कल्याणे मानवाः सदा ।
जायन्ते निरताः श्रेयो विन्दन्त्यपि च सन्ततम् ।। १६।।

टीका–सज्जनता और कर्मठता यह दोनों जब मिलते हैं, तो उनका समन्वय पराक्रम कहलाता है । इसी आधार पर वे उच्चतम स्थिति तक पहुँचते हैं, सबका कल्याण करने में निरत रहते हैं और श्रेय प्राप्त करते हैं ।। १४–१६।।

अर्थ–धर्म की परिधि असीम है । परिभाषा सरल नहीं, अपितु बहुमुखी होने के कारण किंचित्-क्लिष्ट भी । धर्म कर्तव्यनिष्ठा का पर्यायवाची माना जा सकता है । श्रेष्ठता से अभिपूरित कार्यों में जो निरत हो, वही सच्चा धर्म कहा जा सकता है । मात्र अपनी मुक्ति नहीं, समष्टिगत हित की बात सोचने वाला ही प्रगति के पथ पर बढ़ सकता है । ऋषि श्रेष्ठ यहाँ धर्म के चौथे युग्म के रूप में पारस्परिक स्नेह-सद्भाव एवं सर्वांगपूर्ण तत्परता की चर्चा कर रहे हैं । दोनों ही एक दूसरे के पूरक एवं आदर्श के पथ पर चलने वालों के लिए अनिवार्य हैं । विनम्रता जितनी अनिवार्य है, उद्देश्य के प्रति लगन-दृढ़निष्ठा भी जीवन में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है । ये दोनों जब मिलते हैं तब प्रखर-पराक्रम जन्म लेता है । इस प्रकार दृढ़ता से युक्त विनम्रता एवं जागरूकता का समन्वय उस गुण को जन्म देता है, जो जीवन व्यापार चलाने एवं ऊँचा उठाने के लिए सभी को अभीष्ट है ।

आत्मवत् सर्वभूतेषु

महावीर स्वामी उन दिनों जंगल में घोर तप कर रहे थे । जंगल के ग्वाले उन्हें समाधिस्थ देख उनका उपहास किया करते थे । कुछ दुष्ट तो लांछन लगाकर उन्हें तंग भी करने लगे । महावीर इन व्यवधानों से विचलित न हो तपस्या करते रहे ।

तपस्या में विघ्न डालने की बात पास के व्यक्तियों तक पहुँची, वहाँ के धनिक लोग महावीर के पास आए और कहने लगे–"देव, आपको ये नादान व्यर्थ कष्ट देकर असुविधा में डाल रहे हैं, हमारा निवेदन है, हम आपके लिए एक भवन यहाँ बनवा दें तथा ऐसी सुरक्षा व्यवस्था करा दें, जिससे आप निश्चिंत हो तपस्या-साधना करते रहें ।"

महावीर बोले–"ऐसा न कहें तात ! यह तो अपने हैं । बच्चे प्यार से भी तो मुँह नोचने लगते हैं, इससे कोई अभिभावक उन्हें गोद में लेना तो बंद नहीं कर देते ।"

"इतनी-सी बात के लिए जो धन अनाश्रितों के काम आ सकता है, वह अपने लिए खर्च कराने का अभिशाप मैं नहीं ले सकता ।" उन्होंने भवन बनवाने से इन्कार कर दिया । ग्वालों को यह समाचार मिला तो वे अभिभूत होकर महावीर के चरणों में गिर पड़े ।

धनिकों के मुँह से इतना ही निकला–"यही है सच्ची महानता जो आज देखने को मिल रही है ।"

जिनके मन में समाज के लिए प्यार और कर्तव्यनिष्ठा जागती है, वे अपने स्वार्थ की कल्पना नहीं करते । स्वतंत्रता संग्राम के सेनापतियों ने पग-पग पर उसके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं ।

शहीद डॉ० मथुरा सिंह

भारत में क्रांतिकारी दल अपने पैर जमा रहा था । तब तक कोई जन आंदोलन उभर न सका था । क्रांतिकारियों ने कनाडा के 'कामा गाटा मारू' बंदरगाह से हथियारों से लैस एक जहाज भारत के लिए रवाना किया, उसमें देश के मूर्धन्य क्रांतिकारी भी थे । जिनमें झेलम जिले के डॉ० मथुरा सिंह को बड़ी जिम्मेदारियाँ सौंपी गई थीं । यदि वह योजना सफल हो जाती तो अंग्रेजों को बहुत पहले ही बिस्तर गोल करने पड़ते ।

क्रांतिकारियों में से ही एक पुलिस का मुखबिर बन गया । लंबे समय से गुलामी ने देश का नैतिक स्तर जर्जर कर दिया था । इसी कारण क्रांतिकारी योजनाएँ असफल होती रहीं ।

जहाज पकड़ा गया । उस पर सवार लोग भी । डॉ० मथुरा सिंह रूस भागने की तैयारी में थे कि पुलिस ने उन्हें भी पकड़ लिया और उन्हें जीवन से हाथ धोना पड़ा ।

समुद्र में कूद गए

वीर सावरकर ने भारत माता के बंधन काटने का निश्चय किया । उनने ऐसे ढेरों काम किए जिससे अंग्रेज सरकार का तख्ता हिलने लगा । उन पर ढेरों मुकदमे चले और फाँसी की सजा सुनाई गई । वे इंग्लैंड में थे । अतः यह निश्चय हुआ कि फाँसी भारत में दी जाय, ताकि वहाँ के लोगों को सबक मिले । वीर सावरकर को जहाज से लाया जा रहा था । उन्होंने विचार किया, कहीं देशवासी भयभीत न हो जायँ । सो उन्होंने चलते जहाज से ही समुद्र में छलाँग लगा दी । इस शौर्यपूर्ण साहस ने देश में आग भड़का दी । सैकड़ों सावरकर पैदा कर दिए । फिर से मुकदमा चला और उन्हें आजीवन कारावास की सजा दी गई ।

पूरे ३० वर्ष उन्हें काले पानी रहना पड़ा । वे खतरनाक समझे जाते थे, इसलिए बंधन कड़े रखे गए । भारत स्वतंत्र होने पर वे जेल से छूटे ।

लौटने पर उनका उत्साह तनिक भी शिथिल न हुआ । देश में लौटकर स्वतंत्रता को सार्थक बनाने के लिए वे शेष जीवन लगातार काम करते रहे । ऐसे देशभक्तों के कारण ही भारत माता धन्य हुई ।

अभाव का सुख

एक संत थे । जो पाते उसे अपने से अधिक जरूरतमंदों को बाँट देते । इस उदारता से उन्हें कई बार स्वयं भूखा रहना पड़ता ।

कई दिन से भोजन न मिला था । श्मशान में उनने कुछ आटे के पिंड पड़े देखे और बचा हुआ ईंधन बिखरा पाया । सोचने लगे, इसी से रोटी पकाकर अपना पेट भर लें ।

शिव-पार्वती उधर से निकले । पार्वती जी ने भक्त की ऐसी दरिद्रता देखकर भगवान से कहा-"आप भक्तों पर दया नहीं करते ? उनके अभाव दूर क्यों नहीं करते ?" शिवजी ने कहा-"भक्तजन अभावग्रस्त, दरिद्र, कंगाल नहीं होते । वे उदारतावश दूसरों को सुखी बनाने के लिए अपना वैभव लुटाते रहते हैं । संदेह हो तो इस संत से भी माँगकर देखो । वह भूखा होने पर भी अपनी रोटियाँ दान कर देगा ।"

परीक्षा की बात ठहरी । पार्वती जी वृद्धा का वेश बनाकर पहुँचीं और अपनी तथा पति की भूख बुझाने के लिए रोटी माँगीं ।

पिंड एकत्रित करके चार रोटियाँ बनाई थीं । संत ने दो रोटी वृद्धा को दे दीं और दो से अपनी उदर-ज्वाला शांत कर ली, ताकि जीवित रहा जा सके ।

शिव-पार्वती ने सच्चे भक्त की निष्ठा देखी और बहुत प्रसन्न हुए । प्रकट होकर वर माँगने के लिए कहने लगे ।

भक्त ने कहा-"ऐसा वर दीजिए कि सुपात्र याचक सदा मेरे सामने आते रहें और अपना पेट काटकर भी उन्हें कुछ देने का संतोष लाभ प्राप्त करता रहूँ ।"

पार्वतीजी की आँखें छलक आयीं । बोलीं-"ऐसे भक्त का अभाव दूर करना कठिन है । उसे वे अपना गौरव जो मानते हैं ।"

यही त्याग युगों-युगों तक इतिहास को प्रकाश देता रहता है । आगे आने वाली हर पीढ़ी से महापुरुष उत्पन्न करते रहने का उत्तरदायित्व यही सौजन्य पूर्ण करता है ।

हरिश्चंद्र का सर्वस्व त्याग

विश्वामित्र ने युग परिवर्तन का महान कार्य अपने कंधों पर लिया था । साधन जुटाने की जिम्मेदारी उनके शिष्य हरिश्चंद्र ने उठायी । आवश्यकता पूरी करते रहने में उनने अपना कोष और वैभव लगा

दिया । इतने से भी काम न चला तो उनने अपने को दास रूप में बेचकर उस आवश्यकता की पूर्ति की । व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं को लोक कल्याण के लिए विसर्जित करने में उनने दुःखी होने के स्थान पर प्रसन्नता अनुभव की । हरिश्चंद्र को उदाहरण के रूप में नाटक में देखकर बालक गाँधी-महात्मा गाँधी के रूप में परिणत हुए । ऐसी ही प्रेरणा से उनका चरित्र न जाने कितनों को आदर्शवादी बना चुका होगा और बनाता रहेगा ।

प्रश्न प्रसिद्धि और प्रखरता का ही नहीं । महापुरुष बिना किसी यश की कामना के विशुद्ध कर्तव्यनिष्ठा के रूप में यह दायित्व निबाहते हैं । उन्हें इस बात का गुमान भी नहीं होता कि प्रतिफल कितना निकलेगा । वे सच्चे अर्थों में गीता के 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का अनुपालन करते हैं । किसी भी जातीय जीवन में महान परंपराएँ इसी तरह उगती और विकसित होती हैं ।

अपूर्ण साधना राज्य आमात्य जनश्रुति ने महर्षि वशिष्ठ से पूछा-"भगवन् ! मैं पुण्यात्मा हूँ । धर्म के नियमों पर चलता हूँ । उपासना में भी चूक नहीं करता, फिर भी न मेरा कहीं सम्मान होता है और न भीतर का संतोष मिलता है ।"

वशिष्ठ ने कहा-"वत्स ! सदाचार और साधन की महत्ता है । किन्तु वे दोनों ही स्नेह और सेवा के बिना अपूर्ण रहते हैं । तुम उन दो साधनाओं को भी अपनाकर अपूर्णता दूर करो और समग्र प्रतिफल प्राप्त करो ।"

योग और तप से सिद्धियाँ और सामर्थ्य तो मिल जायेगी, परंतु उपरोक्त सुसंस्कारिता के अभाव में वे अहितकर ही सिद्ध होंगीं । पुराण इस बात के अद्यावधि साक्षी हैं ।

भस्मासुर की दुर्गति पर देवताओं ने जब प्रजापति से पूछा कि ऐसी दुर्गति क्यों हुई ? उन्होंने कहा कि पराक्रम का प्रतिफल तो मिलता है, पर उसके सहारे लाभ मात्र सज्जन, दूरदर्शी, चरित्रवान ही उठा पाते हैं ।

कहाँ सौजन्य अपनाया जाए, कहाँ शौर्य-इसे समझना बहुत आवश्यक है, अन्यथा धर्मधारणा के यथार्थ लाभ प्राप्त करना कठिन हो जायेगा । ऐसे व्यक्ति या तो संसार से ऊबते हैं या साधना से । दोनों ही हेय परिस्थितियाँ हैं । दोनों में पारस्परिक सामंजस्य अत्यंत अनिवार्य है ।

साधक की दुर्दशा काकभुशुण्डि जी के मन में एक बार यह जानने की इच्छा हुई कि क्या संसार में ऐसा भी कोई दीर्घजीवी व्यक्ति है, जो विद्वान भी हो और उसे आत्मज्ञान न हुआ हो ? इस बात का पता लगाने के लिए वे महर्षि वशिष्ठ से आज्ञा लेकर निकल पड़े ।

ग्राम ढूँढ़ा, नगर ढूँढ़े, वन और कंदराओं की खाक छानी तब कहीं जाकर विद्याधर नामक ब्राह्मण से भेंट हुई । पूछने पर मालूम हुआ कि उनकी आयु चार कल्प की हो चुकी है और उन्होंने वेद-शास्त्र का परिपूर्ण अध्ययन किया है । शास्त्रों के श्लोक उन्हें ऐसे कंठस्थ थे, जैसे तोते को रामायण । किसी भी शंका का समाधान वे मजे से देते थे ।

काकभुशुण्डि जी को उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु उन्हें बड़ा आश्चर्य यह था कि इतने विद्वान् होने पर भी विद्याधर को लोग आत्म-ज्ञानी क्यों नहीं कहते ।

यह जानने के लिए काकभुशुण्डि जी चुपचाप विद्याधर के पीछे घूमने लगे । विद्याधर एक दिन नीलगिरि पर्वत पर वन-विहार का आनंद ले रहे थे, तभी उन्हें कण्वद की राजकन्या आती दिखाई दी । नारी के सौंदर्य से विमोहित विद्याधर प्रकृति के उन्मुक्त आनंद को भूल गए, कामावेश ने उन्हें इस तरह दीन कर दिया, जैसे मणिहीन सर्प । वे राजकन्या के पीछे इस तरह चल पड़े जैसे मृत पशु की हड्डियाँ चाटने के लिए कुत्ता । उस समय उन्हें न शास्त्र का ज्ञान रहा, न पुराण का । राजकन्या की उपेक्षा से भी उनको बोध नहीं हुआ । वे उसके पीछे चलते गए, सिपाहियों ने समझा यह कोई विक्षिप्त व्यक्ति है, इसलिए उन्हें पकड़कर बंदीगृह में डाल दिया ।

कारागृह में पड़े विद्याधर से काकभुशुण्डि ने कहा-"मुनिवर ! आप इतने विद्वान् होकर भी यह नहीं समझ सके कि आसक्ति ही आत्म-ज्ञान का बंधन है । यदि आप कामासक्त न होते तो आज यह दुर्दशा क्यों होती ?"

सौजन्य-विनम्रता एवं कर्मठता-पराक्रम दोनों का समन्वित रूप जीवन को क्रियाशील बनाए रखने के लिए जरूरी है । यह युग्म परंपरा अन्योन्याश्रित है ।

दोनों ही आवश्यक मंद वायु आँधी से बोली-"दीदी, मैं जहाँ जाती हूँ लोग स्वागत करते हैं । आपका आभास पाते ही डरते-छिपते हैं । हमारा लक्ष्य तो लोकमंगल का है फिर क्यों इस रूप में सबको परेशान करती हैं ।"

आँधी बोली–"बहिन, तेरी उपयोगिता अपनी जगह है, मेरी अपनी । जगह-जगह सड़न, जहरीला धुँआ-गुबार आदि एकत्र हो जाते हैं । कहीं प्राणवायु की मात्रा कम हो जाती है । उनका निवारण तुम्हारी गति से संभव नहीं, इसीलिए कभी-कभी मैं सक्रिय हो जाती हूँ । तुम लोगों को तसल्ली देती हो, मैं घुटन पैदा करने वाले विकारों का निराकरण करती हूँ । लोकमंगल के लिए दोनों आवश्यक हैं । तुम्हारा सौजन्य भी और मेरा पराक्रम भी ।"

भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को इसी बात के लिए सहमत किया था और यह प्रतिपादित कर दिखाया था कि धर्म कायरों और भीरु जनों का नहीं, वीरों का अलंकार है ।

अर्जुन ने विचार बदला

कौरवों की अनीति को निरस्त करने के लिए जब समझाने से काम न चला तो सहन करने की अपेक्षा प्रतिकार का युद्ध लड़ना अनिवार्य हो गया । अर्जुन जोखिम में पड़ने की अपेक्षा निर्वाह का सरल उपाय ढूँढ़ने के पक्ष में थे । पर कृष्ण ने उन्हें गीता का उपदेश सुनाकर अनीति प्रतिकार के लिए संघर्ष करने के आदर्श पर सहमत कर लिया । सहन करने से आततायियों के हौसले बढ़ते हैं और वे फिर व्यापक अनाचार पर उतरते हैं । इसलिए समय रहते उनका प्रतिरोध करना नीति की सुरक्षा जैसा पुण्य कार्य है । अर्जुन ने न्याय पक्ष के समर्थन हेतु संघर्ष का दर्शन समझा और पिछला विचार बदल कर 'करिष्ये वचनं तव' कहते हुए महाभारत का युद्ध लड़ा ।

यही तथ्य हमारे जन-जीवन में उभरने आवश्यक हैं । स्वाधीनता संग्राम की सफलता के पीछे यही तथ्य आधार भूत थे ।

गोरों को सबक सिखाया

जस्टिस महादेव गोविंद रानाडे रेल का सफर कर रहे थे । गाड़ी देर तक खड़ी होती थी सो वे नीचे उतर कर एक मित्र से बातें करने लगे । इतने में दो गोरे आए और रानाडे का सामान प्लेटफार्म पर फेंककर सीट पर कब्जा कर लिया । उन दिनों गोरों का अहंकार ऐसा ही बढ़ा-चढ़ा था ।

रानाडे ने विनम्रता की पराकाष्ठा पर भी यह अनीति देखी तो रेलवे अधिकारियों तथा पुलिस को तुरंत बुला लिया । प्रधान न्यायाधीश की सीट इस तरह हथियाने के लिए गोरों की भर्त्सना हुई और वह दुम दबा कर भाग गए । सज्जनता अपनी जगह है किन्तु अनीति से जूझने हेतु पराक्रम का माद्दा भी अंदर होना चाहिए ।

अस्ति सज्जनता नूनं गुणः प्रथमतां गतः ।
नम्रा विनयवन्तश्च मधुरव्यवहारिणः ।। १७।।
सभ्यताऽभ्याससम्पन्नाः सुसंस्कारयुता नराः ।
उच्यन्ते सज्जना लोके सत्यपक्षानुगाः सदा ।। १८।।
हेतोः सज्जनतायाश्च शोभा सा वर्धते नृणाम् ।
अशिष्टा दुष्टसंस्कारा नरा ये सन्त्यसंस्कृताः ।। १९।।
सर्वे मानवतां ते तु कुर्वते हि कलङ्किताम् ।
धूमकेतुसमास्ते तु जगतः श्रेयसां कृते ।। २०।।
सज्जनाः पुरुषैः सर्वैर्व्यवहारं शुभं सदा ।
कुर्वते शत्रुभिश्चापि रोगो नाश्यो न रोगवान् ।। २१।।
प्रवृत्तेरपराधिन्या दमने गृह्यतामपि ।
शल्यक्रियेव चाऽदत्ता चिकित्साकारिणेव च ।। २२।।
उपक्रमस्तु कर्तव्यो येन ते गलिता क्रमान् ।
अन्यानवयवान् कुर्युः कदाचिद् गलितान्नहि ।। २३।।
स्नेहे सद्भावप्राधान्यं पक्षपातस्य न स्थितिः ।
जायते तत्र सद्भावः हितेच्छो बोधयत्यलम् ।। २४।।

टीका–सज्जनता मनुष्य का आरंभिक गुण है । नम्र, विनयशील, मधुर व्यवहार वाले, सभ्यता की परंपरा से अभ्यस्त, सुसंस्कारी, सत्य के पक्षपाती व्यक्तियों को सज्जन कहते हैं । सज्जनता से ही मनुष्य की शोभा

बढ़ती है । अशिष्ट, अनगढ़, कुसंस्कारी तो मानवता को कलंकित करते हैं । वह विश्व-कल्याण के विनाश सूचक धूमकेतु हैं । सज्जन हर किसी के साथ सद्व्यवहार करते हैं, शत्रु के साथ भी, अपराधी के साथ भी । रोग को मारा और रोगी को बचाया जाता है । अपराधी प्रवृत्ति का दमन करने में चिकित्सक द्वारा की गई शल्य चिकित्सा जैसा उपक्रम अपनाया जाना चाहिए, जो सड़े अवयव को इसलिए काटकर फेंक देता है कि उसके कारण होने वाली सड़न अन्य अवयवों को भी न गला डाले । स्नेह में पक्षपात नहीं, सद्भाव की प्रधानता होती है । सद्भाव का तात्पर्य हित कामना है ॥ १७-२४॥

अर्थ-व्यावहारिक अध्यात्म की शुरूआत सज्जनता से होती है । जिसके अंतः के संस्कार प्रखर होते हैं, वे किसी भी स्थिति में चाहे वे कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हों, धर्म को नहीं छोड़ते । सज्जनता की शोभा सद्भाव जन्य सद्व्यवहार में है । वे पाप से घृणा करते हैं, पापी से नहीं । जहाँ अंतः में परहित की भावना होगी, वहाँ सामने वाला अपने कितना ही समीपवर्ती क्यों न हो, दृष्टि औचित्यपरक न्यायमूलक होगी । ऐसे व्यक्ति का साथ धर्म भी कभी नहीं छोड़ता ।

सत्य न छोड़ा धर्म न छोड़ा

पुरन्ध्र एक सद्गृहस्थ था । परिवार के सभी सदस्य नीति, धर्म और कर्तव्य का पालन करते । घर में न कोई कमी थी, न शोक-संताप । सज्जनों के बीच उसकी अच्छी प्रतिष्ठा थी । पाप से यह न देखा गया । वह उस परिवार के इर्द-गिर्द चक्कर काटता रहा । किसी के मन में दुर्भावना पनपाये और किसी के आचरण में दुष्प्रवृत्ति बढ़ाये; पर सफलता न मिली । बहुत दिन उसे ऐसे ही बीत गए ।

प्रयत्नों की निष्फलता पर पाप देव खिन्न बैठे थे । दुःख का कारण उनकी पत्नी दरिद्रता ने पूछा, तो व्यथा कह सुनाई । पत्नी ने पति की प्रसन्नता के लिए एक कुचक्र रचा और उनके कान में कह दिया । पाप की बांछें खिल गयीं । वे दूसरे दिन स्वयं ब्राह्मण और पत्नी को युवा कन्या का वेश बनाकर पुरन्ध्र के गृह की ओर चल पड़े ।

ब्राह्मण ने पुरन्ध्र से कहा-"मुझे तुरंत लंबी यात्रा पर जाना है । मार्ग भयंकर है । दिन-रात चलना पड़ेगा । आप कन्या को अपने पास रख लें । लौटने पर इसे ले जाऊँगा ।"

पुरन्ध्र ने अतिथि धर्म निबाहा और सहज स्वभाव उस अनुरोध को स्वीकार कर लिया । कन्या परिवार के सदस्यों की तरह रहने लगी ।

कन्या ने पुरन्ध्र से संपर्क बढ़ाना आरंभ किया । वार्तालाप से लेकर समीप बैठने और कामों में हाथ बँटाने का सिलसिला चल पड़ा । ब्राह्मण लौटा नहीं ।

कानाफूसी चली, संदेह पनपे, आक्षेप लगे । परिवार का स्नेह-सौजन्य घटा, अश्रद्धा बढ़ गई । फलतः कुटुंब में फूट पड़ी, सहयोग-सद्भाव की कमी से व्यवस्था लड़खड़ाने लगी ।

पास-पड़ोस में प्रशंसा के स्थान पर निंदा होने लगी ।

पुरन्ध्र ने स्वप्न देखा कि सौभाग्य लक्ष्मी रूठ कर जा रही हैं । अनुनय-विनय उसने सुनी ही नहीं ।

कुछ समय बाद दूसरा स्वप्न आया-यश लक्ष्मी के विदा होने का । रोका तो; पर रुकी ही नहीं । तीसरी बार के स्वप्न में कुल लक्ष्मी ने भी बिस्तर बाँधा और वह भी विदा हो गयीं । जाने वाला रुकता भी कहाँ है ।

परिवार हर दृष्टि से जर्जर होता जा रहा था । पुरन्ध्र चिंतित रहने लगे; पर करते भी क्या ? ब्राह्मण की धरोहर को कहाँ फेंक दे । उनके मन में कोई पाप नहीं था । बालक हँसता हुआ पास आये, तो उसे झिड़का कैसे जाय ? लोकोपवाद एक ओर, कर्तव्य दूसरी ओर । उनने सभी घाटे सहकर भी कर्तव्य धर्म के निर्वाह को उचित समझा और ब्राह्मण के न लौटने तक कन्या को घर में आश्रय दिए रहने का ही निश्चय रखा ।

एक रात को स्वप्न में धर्म को देखा और वे भी चलने की तैयारी में थे । अब पुरन्ध्र से न रहा गया । वे कड़क कर बोले-"सौभाग्य लक्ष्मी, यश लक्ष्मी, कुल लक्ष्मी को मैंने इसलिए नहीं रोका कि धर्म मेरे साथ है, तो अकेले रहने पर भी मैं बहुत हूँ । वे भ्रमवश गईं; पर आप तो घट-घट के ज्ञाता हैं । मैं कर्तव्य पर दृढ़ हूँ, तो आप किस कारण मुझे छोड़ते हैं ।"

धर्म के पैर एकाएक रुक गए । उनने जाने का विचार छोड़ दिया । ठीक है, तुमने मुझे नहीं छोड़ा तो मैं ही तुम्हें क्यों छोड़ूँगा ? वे ठहर गए, तो कुल लक्ष्मी, भाग्य लक्ष्मी और यश लक्ष्मी भी लौट आयीं ।

पाप परास्त हो गया । वह ब्राह्मण के रूप में आया और कन्या बनी हुई पत्नी को साथ लेकर वापस लौट गया । स्थिति फिर पूर्ववत् हो गई ।

महानता का यही लक्षण है कि महान पुरुषों द्वारा किए गए कार्य समस्त मनुष्य समुदाय के हित को ध्यान में रखकर किए जाते हैं । उनके लिए कोई पराया नहीं होता । अंत:करण का इतना विकास कर लिया जाये तो हर कोई अपना हो जाता है ।

वसुधैव कुटुम्बकम्

स्वामी रामतीर्थ ने अमेरिका की भूमि पर पदार्पण किया । जहाज से उतरते-उतरते जेब बिल्कुल खाली हो गई थी । उस देश के लिए वे सर्वथा अजनबी थे । कोई परिचित सहायक भी वहाँ न था । एक व्यक्ति जहाज में स्वामी जी से ज्ञान-ध्यान की चर्चा करता रहता था । उतरते समय उसने सामान्य शिष्टाचार से पूछा-"आप कहाँ ठहरेंगे ? आपके मेजबान का पता क्या है ? समय मिला तो आपसे संपर्क का प्रयत्न करूँगा ।"

स्वामी जी ने उसके कंधे पर हाथ रखकर कहा-"अमेरिका में मेरा एक ही मित्र है और वह हैं-आप ।" व्यक्ति चकित रह गया । साथ ही स्वामी जी के आत्मविश्वासपूर्ण सौजन्य से प्रभावित भी कम नहीं हुआ । उसने स्वामी जी को साथ ले लिया । अपने घर रखा और जब तक अमेरिका में ठहरे तब तक उनके लिए आवश्यक सामग्री जुटाता रहा ।

कई बार ऐसे क्षण आते हैं जब संत-सज्जनों को भी दुष्टों का सामना करना पड़ जाता है तो भी उनकी नीति अपने को जोखिम में डालकर भी 'रोग को मारें, रोगी को नहीं' की रहती है ।

गाँधी जी का सत्याग्रह आंदोलन चल रहा था । ब्रिटिश सरकार भी गाँधी जी के नए-नए आंदोलनों से तंग आ गई थी । एक अंग्रेज अधिकारी ने तो क्रोध में यहाँ तक कह दिया-"यदि मुझे गाँधी अभी कहीं मिल जाय तो मैं उसे गोली से उड़ा दूँ ।"

बात छिपने वाली न थी, गाँधी जी को भी सुनने को मिल गई । वह दूसरे दिन सुबह ही उस अंग्रेज के बँगले पर अकेले ही पहुँच गए । उस समय वह अंग्रेज सो रहा था, जगने पर गाँधी जी की भेंट हुई । उन्होंने कहा-"मैं गाँधी हूँ । आपने मुझे मारने की प्रतिज्ञा की है । आपकी प्रतिज्ञा आसानी से पूर्ण हो सके, अत: मैं यहाँ तक अकेला ही चला आया हूँ । अब आपको अपना काम करने में सुविधा होगी ।" इतना सुनकर अंग्रेज पानी-पानी हो गया । मारने की कौन कहे उसके मुख से कोई अपशब्द तक न निकला । उसका हृदय उसी समय बदल गया था और बाद को तो वह गाँधी जी का परम भक्त बन गया ।

महापुरुषों की दृष्टि में संसार में कोई बुरा नहीं होता । अधिकतर परिस्थितियाँ ही उन्हें पथभ्रष्ट करती हैं । उनमें भी महानता के बीज विद्यमान रहते हैं क्योंकि हर प्राणी ईश्वर का अंश है । उस अंश को उभार देने भर से दुष्ट व्यक्ति भी महान् बनते हैं ।

मरने से क्या डरना

सज्जनों के लिए शत्रु कोई नहीं होता । सब उनके अपने होते हैं । परहित में निरत वे मित्र-शत्रु में पक्षपात नहीं करते । उन दिनों कटक में जोरों का हैजा फैला था । उसका प्रकोप मुसलमानों की गरीब बस्ती डडिया बाजार में भी था । व्यक्ति कीड़े-मकोड़ों की भाँति मर रहे हैं । सुभाषचंद्र बोस की अध्यक्षता में एक सेवा-दल संगठित हुआ । लोग बीमारों के पास जाते, उन्हें दवाइयाँ, पथ्य देकर अन्य सदस्यों को बीमारी से सुरक्षा के नियम बताकर उन्हें ढाँढस बँधाते थे । हैदर खाँ बेहद गुन्डई प्रकृति का था, उसी मोहल्ले में रहता था । उसे अपने कारनामों पर कई बार जेल जाना पड़ा था । उसे दल का सेवा कार्य अच्छा न लगा । उसने दल के सदस्यों को धमकाया तथा मोहल्ले में इस बात का प्रचार किया कि यह सेवा-दल बाबू पांडे के व्यक्तियों का है । क्योंकि उस मोहल्ले में वकील रहते हैं, वकीलों के कारण मुझे जेल काटनी पड़ी, इसलिए ये सब मेरे शत्रु हैं ।

सुभाष बाबू को जब इस घटना का पता चला, तो उन्होंने सेवा दल के नवयुवकों से कहा-"देखना यह हैदर एक दिन हमारा सबसे बड़ा सहयोगी बनेगा ।"

एक दिन हैदर के बड़े लड़के को रोग ने अपने पंजों में दबोच लिया । हैदर को कोई भी डॉक्टर उपलब्ध न हो सका, क्योंकि सभी डॉक्टर रोगियों की सेवा में व्यस्त थे ।

संध्या समय जब हैदर निराश होकर अपने मकान पर गया, तो उसने देखा सेवा दल के व्यक्ति उनके लड़के की सेवा-सुश्रूषा तथा दवा देने में व्यस्त हैं । उसने सेवा दल के नवयुवकों से कहा-"आप मेरे घर क्यों आए ?" स्वयंसेवकों ने कहा-"यह हमारा भाई है, यदि हम न आते तो यह दुनियाँ से कूच कर जाता । हमारी शत्रुता आपसे हो सकती है इस बेगुनाह लड़के की जिंदगी से नहीं ।"

हैदर का सारा कलुष इन शब्दों में घुलकर आँखों में आ गया । उसने युवक से रोकर कहा-"मेरे बच्चो ! मुझे क्षमा करो ।"

उसे रोते देखकर सुभाष ने कहा-"रोइये मत, वह शीशी दीजिए, मुझे मरीज को दवा देनी है ।"

हैदर भी उन युवकों के कार्य में हाथ बँटाने लगा ।

संकल्पपूर्ति का साहस

श्रावस्ती में अंगुलिमाल ने आत्म समर्पण किया । संचित समस्त संपदा को धर्म चक्र प्रवर्तन के लिए समर्पित करके प्रायश्चित की पहली किश्त पहले ही चुका दी थी । दूसरी किश्त के रूप में अपना जीवन प्रव्रज्या के लिए समर्पित करना था । परिशोधन के लिए तप-साधना में प्रवेश पाने का आज संस्कार समारोह था ।

इस अवसर पर विशेष उत्सव का आयोजन हुआ । साथ ही कई चर्चाएँ चलती रहीं । एक प्रश्न उठा-इतने बड़े पापी को इतनी जल्दी किस कारण मूर्धन्य वर्ग में प्रवेश दिया गया । उसकी साधना आरंभ से ही क्यों न चलाई गई ? चर्चा तथागत के कानों तक पहुँची । शिष्यों का समाधान करते हुए वे बोले-"संकल्पपूर्ति के लिए दृढ़ता अपनाए रहने की साधना का पूर्वार्द्ध अंगुलिमाल पहले ही पूरा कर चुका था । देवता पर प्रतिदिन पाँच उँगली काटकर न चढ़ा सकने की प्रतिज्ञा टूटते देखकर उसने एक दिन अपने बाँए हाथ की पाँच उँगलियाँ काटकर चढ़ाई थीं । क्या यह घटना आप सबको मालूम नहीं ?"

"संकल्पपूर्ण करने के साहसी प्रकारांतर से अध्यात्म का पूर्वार्द्ध कर चुके होते हैं । उन्हें वाल्मीकि की तरह सरलतापूर्वक बदला-सुधारा जा सकता है । अंगुलिमाल की इसी विशेषता से उसे मूर्धन्य वर्ग में लिया गया है ।"

औदासीन्यमुपेक्षा च शोभते न परस्परम् ।
भावः स्वत्वपरत्वाख्यो नोपयुक्तो मतो नृणाम् ।। २५।।
हानिरेवैभिरत्रास्ति प्राप्यतेऽनादरात् सदा ।
अनादरो मानलाभः सहयोगस्य चाऽपि सः ।। २६।।
लाभः सद्व्यवहारेण जायते यत आत्मनः ।
पिपासा प्रेमसम्बद्धा जायते तस्य तर्पणम् ।। २७।।
आवश्यकं यथाऽऽहारो दीयते वपुषेऽपि सः ।
प्रतीयन्ते प्रियाश्चात्मभावादन्येऽपि मानवाः ।। २८।।
विस्तरेण प्रियस्यापि प्रसादः प्राप्यते सदा ।
परितः स्वं स्वमान्यानां जनानां वासमान्यता ।। २९।।
क्रियते तदनुसारं च व्यवहारे सुखावहा ।
परिणतिर्दृश्यते तत्र तत्कालं मोदिनी नृणाम् ।। ३०।।

टीका-एक दूसरे के प्रति उदासी-उपेक्षा और परायेपन का भाव बरतना उपयुक्त नहीं । इससे हानि ही हानि होती है । अनादर के बदले अनादर मिलता है । सद्व्यवहार की प्रतिक्रिया भी सम्मान और सहयोग के रूप में उपलब्ध होती है । आत्मा को प्रेम की प्यास है । उसे तृप्त करना भी शरीर को भोजन देने की तरह ही आवश्यक है । दूसरों के प्रति आत्मीयता की भाव स्थापना करने पर वे प्रिय लगते हैं । प्रिय का विस्तार होने से प्रसन्नता बढ़ती है । अपने चारों ओर अपने लोग रहने की मान्यता बनाने और तदनुसार व्यवहार करने पर उसकी सुखद परिणति हाथों-हाथ दीखने लगती है, जो मानव-मात्र को सुखद होती है ।। २५-३०।।

अर्थ—जो दूसरों के साथ जैसा करता है, वैसा ही फल पाता है । जो भले होते हैं उन्हें बदले में सहयोग, समर्थन एवं सम्मान मिलता है । जो दूसरों का अपमान करते हैं, बदले में वही पाते भी हैं । अपने अंदर की दुनियाँ जिसकी जैसी भी है, वही बहिरंग में परिलक्षित होती है । मनुष्य स्वभावतः सद्भाव-स्नेह-प्रेम का प्यासा है । उसी से उसका अंतःकरण बना है और वही उसे दूसरों से अपेक्षित भी है । जब स्नेह के स्थान पर ईर्ष्या पनपने लगे तो स्वभावतः उसकी प्रतिक्रिया भी वैसी ही होती है ।

इसे विडंबना ही कहा जाना चाहिए कि लोग रोग, शोक और पतन के कारण बाहर ढूँढ़ते, दूसरों पर थोपते हैं, पर सच बात यह है कि ये आंतरिक विग्रह के परिणाम होते हैं । बीमारियाँ मन से उपजती हैं । स्वस्थ रहना हो तो मन को ठीक रखना आवश्यक है ।

ईर्ष्या रोग पुरानी बात है । चीन में दो व्यक्तियों ने आमने-सामने दुकानें खोलीं । दोनों ही धड़ल्ले से चलने लगीं । ग्राहकों की भीड़ लगी रहती और कमाई भी खूब होती ।

इतने पर भी दोनों ही दुःखी रहते । उन्हें कितनी ही बीमारियों ने घेर लिया और सूख-सूख कर काँटा हो चले । इलाज कोई कारगर न हुआ तो मौत के दिन गिनने लगे ।

समझदारों ने सलाह दी कि कन्फ्यूशियस के परामर्श के लिए जाँय । कई बार दार्शनिक चिकित्सकों से अच्छा इलाज करते हैं ।

दोनों की अंतर्व्यथा कन्फ्यूशियस ने एकांत में सुनी । दोनों ईर्ष्या के मरीज थे । सामने वाले की बढ़ोत्तरी सहन न कर पाते और मन ही मन कुढ़ते रहते । यही था उनकी बीमारी का मूलकारण । कन्फ्यूशियस ने इलाज बताया—वे दुकानों के काउंटर बदल लें । मालिक दूसरे को समझें और उनके गुमास्ते की तरह काम करते रहें ।

इस उपाय से ईर्ष्या से पिंड छूटा और कुछ ही समय में दोनों पूरी तरह नीरोग हो गए ।

प्राचीनकाल के मनीषियों ने इसी कारण आदर्शवादी उत्कृष्टता के जीवन में समावेश को अधिक महत्व दिया था । जो आत्म संतोष वैभव से नहीं मिल सकता वह सेवा-साधना से उलब्ध होता रहा है । यह तथ्य अभी तक यथावत् देखने को मिलता है ।

सेवा मार्ग का सुख कुछ ही वर्ष पहले की बात है । पूना में प्लेग फैला । उसमें राघवदास का पूरा परिवार मर गया । ११ वर्ष का बालक इस आघात को सहन न कर सका और घर छोड़कर साधु बन जाने के लिए निकल पड़ा । साधु-महात्माओं के संपर्क में रहने पर भी उसे समाधान न मिला और सेवा धर्म अपनाया ।

एक दिन पड़ोस के गाँव में आग लग गई । सभी बुझाने को चिल्लाते तो थे, पर उस कार्य के लिए कोई आगे न बढ़ता था । बाबा राघवदास गीला कंबल ओढ़कर घुस पड़े और कई जानें बचा कर निकाल लाये । बिहार के भूकंप और बाढ़ पीड़ितों की सेवा में महीनों लगे रहे । शिक्षा का प्रचार कार्य लगन से किया । पीछे स्वतंत्रता आंदोलन में जेल चले गए । रामायण को उन्होंने जनजागरण का माध्यम बनाया । उनने एक कुष्ठ आश्रम की भी स्थापना की । बाबा जी की ईश्वर भक्ति समाज सेवा थी ।

मन का कल्पना जगत् शास्त्रकारों ने मन को ही शत्रु-मन को ही मित्र कहा है । मन को बदल लेने से बुरी से बुरी परिस्थितियाँ भी अनुकूल बनाई जा सकती हैं ।

एक लड़की को सपने में शेर दिखाई देता, वह बेतरह डर जाती । हालत बिगड़ते देखकर उसे मनःचिकित्सक के पास ले जाया गया ।

सारी बात समझने के बाद मनोविज्ञानी ने लड़की से कहा—"वह शेर तो मुझे भी रोज दिखाई देता है । वह तो बहुत भला है । काटता बिल्कुल नहीं । खिलाड़ी प्रकृति का होने के कारण वह साथी ढूँढ़ता है और इसीलिए सपने में आता है । अब की बार आवे तो तुम उससे दोस्ती जोड़ना । फिर देखना कितना भला और हँसोड़ है वह ।

लड़की का समाधान हो गया, वह प्रसन्न होकर लौटी । सपना तो अब भी आता, पर वह रात में हँसती-मुस्काने लगती । डर मन से बिल्कुल चला गया ।

प्रतिकूलताओं को यदि दुश्मन न मान कर दोस्त मान लिया जाय और उनके कारण अपनी प्रतिभा निखारने का लाभ सोचा जाय, तो फिर वे डरावनी नहीं हँसाने वाली प्रतीत होंगी ।

जब चारों ओर सब अपने ही दीखने लगते हैं तो ऊँचे-पिछड़े, धनी-गरीब, काले-गोरे किसी तरह का भेद नहीं रहता । आत्मा दूसरों के हित के लिए छटपटाने लगती है एवं आत्मीय भाव विस्तृत होने लगता है ।

आवारा लड़कों को राह पर लाने वाले पादरी

नैपल्स नगर में आवारा लड़कों की भरमार थी । दरिद्र और पिछड़े लोगों के लड़के कुसंग में पड़कर अपने-अपने गिरोह बना लेते थे और चोरी, उठाईगीरी, ठगी के धंधे से अपना गुजारा करते थे । नशेबाजी जैसे अनेक दुर्व्यसन बढ़ जाने से वे अच्छे नागरिकों की तरह पढ़ना एवं आजीविका कमाना पसंद भी नहीं करते थे । यह आवारागर्दी यूरोप के अनेक देशों में बढ़ती जा रही थी । सभ्य नागरिकों का उनके मारे नाकों में दम था ।

पादरी बोरोली का ध्यान इन लड़कों की ओर गया । उनने इनके सुधार का बीड़ा उठाया । सूखे उपदेशों को वे सुनने तक को तैयार न होते थे । अस्तु बोरेली ने उनमें घुल-मिलकर रहने तथा मित्रता गाँठने का उपाय अपनाया । पादरी नई उम्र के थे और ठिगने कद के । इसलिए उन्हें उनमें घुल-मिल जाने में अधिक कठिनाई नहीं हुई ।

पादरी ने एक टूटा हुआ पुराना मकान किराये पर ले लिया । ऐसे लड़कों का न तो कहीं आश्रय था और न खाने-पीने का ठिकाना । बोरेली के इस घर में रात्रि को रहने की, शाम को ताजा खाना पकाकर खाने की सुविधा हुई तो सैकड़ों लड़के उस आवारा आश्रम में आने लगे । यही अवसर था जिसमें उन्हें पढ़ाने, कमाने, खाने तथा कुटेव छोड़ने के लिए सहमत किया जा सका और इस योजना के अनुसार हजारों को सभ्य तथा स्वावलंबी बनाया जा सका । पादरी समुदाय ने अन्य स्थानों में भी यह योजना चलाई और बिगड़ों को सुधारने में आशाजनक सफलता पाई ।

व्यवहारो निजोऽभ्येति समीपे स्वस्य स तथा ।
शब्दो वा कन्दुकश्चाऽपि सम्मुखस्थ गृहस्थ तु ।। ३१ ।।
शिखरात् प्रतिहतौ तीव्रमायातस्तु यथा ध्रुवम् ।
स्नेहसौजन्य लाभश्चारम्भकर्त्रेऽधिको भवेत् ।। ३२ ।।
अपेक्षा कृतं यं तु नरमुद्दिश्य तस्य तु ।
प्रत्यक्षं परिणामः स सेवासद्भावजो मतः ।। ३३ ।।
अतिरिक्तया पुण्यं प्राप्यते वर्द्धते तथा ।
मानमाधारमेनं च समाश्रित्याप्यते च यत् ।। ३४ ।।
प्रामाण्यं च वरिष्ठत्वं सहयोगो नृणां ततः ।
प्राप्तुं सा न्यूनता नैव काऽपि कुत्राऽपि दृश्यते ।। ३५ ।।

टीका–अपना व्यवहार गुंबज की आवाज की तरह, फेंकी हुई गेंद की तरह, सामने वाले से टकराकर अपने पास ही लौट आता है । जिसके प्रति स्नेह, सौजन्य बरता गया है, उसे जितना लाभ होता है उसकी तुलना में उस शुभारंभ करने वाले को अधिक लाभ मिलता है । सेवा के बदले सेवा, सद्भाव के बदले सद्भाव, मिलने का परिणाम तो प्रत्यक्ष ही है । इसके अतिरिक्त पुण्यफल भी मिलता है, सम्मान बढ़ता है और इस आधार पर प्रख्यात हुई प्रामाणिकता और वरिष्ठता पर जन-सहयोग मिलने में ही कमी नहीं रहती ।। ३१–३५ ।।

अर्थ–यह बात छोटे से छोटे और बड़े से बड़े प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का अनिवार्य सत्य है । छोटे इसी आधार पर बड़े बनते तथा बड़े इसी आधार पर व्यापक सम्मान और श्रद्धा अर्जित करते हैं ।

पहली परख

जापान के महान संत मेइजी के जीवन की घटना है । एक बार परिचय-पत्र लेकर शिष्य धर्म गुरु केइचु मेइजी के पास गया और बिना कुछ कहे उनके हाथ में वह परिचय-पत्र थमा दिया । लिखा था–राज्यपाल किटागाकी-क्योटो राज्य ।

संत मेइजी ने कार्ड एक ओर रख दिया और बोले–"मुझे इन महाशय से कोई काम नहीं है, न ही उनसे मिलने की आवश्यकता है । जाओ, और उनसे कह दो कि आप यहाँ से जा सकते हैं ।"

शिष्य ने वापस आकर संत के शब्द ज्यों के त्यों कह दिए । राज्यपाल किटागाकी एक बार तो अहंकारवश

क्रुद्ध हो गए, पर पीछे उन्होंने विचार किया–महापुरुषों के पास श्रद्धा और विनीत भाव से जाना चाहिए । संत के न मिलने का कहीं यही कारण तो नहीं ? अतएव उन्होंने दूसरा परिचय पत्र निकाला और उसके 'राज्यपाल क्योटो राज्य' शब्द पेंसिल से काट दिए और केवल अपना नाममात्र ही रहने दिया । कार्ड दुबारा शिष्य को देकर राज्यपाल ने कहा, एक बार और कष्ट कीजिए ।

शिष्य दुबारा परिचय-पत्र लेकर पहुँचा और आचार्य प्रवर को दे दिया । कार्ड पर दृष्टि डालते ही संत मेइजी बोले–"अच्छा, तो किटागाकी आया है । अरे, उससे मिलने की कब से इच्छा थी । जाओ, जल्दी बुला लाओ ।"

राज्यपाल किटागाकी भीतर पहुँच कर, देर तक मंत्रणा कर जब चलने लगे, तो उनके हृदय में असीम प्रसन्नता थी । धर्म का प्रथम पाठ श्रद्धा और विनम्रता का अभ्यास उनके जीवन का संचालक अंग बन गया और उसने उनकी प्रतिष्ठा इतनी बढ़ा दी जितनी की किसी सम्राट् की ।

त्याग का सम्मान

एक था कृपण, इतना कंजूस कि अपने आप पर भी धेला खर्च नहीं करता था । लाखों का स्वामी था; फटे कपड़े पहने रहता । केवल एक अच्छी बात थी उसमें । वह सत्संग में जाता था । सबसे अंत में जूतों के पास बैठ जाता कथा सुनता रहता । भोग पड़ने का दिन आया, तो भेंट चढ़ाने के लिए सब कोई न कोई वस्तु लाए । वह कृपण भी मैले रूमाल में कुछ बाँध के लाया । सब लोग अपनी लायी वस्तु रखते गए, वह भी आगे बढ़ा अपना रूमाल खोल दिया उसने । उसमें अशर्फियाँ थीं; पौंड और सोना । इन्हें पंडित जी के समक्ष उँड़ेलकर वह जाने लगा । पंडित जी ने कहा–"नहीं नहीं सेठ जी ! वहाँ नहीं मेरे पास बैठो ।"

सेठ जी ने बैठते हुए कहा–"यह तो रुपयों का सम्मान है पंडित जी मेरा सम्मान तो नहीं ?" पंडित जी ने कहा–"भूलते हो सेठ जी ! रुपये तो तुम्हारे पास पहले भी थे । यह तुम्हारे रुपये का नहीं, त्याग का सम्मान है । आगे भी ऐसा ही व्यवहार करोगे, तो बदले में यही पाओगे ।"

सच्ची इबादत कौन सी ?

भगवान भी उन्हीं को अपना सच्च भक्त मानते हैं, जिनमें परदुःखकातरता है, दूसरों के लिए सम्मान है । एक बार एक थका–मांदा बूढ़ा हजरत इब्राहीम की कुटी में पहुँचा । वह रात भर वहाँ ठहरना चाहता था । हजरत ने उसका आतिथ्य किया और भोजन कराया ।

इसके बाद उनने पूछा–"आप खुदा की इबादत करते हैं न ?" उसने कहा–"मैं तो अग्निपूजक हूँ और किसी खुदा को नहीं जानता ।"

इस पर इब्राहीम को तैश आया और धकेल कर झोंपड़े से बाहर कर दिया ।

अल्लाह ने पुकारा–"ऐ बंदे ! जिसे मैंने जिंदगी भर निबाहा, उसे तू एक रात भी न निभा सका ?"

गलती मानी गई और वृद्ध को एक रात रहने के लिए व्यवस्था कर दी गयी ।

जन सेवा–परमार्थ और जन–जन के प्रति प्यार का जितना अधिक विस्तार होगा, प्रयत्नों का प्रतिफल उतने ही व्यापक क्षेत्र को मिलेगा ।

पापी के प्रति करुणा भाव

ईसा ने उस दिन एक वेश्या का निमंत्रण स्वीकारा और उसके घर भोजन को गए । सारा शिष्य समुदाय भी साथ चला ।

चारों ओर काना–फूँसी चल पड़ी । यह कैसा भगवान का बेटा है । जो पापनी से घृणा तक नहीं करता । शिष्यों में से धनादय और मुसरसिमोन ने अपने मन की बात ईसा से कह भी दी । 'उद्धार करना है तो सज्जन ही क्या कम हैं, जो आप दुर्जनों के यहाँ जाते और बदनामी सहते हैं ।'

ईसा ने उलट कर पूछा–"सिमोन यदि तुम चिकित्सक होते तो किसी जुकाम पीड़ित और शस्त्रहत रोगी में से किसे प्राथमिकता देते ? तुम्हारा विवेक ऐसी स्थिति में तुम्हें क्या करने को प्रेरित करता ?"

सिमोन ने शस्त्राहत की प्राण रक्षा के लिए जुकाम पीड़ितों की तुलना में प्राथमिकता देने की बात कही ।

ईसा ने फिर पूछा–"यदि मैं अधिक पापी को सुधारने के लिए कम पापी की तुलना में प्राथमिकता देता हूँ, तो उसमें भूल क्या हुई ?"

सिमोन चुप हो गए । वेश्या ने यह प्रसंग सुना तो संत की करुणा पर भाव–विभोर हो गई । दूसरे दिन वह वेश्या न रहकर संत हो गई । यह परिवर्तन जिसने भी सुना, ईसा के प्रति वह सहज ही श्रद्धावनत हो गया ।

अंधे गायक की सेवा-साधना

स्वीडन के एक अंधे गायक ने अंधों को स्वावलंबी बनाने के लिए गा-गाकर अपने देश से एक लाख रुपया एकत्रित किया । वह भारत आया और यहाँ उसने ऐसे उद्योगों का स्कूल खोला जिसमें अंधे पढ़ने के साथ-साथ रोटी कमा सकें और स्वावलंबी जीवन जी सकें । उस विद्यालय में आज २०० अंधे जीवनयापन करते हैं ।

महान्तो मानवास्त्वेनमाधारमभिगम्य ते ।
जाताः समुन्नता याता अग्रे सर्वेभ्य एव च ।। ३६ ।।
स्नेहसौजन्ययुक्तानि तेषां वाक्यानि स तथा ।
व्यवहारोऽपि सर्वैस्तु मानितो मानवैः शुभः ।। ३७ ।।
फलतश्च कृतज्ञत्वभावस्योपकृतेरपि ।
अतिरिक्ततया लाभाः प्राप्ताः प्राप्य तथा त्विमान् ।। ३८ ।।
नरः स्यान्मुदितोऽश्रान्तं गौरवी पुलकाञ्चितः ।
जनानां सहयोगेन कर्तुं नूनुन्नतान् समान् ।। ३९ ।।
नैतिकाऽध्यात्मिकक्षेत्रे लभतेऽवसरः सदा ।
आधारमिममाश्रित्य शिष्टाचारस्य जायते ।। ४० ।।
व्यवहृते सहयोगस्य दिव्या सा तु परम्परा ।
वातावृतिर्यतोऽन्ते च निर्मिता स्याच्छुभावहा ।। ४१ ।।
अवसरः प्रगतेः सर्वैराप्यते नीतिराश्रिता ।
स्नेहसौजन्ययोः सिद्धौ परार्थः स्वार्थ एव च ।। ४२ ।।

टीका—महामानव इसी आधार पर ऊँचे उठे और सबसे आगे बढ़े हैं । उनके स्नेह, सौजन्य से भरे वचन और व्यवहार हर किसी को बहुत भाये । फलतः उनको कृतज्ञता-प्रत्युपकार भावना का अतिरिक्त लाभ भी मिला । इन उपलब्धियों को प्राप्त कर सकने वाला व्यक्ति प्रसन्न-पुलकित रहता है, गौरवान्वित होता है । जन-सहयोग से ही लोगों को ऊँचा उठाने-आगे बढ़ाने का अवसर भौतिक और आत्मिक क्षेत्र में मिलता है । इस आधार पर जन-समुदाय में शिष्टाचार, सद्व्यवहार और सहयोग की परंपरा चलती है और उससे उत्तम वातावरण बनता है । सभी को प्रगति का अवसर मिलता है । स्नेह-सौजन्य की नीति अपनाने पर स्वार्थ और परमार्थ दोनों ही समान रूप से सधते हैं ।। ३६-४२ ।।

अर्थ—महामानवों की पौध से मलयगिरि चंदन की तरह सुवासित वायु के प्रवाह चलते हैं एवं संपर्क में आने वाले क्षेत्र को प्रभावित करते चले जाते हैं । ऐसे व्यक्ति स्वयं श्रेय को प्राप्त होते हैं एवं अन्य-अनेक के लिए प्रेरणा स्रोत बनते हैं । समाज में श्रेष्ठ परंपराएँ इसी कारण जन्मती व उस वर्ग-समूह को ऊँचा उठाती हैं । प्रकारांतर से स्नेह-सौजन्य भरी परमार्थ साधना व्यक्ति के हित के साथ समष्टिगत हित साधन भी करती है । इस प्रकार वह हर दृष्टि से जीवन में उतारने योग्य है ।

सौजन्य की परम्परा

बेंजामिन फ्रैंकलिन ने अपने धनी मित्र की मेज पर बीस डालर की सोने की गिन्नी रखते हुए कहा-"आपने बिगड़े समय में मेरी जो सहायता की थी, उसके लिए आभारी हूँ । मैं अपने प्रारंभिक दिनों में एक मुद्रणालय में समाचार पत्र छापने का काम करता था । उस समय अचानक बीमार पड़ जाने के कारण मैं आपसे बीस डालर ले गया था । अब उस समाचार-पत्र का संपादन और प्रकाशन मेरे ही द्वारा होता है । ग्राहकों की संख्या भी बढ़ गई है । अतः अब इस स्थिति में हूँ आपके द्वारा उधार प्राप्त धन राशि आसानी से वापस कर दूँ ।

धनी व्यक्ति को अब याद आया कि उसने वास्तव में सहायता की थी, पर उसकी कहीं लिखा-पढ़ी न थी । उसने कहा-"हाँ ! मुझे ध्यान आया, पर लौटाने की बात तय नहीं हुई थी । आप उस समय परेशानी में थे । आपने कहा तो मैंने आपकी सहायता कर दी । यह तो मानव का सहज धर्म है कि आपत्तिग्रस्त व्यक्ति की यथा शक्ति सहायता

करे । इस सिक्के को आप अपने पास ही रखो । कभी कोई व्यक्ति आपके पास आयेगा, जिसे धन की वैसी ही आवश्यकता होगी, जैसी एक दिन आप को थी । ऐसी स्थिति में आप उसकी सहायता करना ।

यदि वह आपकी तरह ईमानदार होगा तो आर्थिक स्थिति सुधर जाने पर वह धनराशि वापस करने आयेगा । उस समय आप यही कहना कि उस गिन्नी को वह अपने पास रखे, जब कोई जरूरतमंद व्यक्ति आये तो उसकी सहायता हेतु दे दे ।

यही हुआ । फ्रैंकलिन वह गिन्नी अपने साथ ले गया और उसने दूसरे व्यक्ति को दे दी । अब तक वे बीस डालर अमेरिका में आज भी किसी न किसी की आवश्यकता को पूर्ण करते घूम रहे हैं । वह जिस किसी के पास जाते हैं । उसका अपना भला तो होता है, दूसरों को भी सौजन्य की अद्‌भुत प्रेरणा मिलती है ।

सामाजिक जीवन में जब तक यह परंपरा चलती है, तब तक सर्वत्र स्वर्गीय वातावरण दिखाई देता है । मानवीय संवेदना के अंत को ही प्रलय काल कहते हैं । बाइबिल में विस्तार से इस तथ्य के प्रतिपादन में एक कथा आती है ।

महाप्रलय न आये

मनुष्य के व्यवहार से कुपित होकर महाप्रभु ने प्रलय करने का निश्चय किया । सात दिन तक भयंकर जल वृष्टि कर सारी पृथ्वी को डुबो देने के निश्चय की सूचना उन्होंने नूह को दी ।

महाप्रलय के बाद ! कुछ न बचेगा तो नई सृष्टि कैसे बनेगी ? नूह की उस जिज्ञासा पर महाप्रभु मुस्कराये, उनकी दूरदर्शिता को देखकर एक नाव बनाने का आदेश दिया । जिस पर वे खुद भी रहें और अपने साथ-साथ पशु-पक्षियों के भी कुछ जोड़े रख लें । जलयान बनाने के लिए एक वर्ष का समय दिया गया । वर्ष पूरा हुआ । महाप्रभु ने नूह को बुलाया और नाव बनने की बात पूछी । नूह ने सिर नीचा कर लिया । बोले तीन बढ़ई बीमार पड़ गए । लकड़ी बेचने वाला मुकर गया । मैं क्या करता ? चालीस दिन की मुहलत और दी गई । कहा गया कि इस अवधि में काम हो जाना चाहिए । चालीस दिन बीतने पर जब नूह खाली हाथ लौटे, तो महाप्रभु ने गरमाई दिखाई और कारण पूछा । ''लुहार यात्रा पर चले गए । मजूरों ने हड़ताल कर दी । दोनों लड़के गाने-बजाने में लगे रहे । किसी ने साथ न दिया, मैं क्या करता ?''-नूहे ने विवशता व्यक्त करते हुए कहा । सात दिन का अवसर दिया गया । पशु-पक्षियों के जोड़े भी बटोर लेने की आज्ञा हुई । अंतिम दिन आया, तो भी वह अकेले खाली हाथ खड़े थे । बिना पूछे ही बोले-''पशु-पक्षी भाग खड़े हुए । पुचकारने से भी नहीं लौटे, न वे बिकते हैं और न मेरी पकड़ में आते हैं । महाप्रभु, अब की बार अधिक क्रुद्ध थे ।'' बोले-''ऐसी ही गैर जिम्मेदारियाँ देखकर तो मैं आजिज आ गया हूँ और महाप्रलय बरसा रहा हूँ ? यदि धरती वाले समय और फर्ज को समझते, तो मुझे उसे डुबाने की जल्दी क्यों पड़ती ?''

ऐसी परिस्थितियाँ न आयें इसलिए महापुरुष अपने आचरण से लोगों को विनम्रता का पाठ पढ़ाते रहते हैं । हर व्यक्ति दूसरों के उपकार से लदा हुआ है । छोटे हों या बड़े इस दृष्टि से हर व्यक्ति स्नेह और सम्मान पाने के अधिकारी होते हैं ।

इकबाल की गुरुभक्ति

कवि इकबाल को अरबी, फारसी का विद्वान् बनाने का श्रेय उनके गुरु मौलवी मीरहसन को था । इकबाल में शायरी के प्रति रुचि जागृत करने वाले भी यही मौलबी साहब थे । अत: अपने गुरु के प्रति इकबाल जीवन भर श्रद्धा व्यक्त करते रहे ।

एक बार अंग्रेजी सरकार ने प्रसन्न होकर इकबाल को 'सर' की उपाधि से सम्मानित किया । इकबाल ने वह उपाधि लेने से इन्कार करते हुए कहा-''जब तक मेरे गुरु का सम्मान नहीं किया जाता, तब तक मैं किसी भी उपाधि को ग्रहण करने का अधिकारी नहीं हूँ, क्योंकि आज की स्थिति तक पहुँचाने वाले तो मेरे गुरु ही हैं ।''

इकबाल की शर्त मंजूर कर ली गई । पहले उनके उस्ताद मीरहसन को 'शम्स-उल-उलेमा' का खिताब दिया गया और बाद को इकबाल ने उपाधि ग्रहण की ।

आज जब शिष्यों द्वारा गुरुओं का घेराव किया जा रहा है और उनकी बात को उपहास के रूप में माना जा रहा हो, उस समय यह घटना प्रकाश की एक किरण के समान दोनों को ही अपने संबंध सुधारने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है ।

श्रद्धा गुरु के प्रति ही नहीं शिष्य के प्रति भी आवश्यक है । उसी का नाम स्नेह है ।

ईसा का उपदेश

ईसा की विदाई का अंतिम दिन था । उस रात उनने अपने प्रमुख शिष्यों को बुलाया और सभी के पैर धोये । शिष्यों ने इस पर आश्चर्य व्यक्त किया, तो वे बोले–"जो तुम्हें पूजे उनके प्रति तुम भी पूज्य भाव रखना, क्योंकि वे ही तुम्हें श्रेय प्रदान करते हैं । ऐसा न हो कि सम्मान पाकर इतराओ और अहंकार दबाव से अपनी श्रद्धा गँवा बैठो ।"

कर्तव्यपालन की विवशता भी स्नेह-आत्मीयता के मार्ग में बाधक नहीं बनती । यदि अंत:करण पवित्र हो, उद्धत अहंकार का परित्याग कर दिया जाये, तो कठिन परिस्थितियाँ भी सरल होते पाई गई हैं ।

वत्सलता और कर्मवीरता

एक बार राजा शकुंत महर्षि तपोवन में गए । वहाँ उन्होंने सभी मुनियों के पैर छुए, संयोग से महर्षि विश्वामित्र रह गए । विश्वामित्र इसे अपमान जानकर बड़े ही क्रुद्ध हुए । विश्वामित्र ने अपने शिष्य महाराज से सारी बात कही, तो राम को भी यह बात ठीक नहीं जँची । राम ने उनको प्रण दिया कि आज सायंकाल तक या तो शकुंत को आपके चरणों में झुका दूँगा अन्यथा अपना शीश काटकर आपके चरणों में चढ़ा दूँगा । राजा शकुंत को जब यह समाचार मिला, तो भागकर माता अंजना के यहाँ शरण ली । माता अंजना ने उन्हें अभयदान दिया और अपने पुत्र हनुमान जी को कुटिया की रक्षा पर नियुक्त किया । श्रीराम वहाँ भी पता लगाने आये । उन्होंने भक्त हनुमान जी को अंदर जाने को समझाया, परंतु हनुमान जी तो माता की आज्ञा और शरणागत की रक्षा में प्रतिबद्ध थे । दोनों में घमासान युद्ध हुआ । सूर्य डूबने को जा रहा था कि हनुमान जी की गदा से आहत होकर भगवान रामचंद्र भूमि पर गिर पड़े ।

महावीर के पौरुष बल की सराहना करते हुए रामचंद्र जी ने अपनी हार मान ली । हनुमान जी तत्काल ही उनके चरणों में गिर पड़े और अपनी धर्म रक्षा की विवशता बताते हुए क्षमा याचना करने लगे । तुरंत ही उन्होंने शकुंत को भी बुलाया और उनके चरणों में झुकाकर उसे भी धन्य किया ।

इतने में ही विश्वामित्र जी भी आ पहुँचे, सबने उनको प्रणाम किया तथा शकुंत ने अपराध के लिए क्षमा याचना की । सभी ने हनुमान जी की भरसक प्रशंसा की ।

एक अनूठा उदाहरण

सन् १९३७ की एक घटना है । अमृतसर के राय बहादुर प्रतापसिंह चुनाव में खड़े हुए । मुकाबले में थे सरदार भगतसिंह के पिता सरदार किशन सिंह । ख्याति की दृष्टि से सरदार किशन सिंह अग्रणी थे, फिर भी चुनाव अवैध ठहराये जाने के कारण राय बहादुर साहब को अवसर मिल गया । वे दुबारा खड़े हुए ।

समझदारों के समझाने-बुझाने पर राय बहादुर साहब ने अपना नाम वापस ले लिया । चुनाव लड़ने के लिए उनने एक नई कार खरीदी थी, उसे भी उन्होंने सरदार जी को यह कहकर दे दिया कि यह तो वैसे ही चुनाव में खप जाने वाली थी ।

कार उन्हें निजी उपयोग हेतु दी गई थी, पर उसे उन्होंने कांग्रेस दफ्तर के हवाले कर दिया । खुद पहले की तरह साइकिल पर दफ्तर जाते रहे ।

सच पूछा जाये तो यही सच्ची योग साधना है । इससे मिलने वाले आत्म संतोष को स्वर्गीय कहा जा सकता है ।

व्यापार की समष्टि साधना

अठारहवीं सदी में गुजरात में भीषण अकाल पड़ा । चारों ओर हाहाकार मच गया । मनुष्य, पशु-पक्षी सभी भूख से तड़प-तड़प कर मरने लगे ।

गुजरात के राजा ने साधु-संतों से यज्ञानुष्ठान करने की प्रार्थना की । स्वयं भी बड़े-बड़े ज्ञानी पंडितों को लेकर अनेक यज्ञ किए, फिर भी वर्षा नहीं हुई । प्रजा के दु:ख को देखकर राजा व्याकुल हो उठा । आँखों में आँसू भरकर स्वयं भगवान से प्रार्थना करने लगा । एक दिन प्रार्थनारत राजा के सामने एक संन्यासी प्रकट हुआ और सांत्वना के स्वर में बोला–"राजन् ! चिंता मत करो । आपके राज्य में अमुक व्यापारी रहता है, यदि वह चाहे तो वर्षा हो सकती है ।"

राजा स्वयं चलकर व्यापारी के घर पहुँचे और उससे वर्षा कराने के लिए निवेदन करने लगे । पहले तो

व्यापारी ने कुछ करने से आना-कानी की परंतु राजा की विनय और मनुष्यों के दु:ख को देखकर उसका हृदय द्रवित हो उठा । उसने राजा से कहा-"राजन् ! आप धैर्य धारण करें । मैं जलवृष्टि के लिए अवश्य उपाय करूँगा ।"

व्यापारी ने अपनी तराजू उठा ली और बाहर निकल कर बोल उठा-"हे इंद्रदेव ! यदि इस तराजू से मैंने कभी कम या अधिक न तोला हो, सदा ईमानदारी का पालन किया हो तो, देवराज इंद्र आप अवश्य जल वृष्टि करें ।" व्यापारी का इतना कहना था कि आकाश में बादल छा गए और घनघोर वर्षा होने लगी । चारों ओर पानी ही पानी भर गया । लोग हर्ष से नाच उठे ।

संन्यासी एक संन्यासी गृहस्थी छोड़ कर कुटी बनाकर गंगा किनारे रहने लगा । साधुओं से ही उसका निरंतर संपर्क रहता । दो साधुओं को दस पैसे दक्षिणा के सिलसिले में आपस में सिर पीटते देखा । एक विद्वान महात्मा के प्रवचन उसे बहुत अच्छे लगते थे । उन्हें रोज सुनने जाता । बाद में मालूम पड़ा कि एक महिला को उड़ा ले जाने के सिलसिले में उसे पुलिस पकड़ ले गई । ऐसी ही साधुओं की करतूतें देखकर निश्चित किया कि इनसे तो गृहस्थ अच्छे । वह वापस अपने घर लौट गया ।

बहुतों ने अच्छा कहा, बहुतों ने बुरा कहा, पर वह गृहस्थ में साधु रहकर अपनी दिनचर्या चलाने लगा । उसने एक-एक मुट्ठी अनाज हर घर से संग्रह करके अपने गाँव में पाठशाला स्थापित की । उसने घूम-घूमकर बीस पाठशालाएँ और खुलवाईं । पीछे कितने ही हाईस्कूल बन गए । उसकी आत्मा ने कहा-'ऐसे साधु बनने से तो सद्गृहस्थ बनकर सेवा करना अच्छा ।'

प्यार सौजन्य संवेदना के लिए शब्दों की, आचरण की भी आवश्यकता नहीं; यह तो आत्मा की अभिव्यक्ति और उसकी पहचान है ।

अंधी, गूँगी, बहरी केलर हेलन केलर का नाम हर शिक्षित ने सुना होगा जिसके साथ प्रकृति ने बदी करने में कोई कमी नहीं रहने दी । वह अंधी, बहरी, गूँगी तीनों ही व्यथाओं से पीड़ित थी । पर अपनी सूझबूझ और संकल्प बल के सहारे शिक्षा प्राप्ति का कोई न कोई तरीका निकालती रही और बुद्धि-कौशल के सहारे सफल होती रही । उसने अंग्रेजी में एम०ए० पास किया और साथ ही लैटिन, फ्रेंच, जर्मन आदि में प्रवीण थी । घरेलू काम रोटी बनाने से लेकर कपड़े धोने तक वह भली-भाँति कर लेती थी ।

उसने कुशलता का उपयोग अपने ही लिए नहीं किया वरन् अपंगों की शिक्षा तथा स्वावलंबन के लिए सारे संसार में भ्रमण करके करोड़ों रुपया एकत्रित किया । उसकी विद्या से प्रभावित होकर कितने ही विश्वविद्यालयों ने उसे डॉक्ट्रेट की मानद उपाधि दी । लोग उसे देखकर संसार का आठवाँ आश्चर्य कहते ।

संत इन्हीं गुणों से बनते हैं । उद्दंड से उद्दंड व्यक्ति को भी इस आधार पर सिखाया, समझाया और आदर्श आचरण के लिए सहमत किया जा सकता है ।

सच्ची वफादारी उस दिन बादशाह ने बहुत शराब पी रखी थी । मदहोशी में वे गृहस्थों के घरों में घुसने लगे । साथ में वफादार नौकर था, उसने बढ़ने से रोका और घसीटता हुआ राजमहल में ले आया । होश में आने पर दूसरे दिन दरबारियों ने नौकर की गुस्ताखी बताई और उसे सजा देने को कहा ।

बादशाह ने उसे राज्य मंत्री बना दिया और कहा-"वफादारी इसमें है कि मालिक को गलत रास्ते पर चलने से रोके भी ।"

शिक्षा पाली— जान बचा ली जन सहयोग के बल पर बड़ी से बड़ी मुसीबत टाली जा सकती है । एक जंगल में हिरन, कौआ, कछुआ और चूहा रहते थे । विपरीत बुद्धि के कारण परस्पर झगड़ते रहते थे । शिकारी अक्सर उन्हें मारते रहते थे, सो उनका वंश नष्ट हो चला था । एक दिन एक संत ने उन्हें हिल-मिल कर रहने का उपदेश दिया । वे चारों मिल-जुल कर रहने को सहमत हो गए ।

एक दिन एक शिकारी आया । दिन भर कोई शिकार न मिलने पर उसने रेंगते हुए कछुए को पकड़ा और जाल में रखकर चलने लगा ।

तीनों मित्र असमर्थ तो थे; पर उन्होंने सूझबूझ और सहकारिता से काम लिया । हिरन शिकारी के सामने से लंगड़ाते हुए चलने लगा । कौआ उसकी पीठ पर बैठ गया । इस स्थिति का लाभ उठाकर वह आसानी से उसे पकड़

सकता है । यह सोचकर जाल जमीन पर रखकर शिकारी हिरन के पीछे दौड़ा ।

इतने में चूहे ने जाल काट दिया और कछुआ भाग कर एक झाड़ी में छिप गया । बहुत देर पीछा करने के बाद जब हिरन ने कुलाचें भरीं, तो निराश शिकारी वापस लौटा । जाल कटा और कछुए को गायब पाया ।

शिकारी को उस क्षेत्र में किसी भूत-प्रेत की उपस्थिति एवं करतूत प्रतीत हुई, सो वह रात्रि में उधर रुके बिना ही भयभीत होकर तत्काल घर लौट पड़ा ।

मित्रता और सूझबूझ के सहारे मनुष्य कठिनाइयाँ आसानी से पार कर लेता है; जबकि इक्कड़ प्रकृति तथा संतुलन खो बैठने वाले छोटी मुसीबत में भी भारी हानि उठाते हैं ।

उद्दण्डादुर्जनास्ते तु न पराक्रमशालिनः ।
भवन्ति तेऽपराधित्वधिया क्राम्यन्ति सन्ततम् ।। ४३ ।।
क्रियात्मकेषु कार्येषु न तु लग्नतया क्वचित् ।
स्थातुं समर्था जायन्ते समाजपरिपन्थिनः ।। ४४ ।।
धैर्यं मनोबलं चाऽस्य कृतेऽपेक्ष्ये भवन्त्यपि ।
आदर्शनिष्ठायोगाच्च कार्याण्यत्र महान्त्यपि ।। ४५ ।।
कष्टानि सहमानैश्च क्रियन्ते तानि मानवैः ।
संकल्पं चेदृशं तस्मादधिगच्छन्ति सन्ततम् ।। ४६ ।।
मनःस्थितौ तथेदृश्यां नैति कश्चिन्निराशताम् ।
योद्धुमुत्सहते चात्राऽसाफल्ये प्रतिगामिभिः ।। ४७ ।।
पराक्रमयुतानां च नराणां साहसैः श्रमैः ।
मनोबलेन सिद्धानि कार्याऽत्यत्र महान्त्यपि ।। ४८ ।।

टीका—दुर्जन उद्दंड भर होते हैं, पराक्रमी नहीं । वे अपराधी प्रवृत्ति अपनाकर आक्रमण कर सकते हैं, पर किसी सृजनात्मक कार्य में लगनपूर्वक देर तक टिके नहीं रह सकते, वस्तुतः वे समाज के शत्रु हैं । इसके लिए धैर्य और मनोबल चाहिए । आदर्शवादी निष्ठा के योगदान से महान् कार्य बन पड़ते हैं । कष्ट सहकर भी उन्हें करते रहने का संकल्प इन्हीं कारणों से मिलता है । ऐसी मनःस्थिति होने पर असफलता की स्थिति में भी निराशा नहीं आती और प्रतिकूलताओं से जूझने का साहस अक्षुण्ण बना रहता है । पराक्रमी लोगों के अथक श्रम, अदम्य साहस और अटूट मनोबल के सहारे ही संसार के महान् कार्य बन पड़े हैं ।। ४३-४८ ।।

अर्थ—पराक्रम-सौजन्य के साथ ही निभता है । सज्जनता कभी उद्धत उच्छृंखलता को प्रश्रय नहीं देती । सौम्य होना ठीक है, परंतु अनीति सहकर नहीं । उसके लिए पर्याप्त साहस-संकल्प बल होना चाहिए ताकि दृढ़ता से उद्दंडों से जूझा जा सके । विनम्रता युक्त पराक्रम ही वस्तुतः महामानवों के लिए अभीष्ट है । यह मानवीय गुण, मानवीय चेतना के उस अमृत के समान है, जिसके सहारे दुर्जन समुदाय को भी बदला जा सकता है । अटूट लगन व धैर्य के सहारे वे यह भी कर दिखाते हैं ।

सौजन्य व्रत एक बार वैशाली क्षेत्र में दुष्ट-दुराचारियों का उत्पात-आतंक इतना बढ़ा कि उस प्रदेश में भले आदमियों का रहना कठिन हो गया । लोग घर छोड़-छोड़ कर अन्यत्र सुरक्षित स्थानों के लिए पलायन करने लगे । इन भागने वालों में ब्राह्मण समुदाय का भी बड़ा वर्ग था । नीति धर्म की बातें करने के कारण आक्रमण भी उन्हीं पर अधिक होते थे ।

वैशाली के ब्राह्मणों ने महर्षि गौतम के आश्रम में चलकर बसना उचित समझा । तपोबल के प्रभाव से वहाँ गाय और सिंह एक घाट पर पानी पीते थे ।

वे पहुँचे, आश्रय मिल गया, सुखपूर्वक रहने लगे । बहुत दिन इसी प्रकार बीत गए । उन्हें न कोई कष्ट था न भय । एक दिन महर्षि नारद उधर से निकले, कुछ समय गौतम आश्रम में रुके, इस समुदाय के संरक्षण की नई व्यवस्था देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे ।

ब्राह्मण समुदाय से यह न देखा गया । ईर्ष्या उन्हें बेतरह सताने लगी । उनके आगमन से ही तो गौतम ने इतना श्रेय कमाया । हमने ही उन्हें यश दिलाया, अब हम ही अपना पुरुषार्थ दिखाकर उन्हें नीचा भी दिखाएँगे ।

षड्यंत्र रचा गया । रातों-रात एक मृत गाय आश्रम के आँगन में डाली गयी । कुहराम मच गया यह गौतम ने मारी है, हत्यारा है, पापी है । इसका भंडाफोड़ सर्वत्र करेंगे ।

गौतम योग साधना से उठे और यह कौतूहल देखकर अवाक् रह गए । आगंतुकों को विदा करने का निश्चय हुआ । ऋषि बोले-"मूर्धन्यजनों को ईर्ष्या अन्यान्यों की अपेक्षा अधिक घातक और व्यापक परिणाम उत्पन्न करती है । आप लोग जहाँ रहते थे, वहाँ चले जाँय । अपनी ईर्ष्या से जिस क्षेत्र को कलुषित किया था, उसे स्नेह-सौजन्य के सहारे सुधारने का नए सिरे से प्रयत्न करें । यही हुआ । कलुषित क्षेत्र पुनः पवित्र हो गया ।

महापुरुष प्रारंभ से ही यह रीति-नीति अपनाते हैं । वस्तुतः पीड़ा और पतन के प्रति मन में जगी सेवा-संवेदना ही सामान्य व्यक्ति को महान् बनाती है । महानता विकसित करनी हो तो यही परंपरा अपनानी पड़ेगी ।

स्वाइत्जर का उपकार

जर्मनी के सेवाव्रती स्वाइत्जर अनेक विषयों में ग्रेजुएट थे । अच्छी तनख्वाह पर काम कर रहे थे । अफ्रीकी जंगलियों की शिक्षा और चिकित्सा की आवश्यकता उन्होंने अनुभव की कि इसके बिना वे दासों की तरह पकड़े व बेचे जाते रहेंगे । स्वाइत्जर ने नौकरी छोड़ दी और अफ्रीका के पिछड़े इलाकों में शिक्षा तथा प्रचार कार्य करने लगे । इस कार्य में उन्हें अनेकों कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ीं; पर वे आजीवन उसी कार्य में लगे रहे, जिस इलाके में वे रहे, उसमें सभ्यता का बहुत प्रचार करते रहे ।

बच्चे के प्रति बत्तखों का स्नेह

स्वाइत्जर ने एक पुस्तक लिखी है-'हूम वी से एनीमल्स' (हम जिन्हें जानवर कहते हैं) उसमें एक मार्मिक उदाहरण देकर उन्होंने समझाया कि पशु-पक्षी तक अपने समुदाय की सेवा के लिए जान तक देने को तैयार रहते हैं फिर मनुष्य अपने मनुष्य समाज की पीड़ा न पहचाने, तो मनुष्य की श्रेष्ठता कहाँ रही ?

संस्मरण इस प्रकार है-"मैं शाम को परिभ्रमण करने जाता । एक झील के किनारे बैठ कर जंगली बत्तखों की जलक्रीड़ा देखा करता । पक्षी प्रतिदिन शाम को पाँच बजे जंगल की एक उपत्यका की ओर उड़ जाते थे । एक दिन एक माली ने उनमें से एक बच्चे के पंख काट दिए । उस दिन नियत समय पर पक्षी उड़े पर वे कुछ देर में नीचे उतर आये । मुझे बहुत विस्मय हुआ । इसी बीच पक्षियों ने उड़ान भरी । थोड़ी देर आकाश में चक्कर काटते रहे पर वे गए नहीं फिर नीचे उतर आये । कौतूहलवश मैंने जाकर देखा नन्हें बच्चे के स्नेह ने उन्हें घर जाने नहीं दिया जब तक उस बच्चे के नए पंख नहीं उग आये । पक्षी समुदाय खूँख्वार जंगली जानवरों से भरे उस जंगल में ही बना रहा ।"

साहसी बालक

सेवा-साधना को कई बार दुष्ट, दुर्जन दुर्बलता समझने लगते हैं । वे उन्हें सताने लगते हैं । उससे लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि उद्दंडता में अधिक शक्ति है । वस्तुतः उद्दंड देखने भर से महाबली प्रतीत होते हैं । आवेश को शक्ति समझना भूल है ।

एक भैंस थी, बड़ी उपद्रवी । रस्सा तुड़ाकर भाग जाती थी और जिस खेत में घुस जाती, उसी को कुचल कर रख देती । पकड़ने वालों की भी वह अच्छी खबर लेती । एक दिन तो उसका दिमाग ही खराब हो गया । किसी की पकड़ में आती न थी ।

हैरान लोगों के बीच में से एक लड़का निकला, उसने सिर पर हरी घास का एक गट्ठा रख लिया और उपद्रवी भैंस की तरफ सहज स्वभाव से आगे चलता गया । वह ललचाई और घास खाने के लिए आगे बढ़ने लगी । लड़के ने उसके आगे गट्ठा डाल दिया और मौका मिलते ही उछलकर उसकी पीठ पर जा बैठा और डंडे से पीटते हुए बाड़े में ले आया ।

देखने वाले एकाएक हँस पड़े और कहने लगे-"हम सब कितने भ्रम में थे । आज पता चला कि उद्दंड देखने में तो भयंकर प्रतीत होते हैं, पर उन्हें तो एक साहसी बालक ही पीट सकता है ।"

यही पराक्रम है । ऐसे पराक्रम की गाथाओं से इस देश के इतिहास के पन्ने पर पन्ने रंगे पड़े हैं ।

वीर अश्वपति

अश्वपति ने राज्य विस्तार तो नहीं किया पर समर्थ नागरिक तैयार करने के लिए जो भी उपाय संभव थे, उसने किए । यही कारण था कि उसके राज्य में सब स्वस्थ, वीर और बहादुर नागरिक

थे । काना, कुबड़ा, दीन-हीन और आलसी उनमें एक भी न था । अश्वपति के राज्य में जन्म लेते ही बच्चे राज्याधिकारियों के नियंत्रण में सौंप दिए जाते थे । उनकी शिक्षा-दीक्षा का प्रबंध अश्वपति स्वयं करता था । उसका हर युवक चरित्र, बल, दृढ़ता, शौर्य और संयम की प्रतिमूर्ति थी । यही कारण था कि उस छोटे-से राज्य से भी कोई टक्कर नहीं ले पाता था ।

प्रतापी सम्राट् पोरस से युद्ध करने के बाद सिकंदर की सेना ने आगे बढ़ने से इन्कार कर दिया, उस समय सिकंदर ने सोचा, आस-पास के छोटे राज्य ही हस्तगत क्यों न कर लिए जायें ? उसकी वक्र दृष्टि अमृतसर के समीप रावी नदी के तट पर बसे अश्वपति के राज्य पर पड़ी । सिकंदर ने अश्वपति की वीरता की गाथायें पहले ही सुन रखी थीं, उसके सिपाही भी हिम्मत हार चुके थे, इसलिए उसने मुकाबले की अपेक्षा छल से रात में अश्वपति पर आक्रमण कर दिया । युद्ध के लिए अनिश्चित अश्वपति के सैनिकों को सिकंदर के सिपाहियों ने छलपूर्वक काटा और इस तरह यह युद्ध भी यूनानियों के हाथ रहा । महाराज अश्वपति बंदी बना लिए गए । सिकंदर ने अश्वपति के शौर्य की परीक्षा लेने के इरादे से उसे बंधन मुक्त कर दिया और संधि कर ली । इस खुशी में एक सम्मिलित दरबार आयोजित किया गया । अश्वपति अपने खूँख्वार लड़ाका कुत्तों के लिए विश्वविख्यात था, चार कुत्ते हमेशा अश्वपति के साथ रहते थे । जब वे दरबार में पहुँचे, तब वह कुत्ते भी उनके साथ थे । सिकंदर ने उनके पहुँचते ही व्यंग्य किया-"महाराज ! यह भारतीय कुत्ते हैं ।" अश्वपति ने तुरंत उत्तर दिया-"हाँ, यह छिपकर आक्रमण नहीं करते, शेरों से भी मैदान में लड़ते हैं । लड़ाई का आयोजन किया गया ।

उधर शेर इधर दो कुत्ते, लड़ाई छिड़ गयी । शेर ने कुत्तों को लहूलुहान कर दिया, पर कुत्तों ने भी शेर के छक्के छुड़ा दिए । शेष दो कुत्ते भी छोड़ दिए गए और तब शेर को भागते ही बना । पर कुत्तों ने उसके शरीर में ऐसे दाँत चुभाये कि शेर वहीं आहत होकर गिर पड़ा । अश्वपति ने ललकार कर कहा-"महाराज ! आपकी सेना में कोई वीर है, जो कुत्ते के दाँत शेर के माँस से अलग कर दे ? बारी-बारी से कई योद्धा उठे और कुत्तों की टाँगें पकड़ कर खींचने लगे, कुत्तों की टाँगें टूट गईं पर वे दाँत न छुड़ा सके । सात फुट लंबे अश्वपति ने अपने अंग रक्षक को संकेत किया । वह उठकर शेर के पास पहुँचा और कुत्ते को पकड़ कर एक ही झटका लगाया कि शेर की हड्डी और माँस सहित कुत्ता भी खिंच गया ।

सिकंदर ने युद्ध जीत लिया पर इस यथार्थ के आगे वह अपना सिर झुकाये बैठा था ।

मनुष्य की तलाश

अनीति के प्रति आक्रोश हो तो वह संयत होना चाहिए । इस लक्ष्य को समझाने के लिए एक फकीर ने निराली विधि अपनायी । फकीर प्रतिदिन सुबह के समय हाथों में दो मशालें लेकर बाजार में चला जाता । हर दुकान के सामने थोड़ी देर ठहरता और आगे बढ़ जाता ।

एक व्यक्ति ने पूछा-"बाबा ! तुम दिन के समय मशालें लेकर क्या देखते फिरते हो ? क्या ढूँढ़ते हो ?"

फकीर ने उत्तर दिया-"मैं मनुष्य खोज रहा हूँ । इतनी भीड़ में हमें अभी तक कोई मनुष्य नहीं मिला ।"

उस व्यक्ति के मनुष्य की परिभाषा पूछने पर फकीर बोला-"मैं उसको मनुष्य कहता हूँ जिसमें काम की वासना और क्रोध की अग्नि न हो, जो इंद्रियों का दास न होकर उनका स्वामी हो और क्रोध के आवेश में आकर अपने लिए और दूसरों के लिए आग की लपटें उभारने का यत्न नहीं करता ।"

अहिंसा की परिभाषा

पराक्रम का अर्थ यह है कि सौजन्य बनाये रखकर अनीति से मोर्चा लिया जाय । एक बार गुजरात विद्यापीठ की कुछ लड़कियों ने शिकायत करते हुए किशोरीलाल भाई से पूछा-"कुछ लड़के कभी-कभी हमसे छेड़खानी करते हैं । बताइये हम कैसे प्रतिकार करें ।"

वे अहिंसात्मक प्रतिकार का उपाय पूछ रही थीं । किशोरीलाल जी ने कहा-"तुम्हारे पैरों में चप्पल तो होते हैं, खोलकर मार दो ।" लड़कियों ने उत्तर दिया कि हम अहिंसात्मक उपाय जानना चाहती हैं, यह तो हिंसात्मक है । उन्होंने कहा-"तुम खुद बापू से जाकर पूछ लो ।"

लड़कियाँ बापू के पास गयीं तथा किशोरीलाल जी की बात दुहरायी । उन्होंने कहा-"बस, किशोरीलाल जी ने यही बताया । मैं तो कहूँगा, यदि तुम्हारे पास छुरी हो तो उनके छुरी भोंक दो, यदि तुम्हारे साथ कोई कुत्सित हरकत करना चाहे । मैं तो तुम्हारे लिए इसे अहिंसा ही कहूँगा ।" अवांछनीय तत्वों को परास्त करने से तो, उनसे पीड़ित कई लोगों का त्राण होगा ।

प्रतिशोध का कुचक्र

कभी-कभी नीति-अनीति की मर्यादा समझे बिना पराक्रम का दुरुपयोग किया जाता है । इसके दुष्परिणाम एक बड़े वर्ग को भुगतने पड़ते हैं । द्रोणाचार्य द्रुपद की राज्य सभा में कुछ याचना के लिए गए और गुरुकुल में साथ पढ़ने के प्रसंग की चर्चा करते हुए उन्हें मित्र कहने लगे । द्रुपद ने द्रोणाचार्य का तिरस्कार किया । यह बात द्रोण के मन में चुभ गई । उन्होंने पांडवों से दक्षिणा माँगी कि द्रुपद को पराजित करके रस्से से बाँध कर मेरे सामने प्रस्तुत किया जाय । वैसा ही हुआ पर दोनों पक्षों का विद्वेष अपने-अपने स्थान पर आजीवन बना रहा ।

पांडवों ने 'अश्वत्थामा' मर गया की अफवाह फैलाकर द्रोणाचार्य की मृत्यु कर दी । जबकि वह मारा नहीं गया था । धर्मराज तक को छलयुक्त झूठ बोलना पड़ा । आचार्य पुत्र अश्वत्थामा ने बदला लेने के लिए पांडवों के पाँच पुत्र मार डाले ।

द्रौपदी ने प्रतिशोध के कुचक्र को तोड़ने के लिए अश्वत्थामा को बंधन मुक्त करा दिया । अन्यथा भिंड-मुरैना के डाकुओं की तरह पीढ़ी दर पीढ़ी प्रतिशोधजन्य हत्यायें होती रहतीं । समय पर सौजन्य ने पराक्रम के साथ समन्वय बिठाकर स्थिति नियंत्रित कर ली । यही वास्तविक धर्माचरण है ।

वागभट्ट की साधना

पराक्रम की सार्थकता श्रमशीलता, लगन, प्रचंड संकल्प बल के समन्वय के कारण ही होती है । धन्वन्तरि के विद्यालय में बागभट्ट आयुर्वेद पढ़ रहे थे । उनकी पीठ में एक भयंकर फोड़ा निकला । उपचार के लिए एक जड़ी की आवश्यकता पड़ी । गुरुदेव ने उसका नाम बताया, आकृति समझाई और वन प्रदेश में उसे खोजने लाने के लिए भेजा ।

बागभट्ट तीन महीने तक ध्यानपूर्वक जड़ी-बूटियाँ खोजते रहे । अनेक प्रकार की देखी समझीं तो, पर अभीष्ट औषधि मिली नहीं, वे वापस लौट आये ।

धन्वन्तरि ने विवरण सुना तो ज्ञानवृद्धि और नई खोज पर प्रसन्नता व्यक्त की ।

दूसरे दिन छात्र को लेकर वे पड़ौस के खेत में गए और अभीष्ट औषधि उखाड़ लाए । सेवन कराई तो छात्र कुछ ही दिन में अच्छा हो गया । अवसर पाकर बागभट्ट ने गुरुदेव से पूछा-"भगवान, औषधि तो पास में ही खड़ी थी । फिर मुझे इतने कष्टसाध्य प्रयास के लिए क्यों भेजा ।"

धन्वन्तरि ने कहा-"वत्स, प्रयोजन लाभ की तुलना में ज्ञान और अनुभव का संपादन अधिक महत्वपूर्ण है । तुम इस कारण इतना पुरुषार्थ कर सके, वह लाभ अनायास की उपलब्धि से कहाँ मिल पाता ?"

तुलिता मणिमुक्ताभिः शोभनाः श्रमसीकराः ।
लग्नता सिद्धयधिष्ठात्री प्रोक्ता कामदुधा बुधैः ।। ४९ ।।
तत्परत्वं तन्मयत्वं सुयोगं यत्र गच्छतः ।
साफल्यासौ न सन्देहस्तत्र कश्चिद् भवेन्नृणाम् ।। ५० ।।
कालश्रममनोयोगत्रयाणां यः समन्वयः ।
स्रोतः सर्वविधानां तत् साफल्यानां मतं स्वतः ।। ५१ ।।
रहस्यमेतज्जानन्ति नराः स्वीकुर्वते च ये ।
इयं भाग्यमहालक्ष्मीश्छायेवैतानुपासते ।। ५२ ।।
जोवतुं तु कियत्केन नेदं वर्षैस्तु गण्यते ।
परं पौरुष संलग्नश्रममाश्रित्य गण्यताम् ।। ५३ ।।

टीका-स्वेदकणों की मणि-मुक्ताओं से तुलना की गई है । लगन को सिद्धियों की अधिष्ठात्री कहा गया है । यह कामधेनु है । तत्परता और तन्मयता का जहाँ भी सुयोग बनता है, वहाँ सफलता मिलने में कोई संदेह नहीं रह जाता है । समय, श्रम और मनोयोग का समन्वय ही समस्त प्रकार की सफलताओं का स्रोत है, जो इस रहस्य को अपनाते हैं, भाग्य लक्ष्मी उन्हें चारों ओर से घेरे रहती है । कौन कितना जिया, इसका मूल्यांकन वर्षों के हिसाब से नहीं, वरन् पुरुषार्थ में लगे श्रम के आधार पर किया जाता है ।। ४९-५३ ।।

अर्थ--अकेला श्रम भी निरर्थक है । समय प्रचुर मात्रा में हो पर श्रम का माद्दा न हो, काम के प्रति तन्मयता न हो, तो वह भी व्यर्थ ही जाता है । जहाँ आदमी के पसीने की बूँदें गिरती हैं, वह धरती धन्य हो जाती है । सार्थक श्रम भले ही वह सीमित समय में किया है । समृद्धि लाता है, उस व्यक्ति के जीवन को सार्थक बना देता है ।

स्वामी विवेकानंद, आद्य शंकराचार्य एवं संत ज्ञानेश्वर बहुत कम समय जिए, पर जितना कार्य इस अवधि में वे कर गए, वह इतिहास के स्वर्णिम अक्षरों में लिखा गया । पुरुषार्थ एवं मनोयोग जहाँ हों, वहाँ कम समय में भी बहुमूल्य विभूतियाँ अर्जित की जा सकती हैं ।

स्काटलैंड में जेम्स किरटन नाम के एक बालक ने १२ वर्ष में ही अरबी, ग्रीक, यहूदी तथा फ्लेमिश सहित विश्व की १२ भाषाएँ सीख ली थीं । २० वर्ष तक वह विज्ञान की सभी भाषाओं का पंडित हो गया था । उसके और सामान्य व्यक्ति के आहार और जीवन क्रम में कोई विशेष अंतर नहीं था । फ्रांस में जन्मे लुईस कार्डक मात्र ९ वर्ष की आयु के थे, तभी अंग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मनी तथा अन्य यूरोपीय भाषाएँ बोल लेते थे । इससे भी बड़ा आश्चर्य यह था कि वह ६ माह की आयु में ही बाइबिल पढ़ लेते थे । ६ वर्ष की आयु तक पहुँचने पर कोई भी प्रोफेसर गणित, इतिहास और भूगोल में इनकी बराबरी नहीं कर पाता था । जो ज्ञान और बौद्धिक क्षमताएँ इतने अधिक अध्ययन और अभ्यास से विकसित हो पाती हैं और वैज्ञानिक मान्यता के अनुसार जिन्हें पदार्थ की परिणति होनी चाहिए थीं, वह शारीरिक विकास के अभाव में ही इतने विकास तक कैसे जा पहुँचीं ?

ब्लेइस पास्कल ने १२ वर्ष की आयु में ही ध्वनि-शास्त्र पर निबंध प्रस्तुत कर सारे फ्रांस को आश्चर्य में डाल दिया था । जीन फिलिप बेरोटियर को १४ वर्ष की आयु में ही डाक्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि मिल गई थी । उनकी स्मरण शक्ति इतनी तीव्र थी कि दिन याद कराने की देर होती थी उस दिन की व्यक्तिगत, राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ भी टेप की भाँति दुहरा सकते थे । जोनी नामक आस्ट्रेलियाई बालक को जब तीन वर्ष की आयु में विद्यालय में प्रवेश कराया गया तो वह उसी दिन से ८ वीं कक्षा के छात्रों की पुस्तकें पढ़ लेता था । उसे हाईस्कूल में केवल इसलिए प्रवेश नहीं दिया जा सका क्योंकि उस समय उसकी आयु कुल ५ वर्ष थी जबकि निर्धारित आयु १२ वर्ष न्यूनतम थी ।

ये उदाहरण बताते हैं कि आयु कभी प्रतिभा-सफलता में बाधक नहीं होती । यदि लगन हो तो संचित संस्कारों को जगाकर कम आयु में भी वे उपलब्धियाँ हस्तगत की जा सकती हैं जो बड़ी आयुष्य पाने वाले भी पाने की लालसा लिए हाथ मलते चले जाते हैं ।

दांते ने नौ वर्ष की आयु में भावपूर्ण कविताएँ लिखी थीं । कांट ने दस वर्ष की आयु में ही अपने दार्शनिक प्रतिपादनों से विद्वानों को चकित कर दिया था । गेटे ने भी दस वर्ष की आयु में एक कहानी गढ़ी थी और उसे सात भाषाओं में लिख डाला था । बायरन आठ वर्ष की आयु में ही अच्छे कवियों की पंक्ति में बैठने लगे थे । भारतेंदु हरिश्चंद्र ने भी नौ वर्ष की आयु में ही कविताओं की समस्या पूर्ति करने में ख्याति अर्जित कर ली थी । महाकवि तुलसीदास का जन्मते ही राम नाम लेना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं अपितु अकाट्य सत्य है ।

पुरुष सिंहमुपैति लक्ष्मी

साधन कितने ही न्यून हों, परिस्थितियाँ कितनी ही प्रतिकूल हों, मनस्वी अपने पराक्रम-पुरुषार्थ से, मनोयोग की साधना से असंभव भी संभव कर दिखाते हैं ।

अमेरिका के टामसन बहुत गरीब परिवार में जन्मे थे । रोटी के लाले पड़े रहते थे पर उनमें वे गुण आरंभ से ही थे, जिनके सहारे गरीबी दूर की जाती है । पैसा आते ही दुर्व्यसनी उसे स्वाहा कर देते हैं या जिन्हें आगे बढ़ना है वे उन्नतिशीलों की परंपरा अपनाते हैं । टामसन ने वही किया । एक-एक कदम आगे बढ़े और व्यवसाय क्षेत्र में इतने बढ़े कि युवावस्था के अंत तक वे करोड़पति हो गए । उनने अपने साथियों को साथ लिया और उन्हें भी गरीबी से छुड़ाया ।

बैसाखी के सहारे चलने वाले प्रतिस्पर्द्धाएँ नहीं जीत सकते । इसी तरह संयोगजन्य सफलताओं पर कोई देर तक टिका नहीं रह सकता । प्रगति के स्वनिर्मित मार्ग पर ही मनुष्य देर तक आनंदपूर्वक चलता रह सकता है ।

पुरुषार्थ के बल पर

दुर्भाग्य ने आदि से अंत तक पीछा न छोड़ा । एक व्यक्ति ने पुरुषार्थ की लड़ाई आजीवन जारी रखी । पारसी समाज में पैदा हुए रुस्तम जी अपंग जैसी स्थिति में थे । बड़े होने पर आँखों ने भी जबाव दे दिया । थोड़े और बड़े हुए तो आधे शरीर में लकवा मार गया तो भी वे हिम्मत न हारे । अंधों की ब्रेललिपि इन दिनों प्रारंभिक अवस्था में थी और दोषपूर्ण थी । उसे सुधारने और उसके सहारे पढ़ते रहने का उन्होंने प्रयत्न किया ।

उनके प्रयत्नों की हँसी उड़ाई जाती रही, तो भी वे निराश न हुए । भारत के अंधों का संगठन उन्होंने बनाया । राष्ट्र संघ की सहायता से ब्रेललिपि में भी सुधार कराया । भारत सरकार द्वारा अंधों को उद्योगशील बनाने के प्रयत्नों में सफलता पाई ।

रुस्तम जी की लगन, हिम्मत और सेवा के उपलक्ष्य में भारत सरकार ने उन्हें पद्मश्री से विभूषित किया । जब तक जिए, दुर्भाग्य से निरंतर लड़ते रहे ।

आत्म देव की आराधना

आज की जो भी हमारी स्थिति है । उसमें अपनी भूमिका प्रमुख होती है । श्रमिक पत्थर काटते-काटते थक गया तो सोचने लगा किसी बड़े मालिक का पल्ला पकड़ लें, ताकि अधिक आय मिले और कम परिश्रम पड़े ।

सोचते-सोचते वह पहाड़ पर चढ़ गया और शिखर पर अवस्थित देवी की प्रतिमा से याचना करने लगा । उसने भी बात सुनी नहीं, तो सोचा बड़े देवता की आराधना करें ।

बड़ा कौन ? तो उसे सूर्य सूझा । सूर्य की आराधना करने लगा । एक दिन बादल आये और सूर्य को अपने आँचल में छिपा दिया । सोचने लगा-'सूर्य से बादल बड़ा है ।' उसने अपना इष्ट बदला और बादल की आराधना करने लगा ।

फिर सोचा बादल तो पहाड़ से टकराते और सिर फोड़ कर वहीं समाप्त हो जाते हैं । इसलिए पहाड़ का भजन क्यों न करें ।

बाद में सूझा कि पहाड़ को तो रोज हमी काटते हैं । अपने आप को सबसे बड़ा क्यों न मानें ?

इसके बाद वह सब को छोड़कर अपने आप को सुधारने लगा और कुछ दिन बाद पुरुषार्थ के सहारे उस क्षेत्र के बड़ों में गिना जाने लगा ।

यह कार्य लगन और अध्यवसाय के सहारे पूर्ण होता है । भले ही थोड़ा समय लगे ।

जहाज बनकर रहे

उन दिनों नौकायन ही प्रचलित था । बड़े जलयान नहीं बने थे । उनकी कल्पना और योजना राबर्ट फुल्टन ने नैपोलियन के सामने रखी, तो वह आग-बबूला हो गया और एक शब्द कहकर प्रस्तोता को भगा दिया कि मेरे पास ऐसी बकवास सुनने के लिए समय नहीं है ।

डबलिन की रॉयल सोसाइटी के इंजीनियर लारेसकर उन दिनों जाने-माने शिल्पी थे । जलयान के बारे में उनने भी यह मत व्यक्त किया कि इस आधार पर मनोरंजन का खिलौना भर बन सकता है । पर इसके द्वारा अटलांटिक पार करने की बात सर्वथा बचकानी है ।

सभी जानते हैं कि इस प्रकार के विरोध और उपहास के बावजूद जलयान बने और पूरी तरह सफल हुए ।

लगन ने बढ़ाया

शल्य विज्ञान के क्षेत्र में अनेकानेक अनुसंधान, आविष्कार करने वाले जान हंटर से किसी ने पूछा-"आपकी इतनी सफलताओं का कारण क्या है ?"

उन्होंने कहा-"मैं पूरी गहराई से यह विचार करता हूँ कि कल्पना और क्षमता की दृष्टि से वह काम संभव और सही है क्या ? जो आज की परिस्थितियों में शक्य है, उसी में हाथ डालने की आदत ने मुझे अनेक सफलताएँ दिलाई हैं । कल्पनाओं की व्यावहारिकता को, कसौटी पर कसने में कभी उपेक्षा नहीं बरती ।

किसी युग में हमारे जातीय जीवन को इन्हीं विशेषताओं ने हमें स्वर्णिम शिखर तक पहुँचाया था । दुनिया के जिन देशों ने यह परंपराएँ सीखीं, वे आज भी मूर्धन्य हैं ।

मर कर बोले

आक्रमणकारी जर्मनों के विरुद्ध चैक लोग अपनी मातृभूमि की रक्षा के लिए कट-कट कर लड़ रहे थे । तो भी जर्मन की सेना और साधन अधिक होने से उनमें उदासी छाने लगी ।

चैक जनरल हैटमैन लड़ाई में बुरी तरह घायल हुआ । मरने से पूर्व उनने अपने साथियों से कहा, मरने के बाद मेरी चमड़ी उखाड़ ली जाय और उसका ढोल मढ़कर सारी चैक सेना में यह मुनादी करायी जाय कि कोई हिम्मत न हारे, अंततः जीत चैक सेना की ही होगी ।

वैसा ही किया गया । उस ढोल की आवाज सुनकर सेना में दूना उत्साह उपजा और वे इतनी बहादुरी से लड़े कि जर्मनों के पैर उखड़ गए और जीत चैक सेना की ही हुई ।

चमत्कार लगने वाले कार्य वस्तुतः पराक्रम के ही प्रतिफल है । संसार में कोई जादू ऐसा नहीं जो प्रकृति के सिद्धांतों की अवहेलना करे, मात्र इस पराक्रम के ।

पराक्रमी हनुमान हनुमान ब्रह्मचारी थे । उनका पराक्रम सर्वविदित है । पर्वत उठाने, समुद्र लाँघने, लंका जलाने जैसे असंभव कार्यों को संभव कर दिखा सके । लंका दहन के उपरांत वे ताप मिटाने के लिए समुद्र में कूदे, तो पसीने को मछली निगल गई । कथा के अनुसार उस पसीने की शक्ति से मछली ने मकरध्वज को जन्म दिया था ।

अत्येति साहसं सर्वान् पुरुषार्थफलं महत् ।
प्राप्यते मानवैः सर्वैरलसा भाग्यवादिनः ।।५४।।
भवन्ति दोषारोपं च नरेष्वन्येषु कुर्वते ।
वर्द्धयन्ति नराः स्वां तु योग्यतां पुरुषार्थिनः ।।५५।।
ना चाञ्चल्यं श्रयन्त्येते स्वीकुर्वन्ति च कर्म यत् ।
प्रतिज्ञापूर्वकं तच्च पूर्णं ते कुर्वते ध्रुवम् ।।५६।।
असाफल्यमिह प्रोक्तं लग्नेन मनसा तथा ।
पूर्णेनाथ श्रमेणापि न कृतं कर्मनिश्चितम् ।।५७।।
समयावधिपर्यन्तमिति तथ्यं विदन्ति ये ।
नासाफल्ये निराशास्ते कुर्वतेऽपि तु कर्म तत् ।।५८।।
मनोयोगेन ते सर्वे द्वैगुण्येन व्रजन्ति च ।
सिद्धिं सुखानि सर्वाणि करस्थानि च कुर्वते ।।५९।।

टीका—साहस बाजी मारता है । पुरुषार्थ का फल सभी को मिलता है । आलसी भाग्य की दुहाई देते और दूसरों पर दोष लगाते रहते हैं । पुरुषार्थी अपनी योग्यता बढ़ाते हैं । चंचलता को फटकने नहीं देते । जिस काम को हाथ में लेते हैं, उसे प्रतिज्ञापूर्वक करते रहते हैं । असफलता का तात्पर्य है—पूरे मन और पूरे श्रम के साथ पूरे समय तक काम न करना । जो इस तथ्य को जानते हैं, वे असफलता मिलने पर निराश नहीं होते, वरन् दूने मनोयाग के साथ काम करते हैं और सिद्धि को प्राप्त कर समस्त सुखों को अपनी मुट्ठी में कर लेते हैं ।। ५४—५९ ।।

अर्थ—संसार में आज तक किसी को कुछ अनायास ही नहीं मिल गया । इसलिए किसी को दोष देने, ईर्ष्या करने की अपेक्षा सफलता का पथ पहचानना हर किसी के लिए आवश्यक है ।

तप का प्रतिफल वृक्ष ने पथिक से कहा—"तुम जितनी बार पत्थर मारोगे, उतनी ही बार उपहार में मैं फल दूँगा । यह तो मेरा व्रत है । पत्थर का उत्तर पत्थर से देना मुझे नहीं आता, भले ही मुझे क्षत-विक्षत होना पड़े ।" पथिक ने कुढ़ कर कहा—"तुम यों फूलो-फलो और मैं भूखा फिरूँ, क्या यह तुम्हारा और तुम्हारे भगवान का अन्याय नहीं है ।"

वृक्ष ने हँसकर कहा—"ईर्ष्या क्यों करते हो पथिक ! मेरे पतझड़ के कष्टों को देखते तो पता चलता कि वह फल मैंने कितनी तपश्चर्या से प्राप्त किए हैं । तुम भी वैसा पुरुषार्थ कर देखो ।"

जंगल में जन्मे पौधे तक जब विशाल वृक्ष बन जाते हैं तो कोई कारण नहीं, मनुष्य जैसे विचारशील प्राणि-जगत् में जन्म लेकर कोई उन्नति के लिए औरों का मुँह जोये-राह तके । पुरुषार्थी अपनी सफलता का पथ आप प्रशस्त करते हैं ।

अपना आपा ही अपना गुरु

डेनमार्क के प्रख्यात मूर्तिकार योवार्दसन अपने समय के अद्वितीय कलाकार थे ।

मित्रमंडली ने एक दिन पूछा–"आपने किस गुरु से यह कला सीखी और किस विद्यालय में प्रवीणता प्राप्त की ?"

उत्तर देते हुए उनने कहा–"आत्मा ही मेरा गुरु है और आत्म सुधार मेरा विद्यालय । मैंने सदा अपनी कृतियों में त्रुटि खोजी और अधिक उपयुक्त करने के लिए जो समझ में आया अविलंब अपनाया । इस अवलंबन को अपनाकर कोई भी सफलता के उच्च शिखर तक पहुँच सकता है ।

कर्मयोगी अय्यर

स्वामी अय्यर बहुत छोटे थे । उनके पिता अंधे थे । माता चक्की पीसना जैसे भारी काम करके कुछ पैसे कमा लेती थी । उसी से तीनों का गुजारा होता था । अय्यर थोड़े बड़े हुए और पढ़ने-लिखने लगे तो, एक रुपया मासिक की नौकरी मिल गई । साथ ही वे पढ़ते भी रहे । बारह वर्ष इसी प्रकार कटे । पढ़ाई ऊँची चली गई, तो उन्हें ५००) रुपये पुरस्कार मिले । कंगाली दूर हो गई । साथ ही उन्हें तहसील में क्लर्क का काम १०) रुपया मासिक का मिल गया । अय्यर पढ़ते भी रहे और जीवन के अंतिम दिनों में उन्हें हाईकोर्ट के जज का स्थान मिला । पुरुषार्थ और प्रामाणिकता के अय्यर जी जीवित-जागृत नमूने थे ।

जो औरों से न बन पड़े वह कार्य भी ऐसे पुरुष सिंहों ने संपन्न किए हैं । एक नहीं इतिहास ऐसे उदाहरणों से पटा पड़ा है ।

साहसी कोलम्बस

जिन दिनों समुद्र की लंबाई-चौड़ाई एशिया के इर्द-गिर्द एक हजार मील तक मानी जाती थी और समुद्र को छोर हीन समझा जाता था । उन दिनों १८ वर्षीय कोलंबस की कल्पना अमेरिका तक जा पहुँची थी । पर अकेला क्या करता । कोई सहायक भी तो चाहिए । पुर्तगालियों ने आश्वासन देकर उसके नक्शे चुरा लिए । ऐसी परेशानियों में बुद्धिमत्तापूर्ण हल निकालते हुए कोलंबस ने अमेरिका ढूँढ़ निकाला और वहाँ तक जा पहुँचने का निश्चय कर लिया । इस निश्चय में खतरे ही खतरे थे फिर भी महत्वाकांक्षी संकल्प रुका नहीं । उसने उस महाद्वीप के आवागमन का रास्ता खोज निकाला जो इससे पूर्व अविज्ञात बना हुआ था । ऐसे साहसी और बुद्धिमान की खोज सदा-सर्वदा सराही जाती रहेगी ।

वीर नेलसन

नार्वे का नेलसन जोखिम भरे काम करने के लिए विख्यात था । पहले उसने मामूली जहाजी नौकरी की, फिर वही उत्तरी ध्रुव के अविज्ञात क्षेत्र का पूरा परिचय प्राप्त करने के लिए कुछ साथियों सहित निकल पड़ा । पग-पग पर मौत का खतरा था, पर उसने वह खोज यात्रा पूरी कर ली । सबसे पहले उसी ने उस क्षेत्र में नार्वे का झंडा फहराया ।

इसके बाद एक से एक बड़ी चुनौतियाँ उसके सामने आयीं । स्वीडन से नार्वे को स्वतंत्र कराया । साइबेरिया से लाखों बंदियों को मुक्त कराया । रूस में उन दिनों भारी अकाल पड़ा । लाखों लोग भूख से मर रहे थे । उनके लिए संसार भर से भूख का इंतजाम करके प्राण बचाये । उसे नोबल पुरस्कार मिला । वह पैसा उसने अकाल पीड़ितों को दे दिया । ऐसे साहस भरे काम करने के लिए नेलसन का नाम प्रसिद्ध है । ऐसे महापुरुषों का कष्ट और कठिनाइयाँ भी मार्ग अवरुद्ध नहीं कर सकतीं ।

सच्चा अभिनेता

अमेरिकी फिल्मों में कई बार जोखिम भरे दृश्य फिल्माये जाते हैं । उनकी ख्याति और आमदनी ऐसे ही दुस्साहस के सहारे होती है ।

वाव मार्गन को एक ऐसा दृश्य सौंपा गया कि वे लट्ठों से भरी मालगाड़ी के डिब्बों पर से कूदें । आमतौर से ऐसे दृश्यों में नकली अभिनेता गिराया जाता है, पर उस दिन कुछ भूल ऐसी हुई कि असली अभिनेता गिर पड़ा और उसके ऊपर लट्ठों का टनों भारी बोझ आ गया । बड़ी कठिनाई से उन्हें निकाला गया । हड्डी-पसली चूर-चूर हो गयी । तीन दिन बाद होश आया । कोई नहीं जानता थ कि वे इतनी भयंकर चोट खाकर भी जीवित रह सकेंगे । पर बचाने वाले की महिमा अपार है । वे बच गए । इतना ही नहीं इसके बाद भी जोखिम भरी फिल्मों में काम करते रहे ।

उद्यमी विल्सन

व्यक्तिगत ही नहीं, समाज को उल्लेखनीय अनुदान भी ऐसे ही पराक्रमी दे पाते हैं । कल्पनायें तो कोई भी करता रह सकता है । ऐसा ही एक उदाहरण ईस्ट इंडिया कंपनी के एक कर्मचारी विलियम विल्सन का भी है ।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने उन्हें टकसाल का अध्यक्ष बनाकर भेजा । पदवी ऊँची काम कम था । इस बचे हुए समय में उनने भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन किया । धर्म शोधों में से अनेक का उनने इतना गहरा अध्ययन किया कि उन्हें अनुवाद करने में सहायता देने वाले संस्कृत के पंडित जहाँ-तहाँ ही मिले ।

उन्होंने ऋग्वेद का भाष्य किया, जो उनके शिष्य मैक्समूलर के नाम से छपा । इस ग्रंथ ने सारे यूरोप में तहलका मचा दिया । जब तक वे जीवित रहे, भारतीय प्राचीन साहित्य का अनुवाद और प्रकाशन कार्य करने में ही लगे रहे । समय खाली रहने पर उसका श्रेष्ठतम उपयोग करने में विल्सन का उदाहरण अनौखा है ।

मुर्गीपालन से अरबपति

संसार के जिन चार बड़े धनिकों की गणना होती है, उनमें एक का नाम रॉक फेलर है । यह उन्होंने कठिन परिश्रम और अध्यवसाय से कमाया । उनकी माँ एक छोटा मुर्गीखाना चलाती थी । तबीयत से माँ के काम में हाथ बँटाने पर एक डालर मासिक अतिरिक्त मजूरी मिलने लगी । एक के बाद एक कदम उठाते हुए तेल-व्यवसाय में अरबपति बने । उनने कितनी ही संस्थाओं के जन्म देने में अरबों डालर खर्च किया । चलती हुई संस्थाओं की सहायता के लिए उनने करोड़ों की राशि दान दी । फिर भी उनकी नम्रता और मितव्ययिता देखने योग्य थी ।

परमार्थ पथ के इन पराक्रमियों की 'बाटन बारे को लगै ज्यों मेंहदी का रंग' कहावत के अनुसार संसार उच्च सम्मान और वैभव प्रदान करता है ।

ऐसे बने राष्ट्रपति

नदी पूरे चढ़ाव पर थी । एक स्त्री के दो बच्चे किनारे से खिसक कर बहने लगे । महिला चिल्ला रही थी, पर निकालने में जान जोखिम में डालने को कोई तैयार न था ।

एक युवक कोट उतारकर धड़ाम से नदी में कूद पड़ा और दोनों बच्चों को पीठ पर लादकर किनारे पर ले आया ।

इस युवक का नाम जार्ज वाशिंगटन था, जो अपने ऐसे ही गुणों के कारण अमेरिका का राष्ट्रपति बना ।

भगवान ने मनुष्य जीवन को निरीह और दीन-हीन नहीं बनाया, महानता के संस्कार हर व्यक्ति को दिए हैं । अंतर सिर्फ इतना ही है कि कौन इस धरोहर का किस तरह उपयोग करता है ।

पूँजी एक करोड़ की

कहते हैं टॉलस्टाय के पास एक जवान आदमी भीख माँगने आया । उनने कहा-"तुम्हारे पास करोड़ों रुपयों की संपत्ति है, फिर भी भीख माँगते हो ।" भिखारी ने कहा-"मेरे पास कहाँ है ?" टॉलस्टाय ने कहा-"तुम अपने दोनों हाथ, दोनों आँखें, दोनों पैर बीस-बीस हजार में बेच सकते हो ।" उसके मना करने पर उसने कहा कि एक करोड़ का तुम्हारा शरीर है, उसका उपयोग करके काम क्यों नहीं चलाते ?

थोड़ी बहुत बाधिता भी पराक्रम के धनिकों के लिए कोई अवरोध उत्पन्न नहीं कर सके, तो सामान्यों का प्रगति पथ पर न बढ़ पाना, उन्हीं का कोई अभाव माना जायेगा ।

तीन पदक जीते

एक चार वर्षीय लड़की के पैरों में लकवा हो गया । बैसाखी के सहारे वह कठिनाई से चल पाती । लड़की ने हिम्मत नहीं छोड़ी, वह चलने से भी बढ़कर दौड़ने का अभ्यास करने लगी । एक समय ऐसा आया, जब वह ओलंपिक खेलों की दौड़ में शामिल हुई और तीन पदक जीते ।

इन लगनशील लड़की का नाम था-गोल्डीन रूलाफ । वह अमेरिका के टेनेसी प्रांत की रहने वाली थी ।

अंधे टंकक

श्री लाल अडवानी की आँखें बचपन से ही चली गई थीं, पर उनका साहस न गया । ब्रेललिपि के सहारे एम०ए० किया । विदेशों में कई अंध सम्मेलनों में भाग लेने गए । कई भाषाओं की उन्होंने अंध लिपि बनाई । समाज कल्याण विभाग के वे उच्च अधिकारी बने । टाइप राइटर के प्रयोगों में उनकी ख्याति सामान्य टाइपिस्टों से कहीं अधिक है ।

अंधापन बाधक नहीं

सुबोधराय का जन्म पश्चिम बंगाल में हुआ । ७ वर्ष की आयु में ही एक दिन लेटे-लेटे उनकी नेत्र ज्योति चली गई । उनने निश्चय किया कि ज्ञान-चक्षुओं का उपयोग करेंगे । अंध विद्यालय में भर्ती हुए और एक के बाद दूसरा क्लास पास करते हुए एम०ए० प्रथम श्रेणी में पास कर लिया । छात्रवृत्ति मिली, तो इंग्लैंड, अमेरिका पढ़ने चले गए । उनकी कुशाग्र बुद्धि देखकर एक बंगाली विदुषी ने उनसे विवाह कर लिया । डा० सुबोधराय ने पी०एच-डी० करने के उपरांत अपना जीवन अंधों के विद्यालय बनाने

तथा उनके कल्याण की संस्थाएँ बनाने में लगाया ।

एक विश्वविख्यात अँग्रेज उपन्यासकार की बचपन में एक टाँग टूट गई । लोग उसकी दयनीय स्थिति के लिए दुर्भाग्य को कोसते और भविष्य को अंधकारमय बताते ।

अपंग से विश्वविख्यात साहित्यकार

एच०जी० वेल्स ने किसी की बात पर ध्यान न दिया और जैसी भी स्थिति थी, उसी में आगे बढ़ने का उपाय खोजता रहा । साहित्यकार बनने का उसका स्वप्न पूरा हुआ । उसकी कृतियों की गणना विश्व के उत्कृष्ट साहित्य में होती है । क्या कोई कल्पना कर सकता था कि यूरोपिया जैसे विषय पर विशद् साहित्य रचने का कार्य एक ऐसे व्यक्ति द्वारा हो सकता है, जिसे परिस्थितियाँ हमेशा प्रतिकूल मिली हों ?

वस्तुत: दुर्भाग्य-सौभाग्य सभी पुरुषार्थ की ही परिणति है । यदि पुरुषार्थ के प्रति विरक्ति हो जाय, मनोबल गिर जाये, तो भवितव्यता कुछ की कुछ हो जाती है ।

आशीर्वाद नहीं पराक्रम प्रधान

दो राजाओं में युद्ध ठना । दोनों ही एक संत के शिष्य थे और एक देवता के पुजारी । दोनों ही विजय का आशीर्वाद पाने आगे-पीछे पहुँचे ।

एक राजा को संत ने देवता से पूछकर उत्तर दिया-"तेरी जीत होगी ।" वह निश्चिंत होकर तैयारियों को छोड़ बैठा ।

दूसरा राजा पहुँचा और आशीर्वाद माँगा, तो पुजारी ने कहा-"आपका जीतना कठिन है ।"

दूसरे राजा ने जोर-शोर से तैयारी शुरू कर दी और कहा-"जब मरना ही है तो शान से मरेंगे और दुनिया को दिखा देंगे कि लड़ने का जौहर कैसा होता है ।"

युद्ध ठना और पुजारी के कथन के विपरीत परिणाम निकला । जिसे जीतने की आशा दिलाई गयी थी, वह हारा और जिसे हारने का भय दिलाया गया था वह जीता ।

युद्ध समाप्त होने पर दोनों पक्ष अपने गुरु को उलाहना देने गए । उनने गंभीर मुद्रा में कहा-"देवता और आशीर्वाद से पराक्रम अधिक समर्थ है ।"

दो आलसी-दो अभागे

सांसारिक रोग-शोक और बंधन भी आलसी-अकर्मण्यों के लिए होते हैं । ऐसे लोग तो निंदा और तिरस्कार के पात्र ही होते हैं और वही उन्हें मिलता भी है ।

दो आलसी थे । एक बगीचे में पड़े रहते थे । दूसरों से सहायता माँगने की ताक में रहते थे ।

एक दिन एक घुड़सवार उधर से निकला । पुकारा-"भाई, जरा ठहरना । मेरा एक जरूरी काम करते जाओ ।" सवार रुका, पास आया और पूछा-"क्या काम है ?" बोला-"पेड़ पर से गिरा हुआ आम छाती पर पड़ा है । इसे मेरे मुँह में निचोड़ दो ।" इस पर सवार बहुत बिगड़ा और इतने आलसीपन पर नाराज होकर दो लात जमायी ।

पास में ही एक और बड़ा आलसी पड़ा था । उसने कहा-"भाई साहब, दो लातें मेरे बदले की भी लगा दें । यह बड़ा आलसी है । यह मेरे एक छोटे से काम में बुलाने पर भी नहीं आया ।"

सवार ने पूछा-"वह काम मुझे भी तो बताइये, मैं कर दूँगा ।"

उसने कहा-"कल की बात है एक कुत्ता मेरा मुँह चाट रहा था । मैं इसे पुकारता रहा कि कुत्ते को भगा जाओ, पर यह आया ही नहीं और कुत्ता जब गया, तब चाटने के बाद मेरे मुँह पर पेशाब भी कर गया ।"

सवार ने उसकी भी पिटाई की और उनके आलसीपन को गाली देता हुआ चला गया ।

अपना काम आप कर सकने वाले भी, छोटे-मोटे कार्यों के लिए ईश्वर-याचना करते हैं । उनकी सहायता तो दूर; उल्टे गाली खानी और पिटाई सहनी पड़ती है ।

आशा विश्वास शक्तिः सा बलकौशलसाधनैः ।
विभवैरपि प्रोक्ता च श्रेष्ठा सर्वगुणान्विता ।। ६०।।
वाञ्छतीह नरः स्वं यः सुखिनं च समुन्नतम् ।
साहसी पुरुषार्थी स श्रमशीलः सदा भवेत् ।। ६१।।

प्रयोजनेषु सन्दर्भस्थितेष्वेव मनः सदा ।
नियोजयेन्न चाऽन्यत्र भ्रामयेत्तन्निरर्थकम् ।। ६२।।

टीका--आशा और विश्वास की शक्ति--बल, कौशल और साधन की संपदा से भी अधिक है । जो सुखी रहना चाहता हो, उन्नतिशील बनना चाहता हो, उसे चाहिए कि पुरुषार्थी रहे, साहस अपनाए और श्रमशील बने । मन को प्रस्तुत प्रयोजनों में लगाये रहे, उसे इधर--उधर न भटकने दें ।। ६०--६२।।

अर्थ--निराश हो जाना मनुष्य जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है । महामानव सदैव ही इससे बचने की शिक्षा देते रहते हैं । निराश व्यक्ति के लिए बड़े कार्य करना संभव नहीं होता ।

चट्टान का उपाख्यान

नाविक ने चट्टान से पूछा--"तुम पर चारों ओर से आघात लग रहे हैं फिर भी तुम निराश नहीं हो ?" और तब चट्टान की आत्मा धीरे से बोली--"तात, निराशा और मृत्यु दोनों एक ही वस्तु के उभयपृष्ठ हैं, हम निराश हो गए होते, तो एक क्षण ही सही दूर से आये अतिथियों को विश्राम देने, उनका स्वागत करने से वंचित न रह जाते ?"

जीत हमारी ही होगी

आत्मविश्वास से बड़ी कोई शक्ति नहीं । वह असंभव भी संभव कर दिखाती है ।

जापान का प्रसिद्ध सेनापति नोबुनागा कम सैनिकों व थोड़े साधनों से ही अपने समर्थ विरोधियों के छक्के छुड़ा देने के लिए प्रख्यात था । वह अपने साथियों का मनोबल बढ़ाये रखने की कला में बहुत कुशल था ।

एक बार थोड़े सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिए उसने एक तरकीब निकाली । देवता के मंदिर में उन्हें लेकर गया और सिक्के उछाल कर देवता की इच्छा सिद्ध करने लगा । सिक्के चित्त पड़ें तो जीत, पट्ट पड़ें तो हार समझी जानी थी ।

सिक्के तीन बार उछाले गए । तीनों ही बार चित्त पड़े । सभी हर्ष से नाचने लगे । तालियाँ बजाते हुए चिल्लाने लगे--"जीत, जीत, जीत ।"

लड़ाई लड़ी गई । चार गुनी अधिक संख्या वाले विपक्ष को उन बहादुरों ने तोड़-मरोड़ कर रख दिया और विजय का डंका बजाते हुए वापस लौटे ।

अभिनंदन समारोह में नोबुनागा ने उसे सैनिकों की नहीं उनके मनोबल की विजय बताया और रहस्य खोलते हुए वे सिक्के दिखाये जो उछाले गए थे । वे इस चतुरता के साथ ढाले गए थे कि दोनों ओर वही मार्का था, जो चित्त कहा जाता था ।

सच तो यह है कि निराशा एवं भय एक कुंठा है, वह जिसके पल्ले पड़ी उसके लिए सहयोगी साधन भी निरर्थक हैं ।

कायर कहीं का ?

दफ्तर के बड़े बाबू बदहवास स्थिति में घर लौटे, तो उनकी पत्नी ने पूछा--"क्या हुआ, इतने हैरान कैसे हैं ?"

बाबू ने कहा--"रास्ते में एक बदमाश से पाला पड़ गया । उसने मेरा कोट, जूता, चश्मा, पेन और बटुआ सब कुछ छीन लिया ।"

पत्नी ने आश्चर्य से पूछा--"तुम्हारे पास तो पिस्तौल थी न । उसका क्या हुआ ?"

बाबू बोला--"भाग्य ही कहो ! कि बदमाश की नजर उस पर नहीं पड़ी, नहीं तो उसे कब छोड़ने वाला था वह ।"

मनुष्य के अंतःकरण में जो महाशक्ति निवास करती है, उसका नाम है-आत्मविश्वास । उसकी शक्ति अपौरुषेय मानी गई है ।

अजेय आत्मविश्वास

भयंकर तूफान से गेलीलो झील का पानी बासों ऊँचा छलकने लगा । जो नावें चल रही थीं । वे बुरी तरह थरथराने लगीं । लहरों का पानी भीतर पहुँचने लगा, तो यात्रियों के भय का बारापार न रहा, वे घबड़ाने लगे ।

एक नाव में एक कोने में कोई व्यक्ति निर्द्वन्द्व सोया पड़ा था । साथियों ने उसे जगाया । जग कर उसने तूफान को ध्यानपूर्वक देखा और फिर साथियों से पूछा--"आखर इससे डरने की क्या बात है ? तूफान भी आते हैं और मनुष्य मरते भी हैं । इसमें क्या ऐसी अनहोनी बात हो गई, जो आप लोग इतनी बुरी तरह हड़बड़ा रहे हैं ?"

सभी उसका उत्तर सुनकर अवाक् रह गए । निर्द्वन्द्व व्यक्ति ने कहा–"विश्वास की शक्ति तूफान से बड़ी है । तुम विश्वास क्यों नहीं करते कि यह तूफान क्षण भर बाद बंद हो जायेगा । भयभीत यात्रियों के उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना उस अलमस्त ने आँखें बंद कीं और अपने भीतर की झील में उतर कर कहा–"शांत हो जा मूर्ख ! तूफान तुरंत शांत हो गया ।"

सहमे हुए नटखट बच्चे की तरह तूफान रुक गया । नाव का हिलना बंद हुआ तो यात्रियों ने चैन की सांस ली । अब उस अलमस्त यात्री ने–जीससक्राइस्ट ने साथियों से पूछा–"दोस्तो ! विश्वास बड़ा है । तूफान को तुमने उससे भी बड़ा क्यों मान लिया था ?"

दुष्ट से दुष्ट व्यक्ति और भयंकरतम परिस्थितियाँ भी आत्मविश्वासी का कुछ नहीं बिगाड़ सकतीं । वह तो मृत्यु शैया में भी निर्द्वन्द्व शयन करता है ।

थोड़ी देर रुको

बोलपुर बंगाल के किराये के कितने ही गुंडे पैसे लेकर किसी की भी हत्या कर देने का व्यवसाय करते थे ।

शांति निकेतन विद्यालय के संचालक रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक पड़ोसी शत्रुता मानता था । पैसा देकर एक गुंडे को हत्या कर देने के लिए तय कर लिया गया ।

रात्रि के अंधेरे का समय था । गुंडा छुरा निकाल कर आया । टैगोर बाबू अपनी कोठरी में कविता लिखने में व्यस्त थे । उन्होंने नजर उठाकर छुरा लिए गुंडे को देखा । क्षण भर में वे वस्तुस्थिति समझ गए । बिना डरे-झिझके उनने कहा–"सामने वाले स्टूल पर चुपचाप बैठ जाओ, देखते नहीं कितना जरूरी काम कर रहा हूँ । कविता पूरी होने के बाद अपना काम करना ।" रवि बाबू की निर्भीकता से गुंडा सहम गया और छुरा बगल में दबाकर उल्टे पैरों वापस लौट गया । गाँधी जी इतनी बड़ी शक्तिशाली अंग्रेजी सत्ता से अकेले जूझ पड़े, उसमें उनका आत्मबल ही प्रमुख था । वे विषम परिस्थितियों में भी अधीर नहीं हुए ।

एक पकड़ और लड़

सोलन नदी के तट पर हीरे की खदान होने के प्रमाण मिल रहे थे । रेफिल उसकी तलाश में अपने साथियों समेत जुट गया ।

पूरा एक वर्ष बीत गया । कोई दस लाख पत्थर के टुकड़े उसने बीने और फेंके, इनमें कोई हीरा न था । थकान से वह चूर-चूर हो गया । जो पास में था, वह भी उसी प्रयास में चुक गया । काम बंद करने और वापस लौट चलने का निश्चय किया ।

लौटने की तैयारी होने लगी । तो भी रेफिल चलते समय तक प्रयास करता रहा । मन यही कहता एक पकड़ और लड़लें । एक दाव और लगालें । लौटने के निश्चित दिन से एक दिन पूर्व ही एक बड़ा सा हीरा उसके हाथ लगा । बाजार में वह दो लाख डालर में बिका । नए उत्साह में उसने नया सरंजाम जुटाया और सोलन नदी के तट का नए सिरे से सर्वेक्षण किया । ढेरों हीरे मिले और वह विख्यात धनाढ्य बन गया ।

रेफिल के दफ्तर पर साइन बोर्ड की तरह अक्षर लिखे हैं–"निराशा के क्षणों में भी सोचते रहें कि एक पकड़ और लड़ेंगे ।"

ऐसे लोग परिस्थितियों के दास नहीं होते, अपितु परिस्थितियों को उनका सेवक बनना और हुक्म तक बजाना पड़ता है ।

ब्रिटिश का राणा साँगा

इंग्लैंड का वेल्स बचपन से ही बहुत दुबला-पतला था, पर हिम्मत देखते ही बनती थी । सिपाही से वह सेनापति हुआ । उसने ऐसे मोर्चे जीते जिनकी सफलता की किसी को आशा नहीं । एक लड़ाई में उसका दाहिना हाथ चला गया, तो भी उसने हिम्मत नहीं हारी । दूसरे मोर्चे में एक आँख चली गई । सरकार उसे अपाहिजों की पेंशन देना चाहती थी, पर उसने लेने से इन्कार कर दिया । अगले मोर्चे पर वह पहले से भी अधिक उत्साह से लड़ने गया और कहता रहा हाथ और आँख से लड़ाई नहीं लड़ी जाती । उसके लिए सूझबूझ वाला दिमाग और हिम्मत वाला कलेजा चाहिए । सो वे दोनों चीजें मेरे पास हैं । फिर लड़ाई में जीतने में क्या शंका ? सभी परिस्थितियों में इतनी सफलता प्राप्त करने वालों में वेल्स का नाम सेना के इतिहास में अनुपम है । उन्हें ब्रिटिश का राणा साँगा कहा जाता है ।

कायर एक बार जीता और बार-बार मरता है पर आत्म-विश्वासी एक बार जन्म लेता, एक ही बार मरता है ।

मध्यवर्ती विपत्तियों से समझौता करना उसकी जिजीविषा कभी भी स्वीकार नहीं करती ।

मौत से भी जीता

जर्मनी का जनरल रोमेल अनेक लड़ाइयाँ ऐसे जीता कि लोग उसे चमत्कारी जादूगर कहते थे । अफ्रीका में उसे अंग्रेजी सेना से मुकाबला करना पड़ा । अंग्रेजों की शक्ति दस गुनी होते हुए भी उन्हें ५०० मील पीछे हटने और भारी पराजय का मुँह देखने के लिए विवश कर दिया ।

कठिन से कठिन मोर्चे पर रोमेल को भेजा गया और वह वहाँ जीत कर आया । सैनिकों में जोश भरने की उसमें अद्‌भुत क्षमता थी । एक मोर्चे पर उसके शिर के तीन टुकड़े हो गए । डाक्टरों ने बचने की आशा छोड़ दी, तो भी वह अपने मनोबल के सहारे मौत को परास्त कर जीवित हो गया । इतना ही नहीं इसके बाद भी उसने कई मोर्चे जीते ।

मृत्यु आत्मविश्वासी की मुट्ठी में रहती है । यह निर्भय स्थिति प्राप्त कर लेना सबसे बड़ा पुरुषार्थ है इसे महामानव ही प्रत्यक्ष दिखा सकते हैं, जन साधारण नहीं ।

विष निर्विष

पौधों को संवेदनशील सिद्ध करने वाले जगदीश चंद्र वसु अपने प्रतिपादन को सही सिद्ध करने के लिए इंग्लैंड गए । उनका प्रदर्शन वैज्ञानिकों की भरी सभा में होने वाला था । एक पौधे को इंजेक्शन लगाकर वे उस विष के कारण पौधे पर होने वाली प्रतिक्रिया सिद्ध करना चाहते थे ।

इंजेक्शन लगाया गया । पर पौधे को कुछ नहीं हुआ । वह जैसे का तैसा बना रहा । इस पर आत्मविश्वासी वसु ने कहा–"यदि पौधे पर यह इंजेक्शन काम नहीं कर सकता, तो मेरे ऊपर भी नहीं करेगा ।" यह कहकर उसी तरह की दूसरी सुई अपनी बाँह में लगा ली, सभी स्तब्ध थे । जहर का इंजेक्शन लगाने पर क्या दुर्गति हो सकती है, यह सभी जानते थे ।

वसु को भी कुछ नहीं हुआ । इस पर इंजेक्शन की जाँच-पड़ताल की गई । पता लगा कि गलती से विष के स्थान पर निर्विष इंजेक्शन का प्रयोग हो गया है ।

दूसरी बार सही सुई लगाई गई । पौधे पर तत्काल प्रतिक्रिया हुई । अपनी खोज वे पूरी गंभीरतापूर्वक करते थे और प्रतिपादन से पूर्व प्रामाणिकता की भली-भाँति जाँच-पड़ताल कर लेते थे । आत्म-विश्वास इसी कारण उपलब्ध हुआ था ।

यह तथ्य मात्र पढ़ लेना पर्याप्त नहीं वरन् इन्हें जीवनयात्रा में धैर्यपूर्वक अपनाना और अभ्यास करना भी आवश्यक होता है, तब कहीं वे संस्कार बनते और अगले जन्मों में जन्म-जात पूँजी के रूप में परमात्मा के उपहार जैसे अनायास ही प्राप्त होते हैं ।

पढ़ लेना ही पर्याप्त नहीं

छात्रों में आरुणि विशिष्ट मेधावी था और आज्ञाकारी भी । वह तत्वज्ञानी बनना चाहता था । कुलगुरु उद्दालक भी इसके लिए उत्सुक थे । उचित मूल्य पर उचित उपलब्धि का सिद्धांत अपनाया गया । सस्ते में बहुमूल्य पाने का कोई प्रचलन इस संसार में है भी तो नहीं ।

आरुणि को सौ दुबली गौएँ दी गईं और कहा उन्हें हजार तक बढ़ाए और तगड़ी करके दिखाए । उसके उपरांत तत्वज्ञान की दीक्षा मिलेगी ।

आरुणि झुंड को लेकर चल पड़ा । घास-पानी की उपयुक्त जानकारी प्राप्त करता झुंड को एक जगह से दूसरी जगह ले जाता । सुरक्षा का प्रबंध करता और आए दिन की समस्याओं से जूझता । यही क्रम चलता रहा और दस वर्ष में गौएँ सौ से बढ़कर हजार हो गईं । झुंड को लेकर वह गुरुकुल को वापस लौट आया ।

आरुणि के चेहरे पर ज्योतिर्मान् ब्रह्मतेजस् उभरा हुआ देखकर आचार्य ने हर्ष व्यक्त किया और उसके पुरुषार्थ प्रयास की मुक्त कंठ से सराहना की । कुछ ही दिन गुरु सान्निध्य में रहकर वह अद्वितीय ब्रह्मज्ञानी घोषित किया गया ।

लंबे समय से ग्रंथ परायण में निरत छात्रों ने कुछ ही समय में आरुणि को निष्णात घोषित किए जाने का कारण पूछा, तो कुलपति ने इतना ही कहा–"ज्ञान की पूर्णता अनुभव, अभ्यास और आदर्श को जीवन में घुला लेने पर ही उपलब्ध होती है । मात्र पठन-पाठन उसके लिए पर्याप्त नहीं माना जाता ।"

कबीर का कमाल

मन एकाग्र हो तो दुनियाँ की कोई भी हलचल उसे विचलित नहीं कर सकती ।

कबीर गायक थे और उनका बेटा कमाल नर्तक । दोनों की जोड़ी बैठती तो रंग बँध जाता । कबीर को आश्चर्य था कि इसने नृत्य सीखा कहाँ ?

एक दिन कमाल घास खोदने लगे । देर रात तक न आए तो सबको चिंता हुई । कबीर ढूँढ़ने निकल पड़े । देखा तो छोली हुई घास एक कोने में पड़ी है । तेज चलती हवा के साथ उस तरावट में मूँज लहरा रही थी । कमाल उसके साथ तन्मय होकर झूमती घास के साथ तन, मन की सुधि भूलकर उसी तरह झूम रहे थे । कबीर ने जाना कि तन्मयता ने ही इसे नर्त्तन सिखाया है ।

श्रमतः कच्छपोऽजैषीच्छशकं तीव्रगामिनम् ।
सन्ततं मन्दगत्याऽपि श्रमलग्ना पिपीलिका ।। ६३।।
शिखरं भूधरस्यैषा याति भारयुताऽपि तु ।
बयो विहगनीडोऽपि तच्छ्रमं ख्याति सुन्दरः ।। ६४।।
मनोयोगं च, मूर्खास्ते श्रमलग्ना भवन्त्यपि ।
विद्वांसो निर्धनाश्चाऽपि धनवन्तो न संशयः ।। ६५।।

टीका--कछुए ने खरगोश से बाजी जीती थी । चींटी धीरे--धीरे किन्तु अनवरत श्रम करके बोझ लिए--लिए पर्वत शिखर पर जा पहुँचती है । बया पक्षी का इतना सुंदर घोंसला होना, उसके अथक श्रम और समुचित मनोयोग का ही प्रतिफल है । श्रम संलग्न होने पर मूर्खों को विद्वान् और निर्धनों को धनवान् बनने का अवसर मिलता है ।। ६३--६५।।

अर्थ--यदि लगन सच्ची हो, संकल्प बल दृढ़ हो एवं श्रम करते रहने पर भी धैर्य रखे रहने का गुण मनुष्य में हो तो भले ही प्रगति की गति धीमी हो, सफलता अंततः मिलकर ही रहती है । हर कार्य तत्परता एवं तन्मयता का समन्वय होने पर ही श्रेष्ठ बनता है । कारीगर, मूर्तिकार, चित्रकार सुंदर-आकर्षक कृति तभी बना सकते हैं, जब तनिक भी विचलित हुए बिना वे पूर्ण मनोयोग से उसमें लगे रहें । परीक्षा में सफलता इसी आधार पर मिलती है । व्यक्ति-व्यक्ति के लिए एक से होते हुए भी परिणतियाँ भिन्न-भिन्न इसीलिए होती हैं कि एक ने उसमें अपने आपको पूरी तरह झोंक दिया । दूसरा किसी तरह टाल-मटूल करता हुआ पूरा करता रहा ।

कभी भी निराश न होने वाले, सदैव अपने काम में तत्परता से लगे रहने वाले कर्मयोगी कहलाते हैं । उनके हाथ में जो काम होता है, वह निश्चित ही पूरा होता है, सुंदर परिणति को प्राप्त होता है । ऐसे पुरुषार्थी अपने अध्यवसाय से उच्च स्थिति तक पहुँचते हैं ।

लगन-अध्यवसाय की चमत्कृतियाँ

नैपोलियन सैनिक स्कूल की परीक्षा में ४२ वें स्थान पर रहा, जबकि स्कूल में मात्र ५८ विद्यार्थी थे । उसे फिसड्डी माना जाता था ।

चार्ली चैपलिन विदूषकों की प्रारंभिक प्रतियोगिता में हारे हुए घोषित किए गए थे ।

अमेरिका के राष्ट्रपति गारफील्ड जिस परिवार में जन्मे थे, वह उन दिनों गरीबी के निचले स्तर पर था और झोंपड़े में गुजारा करता था ।

ये सभी उदारहण उनके हैं, जिनने मनोयोग के सहारे सफलताएँ पाईं, जबकि प्रारंभ में उनकी स्थिति सामान्य से भी बदतर थी ।

इसी प्रकार आइन्स्टीन अपने विद्यार्थी जीवन में गणित में फिसड्डी कहलाते थे । साथी उन्हें चिढ़ाया करते थे--गणित तुम्हें जन्म भर नहीं आवेगा । पर वे सभी को एक ही उत्तर देते--गणित मेरा प्रिय विषय है, उसमें प्रवीण होकर रहूँगा ।

आइन्स्टीन लगन के साथ लगे रहे और अंततः विज्ञान के उस विषय में पारंगत होकर ही रहे, जो पूरी तरह उच्च कोटि के गणित पर निर्भर है ।

आचार्य रघुवीर

धुन के धनी, लगन के पक्के, लगनशील विद्वान् का नाम है--आचार्य रघुवीर । उनने यूरोप के देशों में जाकर उच्च शिक्षा प्राप्त की । पर उन्हें एक ही लगन थी कि हिन्दी को सर्वसमर्थ कैसे बनाया जाय । इसके लिए उनने चार लाख शब्द गढ़ कर उसका कोष भंडार पूरा किया । एक बार सर्व भाषा सम्मेलन उनने इसी उद्देश्य से बुलाया कि हिन्दी के विरोध का जो वातावरण चल रहा है, उसे दूर किया जा सके । आचार्य जी कहा करते थे कि न केवल भारत की राष्ट्रभाषा बनने की सारी विशेषताएँ हिन्दी में मौजूद हैं, वरन् वह विश्व भाषा बनने योग्य भी है ।

३० वर्ष तक विद्यार्थी

अँग्रेजी विद्वान इलियट ने तो अपनी इस सतत् सम्पन्न होने वाली श्रम-साधना के सहारे न केवल अँग्रेजी अपितु संसार की अनेक भाषाओं को वह विचार प्रदान किये जिनसे आज करोड़ों लोग प्रेरणा व प्रकाश ग्रहण कर रहे हैं ।

इंग्लैण्ड में जन्मे इलियट के पिता का संपन्न करोबार था । उन्होंने पिता के व्यवसाय में संपन्न होने की अपेक्षा साहित्य-सेवा करने का निश्चय किया । इसके लिए वे पिता से सहायता लेने की अपेक्षा नौकरी करते और विभिन्न विश्वविद्यालयों में पढ़ते रहे । दर्शनशास्त्र उनका प्रिय विषय था । इसके अध्यापन के लिए वे फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका आदि देशों में भी गए । ३० वर्ष की आयु तक वे विशुद्ध विद्यार्थी रहे । इसके बाद उन्होंने साहित्य-सेवा आरंभ की । अंग्रेजी का काव्य साहित्य और दर्शन उन दिनों तक बड़ा घटिया था । इलियट ने जो उच्च श्रेणी की कृतियाँ दी हैं, उनसे न केवल अंग्रेजी वरन् विश्व साहित्य की गरीबी दूर हुई है ।

श्रम-साधना के लिए कोई आयु निर्धारित नहीं, कोई मुहूर्त तय नहीं, जिस क्षण उसका बोध हो जाये, तभी से प्रारंभ कर देने वाला भी अंततः कालिदास बन सकता है ।

महापंडित कालिदास

कालिदास सर्वथा निरक्षर थे, पंडितों की चालाकी से उनका विवाह एक विदुषी को शास्त्रार्थ में हराकर करा दिया । विवाह होने के बाद भेद खुला तो विद्योत्तमा ने कालिदास से कहा-"आप मेरे पति बनना चाहते हैं, तो मुझसे अधिक विद्या प्राप्त करें ।"

कालिदास को बात चुभ गई । उनने पूरी लगन और मेहनत से पढ़ना आरंभ कर दिया । लगन जीती और मूर्खता हारी । कालिदास उच्चकोटि के विद्वान् हो गए । घर लौटे तो पत्नी ने संस्कृत के प्रश्न पूछे । उनके उत्तर में उन्होंने तीन महाकाव्य लिखकर दिए । रघुवंश, मेघदूत और कुमार संभव । पत्नी के उलाहने पर लगनशील बनकर उच्चकोटि की विद्वत्ता प्राप्त करने का संसार में यह एक ही उदाहरण है ।

शिक्षा की तरह ही जीवन के किसी क्षेत्र में अविचल लगन और निरंतर श्रम से आगे बढ़ा जा सकता है । महापुरुषों के जीवन वृतांत इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं ।

बढ़ई से राष्ट्रपति

जोम्यो केन्याता उस लड़के का नाम है, जो दस वर्ष की आयु में सड़क पर घूमता, कहीं भोजन का जुगाड़ बैठ जाता, तो वहीं ठहर जाता । पादरी उसे ले गए और बढ़ईगीरी सीखने की शर्तपर पूरा भोजन देने की व्यवस्था कर सके, साथ ही पढ़ाई भी चलने लगी । थोड़ी चेतना आने और उम्र बड़ी होने की स्थिति में उनने अपने समुदाय की स्थिति सुधारने की बात सोची । उन्होंने अपने समुदाय के लिए पत्रिका निकाली, ताकि उनमें जो पढ़े-लिखे हों, वे उनकी बात सुन-समझ सकें । केन्या की स्थिति पर उनने पुस्तक लिखी, उसे लेकर इंग्लैंड गए । पर उनके सुधार प्रस्ताव किसी ने सुने नहीं । निराश वे लौट आए और गाँधी जी के ढंग का असहयोग आंदोलन चलाने लगे । बहुत संघर्ष के बाद वे उस देश के राष्ट्रपति बने । उनके शासन काल में केनिया वासियों ने अच्छी उन्नति की ।

सूझबूझ एवं मनोयोग का प्रतिफल

ऐंड्यू कारनेगी उस मजूर का नाम है, जो दिन भर मजूरी करके १५) रुपये मासिक कमाता और उसकी पत्नी पड़ोसियों के कपड़े धोकर कुछ कमा लेती । इस स्थिति में भी परिवार में भारी प्रेम था । इकलौता बेटा अपनी माँ को आश्वासन देता रहता कि मैं थोड़ा बड़ा हो जाऊँगा, तो ज्यादा कमाऊँगा और तुम लोगों की यह स्थिति न रहने दूँगा । परिश्रम और सूझबूझ के सहारे उन सबने मिलकर घोर परिश्रम किया और मासिक आमदनी पंद्रह हजार तक हो गई ।

लड़के का विवाह का प्रश्न आया, तो उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया कि जो वचन मैंने माँ को दिए वे पूरे न हो सकेंगे । प्यार बँट जायेगा । ५२ वर्ष की उम्र तक माता जीवित रहीं, तब तक उसने विवाह नहीं किया । पैसे की तंगी दूर हो गई थी, पर माँ से असीम प्यार करने वाला बेटा उसके जीवित रहते किसी भी शर्त पर विवाह करने को तैयार न हुआ । माँ के देहावसान पर ही उसने ५२ वर्ष की आयु में विवाह किया ।

निरंतर प्रयत्न का अर्थ है आत्मविश्वास-'मैं इसे अवश्य पूर्ण कर लूँगा'-यह विश्वास जगाया जाये, तो निराश एवं बिखरा हुआ व्यक्ति भी प्रगति के उच्च शिखर तक चढ़ सकता है ।

तेरहवीं बार

मकड़ी एक लंबा ताना-तान रही थी । उतना बन नहीं पड़ रहा था । बार-बार टूट जाता था । फिर भी वह निराश नहीं हुई । प्रयास जारी रखा और चौदहवें प्रयास में सफल हुई ।

यह दृश्य पराजित ब्रूसो देख रहा था । उसने तेरह बार लड़ाई में मात खाई थी । मकड़ी के साहस से प्रभावित होकर उसने चौदहवीं बार लड़ाई की तैयारी की और दूने उत्साह से लड़ा और सफलता प्राप्त की ।

ब्रूसो कहते रहते थे कि हर असफलता बताती है कि पूरी तत्परतापूर्वक कार्य नहीं हुआ । जो भूलों को समझते हैं और सुधारते हैं, वे असंभव को भी संभव कर दिखाते हैं ।

हमें निरंतर काम चाहिए

जिन्हें राष्ट्रीय समृद्धि अभीष्ट है, चरित्र निष्ठा जिनकी प्रबल है, उन्हें आराम पसंद नहीं होता । वे सतत् कर्मनिष्ठ बने रहना पसंद करते हैं ।

जापान पर आक्रमणकारियों का कब्जा हो गया । उनने श्रमिकों की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए एक चाल चली । दैनिक श्रमिक का एक घंटा घटा दिया और सप्ताह छः दिन की बजाय पाँच दिन कर दिया ।

इस पर श्रमिकों ने घोर विरोध प्रकट किया और कहा-"यह हमारे राष्ट्रीय चरित्र पर आक्रमण है । हमने श्रम के द्वारा ही इस छोटे से टापू को समर्थ बनाया है । यदि हममें श्रम से जी चुराने की आदत डाली गई, तो प्रस्तुत संकट से हम हजार वर्ष में भी न उबर सकेंगे ।

उनकी बात मानी गई । श्रम का समय न घटाकर थोड़ा वेतन बढ़ा दिया गया । ऐसे उदाहरण बताते हैं कि समय की गरिमा समझकर मनोयोगपूर्वक उसका सुनियोजित उपयोग करने वाले ही कुछ अर्जित कर पाते हैं ।

योजितां दिनचर्यां ते कृत्वा लग्नाः परिश्रमे ।
सन्ततं स्वास्थ्यमेतेषां दृढं दृढतरं भवेत् ।। ६६ ।।
वर्द्धतेबुद्धिमत्ताऽपि व्यसनेभ्यश्च रक्षितः ।
जायते समये रिक्ते व्यसनानि स्फुरन्ति तु ।। ६७ ।।
आधारं नोपयुक्तं चेल्लभते मतिरप्यतः ।
कुकल्पनाऽभिलग्नात् पथभ्रष्टस्ततो भवेत् ।। ६८ ।।

टीका-योजनाबद्ध दिनचर्या अपनाकर जो अनवरत परिश्रम में लगे रहते हैं, उनका स्वास्थ्य सुदृढ़ रहता है, बुद्धिमत्ता बढ़ती है, बुराइयों से बचे रहने का अवसर मिलता है । खाली समय में दुर्व्यसन ही बन पड़ते हैं और मस्तिष्क के लिए कुछ उपयुक्त सोचने का यदि कोई आधार न हो तो वह कुकल्पनाओं में लग पड़ता है और मनुष्य पथ-भ्रष्ट हो जाता है ।। ६६-६८ ।।

अर्थ-चंचल मन वाले, अनियमित जीवन क्रम अपनाने वाले, जीवन में असफल ही रहते हैं । खाली दिमाग को शैतान का घर कहा गया है, जो कि सत्य है । यदि मन को सही दिशा में नियोजित न किया जाए, तो वह न जाने कहाँ-कहाँ भटकता फिरता एवं व्यक्तित्व अनगढ़ बनाता है । मन को इसीलिए काम में लगाना, व्यस्त रखना बहुत अनिवार्य है ।

भूत को दो काम

एक व्यक्ति ने भूत सिद्ध किया । शर्त यह थी उससे हर समय काम लिया जायेगा, अन्यथा खाली होते ही वह हमला करेगा और साधक को बर्बाद करके रख देगा ।

व्यक्ति ने बहुत से ल्के हुए काम बताये, जिन्हें उसने तुर्त-फुर्त में पूरा करके रख दिया । काम निपट गए तो नए काम ढूँढ़ने में कठिनाई प्रतीत हुई । संकट सामने आ गया ।

एक उपाय सूझा, आँगन में खंभा गाड़ा गया और खाली समय में भूत को उस पर चढ़ते-उतरते रहने का काम सौंप दिया गया । भूत को खाली रहने देने की समस्या हल हो गई । समय के खाली भाग को भगवद् भजन में लगा देने से उसे शैतानी करने का अवकाश नहीं मिलता ।

बंदर का ध्यान

एक शिष्य बहुत चंचल चित्त था । मन की उछल-कूद से वह बहुत दुःखी था । उसे रोकने का प्रयत्न तो वह बहुत करता, किन्तु सफल न हो पाता ।

गुरु के पास पहुँचा । उन्होंने एक मंत्र सिद्ध करने के लिए कहा, जिससे मन वश में हो सके । साथ ही यह भी कहा कि उस अनुष्ठान के बीच बंदर का ध्यान नहीं आना चाहिए ।

प्रयत्न तो बहुत किया पर मन रुका नहीं । इष्ट देव का ध्यान कम और बंदर का अधिक आता । खिन्न होकर

असफलता सुनाने के लिए शिष्य फिर गुरु के पास पहुँचा ।

गुरु ने समझाया–मन को रोको मत, जिस विचार को रोकोगे, वही तुम्हें सर्वाधिक त्रास देगा । मन को तो लक्ष्य पूर्ति वाले रचनात्मक कार्यों में रसपूर्वक इतना व्यस्त करो कि अन्य किसी बात के स्मरण की गुंजाइश ही न रहे । ऐसा ही करने पर मन पूरी तरह वश में हो गया ।

यदि दिनचर्या क्रमबद्ध हो, निरंतर मन काम में लगा रहता हो और शरीर से किया परिश्रम भार नहीं लगता, तो बीमारी कभी पास भी नहीं फटक सकती । मानसिक स्वास्थ्य तो इससे समृद्ध होता ही है ।

अमोघ चिकित्सा एक चिकित्सक अपनी अचूक चिकित्सा के लिए प्रख्यात थे । वे स्वयं भी निरोग रहते और असाध्य रोगियों तक को रोग मुक्त करते । वे दिन भर लकड़ी काटने का काम करते और जंगल में रहते थे । एक दिन किसी असाध्य रोग से पीड़ित एक श्रीमंत उन्हें खोजते हुए जंगल में पहुँचा । व्यथा सुनकर उन्होंने वहीं एक महीने के लिए सेवन योग्य दवा दी और कहा इसे अपने माथे के पसीने में गीली करके प्रातः सायं खाया करें ।

पसीना निकालने के लिए उसे बड़ी मेहनत करनी पड़ती । इस आधार पर निठल्लापन दूर हुआ और साथ ही रोग मुक्त होने का अवसर भी मिला ।

वह श्रीमंत बहुत दिन बाद चिकित्सक का उपकार जताने और कुछ भेंट देने फिर पहुँचा । साथ ही उस औषधि का नाम बताने तथा बनाने का विधान समझने का आग्रह किया, ताकि जरूरत पड़ने पर उसे स्वयं भी बना लिया करे ।

चिकित्सक ने समझाया औषधि सूखी घास भर थी, पर उसका अनुपात पसीने में मिलाना था । मेहनत ही वह दवा है, जिससे सभी रोग दूर हो सकते हैं । आलसी को ही रोग घेरते हैं ।

परिश्रम में भी बुद्धिमत्ता अपनाना आवश्यक है । दिन-रात मेहनत में लगे रहने से तो उल्टे बीमार पड़ जाने का अंदेशा होता है ।

जुहीरी किसान भाग्य ने जोर मारा जुहीरी किसान कबीले का सरदार चुन लिया गया । सब ओर से बधाइयाँ आने लगीं । एक दिन उसने दूरवर्ती विद्वान् को बुलाया और उस क्षेत्र की उन्नति का उपाय पूछा ।

विद्वान् ने सलाह दी कि सब खेतों की मेड़ें ऊँची करा दी जाँय । उसका आदेश सभी ने माना और मेड़ें ऊँची होने लगीं । देखा कि एक वर्ष में ही उस इलाके में खुशहाली बरसने लगी । कीर्ति सब ओर फैली तो दूर-दूर के लोग ऐसी खुशहाली का कारण पूछने आये । उसने बताया कि मेड़ें ऊँची होने से वर्षा का पानी खेतों में भरा रहा । पूरी नमी रहने से फसल दूनी पैदा हुई । साथ ही जंगली जानवरों का आना बंद हुआ सो बर्बादी भी घट गई ।

लोगों ने सीखा कि बुद्धिमत्तापूर्वक किया गया परिश्रम हर किसी को उन्नतिशील बना सकता है । आज के युग में एक भ्रांत धारणा पनप गई है कि जो बुद्धिजीवी हैं, उन्हें शारीरिक श्रम नहीं करना चाहिए । इससे उनके अहं की पुष्टि तो हो जाती है, पर बीमार वही अधिक पड़ते हैं, उनके लिए परिश्रम तो और भी आवश्यक है ।

सर्वाधिक ज्ञानवान् शंकराचार्य अपनी शिष्य मंडली को पढ़ाने में व्यस्त थे । कोई बड़े संत उस अवसर पर पधारे । कक्षा के उपरांत उनने पूछा–"इस शिष्य मंडली में सर्वाधिक विद्वान् कौन है ?"

शंकराचार्य का उत्तर था–"हस्तामलक" । आगंतुक ने पूछा–"भला कौन सा है इनमें ?"

शंकराचार्य ने कहा–"वह कक्षा के उपरांत तुरंत काम पर चला जाता है और परिश्रम करते हुए पाठ याद करता है । देखना हो तो उसे आप खेत में कुदाल चलाते हुए देखें ।"

परिश्रमी होने के साथ-साथ व्यक्ति सुनियोजित ढंग से कार्य करने की महत्ता जान ले, तब तो प्रतिफल और भी अनेक गुने अधिक बढ़ जाते हैं ।

योजनाबद्ध अध्यवसाय पिता नौकरी करते थे । उन्हें तीन रुपये मासिक वेतन मिलता था । परिवार बड़ा होने से तीन रुपये मासिक में खर्च चलाना मुश्किल था । ऐसी विपन्न स्थिति में बालक ईश्वरचंद्र की पढ़ाई का प्रबंध कैसे हो । पिता की छाती भर आती थी पुत्र की पढ़ने की उमंग और अपनी विवशता को देखकर ।

अपने पिता की विवशता देखकर पढ़ाई के लिए ईश्वरचंद्र ने रास्ता निकाल ही लिया । उसने गाँव के उन लड़कों को मित्र बनाया, जो पढ़ने जाते थे । उनकी पुस्तकों के सहारे उसने अक्षर ज्ञान कर लिया और एक दिन कोयले से जमीन पर लिखकर अपने पिता को दिखलाया । ईश्वरचंद्र की विद्या के प्रति लगन देखकर पिता ने तंगी का जीवन जीते हुए भी

उसे गाँव की पाठशाला में भरती करा दिया । गाँव के स्कूल की सभी परीक्षाएँ ईश्वर ने प्रथम श्रेणी में पास कीं । आगे की पढ़ाई प्रारंभ करने में आर्थिक विवशता आड़े आ रही थी । ईश्वरचंद्र ने स्वयं अपनी राह बनाई और आगे पढ़ने के लिए माता-पिता से केवल आशीर्वाद भर माँगा । उसने कहा--"आप मुझे किसी विद्यालय में भरती भर करा दें । फिर मैं आपसे किसी प्रकार का खर्च नहीं मागूँगा ।"

तदनुसार पिता ने ईश्वरचंद्र को कलकत्ता के एक संस्कृत विद्यालय में भरती करा दिया । विद्यालय में ईश्वरचंद्र ने सेवा, लगन और परिश्रम, प्रतिभा के बल पर शिक्षकों को प्रसन्न कर लिया । उनकी फीस माफ की गई । पुस्तकों के लिए अपने साथियों के साझीदार हो गए और पढ़ाई से बचे समय में मजदूरी कर गुजारे का प्रबंध करने लगे । इस अभावग्रस्तता में ईश्वरचंद्र ने इतना परिश्रम किया कि उन्नीस वर्ष की आयु में पहुँचते-पहुँचते व्याकरण, साहित्य, स्मृति तथा वेदशास्त्र में निपुणता प्राप्त कर ली । यही युवक आगे चलकर ईश्वरचंद्र विद्यासागर के नाम से विख्यात हुआ ।

मजेदार पंखा विज्ञानी न्यूटन घरेलू जीवन में भी अपनी सूझबूझ का परिचय देकर छोटे-मोटे आविष्कार करते रहते थे । एक दिन उनने हवा झलने का पंखा बनाया । प्रश्न यह उठा कि उसे घुमाने के लिए शक्ति कौन लगाये ।

न्यूटन ने पंखे के साथ एक गरारी जोड़ी । नीचे दो चूहे बिठाये । ऊपर गेहूँ के दाने रखखे । चूहे दाने खाने के लिए गरारी पर होकर ऊपर चढ़ने का प्रयत्न करते, पर दाने कुछ ऊँचे थे, जिससे वे हाथ न लगते और चूहे गिरने-चढ़ने के गोरखधंधे में लगे रहते । इस प्रकार चूहों के श्रम से पंखा चलता रहता और न्यूटन हवा का आनंद लेते रहते ।

न्यूटन इस सफलता की चर्चा मजेदार शब्दों में करते रहते और कहते थे कि मूर्खों के श्रम का लाभ चतुर लोग किस प्रकार उठाते रहते हैं । लालची लोगों की निरर्थक श्रमशीलता की तुलना भी वे इन चूहों से करते थे ।

किसी भी स्थिति में कुकल्पनाएँ तो नहीं ही की जानी चाहिए । मन की प्रसन्नता जीवन को प्रफुल्ल रखती है ।

सुंदर चन्द्रमा कहते हैं कि आरंभ में चंद्रमा बहुत सुंदर था । हर घड़ी हँसता रहता । चेहरा खिले कमल जैसा सुन्दर लगता ।

कुछ दिन बाद वह उदास रहने और खीजने लगा । अतएव कलाएँ घटने लगीं । चेहरा मुरझाया और सिकुड़ा सा क्षीण होने लगा ।

दिन बीतते गए, अमावस्या आते-आते वह काला कुरूप हो गया । कलाएँ समाप्त हो गईं और अँधेरी कोठरी में दिन काटने लगा ।

ब्रह्मा जी इस दुर्दशा को देखकर बोले--"मूर्ख हँसना, मुस्कराना फिर आरंभ कर, उसके बिना किसी की जिंदगी पार नहीं होती । खीजने से तो बेमौत मरेगा ।"

चंद्रमा ने अपनी भूल सुधारी, उसने प्रसन्नता बखेरना आरंभ किया और बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा को फिर खिले कमल जैसा हो गया ।

कुविचारा भवन्त्येते घातकास्तु तथा यथा ।
कुकर्माणि कृतान्यत्र तस्मादेतान्न चिन्तयेत् ।। ६९ ।।
छुरिका जीर्णतां याति या हि नैवोपयुज्यते ।
नैष्कर्म्यं पुरुषो याति पशुर्वा चेष्टते न यः ।। ७० ।।
स्वाभिर्विशेषताभिश्च हीनो भवति स क्रमात् ।
अभिशापैरतश्चैभिरात्मानं रक्षितुं नरैः ।। ७१ ।।
उपयोगिश्रमेष्वेतच्छरीरमुपयुज्यताम् ।
स्वाध्यायैः सद्विचारैश्च सत्संगेन मनोऽपि च ।। ७२ ।।
भवेत्कार्यरतं नित्यं मनोयोगेन कर्मणाम् ।
कृतानां श्लाघ्यतां याति स्वरूपं सन्ततं स्वतः ।। ७३ ।।
उपेक्षयाऽस्थिरेणाऽपि मनसा वा कृतानि तु ।
कार्पण्यसंगतानीव जायन्ते नाऽपि स तथा ।। ७४ ।।

लाभ आसाद्यते यद्वन्मनोयोगकृतैर्भवेत् ।
सामर्थ्याच्छ्रमशीलत्वं महत्त्वेनातिरिच्यते ।। ७५ ।।

टीका–कुविचार भी कुकर्मों की तरह ही घातक होते हैं, अतः इनका चिंतन नहीं करना चाहिए । बेकार पड़े चाकू को जंग खा जाती है । बैठा ठाला मनुष्य या पशु धीरे–धीरे निकम्मा बनता जाता है और अपनी सहज विशेषताओं से हाथ धो बैठता है । इन अभिशापों से बचने के लिए हर समझदार व्यक्ति को अपना शरीर उपयोगी श्रम में लगाये रहना चाहिए । मन को सद्विचारों से, स्वाध्याय और सत्संग के सहारे कार्यरत रखे रहना चाहिए । कामों को मनोयोगपूर्वक करने से उनका स्वरूप प्रशंसनीय बन जाता है, इसके विपरीत उपेक्षा और अन्यमनस्कतापूर्वक किए गए काम बेतुके होते हैं तथा उनसे वैसा लाभ नहीं मिलता जैसा कि मनोयोगपूर्वक करने से मिल सकता था । क्षमता से भी अधिक महत्व श्रमशीलता का है ।। ६९–७५ ।।

अर्थ–मनुष्य के कर्तव्य का निर्धारण उसका चिंतन करता है । यह सही ही कहा गया है कि जो जैसा सोचता है, वैसा ही करता है व वैसा ही बन जाता है । इसीलिए व्यक्ति को सतत सत् चिंतन में स्वयं को नियोजित रखे रहने की महत्ता प्रतिपादित की जाती रही है ।

साधु बनाम वेश्या

एक महात्मा दिन–रात भगवान का भजन करते थे । उनके सामने कोठे पर वेश्या रहती थी, जो दिन–रात राग–रंग में डूबी रहती ।

मृत्यु के बाद वेश्या तो स्वर्ग पहुँची, साधु नरक में । उनने शिकायत की–"भगवन्, आपका यह कैसा न्याय है ।" चित्रगुप्त बुलाए गए, उनने बहीखाता खोलकर देखा, तो पता चला कि महात्मा दिन–रात उस वेश्या को कोसते, गाली देते रहते थे, जबकि वेश्या पश्चात्ताप के आँसू बहाती और कहती–"यह साधु कितने धन्य हैं, एक मैं हूँ, जो नर्क में डूबी हूँ ।"

प्रतिफल कर्म का नहीं विचारों का होता है । चित्रगुप्त ने जो किया सो ठीक ही है ।

साधुता का ढोंग

एक साधु और डाकू की एक ही दिन मृत्यु हुई । धर्मराज के दरबार में भी वे साथ–साथ ही पेश हुए । डाकू ने अपने दुष्कर्म कह सुनाए और यथोचित दंड पाने के लिए सिर झुकाकर खड़ा हो गया । साधु ने अपने पुण्य बखाने और स्वर्ग सुख का दावा प्रस्तुत किया ।

धर्मराज ने डाकू को दंड दिया कि तुम आज से इस साधु की सेवा में संलग्न रहो, ताकि जो सद्भाव तुम में जगा है, वह सत्संगति से और अधिक निखरे । वह तैयार हो गया ।

साधु ने आपत्ति की, कहा–"इसकी संगति से मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा । मुझे स्वीकार नहीं ।"

धर्मराज ने अपना फैसला बदल दिया, उलटकर साधु को दंड दिया कि तुम डाकू की सेवा में निरत रहो, ताकि तुम्हारा अहंकार गल सके ।

सांसारिक महत्वाकांक्षाओं में कुढ़ते रहने वालों की यही अंतिम गति होती है । वे कितना ही तप क्यों न कर लें ?

सियारों ने ऊँट खाया

एक आलसी ऊँट ने बहुत लंबे समय तक तप किया । देवताओं ने प्रसन्न होकर वरदान माँगने के लिए कहा ।

आलसी ऊँट ने माँगा कि एक जगह बैठे–बैठे ही दूर–दूर की घास चर लिया करे । अपनी गरदन को एक मील लंबा करा लिया । सो बहुत प्रसन्न था ।

बरसात आई । उसने सिर छिपाने की कई जगह तलाश की । एक गुफा में सिर भर रख सका । इतने में दो सियारों का जोड़ा उसमें घुस पड़ा । उनने ऊँट की गरदन काट डाली और महीनों उसका मृत मांस खाते रहे । वरदान भी बेकार चला गया ।

दीवारों को सुनाता हूँ

सामान्यतया व्यक्ति सत्परामर्श, सद्विचारों के प्रति उपेक्षा ही बरतता है ।

चीन के धर्मोपदेशक 'हुई वेंग' दीवार की तरफ मुँह करके प्रवचन करते थे, श्रोताओं की तरफ उनकी पीठ रहती थी ।

पूछने पर वे कहते थे–"आप लोग दीवार की तरह हैं सफाचट । उनके भीतर प्रवेश करने के लिए खिड़की तक नहीं है । ऐसी दशा में यह आशा बँधती नहीं कि वे जो सुनेंगे, उसे समझने और समझाने को भी तैयार होंगे ।"

हुई का कथन था कि इतने पर भी मैं निराश नहीं हूँ । दीवार को सुनाता हूँ, ताकि मेरा अभ्यास बढ़े और यदि दीवार के कहीं कान हों, तो वे मेरी बात सुनें ।

फितूरी आदमी

मनुष्य बैठे-ठाले कुछ भी सोचता रहता है । चिंतन के सुनियोजन की अपेक्षा कुतर्कों में मस्तिष्कीय क्षमताएँ नष्ट करता रहता है ।

ब्रह्मा जब सृष्टि रचने लगे, तो उन्हें भूल-चूक बताते चलने के लिए एक आलोचक की आवश्यकता पड़ी, सो गढ़कर पास बैठा लिया ।

आलोचक ब्रह्मा जी के हर काम में कुछ न कुछ गलती बता देता, सतत् टोकता रहता, इस पर झुँझलाकर ब्रह्मा जी ने कहा-"बताओ, तुम्हें गढ़ने में मैंने क्या भूल की ?" आलोचक बोला-"मेरे दिमाग में एक खिड़की रखनी चाहिए थी, जिससे कि आप जान सकते कि मेरे कथन और चिंतन में कितना अंतर है ।"

ब्रह्मा जी हैरान हो गए और पीछा छुड़ाने के लिए उसे शंकर जी के हवाले कर दिया । शंकर जी ने गणों में उसे शामिल कर वीरभद्र के जिम्मे अनुशासन शिक्षण हेतु सौंप दिया ।

अपने को चालाक समझने वाले धूर्त अपने दुश्चिंतन के कारण अपनी कुल्हाड़ी से अपना ही पैर काटते पाये जाते हैं ।

बंदर और भालू

बंदर का दोस्त था एक भालू । भालू की अकल नई-नई तरकीबें सोचती । एक दिन उसने तालाब से मछलियाँ पकड़ने में बंदर को साझीदार बनाया ।

योजना बनी बंदर की पूँछ में आटा बाँध दिया जाय । मछलियाँ जैसे ही उसे खाने आवें, भालू उन्हें पकड़ लिया करेगा ।

मछलियाँ तो न आ पाईं, पर आटे की गंध पाकर मगर आ गया और बंदर की पूँछ पकड़कर उसे गहरे पानी में घसीट ले गया । अदूरदर्शी योजनाएँ इसी प्रकार असफल रह जाती हैं ।

महापुरुष परिस्थितियों की समीक्षा करने से हिचकिचाते नहीं । बात अनर्थ की हो, तो उसे तत्काल बदल देने वाले बुद्धिमान् कहलाते हैं ।

कार्य पद्धति बदलो

राजा पर्यंक सिंहासन दूसरों को सौंपकर ब्रह्म की खोज में चल पड़े । सत्संग किए और ध्यान-मनन में लगे रहे । सुना-समझा तो बहुत, पर गले न उतरा और अतृप्ति निराशा की ओर बढ़ती गई ।

खिन्न मन पर्यंक तीर्थ यात्रा पर निकल पड़े । एक दिन बहुत थके थे, भूखे भी । किसी किसान के खलिहान में जा पहुँचे और थके-माँदे पेड़ की छाया में सुस्ताने लगे ।

किसान थके-माँदे पथिक को देखकर काम छोड़कर उसके समीप पहुँचा । थकान और भूख समझने में देर न लगी । उसने चावल निकाला, हाँडी में डाला और आग पर रखते हुए कहा-"उठो, इसे पकाओ, पक जाय तब कहना । हम दोनों पेट भर लेंगे ।"

राजा ने मंत्र-मुग्ध की तरह वैसा ही किया । भात पक गया तो किसान को बुलाया । दोनों ने भरपेट खाया । किसान काम में लग गया और राजा को गहरी नींद आ गई ।

स्वप्न में देखा कि एक दिव्य पुरुष सामने खड़ा है और कह रहा है-"मैं कर्म हूँ, मेरा आश्रय लिए बिना किसी को शांति नहीं मिलती । तुम परमार्थ, पुरुषार्थ में लगो और लक्ष्य तक पहुँचो ।"

नींद खुलने पर राजा ने अपनी कार्य-पद्धति बदली । अब वे ज्ञान चर्चा कम करते और सेवा-पुरुषार्थ में अधिक संलग्न रहते ।

कुविचारी की दुनिया बुरी और जिसके मन में सद्विचार होते हैं, उसे सारा संसार ही सुंदर लगता है । अपनी इसी मान्यता का लोग अच्छा-बुरा प्रतिफल भी पाते रहते हैं । जैसा चिंतन होता है, वैसी ही प्रतिक्रिया भी होती है ।

खाली या भरा कमंडल

मुनि कौत्स ने जल से आधा भरा कमंडल सामने प्रस्तुत करते हुए ब्रह्मचारियों से पूछा-"बताओ यह भरा है या खाली ?"

उत्तर देते हुए छात्रों में से किसी ने उसे आधा भरा बताया, किसी ने आधा खाली ।

मुनि ने समझाया-"तात, यही दृष्टिभ्रम संसार में संव्याप्त है । जो रिक्तता के अभाव को देखते सोचते हैं, वे

दुखित-उद्विग्न रहते हैं और जिनने उपलब्धियों को समझा, उन्हें आज संतोष करने और कल की आशा रखने के लिए आधार मिल जायेगा ।''

कमंडल कितना खाली है, यह मत सोचो, यही देखो कि वह कितना अधिक भरा हुआ है ।

जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि

एक साधु की कुटिया थी । एक राहगीर ने पूछा-''आपके गाँव के लोग कैसे हैं ?'' साधु ने उलटकर पूछा-''तुम्हारे गाँव के कैसे हैं ?'' राहगीर ने कहा-''बहुत बुरे ।'' साधु ने कहा-''हमारे गाँव के और भी बुरे हैं ।''

थोड़ी देर में एक और राहगीर आया । उसने भी वही प्रश्न किया । साधु ने उससे भी उलटकर पूछा-''तुम्हारे गाँव के कैसे हैं ?'' राहगीर ने कहा-''बहुत अच्छे ।''

अब साधु का जबाव था-''बिल्कुल सज्जन ।''

कुटिया में बैठे एक आदमी ने साधु से दुहरे उत्तर का कारण पूछा-''आपने दो राहगीरों से दो तरह की बात क्यों कही ।''

साधु ने कहा-''अपना दृष्टिकोण ही अन्यत्र दीखता है । इन राहगीरों का जैसा दृष्टिकोण है, हमें गाँव के लोग भी उसी तरह दीखेंगे ।''

नजरें बदलीं तो परिस्थितियाँ बदलीं

खरगोशों ने हाथी से अपनी तुलना की और आकृति तथा दयनीय स्थिति पर बहुत दुःख मनाया । ऐसी जिंदगी से क्या लाभ ? यह सोचकर वे तालाब में डूब कर आत्महत्या करने के लिए चल पड़े । तालाब पर पहुँचे ही थे कि किनारे पर बैठे मेंढकों में भगदड़ मच गयी । वे उछलकर पानी में कूदे और डुबकी लगाकर छिप गए ।

बूढ़े खरगोश ने अपने समुदाय को संबोधित करते हुए कहा-''हमसे भी छोटे मेंढक जैसे प्राणी इस संसार में हैं, तो इस प्रकार निराश होकर मरने की क्या आवश्यकता ?'' वे वापस लौट गए ।

बड़ों के साथ तुलना करने पर आदमी अपने को छोटा अनुभव करता है, पर जब अपने से छोटों को देखता है, तो उतना सौभाग्य भी कम संतोषप्रद नहीं रह जाता । व्यक्ति यदि अपना दृष्टिकोण बदल कर विधेयात्मक बना ले, तो वही संसार जो प्रतिकूल नजर आता था, अपना पक्षधर एवं परिस्थितियाँ अनुकूल नजर आती हैं ।

अपने स्वभाव के प्रति सतर्कता की यही नीति जन साधारण को संत बना देती है ।

राबिया हँसी क्यों-रोई क्यों ?

सूफी संत महिला राबिया हँसती भी जाती थीं और रो भी लेतीं । दोनों काम एक साथ करती देखकर उपस्थित लोगों ने आश्चर्य भी किया और कारण भी पूछा ।

राबिया ने कहा-''परमात्मा ने ऐसा सुंदर संसार और शरीर बनाया इस पर मैं हँसती हूँ । रोती इसलिए हूँ कि इन दोनों का हम सही उपयोग नहीं कर पाते । गंदे कीचड़ में पड़कर अपना सौभाग्य भी गँवाते हैं और संसार को भी कलुषित-कुरूप बना जाते हैं । आत्म परिष्कार के लिए इसी कारण संतों की संगति को जीवन का सर्वोपरि सौभाग्य माना गया है ।

सत्संग की गंगा

रामकृष्ण परमहंस की धर्मपत्नी शारदामणि महिलाओं का अलग सत्संग चलाती थीं । उसमें अधिकांश धार्मिक प्रकृति की तथा सभ्रांत घरों की महिलायें आती थीं ।

एक महिला सत्संग में ऐसी भी आने लगी, जो वेश्या के रूप में कुख्यात थी । इस पर अन्य महिलाएँ नाक-भौं सिकोड़ने लगीं और उसे न आने देने के लिए माताजी से अनुग्रह करने लगीं ।

इस पर माताजी ने कहा-''सत्संग गंगा है । वह मछली-मेंढकों के रहने पर भी अशुद्ध नहीं होती । तनिक सी मलिनता से ही जो अशुद्ध हो जाय, वह गंगा कैसी ? तुम लोग सत्संग की शक्ति को पहचानो और उसे गंगा के समतुल्य मानो ।''

साहसं तत्पराक्रमोऽप्याशायुक्तमनःस्थिति ।
पराक्रमोऽस्ति योग्याश्च नरास्ते साहसं विना ।। ७६ ।।
न शक्नुवन्ति कार्याणि कर्तुं तानि महान्ति ते ।
अविकासस्थितावेव तिष्ठन्त्यवसरेऽपि च ।। ७७ ।।

टीका–साहस भी पराक्रम है । अशान्वित रहना पराक्रम है । अनेक सुयोग्य और समर्थ व्यक्ति साहस के अभाव में बड़े काम नहीं कर पाते और अवसर रहते हुए भी पिछड़ेपन की स्थिति में पड़े रहते हैं ॥ ७६–७७॥

अर्थ–साहस एवं विधेयात्मक दृष्टिकोण अध्यात्म का पहला पाठ है । संत का अर्थ यह नहीं कि अनुचित भी हो तो भी चुप रहें, सहते रहें । इस परिभाषा को मस्तिष्क से निकाल कर ही सच्चे अध्यात्म की उपलब्धि संभव है ।

डरो मत–भागो मत

ईसा के शत्रु उनकी जान के ग्राहक बने हुए थे । शिष्यों ने सलाह दी–हमें योरुशलम छोड़कर कहीं अन्यत्र चल देना चाहिए ।

ईसा सहमत नहीं हुए और कहा–"सत्य को न तो डरना चाहिए और न भागना । बलिदान के साथ में जुड़ जाने से तो वह और भी अधिक निखरता है ।"

यह परंपरा सार्वभौम सत्य है । उसका न किसी देश से संबंध है और न वेश से । जाति–वंश का भी उससे कोई वास्ता नहीं । साहस, त्याग और पराक्रम अपनाने वाली हर जीवात्मा महानता का पद प्रतिष्ठित करती है ।

लौह पुरुष स्टालिन

स्टालिन मोची का और उसकी माँ धोबी का काम करती थी । घर वाले उसे पादरी बनाना चाहते थे । पर जब उसने आँखें खोलकर देश की परिस्थितियों को देखा । तो लगा कि उसका उचित स्थान राजनीति में ही है । वह लेनिन का विश्वस्त सहयोगी बन गया । पांच बार उसे साइबेरिया में बंदी बनाया गया, हर बार बड़ी होशियारी से भाग आया । लेनिन के बाद उसे रूस का राष्ट्राध्यक्ष बनाया गया । वह कर्मचारियों के छोटे से क्वार्टर में रहता था । जनता और अफसर दोनों के लिए ही वह बड़ा कठोर था । हरामखोरी और बदमाशी उसे सभी की नापसंद थी । उनके साथ कड़ाई से पेश आता था । इसलिए लौह पुरुष के नाम से पुकारा जाने लगा । उसके जमाने में रूस ने असाधारण उन्नति की ।

भीतर का महापुरुष जग पड़े, तो अपने–पराये सभी सहयोग देने के लिए आ जुटते हैं । अपना भीतर वाला ही हारा हुआ हो, तो पराए क्या अपने ही साथ छोड़ देंगे । इसलिए किसी भी परिस्थिति में हार नहीं माननी चाहिए ।

साहस के बल पर कुटिलता की पराजय

हिम्मत हो तो प्रतिकूल स्थिति में भी संतुलन से काम लिया जा सकता है । सुभाषचंद्र बोस प्रथम श्रेणी के डिब्बे में यात्रा कर रहे थे । गाड़ी स्टेशन से चली ही थी कि एक अंग्रेज महिला डिब्बे में दाखिल हुई और उसने सुभाष बाबू को धमकी दी–"तुम्हारे पास जो कुछ भी है, मुझे सौंप दो वर्ना मैं शोर मचाकर तुम्हें बदनाम कर दूँगी ।" सुभाष बाबू को उसकी चाल समझते देर न लगी । वे बहरे बन गए तथा ऐसा अभिनय करने लगे, मानों उस महिला की परेशानी को समझ न पा रहे हों । संकेतों के आधार पर उन्होंने उसे समझाया कि मैडम ! आप कृपया लिखकर अपना मंतव्य स्पष्ट करें कि आप चाहती क्या हैं ?" अंग्रेज महिला ने आतुरतावश बिना सोचे–समझे एक कागज पर लिखकर दे दिया । अब क्या था ? सुभाष बाबू जोर से हँस पड़े । अब महिला चाहने पर भी चिल्ला नहीं सकती थी, क्योंकि उनके कागजात लूटने के षड्यंत्र का सबूत सुभाष बाबू के हाथ में आ गया था । उनकी प्रत्युत्पन्नमति ने उस महिला की कुटिलता को परास्त कर दिया ।

प्रचण्ड साहसी भगतसिंह

असेंबली में बम फेंके जाने के पश्चात् सरदार भगतसिंह को गिरफ्तार कर लिया गया । जेल में उन्हें तथा उनके साथियों को बहुत ही कष्ट साध्य जीवन बिताना पड़ा । इसके विरोध में भगतसिंह ने अनशन कर दिया और कहा–"जब तक सरकार क्रांतिकारियों के साथ उचित व्यवहार न करेगी, अनशन नहीं तोड़ेंगे ।"

लोग समझते थे भगतसिंह लड़ने–झगड़ने में ही तेज हैं । अपनी आंतरिक कठिनाइयों से वे नहीं लड़ सकेंगे । दो–चार दिन में ही अनशन टूट जाएगा । पर एक–एक करके ११९ दिन बीत गए । लोग घबरा गए । सरकार को हार माननी पड़ी । उनकी माँग को पूरा करना पड़ा ।

बिना पैरों का किसान

कोई आवश्यक नहीं कि साहस प्रदर्शन के लिए शरीर बलिष्ठ हो ।

मिलिट्री से रिटायर होकर टोरंटो के लारेन्स ने एक कृषि फार्म बनाने की ठानी । इसके लायक पैसा भी उनके पास था । विवाह किया तो ऐसी परिश्रमी और महत्वाकांक्षी जीवनसंगिनी ही उसने ढूँढ़ी । थोड़े दिनों में लंबा–चौड़ा फार्म बनकर लहलहाने लगा । एक मुर्गी फार्म भी उसमें था । एक दिन भयंकर बर्फ पड़ रही थी, ट्रक बीच में ही फँस गया । वह उसे एक मित्र की गैरिज में खड़ा करके एक मील का रास्ता पैदल पार करने के लिए चल पड़ा । बर्फीली आँधी में एक बड़ा पेड़ ऊपर से गिरा और उसकी दोनों टाँगें दब गईं । ट्रक को देखकर लारेन्स की खोज

की गयी, तो उसे पेड़ के नीचे दबा पाया । अस्पताल में टाँगे बेकार पाई जाने से काट दी गयीं । तीन महीने बाद लौटा, तो उसे टाँगें जाने का गम नहीं था । अब वह उसी प्रकार भावी जीवन की योजना बनाने लगा । पहियेदार कुर्सी पर चलना सीखा और हाथों के सहारे ट्रक चलाने लगा । पत्नी ने पूरा सहयोग दिया । दूर-दूर से लोग देखने आते कि बिना पैरों फार्म पहले से भी अच्छा किस प्रकार चलाया जा रहा है ।

जिजीविषा ने असंभव भी करा दिया

परिवार के एक अंधे तिरसठ वर्षीय सदस्य को उस परिवार के लोगों ने किसी साधारण-सी बात पर अपमानित कर दिया । उस नेत्रहीन व्यक्ति के स्वाभिमान पर चोट पहुँची । उसने न्यूजीलैंड की एक डच बस्ती में उसी अवस्था में एक मकान बनाना प्रारंभ कर दिया । मकान का नक्शा अपने मस्तिष्क में जमाकर उसने कार्य प्रारंभ किया । स्वयं जौहरी होते हुए भी उसने बढ़ई का काम किया और ढाई वर्ष तक अनवरत श्रम करते हुए उसने एक ऐसी भव्य इमारत खड़ी कर दी, जिसमें तीन तल्ले, सात कमरे, स्नानघर तथा लंबी अटारियाँ थीं । इस मकान में लोहा, गार्डर, कोन आदि इस तरह लगाए गए कि जिसकी कल्पना कोई इंजीनियर भी नहीं कर सकता ।

देखने वाले आज भी दंग रह जाते हैं । अब यह मकान न्यूजीलैंड सरकार की संपत्ति है । उसने इसे सार्वजनिक प्रदर्शनी के रूप में सुरक्षित रख छोड़ा है । जो भी कोई वहाँ जाता है, उसके निर्माता के चरणों में अनायास ही श्रद्धाभिभूत होकर झुक जाता है । उस महान् कलाकार का नाम है-फ्रांसिस-ए वरडेट । स्वाभिमान पर चोट पहुँचने से वरडेट में कला का एक ऐसा स्रोत फूट पड़ा कि वह महान् कलाकार के रूप में अमर बन गया ।

कठिनाइयों का प्रतिफल

कई बार अभावग्रस्तता और कठिनाइयाँ भी मनुष्य के दबे पौरुष को उभारने का काम करती हैं । दुर्बल मनोबल वाले ही उनके दबाव से हिम्मत हारते हैं ।

नैपोलियन नाटा था और गरीब घर में पैदा हुआ था । इन दोनों कारणों से उसे आरंभिक जीवन में उपहास और तिरस्कार सहने पड़े । इस स्थिति के विरुद्ध विद्रोह उसे कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ने और जीतने के लिए उकसाता रहा तथा उसे चैन तब पड़ा, जब एक राजकुमारी से विवाह कर लिया । ब्रिटेन के एक प्रधानमंत्री चर्चिल बचपन में तुतलाते थे । उन्होंने वाणी पर अधिकार करने का फैसला किया और घोर अध्यवसाय अपनाकर वे कुशल वक्ता बने । अमेरिका के राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट की एक आँख खराब थी । उपहास को विजय के रूप में परिणत करने के लिए उनने गोली चलाने में विशेषता पाई और पक्के निशानेबाज बन गए । लार्ड बायरिन लँगड़े थे । वे अपने साथियों को पर्वतारोही सफलता पाते देखकर मन मसोसे रह गए, पर उनने हार नहीं मानी, उलट कर महत्व पाने की दृष्टि से उन्होंने दर्शन शास्त्र को अपना कार्य क्षेत्र चुना और विश्वविख्यात दार्शनिक की पंक्ति में जा बैठे ।

श्रेय की प्राप्ति सुविधाजनक हो-यह आवश्यक नहीं, उसके लिए परिपूर्ण संघर्ष करना आवश्यक है । सच पूछा जाय, तो साहस की कसौटी संघर्ष से ही होती है और उस स्थिति में अपनी हानि के लिए भी तैयार रहना आवश्यक होता है ।

हारिए न हिम्मत

इंग्लैंड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० डाल्टन अपने प्रयोगों को अपने ऊपर ही करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचते । अन्य जीवों को त्रास देकर कोई निष्कर्ष निकालना उनने मानवता के विरुद्ध माना । अनेक जोखिम उठाकर भी महत्वपूर्ण आविष्कार स्वयं किए । अमोनिया क्लोराइड जैसी हानिकारक वस्तु का प्रयोग अपने ऊपर करके उनने टिटनस का टीका इसी प्रकार निकाला । उनने भारी वजन लंबी दूरी तक स्वयं ढोया और सिद्ध किया कि छोटे-मोटे प्रयोगों से आदमी का कुछ बिगड़ नहीं सकता ।

उन्होंने मांसाहार का विरोध किया । फलतः उनका मजाक बनाने वाले बहुत हो गए । अंततः वे भारत चले आये और उन महत्वपूर्ण प्रयोगों को यहीं रहकर करते रहे, जिनके कारण वे वैज्ञानिक में मूर्धन्य गिने जाते हैं । ऐसे पुरुषार्थी अनायास ही वह स्थिति प्राप्त कर लेते हैं, जिस अतिमानवीय सिद्धि या चमत्कार कुछ भी कहा जा सकता है ।

पुरुषार्थी को सिद्धि

जब संकल्प कोई जगा देता है, तो प्रगति का पथ स्वयमेव प्रशस्त हो जाता है ।

निर्विकल्प समाधि की साधना में जब सफलता न मिली, तो महर्षि उद्दालक ने सोचा-असफल होकर जीना क्या ? निराहार रहकर मृत्यु का वरण करना चाहिए । उन्होंने अन्न-जल त्याग कर मरण की साधना आरंभ कर दी ।

जिस वट वृक्ष के नीचे महर्षि का अनशन व्रत चल रहा था, उसके भीतर कोटर में वीरुध नामक एक बूढ़ा तोता

रहता था । उसने ऋषि को संतप्त दृष्टि से देखा और सजल नेत्रों से कहा–"वाचालता क्षमा करें तो एक बात पूछूँ ?" उद्दालक ने आँखें खोलीं और तोते से बोले–"कहो, क्या कहना है ।" वीरुध बोला–"शरीर तो मरण-धर्मा है ही, उसकी मृत्यु-योजना करने में क्या पुरुषार्थ हुआ ? मृत्यु को अमरता में बदलने के लिए ऐसा ही दृढ़ निश्चय किया और इतना ही त्याग किया जाय, तो क्या अमृत की प्राप्ति न होगी ?"

उद्दालक बहुत देर तक सोचते रहे । शुक की वाणी उनके अंतःस्तल तक प्रवेश करती गयी । अनशन त्याग कर ऋषि ने अमृत की प्राप्ति के लिए प्रबल पुरुषार्थ आरंभ किया, तो निर्विकल्प समाधि भी उनके सामने आ उपस्थित हुई ।

श्रेष्ठाः परम्परा ग्राह्या न च कुप्रचलानि तु ।
स्वीकार्याणि न चाऽनीतिः कार्या सह्याऽपि वा पुनः ।। ७८।।
अवाञ्छनीयता नाशं कर्तुं संघर्षशीलता ।
तथैव पुण्यदा पुण्यं नीतिन्यायार्जनं यथा ।। ७९।।
अनीतिपीडितोद्धारस्तथा श्लाघ्यो यथा च तत् ।
पीडितोद्धारसाहाय्यं कष्टदूरकरं नृणाम् ।। ८०।।

टीका–कुप्रचलनों को स्वीकार न किया जाय । मात्र श्रेष्ठ परंपराएँ ही अपनाई जाँय । अनीति न करें और न अनीति सहें । अवांछनीयताओं का विरोध–उन्मूलन करने के लिए संघर्ष करना भी उतना ही बड़ा पुण्य है जितना कि नीति–न्याय को अर्जित करना । अनीति के उत्पीड़ितों को बचाना भी उतना ही सराहनीय है, जितना कि दुखियों की उदार सहायता करके उन्हें कष्टों से निवृत्ति दिलाना ।। ७८–८०।।

अर्थ–स्वयं अपना विवेक प्रयोग न कर अंध परंपराएँ स्वीकार कर लेना, अनीति सहना एवं ऐसे किसी अभियान से अपना सहयोग दर्शाना भी एक प्रकार से कायरता का एवं अनीति सहयोग का परिचायक है । हर व्यक्ति को समाज में रहना है, तो अवांछनीयता का प्रतिकार भी करना होगा एवं संघर्ष हेतु तत्पर भी होना होगा । सज्जनता पराक्रम के साथ ही शोभा देती है । शौर्यरहित सौम्यता एक प्रकार की कायरता है । जिसमें मन्यु जागृत नहीं है, वह मानवी काया में होते हुए भी मनुष्य नहीं है । महामानव इसीलिए न केवल सत्प्रयोजनों में स्वयं को नियोजित करते हैं, अन्य दुखियों की सहायता करते हैं, वरन् दुष्टों-पीड़ितों से उनकी रक्षा भी करते हैं । यह बल-पराक्रम ही सह्या शील है, मानवी गरिमा का द्योतक है ।

अछूतोद्धारक नारायण गुरु

दक्षिण भारत में कन्याकुमारी के निकट श्री नाराण गुरु जन्मे । कुछ ही दिन वे जप-तप में लगे कि उस क्षेत्र के अछूतों की दुर्दशा देखकर उनका जी भर आया और उस समुदाय को ऊँचा उठाने के लिए उन्हीं में घुल-मिलकर काम करने लगे । नय्यर, पतवाह, छिया, उलिया, मरिहा आदि कितनी ही जातियाँ ऐसी थीं, जिन्हें कोई छूता भी न था और काम पर भी न लेता था । उन्हें संगठित करके कुछ उद्योग चलाने और अपने अधिकारों के लिए अड़ जाने का उन्होंने प्रशिक्षण दिया । अछूतों के लिए उनने एक मंदिर बनवाया, जहाँ वे उपासना भी करते और शिक्षा भी प्राप्त करते ।

स्वामी नारायण गुरु को सवर्णों का कठिन विरोध सहना पड़ा पर वे अपने काम में सुनिश्चित भाव से लगे रहे । उन्हें आशाजनक सफलता भी मिली । उनके आश्रम और कार्यक्रम की प्रशंसा सुनकर महात्मा गाँधी और ऐण्ड्रयूज दर्शनों को गए । अकेला व्यक्ति भी ऊँचे उद्देश्य के लिए कार्यरत रहकर क्या कुछ कर सकता है, इसकी प्रत्यक्ष प्रतिमा थे स्वामी नारायण गुरु ।

इसके अतिरिक्त हरिजनों को खादी उद्योग में लगाने की विशेष व्यवस्था की । जिससे हजारों को आजीविका उपलब्ध होने लगी ।

सीमांत गाँधी

सीमांत प्रांत पर भी तब अँग्रेजों का ही कब्जा था । उन्हें किसी भी सुधारवादी प्रयास में अराजकता की गंध आती थी । उन दिनों कांग्रेस की हवा उस क्षेत्र में पहुँच चुकी थी । खान अब्दुल गफ्फार खाँ खुदाई-खिदमतगार संगठन बनाकर उस क्षेत्र में फैली हुई अभाव व कुरीतियों को दूर करने तथा शिक्षा प्रसार का प्रयत्न कर रहे थे । अंग्रेजों को वह भी सहन न हुआ और अब्दुल गफ्फार खाँ को आए दिन धमकियाँ

देने लगे । उन्हें उस समय तक उस क्षेत्र के लोग बादशाह खान कहते थे ।

गाँधी, नेहरू के संपर्क में आने के पश्चात् बादशाह खान पूरी तरह कांग्रेस के आंदोलन में कूद पड़े । सीमांत से हजारों स्वयं सेवक जेल गए । उनने अपना जीवन भी पूर्णतया अहिंसक बना लिया था । निजी जीवन में भी मद्य, माँस का पूरी तरह त्याग कर दिया था । खादी धारण करने लगे थे, सूत कातते थे । उनके अनुयायी उस क्षेत्र में तेजी से बढ़ते गए और बादशाह खान सीमांत गाँधी के नाम से प्रसिद्ध देशभक्त हुए ।

न माना, तो नहीं माना

अँग्रेजों के शासनकाल में लाहौर के मिशन हाईस्कूल में नवीं कक्षा में एक विद्यार्थी पढ़ता था । एक अंग्रेज अध्यापक पढ़ाते-पढ़ाते हिन्दू धर्म एवं संस्कृति पर अनेकानेक तरह के आक्षेप करने लगा, जिनमें यथार्थता का कोई अंश भी न था । एक किशोर बालक को यह सब कुछ सहन न हुआ । वह तुरंत उठ कर खड़ा हो गया । अध्यापक के आक्षेप का विवेकसंगत ढंग से बड़ी विनम्रतापूर्वक विरोध किया । प्रसंगवश ईसाई धर्म की गलत मान्यताओं का खंडन भी करने लगा । धर्मांध अंग्रेज अध्यापक यह सहन न कर सका । अपने अधिकारों का दुरुपयोग करते हुए अध्यापक ने किशोर को बेंतों से बेरहमी के साथ पीटा और अपनी गलती स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया । किशोर बालक ने मार सहते हुए भी अनौचित्य के सामने सिर नहीं झुकाया । यही बालक आगे चलकर महात्मा हंसराज के नाम से जाना जाने लगा । जिसने जीवनपर्यंत हिन्दू धर्म का प्रचार-प्रसार का कार्य किया और पूरे पंजाब में अनेक आर्य वैदिक महाविद्यालयों की स्थापना कर डाली ।

वस्तुतः सच्चा धर्म, सच्ची महानता यही है । औषधि कड़ुई होती है पर बालक को वह जबरदस्ती न पिलाई जाये तो उसका जीवन ही संकट में पड़ सकता है । सामाजिक व्यवस्था को ऐसे सच्चे धर्मावलंबी ही बचाते हैं ।

कौन खरीदेगा ?

राजा सर्वमित्र को मदिरा के बिना चैन न था । राजमहल हो या राजदरबार, किसी भी स्थान पर सुरापान करने में उसे संकोच न था । अपने साथ-साथ वह दूसरों को भी पिलाता था । परिणाम यह हुआ कि कुछ ही दिनों में राज कार्य ठप्प हो गया । अधिकारी प्रजा को सताने लगे । प्रजा दुःखी रहने लगी । जब राजा ही आचरणहीन हो, तो प्रजा की बात सुने भी कौन ?

एक ब्राह्मण से प्रजा का यह दुःख न देखा गया । उसने राजा की इस आदत को छुड़ाने का संकल्प लिया । एक दिन राजा की सवारी जा रही थी, तो उन्होंने देखा कि राजपथ पर भीड़ लगी हुई है । कारण पूछने पर पता लगा कि कोई व्यक्ति मदिरा बेच रहा है । राजा ने सोचा कि देखें उस व्यक्ति की मदिरा में कौन-सी ऐसी विशेषता है, जिसके कारण इतने व्यक्ति इकट्ठे हो गए हैं । राजा ने उसके पास अपना रथ रुकाने का आदेश दिया । राजा ने निकट आने पर ब्राह्मण की आवाज सुनी-"जिसे पतन के गर्त में जाना है, वह इस मदिरा को अवश्य ले । इसे पीते ही अपना होश खो बैठोगे, नाली में मुँह दोगे, कीचड़ मुँह पर लपेटोगे, कुत्ते मुँह में पेशाब करेंगे । इसे पीकर स्त्री अपने पति को पीटेगी । धनवान् गरीब हो जायेंगे, पैसे-पैसे के लिए दूसरों का मुँह देखेंगे । इसे पीकर अपना काम भूल जाओगे और बौराते फिरोगे ।"

राजा ने ब्राह्मण की बात सुनकर पूछा-"आप तो इसके अवगुण निरंतर बताये जा रहे हैं । इस तरह कौन मदिरा खरीदेगा ।"

ब्राह्मण बोला-"राजन् ! जब वस्तु में अवगुण ही हैं, तो मैं गुण कहाँ से बताऊँ । मैं स्पष्टवादी हूँ, जो सच है वही कहूँगा ।""पर इस तरह तो तुम्हारी तनिक भी बिक्री न होगी ।"-राजा ने कहा ।

"सामान्य प्रजा नहीं खरीदेगी, पर प्रशासक और अधिकारीगण तो खरीदेंगे, जिससे इसे पीकर वे प्रजा पर और भी अत्याचार कर सकें ।"

पल भर में राजा के सम्मुख अपने राज्य का सारा चित्र स्पष्ट हो गया । वह ब्राह्मण के चरणों पर गिरते हुए बोला-"महाराज ! आपने मुझे पतन के रास्ते से बचा लिया है । आपकी बातें सुनकर मेरी आँखें खुल गयी हैं । आज से मैं इस पाप की जड़ को छूऊँगा भी नहीं ।"

"वत्स, तुम्हारा कल्याण हो ।"-मुस्कराते हुए ब्राह्मण देवता ने आशीर्वाद दिया । उनका प्रयोग पूरा हो चुका था ।

जीवन को संकट में डालकर भी अनुचित का साहसपूर्वक विरोध करने वाली संत परंपरा नष्ट हो गई, तो धरती को भी नष्ट हुआ समझना चाहिए ।

फकीर मरने से नहीं डरते

मैसूर के सुल्तान ने एक कीमती तोप बनाई । उस क्षेत्र के एक बड़े फकीर को बुलाकर उनने तोप की सफलता के लिए आशीर्वाद माँगा । फकीर ने स्पष्ट इन्कार कर दिया ।

गुस्से से सुल्तान ने फकीर को पकड़वाकर तोप में भरकर उड़ा देने का हुक्म दिया । ऐसा ही किया गया । तोप चली, तो फकीर बगल में खड़े हाथी की पीठ पर जा गिरा । इस आश्चर्य को देखकर उसे तोप में फिर भरा गया और उड़ाया गया । अबकी बार वे एक झोंपड़ी पर जा बैठे । तीसरी बार वे एक गाड़ी पर सवार हो गए ।

सुल्तान इस आश्चर्य को देखकर चकित हो गए और साधु को बंदगी करके छोड़ दिया ।

अमेरिकी गाँधी डॉ. किंग

नीग्रो समुदाय को अफ्रीका महाद्वीप से पकड़कर गोरों द्वारा गुलाम बनाने और बेचने का धंधा शताब्दियों तक चला । इस प्रथा के विरुद्ध अमेरिकी उदारमना विचारकों ने आंदोलन भी चलाए और कानून भी बनाए । पर इतने भर से कुछ बात बनी नहीं । स्वार्थपूर्ण कुप्रथाएँ तब तक उखड़ती नहीं, जब तक पीड़ित पक्ष उनके विरुद्ध तनकर खड़ा नहीं होता ।

अमेरिका के डॉ० किंग ऐसे ही प्रभावशाली व्यक्ति हुए, जिनने देश की स्वजातियों को न केवल संगठित किया, वरन् गाँधी का अनुकरण कर असहयोग-आंदोलन भी चलाया । बसों में नीग्रो लोगों के बैठने पर भेदभाव बरता जाता था । इन लोगों ने बसों में बैठने का बहिष्कार कर दिया, फलत: बसें खाली चलने लगीं और कंपनियों का दिवाला निकलने लगा । फलत: बस कानून में ही नहीं, अन्य सुधार भी हुए ।

गोरों और कालों के बीच विग्रह खड़ा न होने देने के लिए डॉ० किंग ने भरसक प्रयत्न किया, फिर भी कटुता फैली ।

उन्होंने अल्पायु में इतने सुधार किए जिनकी सर्वत्र सराहना होती है । उन्हें नोबेल पुरुस्कार भी मिला; किन्तु भगवान् ने उन्हें लंबी आयु नहीं दी, तो भी वे अधेड़ होते-होते इतना काम कर गए, जिनकी चर्चा चिरकाल तक की जाती रहेगी ।

उपासना का अर्थ भगवान् के नाम की माला फेरना ही नहीं है, आदर्शों को, नीतियों को जीवन में प्रतिष्ठित रखने का कार्य ही सच्ची उपासना है ।

आवाज बुलंद रहे

खड़ाऊँ सदा पैरों तले रहती, फिर भी कदम उठाने पर खट-खट की आवाज करती रहती ।

पहनने वाले ने पूछा-"तुम इतने नीचे स्थान पर हो, फिर भी चुप क्यों नहीं रहतीं ?"

खड़ाऊँ ने कहा-"परिस्थितियाँ ईश्वर के हाथ में हैं, पर आवाज को बुलंद रखने को तो वह भी नहीं रोक सकता । अपने अधिकार का उपयोग नहीं करूँगी क्या ?"

दूसरों की भूल ही नहीं अपनी भूल हो, तो उसे स्वीकार करने का प्रायश्चित भी उच्चकोटि का साहस है । यह परंपरा अपनाने वाले भी महान बने हैं ।

प्रायश्चित्त का साहस

गुजरात के रविशंकर महाराज ने अपराधी प्रवृत्तियों के लोगों से उनकी गलती कबूल कराई और प्रायश्चित कराये । एक अपराधी रात भर सोया नहीं । सबेरे महाराज के पास पहुँचा और कहा-"उसने पड़ोसी के यहाँ शराब की बोतलें रखवा कर पकड़वा दिया और वह जेल में है ।"

महाराज ने उसे प्रायश्चित बताया कि जब तक वह छूटकर न आवे, तब तक उसके घर का खर्च तुम उठाओ और बच्चों की देखभाल करो । उसने ऐसा ही किया । जब वह जेल से छूटा तो घनिष्ठ मित्र बन गया ।

ईश्वर का भक्त

अनीति का प्रतिकार करने के साथ-साथ परदु:खकातरता का विकास होना महामानवों का एक विशेष गुण है । 'कुबेर हो या रंक, जब तक परिश्रम से कमाये धन का एक अंश लोकहित में समर्पित नहीं करता, वह अधर्म खाता है ।' इतने से अक्षर महर्षि अनमीषि के लिए शास्त्र हो गए । उन्होंने पत्नी सहित यह प्रतिज्ञा की कि वे दीन-दु:खी को भोजन कराकर भोजन ग्रहण करेंगे ।

उन्हें संकल्प निबाहते हुए वर्षों बीत गए । तप परीक्षा के बिना खरा सिद्ध हो गया हो-ऐसा कभी हुआ नहीं । एक दिन ऐसा आया कि उनके द्वार तक कोई झाँका भी नहीं । दोनों बहुत दु:खी हुए । तभी उन्होंने देखा-वृक्ष के नीचे एक वृद्ध कुष्ठ रोगी पीड़ा से खड़ा काँप रहा है । शरीर में घाव हो जाने से वह कराह रहा है । अनमीषि ने आगे बढ़कर कहा-"भोजन तैयार है, ग्रहण कर कृतार्थ करें ।" वृद्ध ने कराहते हुए कहा-"आर्य श्रेष्ठ ! मैं आपकी उदारता का अधिकारी नहीं, क्योंकि मैं जाति का चांडाल हूँ । संभव हो तो घर में कुछ रोटियाँ बची हों, उन्हें यहाँ फेंक जायें । उन्हें उठाकर अपना पेट भर लूँगा ।" वृद्ध की यह दशा देखकर अनमीषि की करुणा उमड़ उठी, आँखों से अश्रुधारा बहने लगी । वह बोले-"ऐसा न

कहें तात ! हम जाति के पुजारी नहीं, जीव मात्र में व्याप्त आत्मा के उपासक हैं । आपके अंदर जो चेतन है, वही तो परमात्मा है । उसे छोड़कर हम अन्न ग्रहण करने का पाप कैसे कर सकते हैं ।''

वह उसे सादर अपनी कुटिया पर ले गए । स्नान कराकर, नूतन वस्त्र पहनाये, उसे भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन ग्रहण किया ।

जब रात्रि में अनमीषि सोये तो अग्निदेव प्रकट हुए और बोले-''तू ही ईश्वर का सच्चा भक्त है, जो ब्राह्मण, चांडाल, हाथी व कुत्ते में कोई भेद नहीं करता ।''

रुको मत आगे बढ़ चलो

जब अंदर साहस खोया बैठा रहता है, पराक्रम नहीं जागता, तो सत्प्रेरणा नया जीवन, नया संदेश लेकर आती है ।

उस दिन लहर बड़ी उदास और निराश बैठी थी । समुद्र उसे आगे बढ़ने व बिखरने के लिए कह रहा था, किन्तु वह डर रही थी । वह इतने में ही संतुष्ट रहना चाहती थी ।

समुद्र ने उसे समझाया-''भद्रे ! आगे बढ़ो, मिलन का आनंद जड़ता में नहीं, गति में है ।'' लहर अनिश्चितता की कल्पना से भयभीत हो रही थी ।

समुद्र गंभीर हो गया उसने कहा-''देखती नहीं, मेरे अंदर कितना दर्द है । उस दर्द में हिस्सा बँटाये बिना तुम कैसे मेरी प्रियतमा बन सकती हो ?'' उससे अगली लहर ने समझाया और बोली-''सहेली हमें देखो न, बिछुड़कर ही हम अनंत की ओर बढ़ रहे हैं । सीमित से असीमित बनकर हमने प्रणय की सरसता को खोया नहीं, बढ़ाया ही तो है ।''

चर्चा बड़ी मधुर थी, सुनकर सूर्य की किरणें भी ठिठक गईं । उन्होंने कहा-''हमें अपने प्रियतम की विशालता में विचरण करते हुए अधिक उल्लास आता है ।''

प्रसंग पूरा भी न हो पाया था कि महकती गंध भी वहाँ आ पहुँची और वह बोली-''पुष्प की गरिमा को विस्तृत क्षेत्र की ओर अग्रसर करते हुए बिछुड़न का नहीं, पुलकन का अनुभव करती हूँ, तुम क्यों रुक बैठने के लिए मचल रही हो ।''

समुद्र इस चर्चा को शांत चित्त सुन रहा था । इतने में इंद्र ने द्वार खटखटाया और कहा-''चलने में विलम्ब न करो दुनियाँ तुम्हारी प्रतीक्षा में कब से बैठी है ।'' मेघ का वाहन तैयार था । इंद्र के इशारे पर सुदूर यात्रा पर चल पड़ा । गमन का त्याग करने पर सड़न हाथ लगती है । लहर की आँखें खुलीं उसने चलना प्रारंभ कर दिया ।

पराक्रमश्च सौजन्यं विपरीतमिव द्वयम् ।
भिन्नं प्रतीयमानं तदवच्छिन्नं परस्परम् ।। ८१ ।।
रहस्यं नव्यरूपेण श्रोतृभिस्तच्छ्रुतं समैः ।
द्वयोर्महत्वमादातुं प्रयोक्तुं च समं द्वयम् ।। ८२ ।।
सहमतिं स्वां समे व्यक्तां व्यधुः पूर्णतया नराः ।
युगनिर्माणपन्थाश्च दृष्टस्तैः सम्मुखे स्फुरन् ।। ८३ ।।
सत्रे विसर्जिते सर्वेऽप्यभिवादनपूर्वकम् ।
मनीषिणः प्रयान्तस्ते सार्थक्येऽस्य समेऽप्यलम् ।
अन्वभूवँश्च सन्तोषं हर्षं प्राप्येव सन्निधिम् ।। ८४ ।।

टीका-सौजन्य और पराक्रम एक दूसरे से भिन्न एवं विपरीत जैसे लगते हैं, पर वे दोनों किस प्रकार परस्पर अविच्छिन्न हैं-इस रहस्य को श्रवणकर्त्ताओं ने नए रूप में समझा है । वे दोनों को समान महत्व देने और साथ-साथ प्रयोग में लाने के लिए पूर्णतया सहमति व्यक्त करने लगे । युग निर्माण का मार्ग उन्हें स्पष्ट रूप से दीखने लगा । सत्र विसर्जित हुआ । अभिवादनपूर्वक विदा लेते हुए सभी मनीषियों को इस सुयोग की सार्थकता पर बड़ा हर्ष और संतोष अनुभव हो रहा था । मानों कोई श्रेष्ठ निधि हाथ लग गई हो ।। ८१-८४ ।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्रीआश्वलायन-आरुणि ऋषि सम्वादे ''सौजन्यःपराक्रमश्चे'', ति
प्रकरणो नाम षष्ठोऽध्यायः ।। ६ ।।

।। अथ सप्तमोऽध्यायः ।।

❁ सहकार-परमार्थ प्रकरणम् ❁

अन्योऽद्य दिवसः सोऽयं सत्समागमसत्रजः ।
नैमिषे दूरदेशेभ्यः संगतास्ते मनीषिणः ।। १।।
मुनयः सर्व एवैत औदास्यमभजन्निह ।
विचारयन्तः सत्रस्य श्लोऽवसानं तु दुःसहम् ।। २।।
दायित्वानि ग्रहीतुं च स्वानि गन्तव्यमेव तैः ।
स्वस्वक्षेत्रेषु भूलोके विधातुं स्वर्गिणां गृहम् ।। ३।।
उषित्वा सह सर्वैस्तु दिवसेष्वेषु सप्तसु ।
लब्धो यः परमानन्दः प्राप्तं पीयूषमुत्तमम् ।। ४।।
संयोगस्तादृशः कुत्र प्राप्स्यतेऽस्माभिरुत्तमः।
नैव जानीम इत्येतत्कारणं तस्य मुख्यतः ।। ५।।
आयोजनस्य हेतोश्च सर्वे याताः प्रसन्नताम् ।
पदयात्रा विशालास्ताः कुर्वन्तः कष्टदा अपि ।। ६।।
मार्गेषु विविधेष्वेव स्थानेष्वेभिः स्थितेस्तथा ।
जनसम्पर्ककार्यस्य समस्यानां समाहितेः ।। ७।।
धर्मचैतन्यगा वातावृतेरपि विनिर्मितेः ।
लाभः प्राप्तो ह्यनेकानां पुण्यनामपि तैरिह ।। ८।।
श्रेयोऽस्य ददति स्म ते सर्वमायोजनस्य तु ।
व्यवस्थापकवर्गेभ्यः सन्तुष्टाः पूर्णतः समे ।। ९।।
निवर्तनस्य कालेऽथ भिन्नैः पथिभिरेव च ।
पातुं क्षेत्रेषु भिन्नेषु धर्मश्रद्धाकरा अपि ।। १०।।
कार्यक्रमा मतौ तेषामुद्भवन्ति स्म सन्ततम् ।
कर्मठत्वकषग्राव तुल्या लोकहिताऽऽवहाः ।। ११।।
प्रारब्धो नियते काले दिनस्याऽस्य पुरोगमः ।
प्रश्नानां शृंखलायाश्च सोपानं चरमं त्विदम् ।। १२।।
जिज्ञासूनां वरिष्ठश्च सोऽनुरोधं व्यधात्स्वयम् ।
अध्यक्षं चरमं युग्मं वक्तुं धर्मधृतेः शुभम् ।। १३।।

टीका–आज संत-समागम सत्र का अंतिम दिन था । नैमिषारण्य में एकत्रित दूर-दूर से आए हुए मुनि-मनीषी यह सोचकर उदास थे कि कल यह समारोह समाप्त हो जायेगा । उन्हें अपने-अपने क्षेत्रीय उत्तरदायित्व सँभालने के लिए तथा पृथ्वी को देवताओं का स्वर्ग बनाने के लिए जाना पड़ेगा । साथ-साथ रहकर इन सात दिनों में जो आनंद उठाया-अमृत कमाया, वैसा सुयोग फिर न जाने कब-कहाँ मिलेगा ? उदासी इसी बात की थी । वैसे वे सभी इस आयोजन के लिए लंबी कष्ट-साध्य पद-यात्राएँ करते हुए आने पर भी बहुत प्रसन्न थे । मार्ग में उन्हें अनेक स्थानों पर ठहरने-जन संपर्क साधने-समस्याओं के समाधान करने एवं धर्मचेतना का वातावरण बनाने जैसे अनेक पुण्य-परमार्थों का लाभ भी तो मिला था । इसका श्रेय इस आयोजन की व्यवस्था

करने वालों को ही परम संतुष्ट होकर वे दे रहे थे । वापस लौटते हुए दूसरे मार्ग से जाने और अन्यान्य क्षेत्रों में धर्म-श्रद्धा उत्पन्न करने वाले कार्यक्रमों की योजनाएँ उनके मस्तिष्क में उठ रही थीं । जो उनकी कर्मठता के लिए कसौटी के पत्थर के समान व लोक हितकारी थीं । नियत समय पर पिछले दिनों की भाँति ही इस दिन का आयोजन भी शुरू हुआ । प्रश्नों की शृंखला का आज अंतिम सोपान था । जिज्ञासुओं में वरिष्ठ जरत्कारु ने धर्म-धारणा के अंतिम सुंदर युग्म पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते हुए सत्राध्यक्ष से कहा-॥ १-१३॥

जरत्कारुरुवाच-

समन्वयं कथं देव ! परार्थसहकारयोः ।
उभयोरैक्यतस्तथ्यमेकं कस्मात् प्रजायते ॥ १४॥
अस्मान् बोधयितुं सर्वं रहस्यमिदमुत्तमम् ।
अनुग्रहो विधातव्यो भवद्भिः करुणापरैः ॥ १५॥

टीका-जरत्कारु ने कहा-हे देव ! सहकार और परमार्थ का समन्वय कैसे होता है ? दोनों के मिलने से एक तथ्य कैसे बनता है ? हे दयानिधे ! इस रहस्य को समझाने का अनुग्रह करें ॥ १४-१५॥

आश्वलायन उवाच-

युग्मे पञ्चमके बद्धामिमौ द्वौ तु परस्परम् ।
सहकारपरार्थाख्यावुदारत्वाभिबोधकौ ॥ १६॥
जायते व्यापकक्षेत्रे यदाऽऽत्मीयत्वविस्तरः ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु भावनोदेति तत्र च ॥ १७॥
उदेत्युदारविश्वासो वसुधैव कुटुम्बकम् ।
इतिरूपे सहास्तित्वं सहभुक्तिरुपैत्यलम् ॥ १८॥

टीका-आश्वलायन जी बोले-पंचम युग्म में सहकार एवं परमार्थ जुड़े हुए हैं, जो उदारता के बोधक हैं । आत्मीयता का विस्तार जब व्यापक क्षेत्र में होता है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भावना जगती है और 'वसुधैव कुटुंबकम्' का उदार विश्वास विकसित होता है, तभी मिल-जुलकर रहना और मिल-बाँटकर खाने का व्यवहार चरितार्थ होता है ॥ १६-१८॥

अर्थ-धर्म के शाश्वत स्वरूप को बनाने वाले विभिन्न गुणों की चर्चा प्रसंग में यहाँ अंतिम चरण में सहकार एवं परमार्थ के परस्पर संबंधित युग्म की चर्चा ऋषिवर कर रहे हैं । इनका जीवन में समावेश होने पर सब ओर अपना ही स्वरूप परिलक्षित होने लगता है । जब प्राणी मात्र में अपना ही आपा दृष्टिगोचर होने लगे तो व्यवहार में उदार परमार्थ परायणता एवं सहयोग-सहकार की भावनाएँ विकसित होने लगती हैं । सारा विश्व एक कुटुंब के रूप में विकसित होने की पारिवारिकता-समष्टिगत एकता की भाव-संवेदना विकसित होना इसकी चरम स्थिति है । महामानवों का कोई न अपना होता है, न पराया । जैसे उनके लिए अन्य परिजन, मित्र, बंधु होते हैं, वैसे ही सभी प्राणी-मात्र होते हैं । इसी कारण वे समष्टिगत हित की बात सोचते हैं, मात्र अपने परिवार की सुख-सुविधाओं-स्वर्ग प्राप्ति, मोक्ष की संकीर्ण मान्यता मन में नहीं लाते ।

स्वामी रामतीर्थ वसुधैव कुटुंबकम् की व्याख्या करते हुए कहते थे-"हाथ का कमाल इसी में है कि वह अपना हित समस्त शरीर के हित में जुड़ा हुआ रखे । किसी भी अंग को अभाव या कष्ट हो, तो उसके निराकरण का उपयोग करे । यदि हाथ यह कर्तव्य धर्म छोड़ दे और कलाई तक ही अपने को सीमित कर ले, तो वह स्वयं भी नष्ट होगा और सारे शरीर को नष्ट करेगा ।

संपूर्ण जगत् एक शरीर है, व्यक्ति उसका एक छोटा अवयव । अवयव शरीर के साथ जुड़ा रहे; समाज के सुख, शांति और प्रगति का प्रयास करे, इसी में उसका हित साधन है । दूसरों की उपेक्षा करके संकीर्ण स्वार्थपरता में निरत व्यक्ति स्वयं मरते और समूचे समुदाय को मारते हैं ।"

यह सहकार-सामंजस्य परंपरा लड़खड़ाने से ही सामाजिक जीवन में विग्रह पनपते और अपराध

बढ़ते हैं । देखने में भले ही व्यक्ति अपराध के लिए दंडित हों; पर यह सच है कि उसके लिए सारा समाज उत्तरदायी होता है ।

सब पर जुर्माना

न्यूयार्क के मेयर लागार्डिया अपनी न्यायशीलता और सद्भावना के लिए समान रूप से प्रख्यात थे । एक बार उनके न्यायालय में ऐसे अपराधी का मुकद्दमा आया, जिसे रोटियाँ चुराने के अपराध में पकड़ा गया था । भूख और बेवशी ने उसके लिए मजबूर किया था ।

कानून का पालन करते हुए लागार्डिया ने चोर पर दस डालर जुर्माना किया । साथ ही अदालत में जितने लोग खड़े थे, सब पर भी पचास-पचास सेंट का जुर्माना किया कि वे एक ऐसे समाज के सदस्य हैं, जिसमें गरीबी के कारण चोरी की आवश्यकता पड़ती है ।

इस जुर्माने से मात्र पाँच डालर वसूल हो सके । शेष पाँच डालर न्यायाधीश ने अपनी जेब से भरे और अपराधी को मुक्त कराया ।

महापुरुषों के जीवन में घटनाएँ भिन्न-भिन्न हो सकती हैं; पर मूलत: यह वृत्ति ही उनके संपूर्ण जीवन क्रम का निर्धारण करती हैं । कहीं भी पतन और पराभव को इसी आधार पर प्रगति और प्रसन्नता के रूप में परिवर्तित हुआ देखा जा सकता है ।

दास प्रथा का अंत

उन दिनों अमेरिकन गोरे, अफ्रीका में गुलाम पकड़ते और जहाज भर-भर कर जानवरों की तरह बाजार में बेचते थे । उनसे बैलों के स्थान पर खेती-बाड़ी का काम लिया जाता । वे जूठा-कूठा खाते, दिन भर पिटते और कड़ी मेहनत में जुटे रहते थे । बड़ा दयनीय था उनका जीवन ।

यह सब एक नारी हृदय से न देखा गया । वह इस अनाचार को बंद करा सकने में तो समर्थ न हो सकी; पर उसने आदर्श उपस्थित करने का दूसरा रास्ता निकाला । उसने अपनी सारी संपत्ति बेच दी । बदले में गुलामों से भरा-पूरा एक जहाज खरीद लिया ।

खरीदे गए गुलामों में से सभी को उसने पढ़ाना-लिखना व दस्तकारी सिखाना आरंभ कर दिया । सभ्य समाज में स्वावलंबनपूर्वक रह सकने की स्थिति तक उन्हें सिखाया-पढ़ाया गया । जो वे कमाते थे, वह पूरी राशि उन्हीं के लिए खर्च कर देने की व्यवस्था थी ।

इस गोरी महिला का नाम था-फिलिप ह्विटले । उसके विद्यालय, कारखाने में पले और पढ़े कालों में से आगे चलकर अधिकांश ने दास प्रथा समाप्त कराने के आंदोलन चलाए, नया आदर्श देखकर अनेक को नए तरीके से सोचने का अवसर मिला और उस देश में से दास प्रथा समाप्त होने का वातावरण बना ।

तत्कालीन राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन ने उस महिला की भूरि-भूरि प्रशंसा की । सभी विज्ञजनों ने ह्विटले के उस कार्य में पूरा सहयोग दिया ।

अपना काम न छोड़ें

महापुरुष अपने लिए नहीं, सदा व्यापक हित में सोचते हैं । ठक्कर बापा बीमार पड़े । उन्हें देखने आने के लिए पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे कितने ही प्रसिद्ध नेताओं के पत्र और तार आये । बापा ने सभी को न आने के लिए लिखवा दिया, कहा-"आप अपना काम छोड़कर देश सेवा में हर्ज न कीजिए । सहानुभूति के लिए यहाँ आने से मुझे कोई लाभ नहीं ।"

कठिन परिस्थितियों में धैर्य बनाए रखना ऐसे ही महा-मनीषियों के लिए संभव होता है ।

गुरु माता का ऋण

द्रौपदी के पाँच पुत्रों को सोते समय द्रोणपुत्र अश्वत्थामा ने मार डाला । पांडवों के क्रोध का ठिकाना न रहा । वे उसे पकड़कर लाए और द्रौपदी के सामने ही उसका सिर काटना चाहते थे । द्रौपदी का विवेक तब तक जागृत हो गया, बोलीं-"पुत्र के मरने का माता को कितना दु:ख होता है । उतना ही दु:ख तुम्हारे गुरु द्रोणाचार्य की पत्नी को होगा । गुरु ऋण को, उस माता के ऋण को समझो और इसे छोड़ दो ।" अश्वत्थामा को छोड़ दिया गया ।

कर्ण का स्वर्ण दान

राजा कर्ण को साथी सेनापतियों में सबसे अधिक वेतन मिलता था । पर वे उसमें से निर्वाह मात्र लेकर शेष सत्कार्यों के लिए दान कर देते थे । मरते समय कृष्ण और अर्जुन साधुवेश में उनकी उदारता परखने पहुँचे कि देखें विपत्ति की घड़ी में भी कर्ण दानी रह सकता है या नहीं । कर्ण घायल

पड़े थे । क्या देते ? स्मरण आया कि दाँतों में सोना लगा है । उन्होंने उसी को उखाड़ कर दे दिया ।

पीड़ा निवारण से बड़ा कोई परमार्थ नहीं । आत्म विकास का अर्थ यह है कि संसार में जो भी प्राणी हैं, वे सब अपने कुटुंबी हैं । अपने लिए जो आवश्यकताएँ हो सकती हैं, वही सारे समाज की होनी चाहिए । पहले उन्हीं की पूर्ति होनी चाहिए । महत्वाकांक्षाओं को उसमें आड़े नहीं आने देना चाहिए ।

माँ के गहने

महापुरुष परहितार्थाय ही जन्म लेते हैं । उन्हें स्वयं के लिए कुछ नहीं चाहिए ।

उन्नीसवीं शताब्दी का अंतिम समय था । ठाकुरदास नामक एक वयोवृद्ध कलकत्ता में रहता था । उसके परिवार में केवल एक बच्चा और पत्नी थे । इस सीमित परिवार का भरण-पोषण भी ठीक प्रकार से न हो पाता ।

नियति ने उन्हें मेदिनीपुर जिले के एक गाँव में ला पटका । वहाँ ठाकुरदास को दो रुपये माहवार की नौकरी मिली । कालांतर में उनका देहांत हो गया । पत्नी के कंधों पर सारे परिवार का दायित्व आया । इसी तरह कई वर्ष बीत गए ।

एक दिन रात के समय बेटे ने अपनी माँ के पैर दबाते हुए पूछा-"माँ, मेरी इच्छा है कि मैं पढ़-लिखकर बहुत बड़ा विद्वान् बनूँ और तुम्हारी खूब सेवा करूँ ।"

"कैसी सेवा करेगा ?" बेटा पढ़ने लगा था, इसलिए कुछ मन बहलाते हुए प्रोत्साहन के स्वरों में माँ ने पूछा ।

"माँ, तुमने बड़ी तकलीफ के दिन गुजारे हैं । मैं तुम्हें अच्छा-अच्छा खाना खिलाऊँगा और बढ़िया कपड़े लाऊँगा । हाँ, तुम्हारे लिए गहने भी बनवाऊँगा ।"

"हाँ बेटा, तू जरूर सेवा करेगा मेरी"-माँ बोली-"पर गहने मेरी पसंद के ही बनवाना ।"

"कौन से गहने माँ ?"

"तुझे तीन गहनों की बड़ी चाह है ।" माँ ने बताया-"पहला गहना तो यह है कि इस गाँव में कोई अच्छा स्कूल नहीं है । तुम एक स्कूल बनवाना । दवाखाना भी खुलवाना और तीसरा गहना यह है कि गरीब बच्चों के रहने, खाने तथा शिक्षा प्राप्त करने की व्यवस्था करना ।"

बेटे ने भावाभिभूत होकर माँ के चरणों में सिर रख दिया और तभी से उसे कुछ ऐसी धुन सवार हुई कि वह अपनी माँ के लिए ये तीन गहने बनवाने हेतु जी तोड़ मेहनत करने लगा । उच्च पदों पर नियुक्त होकर भी उसे अपनी माँ के इन तीन गहनों का सदैव ध्यान रहा । वह बराबर स्कूल, औषधालय तथा सहायता केन्द्र खोलता चला गया ।

आगे चलकर स्त्री शिक्षा तथा विवाह के गहने भी अपनी माँ को चढ़ाये । यह महामानव और कोई नहीं पं० ईश्वरचंद्र विद्यासागर ही थे ।

ग्रंथ पानी में बहाये

उदार आत्मीयता के समक्ष कोई भी त्याग छोटा है ।

चैतन्य महाप्रभु के बचपन का नाम निमाई था । सोलह वर्ष की आयु में ही उनने पंचटीका नामक व्याकरण ग्रंथ की सरल टीका लिखी, जिसे देखकर तत्कालीन पंडित समाज ने उनकी प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी । व्याकरण का अध्ययन समाप्त कर चुकने पर वे न्याय का अभ्यास करने लगे । उनके सहपाठी मित्र पं० रघुनाथ उन्हीं दिनों 'दीधिति' नामक ग्रंथ की रचना कर रहे थे । अर्वाचीन न्याय के ग्रंथों में अपना ग्रंथ अद्वितीय हो, इनकी प्रबल महत्वाकांक्षा थी । जब उन्हें मालूम हुआ कि निमाई पंडित भी न्याय का एक ग्रंथ लिख रहे हैं, तो वे भयभीत हो गए । निमाई कृत व्याकरण की टीका ने उनके पांडित्य का परिचय जनमानस को दिया ही था । इसीलिए रघुनाथ पंडित के मन में डाह उत्पन्न हुआ कि ऐसा न हो, इनका ग्रंथ मेरे ग्रंथ से बढ़कर बने ।

यह सोचकर उनने निमाई से बड़ा आग्रह करके उनका ग्रंथ देखने की इच्छा प्रगट की । शुरू में तो निमाई ने बात टालने की कोशिश की; लेकिन रघुनाथ के आग्रह को देखकर दूसरे दिन वे ग्रंथ को साथ लेते आये । पाठशाला से लौटते समय वे नाव पर बैठकर रघुनाथ को अपना ग्रंथ सुनाने लगे । रघुनाथ ज्यों-ज्यों ग्रंथ को सुनते जाते, उनकी मनोव्यथा बढ़ती जाती और कुछ देर बाद वे बच्चों की तरह फूट-फूट कर रोने लगे । मित्र की यह दशा देखकर निमाई के आश्चर्य का ठिकाना न रहा । आश्चर्य प्रकट करते हुए उन्होंने पूछा-"मित्र, तुम रो क्यों रहे हो ?"

रघुनाथ बोले-"मेरी अभिलाषा थी कि न्यायाशास्त्र पर मेरा ग्रंथ सर्वश्रेष्ठ माना जाए । पर तुम्हारी कृति ने तो

मेरी चिर संचित अभिलाषा पर पानी फेर दिया । तुम्हारे इस ग्रंथ के सामने मेरे ग्रंथ को कौन पूछेगा ?'' इतना सुनते ही निमाई बड़े जोरों से हँस पड़े । ''मेरे मित्र को जिस कृति से कष्ट हो, उसका नष्ट हो जाना ही अच्छा है ।''–इतना कहकर उनने अपनी पोथी गंगाजी में प्रवाहित कर दी ।

नरक को स्वर्ग बनाया

एकाकी अपनी मुक्ति परमार्थ परायणों को कतई पसंद नहीं वे सबके हैं एवं नरक में भी रहकर उनके कल्याण की कामना रखते हैं । युधिष्ठिर का अंतकाल आया । पुण्य-पाप का लेखा-जोखा लिया गया । एक बार उनने अश्वत्थामा के प्रसंग में अर्द्ध झूठ बोला था, इसके लिए उन्हें एक दिन नरक में रहना था और सौ वर्ष स्वर्ग में ।

पूछा गया, आप पहले स्वर्ग भुगतेंगे या नरक । युधिष्ठिर ने पहले एक दिन नरक में रहना उचित समझा, सो वहीं चल दिए ।

नरक में सभी दुःखी हैं । युधिष्ठिर के आगमन से उस जलते क्षेत्र में शीतलता की लहर आयी । यमदूतों के व्यवहार बदल गए । वहाँ के निवासियों ने संतोष की साँस ली । पुण्यात्मा के आगमन की सभी ने खुशी मनाई ।

दूसरे दिन युधिष्ठिर जब विदा होने लगे, तो नरक निवासी रोने लगे । कहने लगे आप यहीं ठहरे रहते, तो हम लोगों का कितना उपकार होता ।

युधिष्ठिर गंभीर हो गए । सोचने लगे कोई ऐसा उपाय होता, जिससे मुझे स्वर्ग न जाना पड़ता, इन दुखियारों के बीच ही सदा-सर्वदा यहीं बना रहता । उपाय चित्रगुप्त से पूछा । उन्होंने कहा–''यदि युधिष्ठिर अपना समस्त पुण्य नरक निवासियों को दान दे दें और वहाँ के निवासियों का पाप अपने ऊपर ओढ़ लें तो ऐसा हो सकता है ।''

युधिष्ठिर तैयार हो गए । उनने अपना सारा पुण्य नरकवासियों को दे दिया । वे सभी स्वर्ग चले गए । नरक वालों के पाप अपने ऊपर लेकर वे अकेले ही नरक में रहने लगे । अपने सद्व्यवहार से उन्होंने यमदूतों को अपना परम मित्र बना लिया । सभी लोग हिल-मिलकर रहने लगे । कुछ दिनों में नरक लोक ही सद्भावना, सहकारिता और स्नेह-सौजन्य का घर बन गया तथा वहाँ स्वर्ग जैसी परिस्थितियाँ दृष्टिगोचर होने लगीं ।

प्रभु प्राप्ति का मार्ग

एक फकीर बड़ी करुणापूर्वक प्रार्थना कर रहा था–''हे प्रभु, अपना द्वार खोलो, जिससे मैं तुम्हारे पास आ सकूँ । पास से ही तब तक संत राबिया निकलीं ।'' उसने फकीर को समझाया–''मेरे भाई, देखो तो क्या सचमुच प्रभु का द्वार बंद है ? जरा परमार्थ की भावना विकसित करके तो देखो, पाओगे कि उनका द्वार तो हर समय खुला रहता है । जो भी उन तक पहुँचना चाहे, इस माध्यम से पहुँच सकता है । उनका द्वार बंद होने का भ्रम दूर कर लो, तो ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग मिल जायेगा । याद रखो । ईश्वर उन्हीं से प्रसन्न हैं, जो दूसरों के प्रति उदार हैं, जिनके रोम-रोम में सारे विश्व के कल्याण की भावना समायी हुई है ।

माहात्म्यं सहाकारस्य वंदन्तस्तेऽब्रुवञ्जनान् ।
प्राणी सामाजिको नूनं मानवोऽस्ति न संशयः ।। १९।।
प्रगतिः स्थैर्यमस्यास्ति सहकारसमाश्रिते ।
समाजेन कुटुम्बेन शासनेनाऽपि सन्ततम् ।। २०।।
समूहवादिनीशिक्षा लभ्यते मानवेन तु ।
एकाकित्वं कीटकानां कृमीणां प्रकृतिर्मता ।। २१।।

टीका–सहकार की महिमा बताते हुए उन्होंने कहा–'मनुष्य सामाजिक प्राणी है ।' उसकी स्थिरता और प्रगति सहकार पर ही निर्भर करती है । परिवार, समाज और शासन के माध्यम से मनुष्य को समूहवादी बनने की शिक्षा मिलती है । एकाकीपन कृमि-कीटकों का स्वभाव है ।। १९-२१।।

अर्थ–मनुष्य जन्म से लेकर बड़ा होने तक जिस आधार पर विकास करता है, उसके मूल में समाज के हर घटक का सहयोग-सहकार है । सभ्यता, सुसंस्कारिता, विवेकशीलता जैसे गुण भी पारिवारिकता के बल पर ही पनपते हैं । एकाकी कोई न जी सकता है, न आगे बढ़ सकता है । वैभव को प्राप्त करने के बाद कोई यह कहे कि यह उसका अकेले का पुरुषार्थ है, तो इसे आत्मप्रवंचना ही कहा जाएगा ।

धनुष और बाण

एक दिन धनुष बढ़-बढ़ कर बातें कर रहा था और अपनी शक्ति को बखान रहा था । एक दिन तीर अपनी शेखी-खोरी बहुत बघार रहा था । मैं जहाँ लगता हूँ, निशाना पार कर देता हूँ । आदमी ने दोनों की बात सुनी और कहा-"आप लोग बिना एकता किए व्यर्थ हैं । दोनों मिलकर ही कोई प्रयोजन पूरा कर सकते हैं ।"

झगड़ा समाप्त हो गया । साथ ही उन दोनों की महत्ता भी बढ़ गयी ।

भट्टी और धौंकनी

लुहार की भट्टी और हवा भरने की धौंकनी में एक बार लड़ाई हो गयी । भट्टी ने आग-बबूला होकर कहा-"मरे जानवर की घृणित खाल से बनी कुरूप धौंकनी तेरी बदबू भरी साँस मुझे बहुत खलती है, हट मेरे सामने से ।"

धौंकनी क्रुद्ध नहीं हुई । उसने शांत स्वर से कहा-"बहन, भूल गई कि तुम्हारे चेहरे की लालिमा मेरे ही निरंतर श्वासोच्छ्वासों की परिणति है । मेरे विरत हो जाते ही तुम काली-कलूटी कोयले की राख बनकर रह जाओगी ।"

सामाजिक जीवन की भी यही नियति है । बहुत से लोग पांडित्य के अहंकार में तो डूबे रहते हैं; पर जन-श्रद्धा और स्नेह से वंचित रहने के कारण वे खीजते रहते हैं । वे इतना और सुधार कर लें तो फिर आनंद ही आ जाय ।

अब मैं क्या करूँ ?

एक धर्म प्रचारक संघ के अधिष्ठाता से शिकायत कर रहे थे-"इतने दिन उपदेश देते हो गए, पर लोग न मुझे समझ पाये, न मेरे अनुयायी बने । अब मैं क्या करूँ ?"

अधिष्ठाता ने दूसरे दिन उनके साथ अन्य प्रचारकों को भी बुलाया । दो बर्तन पानी भरकर रखे । सबको दिखाते हुए एक में तेल डाला और दूसरे में नमक । तेल ऊपर तैर रहा था और नमक पानी में घुल गया था ।

तात्पर्य समझाते हुए अधिष्ठाता ने कहा-"तेल की तरह जनता के सिर पर छाने की कोशिश मत करो । नमक की तरह जन-समुदाय के पानी में घुल जाओ, तो आत्मसात् होकर रहोगे ।"

प्रचारक मंडली ने अनुभव किया कि अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ने की अपेक्षा जनता के दुःख, दर्द में शामिल होना और उसके साथ घुल-जाना अधिक श्रेयस्कर है ।

दुनियाँ में समर्थ कहलाने वाले देश और जातियाँ वह हुई हैं, जिन्होंने सारे राष्ट्र को कुटुंब माना । बलिदान हो गए, पर उन्होंने निजी सुख-सुविधा की अपेक्षा राष्ट्र की प्रगति से अपने आप को जोड़कर रखा ।

अजेय इटली

फ्रांस और इटली में युद्ध चल रहा था । इटली की छोटी 'नदी' थी । गहरी बहुत, चौड़ी कम । ग्रामीणों ने उसे पार करने के लिए दो खजूर के लट्ठे लगा रखे थे ।

फ्रांसीसी फौजें इसी पुल को पार कर इटली के भीतरी क्षेत्रों में प्रवेश करने की योजना बना रही थीं । ग्रामीणों को पता चला, तो उनने लट्ठे काटकर नदी में गिरा देने का निश्चय किया । वे कुल्हाड़ी से काटने लगे ।

खबर फ्रांसीसी फौजों को लगी, तो वे काटना रोकने के लिए गोली चलाने लगीं । ग्रामीण बहादुर थे । उनने हार नहीं मानी । काटना जारी रखा । गोलियों से छलनी होकर जब तक काटने वाला नदी में गिर नहीं जाता, तब तक वह रुकता नहीं था ।

इस प्रकार तीन सौ किसान मौत के घाट उतर गए । जवान सभी समाप्त हो गए । एक बुड्ढा बचा । उसने वहाँ पहुँचकर स्थिति देखी, तो पाया कि पुल के लट्ठे अधिकांश कट चुके थे । जुड़ा हुआ स्थान थोड़ा सा ही था । बुड्ढा दौड़ता हुआ गया और उछल कर उस जुड़े हुए स्थान पर कूद पड़ा । झटके से लट्ठा टूट कर नदी में गिर गया, साथ ही बुड्ढा भी बह गया ।

गाँव के प्रायः सभी वयस्क इस प्रयास में खप गए । पर पुल टूटने से फ्रांसीसी सेना का हमला रुक गया और आजादी बच गयी । यह होता है सहयोग-सहकार का चमत्कार, जो किसी भी समुदाय का गौरव बढ़ाता, उसके कर्तृत्व को स्तुत्य बनाता है ।

अल्पं विकसिता ये तु पशवः पक्षिणोऽपि ते ।
समूहे निवसन्त्येवं पालयन्त्यनुशासनम् ।। २२ ।।
वल्मीककीटा यद्येते एताश्च मधुमक्षिकाः ।
पिपीलिकाश्च गृह्णन्ति सहकारं भवन्त्यपि ।। २३ ।।

सुखिनोऽपेक्षयाऽन्येषामुन्नतस्थितिगास्तथा ।
तिष्ठेयुर्मानवास्तर्हि कथं निम्नस्थितिस्थिताः ।। २४।।

टीका–थोड़ा सा विकास जिनका हुआ है, वे पशु–पक्षी भी समूह बनाकर रहते हैं और तदनुसार अनुशासन पालते हैं । जब दीमक, चींटी और मधुमक्खी जैसे प्राणी सहकारिता अपनाते और अपेक्षाकृत अधिक सुखी–समुन्नत स्थिति में रहते हैं, तो मनुष्य को ही क्यों पीछे रहना चाहिए ? ॥ २२–२४॥

अर्थ–मनुष्य तो सृष्टि का सिरमौर है । पशु-पक्षी तो मूक होते हैं, उपलब्धियाँ भी उनकी गौण हैं, किन्तु सहकारिता के अनुशासन में वे भी बँधे रहते एवं सतत् विकास करते हैं । उनके उदाहरण मनुष्य के लिए शिक्षा ग्रहण करने योग्य हैं ।

मनुष्य की सर्वश्रेष्ठता का आधार यही तो माना जाता है कि उसमें बुद्धि एवं विवेक का तत्व विशेष है । उसमें कर्तव्यपरायणता, परोपकार, प्रेम, सहयोग, सहानुभूति, सहृदयता तथा संवेदनशीलता के गुण पाये जाते है; किन्तु इस आधार पर वह सर्वश्रेष्ठ तभी माना जा सकता है, जब सृष्टि के अन्य प्राणियों में इन गुणों का सर्वथा अभाव हो और मनुष्य इन गुणों को पूर्णरूप से क्रियात्मक रूप से प्रतिपादित करे । यदि इन गुणों का अस्तित्व अन्य प्राणियों में भी पाया जाता है और वे इसका प्रतिपादन भी करते हैं, तो फिर मनुष्य को सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ प्राणी मानने के अहंकार का क्या अर्थ रह जाता है ?

राजहंसों का जीवन

प्रिंस क्रोपाटिन ने अपना सारा जीवन प्रकृति के अध्ययन में लगाया । उन्होंने जीव–जंतुओं के व्यवहार से जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हें 'संघर्ष नहीं सहयोग' पुस्तक में एकत्रित कर बताया है कि मनुष्य जाति की सुख–समुन्नति स्पर्द्धा में नहीं, भावनाओं के विकास में है । भावनाओं के विकास से वह अभावपूर्ण जीवन में आनंद और उल्लास, हँसी और खुशी प्राप्त कर सकता है । उन्होंने लिखा है–'ध्रुव प्रदेश के राजहंस परस्पर कितने प्रेम और विश्वास के साथ रहते हैं, उसे देखकर मानवीय बुद्धि पर तरस आता है और लगता है कि मनुष्य ने बुद्धिमान् होकर भी जीवन की गहराइयाँ पहचानी नहीं । कई बार कोई राजहंसिनी अपने बच्चों को घमंड में या आवेश में ठुकरा देती है, तो उन पिता रहित बच्चों को बगल की मादा अपने साथ मिला लेती है, उसके अपने भी बच्चे होते हैं, पर वे सब बच्चे इस तरह घुल–मिल जाते हैं मानों वे दो पेट से पैदा हुए न होकर एक ही नर और मादा की संतान हों । मादा उन सबको समान दृष्टि से प्यार देती है और उनकी साज–संभाल तब तक रखती है, जब तक वे बड़े नहीं हो जाते ।'

चालाक लोमड़ियाँ

प्रिंस क्रोपाटिन ने अपनी इसी पुस्तक में एक और मार्मिक घटना का उल्लेख करते हुए लिखा है । एक बार जंगल में रेलवे लाइन बिछाई जा रही थी । मजदूर अपना खाना रखकर काम पर चले जाते । पीछे लोमड़ियाँ आतीं और खाना खा जातीं । खाना पेड़ों की डालों पर लटकाया जाने लगा; पर वहाँ से भी पोटलियाँ गायब मिलतीं । अब एक ऊँचा खंभा बनाया गया । वहाँ खाना रखा गया । लोग यह देखकर आश्चर्यचकित रह गए कि एक दिन लोमड़ियाँ सरकस की तरह एक के ऊपर एक चढ़ती गईं और उस ऊँचाई तक पहुँच कर खाना नीचे गिरा दिया और उसे उठाकर भाग गईं ।

वन्य जीवन के सहचर

कभी भी देखा जा सकता है कि जब कोई पशु–पक्षी कहीं आहार का संग्रह देख लेता है, तो चुपचाप चोर की तरह खाने नहीं लगता, वह सबसे पहले अपनी भाषा में अपने सहचरों को बुला लेता है और तब सबके साथ मिलकर खाया करता है । आप कभी भी किसी स्थान पर दाने डालकर देख सकते हैं कि जहाँ एक पक्षी ने देखा कि उसने दूसरों को पुकारना शुरू किया और थोड़ी ही देर में पंडुका, गौरैया, तोते आदि न जाने कितने पक्षी वहाँ पर जमा हो जायेंगे । लोग बंदरों को चने अथवा गेहूँ डालते हैं । जहाँ एक बंदर ने देखा नहीं कि उसने ऊहऊह करके आवाज देना शुरू किया और क्षेत्र के सारे छोटे–बड़े बंदर आकर उसका लाभ उठाते हैं । खाते समय भी कोई सबल कदाचित् ही किसी निर्बल को भगाता हो । नर एवं मादा का भी उनमें कोई अंतर नहीं देखा जाता ।

टिटहरी समुद्र के निर्जन तटों पर अंडे देती है । वे मिल–जुलकर अंडे सेती हैं । अपने विराने का भेदभाव किए बिना सेती हैं । कोई मादा चारे की तलाश में उड़ जाय, तो कोई दूसरी उसका स्थान ग्रहण कर लेगी । इसी प्रकार

मिल-जुलकर अंडे-बच्चों की साज-संभाल में उन्हें बहुत सुविधा रहती है और आनंद भी खूब आता है ।

तेंदुए की दुश्मन

अफ्रीका में एक मैना पाई जाती है जिसे जंगल का प्रत्येक जीव प्यार करता है । वह किसी भी जीव के साथ खेलती देखी जा सकती है ।

इसका कारण-यह मैना दिनभर तेंदुए के पीछे लगी रहती है और एक विलक्षण आवाज से सारे जंगली जानवरों को तेंदुए के उधर आने की सूचना देती रहती है ।

कई बार तो तेंदुआ इस हरकत से इतना खीज जाता है कि अपना सिर तक पटकने लगता है ।

परमार्थवादिनी मैना इसी कारण प्रत्येक जीव की स्नेहभाजन बन गई ।

योगी व तोते का स्नेह

एक तोता, योगी के दर्शन करने नित्य जाता और चोंच में एक छोटा बेर दबाकर उनके चरणों में रखता । योगी का आशीर्वाद पाकर तोता उछल-कूद करके अपनी प्रसन्नता व्यक्त करता ।

भक्तों ने पूछा-"क्या आप तोते से वार्तालाप करते और उसकी बोली बोलते हैं । योगी ने कहा-"संत फ्रांसिस भेड़ियों के बीच रहते और उनके साथ कुटुंबियों जैसा रिश्ता बनाने में सफल हुए थे, तो कोई कारण नहीं कि हम सभी परस्पर एक साथ हँसते-बोलते न रह सकें ।

मानवस्य समस्तायाः प्रगतेः सर्वमेव हि ।
रहस्यं सहकारस्य भावनायां स्थितं ध्रुवम् ।। २५ ।।
अस्तव्यस्त स्थितैर्नैव तृणै रज्जुविनिर्मितिः ।
संभवाऽस्ति न निर्मातुं शक्या सम्मार्जिनी दृढा ।। २६ ।।
शलाकाभिर्नैरत्र पतिताभिरितस्ततः ।
इष्टिकाश्चेत्पृथक् स्युस्ताः कथं गृहविनिर्मितिः ।। २७ ।।
संभवा, मौक्तिकैर्माल्या ग्रथितैरेव जायते ।
समूह एव सैन्यानां शत्रून् विजयते ध्रुवम् ।। २८ ।।
सहकारस्वभावेन मर्त्यानां सुखदायिनी ।
कुटुम्बरचना जाता भुवि स्वर्गायिता नृणाम् ।। २९ ।।
समाजो निर्मितोऽथाऽपि राष्ट्रसंघटनं वरम् ।
जातं, संघटनानां च विविधनामिह ध्रुवम् ।। ३० ।।
माध्यमेन हि जातानि कार्याण्याशुमहान्त्यपि ।
रामः कृष्णोऽथ बुद्धोऽयुः साफल्यं सहयोगिभिः ।। ३१ ।।

टीका-मनुष्य की प्रगति का सारा रहस्य उसकी सहकार भावना में सन्निहित है । बिखरे तिनकों से रस्सा नहीं बटा जा सकता । बिखरी सीकों से बुहारी नहीं बनती । ईंट अलग-अलग रहें, तो भवन कैसे बने ? मोतियों के मिलने से ही हार बनता है । सैनिकों का समूह ही शत्रु पर विजय प्राप्त करता है । मनुष्य के सहकार-स्वभाव से ही परिवारों की स्वर्गोपम सुखद-संरचना हुई है, समाज बना है, राष्ट्रों का गठन हुआ है । विभिन्न संगठनों के माध्यम से ही महत्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए । राम, कृष्ण और बुद्ध ने सहयोगियों की सहायता से ही आश्चर्यजनक सफलता पाई ।। २५-३१ ।।

अर्थ-एकाकी प्रयत्नों से संसार का कोई भी आदमी नहीं बढ़ पाया, क्योंकि सफलता का रहस्य मिल-जुलकर काम करने में है ।

बात यों बनी

सफलता में किसकी प्रमुखता है-इस प्रश्न पर बल, संकल्प और विवेक आपस में उलझ पड़े । निर्णय के लिए प्रजापति के पास पहुँचे । उनने फैसला करने के पूर्व प्रमाण प्रस्तुत करने का निश्चय किया । तीनों ने सामान्यजनों जैसे वेश बना लिए ।

एक बच्चा खेल रहा था । प्रजापति ने टेढ़ी कील और हथौड़ा उसे थमाते हुए कहा-"इसे सीधी कर दो । भरपेट मिठाई मिलेगी ।"

बच्चा सहमत हो गया । पर हथौड़ा भारी था और कील बहुत टेढ़ी । उसने हिम्मत छोड़ दी और कहा–"मेरे हाथों में इतना बल कहाँ जो भारी हथौड़ा चला सकूँ ।" मंडली आगे बढ़ गयी ।

एक कारीगर लेटा था । मिस्त्री को सोते से जगाकर अध्यक्ष ने कहा–"लो कील और हथौड़ा, इसे सीधी कर दो पाँच रुपये मिलेंगे ।" रुपयों की बात सुनकर उसने करवट बदली, अँगड़ाई ली । हथौड़ा भी चलाया । पर नींद इतनी गहरी थी, कि बात बनी ही नहीं और झपकी फिर आ गयी । कील-हथौड़ा जहाँ के तहाँ पड़े रह गए ।

आगे चलकर एक बुद्धिमान् इंजीनियर के पास पहुँचे और उसे कील सीधी करने के बदले पचास रुपया देने का प्रस्ताव किया ।

इंजीनियर बीमार था । किसी कठिनाई से व्यस्त और व्यग्र भी । उसने सिर हिलाकर इन्कार कर दिया ।

अन्यत्र चलने का विचार छोड़कर प्रजापति ने बताया, आप तीनों के मिलने से ही सफलता मिलती है । अकेले रहने पर आप तीनों ही असफल रहेंगे ।

पंच तत्त्वों का झगड़ा

पाँच तत्वों की मंडली, एक सुरम्य पर्वत पर पहुँची । चर्चा छिड़ी तो अपने-अपने बड़प्पन का प्रसंग उभर आया ।

पृथ्वी बोली–"सारी दुनिया का बोझ मैं उठाती हूँ । सबका पेट भी मैं ही भरती हूँ ।"

जल ने कहा–"मेरे बिना जीवन ही नहीं । वनस्पति न प्राणी; सब कुछ सूखा दीखे और त्राहि-त्राहि मचे ।"

पवन बोला–"दीखता नहीं हूँ, तो क्या । मेरे बिना घुटन ही सबका गला न घोंट देगी ?"

अग्नि ने कहा–"गर्मी-रोशनी के बिना इस लोक में शीत-निस्तब्धता के अतिरिक्त और क्या बचेगा ?"

चारों का कथन पूरा हो गया फिर भी आकाश बोला नहीं । बार-बार पूछने पर उसने एक शब्द ही कहा–"आप सबके मिलने से ही यह संसार गतिशील है । न तो किसी के अकेले चलाने से यह चलेगा और न किसी अकेले के रूठ जाने से, सब लोग मिल कर रहेंगे तो ही खुशहाली रहेगी ।"

अलग हुए नीचे गिरे

चील बहुत ऊपर आकाश में उड़ान भर रही थी । पतंग भी उड़ते-उड़ते सुदूर आकाश में पहुँच गई । उसने देखा चील स्वच्छंद उड़ रही थी । क्यों न हम भी स्वच्छंद विचरण करें । क्षणिक भावावेश में वह झटके से आगे बढ़ी और अपने को तागे से अलग कर लिया । मूल आधार की उपेक्षा कर वह उड़ न सकी और अगले ही क्षण जमीन पर आ गिरी ।

सेनासंयुक्तशक्तिः सा कुरुते कार्यमुत्तमम् ।
कुटुम्बं संघटितं नूनं समाजोऽपि तथा च सः ।। ३२।।
बुद्धिं यातोऽथ मर्त्याश्च वियुक्ता यान्ति विग्रहम् ।
वैरं भेदं सहन्ते न प्रातिकूल्यं मनागपि ।। ३३।।
यान्तीवाऽकालजं मृत्युमतो ज्ञातव्यमेव तु ।
माहात्म्यं संघजोत्थं तु प्राणिमंगलकारकम् ।। ३४।।

टीका–सेना की संयुक्त शक्ति ही काम करती है । संगठित परिवार और समाज फलते-फूलते हैं; जबकि विलगाव से आक्रांत भेद, फूट, फसाद में लगे हुए तनिक भी प्रतिकूलता सहन नहीं कर पाते और बेमौत मरते हैं । संगठन का महत्व समझा जाना चाहिए, जो प्राणिमात्र का मंगलकारक है ।। ३२-३४।।

अर्थ–जब भी कभी पतन होता है, तो उसका मूल कारण संगठन का अभाव माना जाना चाहिए । मनुष्य की संकीर्णता-अलगाववादी प्रवृत्ति ही उसकी प्रगति में बाधक बनती है ।

एक दूसरे की टाँगें खींचेंगे

एक मछुआरे ने मछलियाँ पकड़ने के लिए नदी में जाल फैलाया । संयोगवश उस दिन मछलियों के स्थान पर केंकड़े जाल में आये । मछुआरे ने यह सोचकर संतोष किया कि कुछ नहीं से कुछ तो अच्छा है । केंकड़ों को टोकरी में भरकर नदी के किनारे रख दिया तथा जाल समेटने लगा । कुछ राहगीर उधर से निकले । उनमें से एक ने कहा–"तुमने टोकरी का ढक्कन तो लगाया ही नहीं । एक-एक करके सारे केंकड़े नदी में कूद जायेंगे ।" मछुआरे ने बड़ी शांति के साथ उत्तर दिया–"चिंता करने की

आवश्यकता नहीं है । ये केंकड़े अभी बाहर नहीं निकल सकते । एक केंकड़ा यदि बाहर निकलने का प्रयत्न करता है, तो दूसरा उसकी टाँग पकड़कर नीचे गिरा देता है ।''

किसी को न उबरने देने और न स्वयं उबरने का यह संकीर्ण प्रचलन केकड़ों की तरह मनुष्यों में भी सर्वत्र देखा जाता है ।

पतन का कारण

अहमद शाह अब्दाली भारत पर अपने छोटे से सैन्य दल के साथ आक्रमण करता हुआ आगे बढ़ रहा था । मराठे वीरतापूर्वक उससे लोहा ले रहे थे ।

रात हुयी । दोनों ओर से लड़ाई बंद हुई, रात में उन दिनों लड़ाइयाँ नहीं हुआ करती थीं । अहमद शाह ने मराठों की सेना में जगह-जगह धुँआ उठते हुए देखा, तो उसे आश्चर्य हुआ कि इसका क्या कारण हो सकता है ?

गुप्तचर भेजे गए । वे पता लगाकर आये । हिन्दू एक दूसरे का छुआ नहीं खाते । सिपाही लोग अपनी अलग-अलग रसोई पका रहे हैं ।

अहमद शाह की प्रसन्नता का पारावार न रहा । उसने सेनापति को बुलाकर कहा-''जिनमें एक दूसरे का छुआ खाने जितनी भी एकता नहीं, वे बाहर से बलवान् भले ही दीखें, भीतर से पूरी तरह खोखले होंगे । इन पर अभी ही हमला कर दो ।''

पूरी शक्ति के साथ आक्रमण हुआ । रसोई बनाते सैनिक भारी संख्या में मार डाले गए और अब्दाली जीत का डंका बजाता हुआ आगे बढ़ता चला गया ।

कई बार तो केवल संगठन के प्रदर्शन के कारण ही शत्रु को भगाते और पराजित होते पाया गया है ।

एक नहीं अनेक सिपाही

नेपोलियन की सेना में कितने ही सैनिक बहुत बहादुर और सूझ-बूझ वाले थे । उनमें एक कुछ समय के लिए घर छुट्टी पर गया । लौटा तो रास्ते में एक पहाड़ी दुर्ग पर ऑस्ट्रिया और फ्रांस के सैनिकों में मोर्चा लगा दीखा । रात हो चली थी । दुर्ग में सिपाही सामने फ्रांसीसियों की विशाल सेना आते देखकर घबरा गए और किला खाली करके इधर-उधर भाग गए ।

छुट्टी से लौटे सैनिक आर्वान को स्थिति भाँपते देर न लगी । वह खाली किले में अकेला घुस गया । सिपाहियों की छूटी बंदूकें जगह-जगह गुंबजों से बाँध दीं और बारूद जलाकर गोलाबारी शुरू कर दी । शत्रु सैनिकों का कब्जा होते-होते रुक गया । वे वापस लौटने लगे ।

छिपे सिपाहियों ने समझा कि किले बंदी आधी है । वे सिमट कर किले में इकट्ठे हो गए । गोलाबारी चालू हो गयी । नेपोलियन की सेना ने हारा हुआ मोर्चा जीत लिया । आर्वान की सूझ-बूझ सबने सराही और उसे उच्च पद मिला ।

संगठित जन मानस

दैत्यराज बलि के सेनापतियों ने स्वर्ग पर आक्रमण करके विश्वकर्मा को पकड़ बुलाया और इंद्रपुरी के स्तर का राज्य भवन बनाकर खड़ा करने का आदेश दिया ।

सामान जुटता गया और विश्वकर्मा का प्रयास चलता रहा । कुछ समय में ही दैत्यपुरी तैयार हो गई । अब बलि ने विश्व-विजय की तैयारी की और सेनापतियों को विश्व-विजय के लिए साज-सामान समेत भेजा ।

सफलता कुछ ही दिन मिली । फिर आगे बढ़ सकना दैत्य सेना के लिए कठिन हो गया । कारण यह था कि अब सीमित सैनिकों से लड़ना नहीं हो पा रहा था । असीम जनता आक्रमणकारियों से जूझने के लिए कटिबद्ध हो गयी थी ।

बलि ने इरादा छोड़ दिया और सेनाएँ यह कहकर वापस बुला लीं, कि सैनिकों को जीता जा सकता है; किन्तु जन चेतना को, संगठित जन मानस को परास्त कर सकना संभव नहीं ।

स्वार्थिवर्गः सदा दोषग्रस्ततां याति सन्ततम् ।
तत्प्रभावेण जीर्णश्च बिना कालं विनश्यति ।। ३५ ।।
अतो विचारशीलैश्च वसितव्यं सुसंगतैः ।
भोक्तव्यं च सदा भोज्यं यथायोग्यं विभज्य च ।। ३६ ।।

दूरदर्शित्वमत्राऽस्ति गरिमा च नृणां ध्रुवम् ।
कुर्वते सहयोगं ते सहयोगिन उन्नताः ।। ३७।।
वसन्ति मोदमानाश्च तेभ्यः क्षुद्रेभ्य एव ते ।
प्रसन्नाश्चाधिकं तस्मात् सहयोगो महाबलम् ।। ३८।।

टीका–स्वार्थियों का समुदाय दोष–दुर्गुणों से ग्रसित होता जाता है और उनके दबाव के कारण समय से पूर्व ही दम तोड़ते देखा जाता है । अस्तु, सभी विचारशीलों को हिल–मिलकर रहना चाहिए, मिल–बाँटकर खाना चाहिए । इसी में दूरदर्शिता एवं गरिमा है । सहयोग करने वाले सहयोग पाते हैं और एकाकीपन की क्षुद्रता अपनाने वालों की तुलना में कहीं अधिक प्रसन्न एवं समुन्नत रहते हैं । अतः स्पष्ट है सहयोग में बहुत बड़ी शक्ति है ।। ३५–३८।।

अर्थ–स्वार्थी बहुधा अत्याचारी होते हैं । धर्म, पंथ, संप्रदाय आदि के नाम पर विश्व में जितने भी अत्याचार, लूटमार, मारकाट या विघटन हुए हैं, अथवा हो रहे हैं, उन सबके पीछे खुले या छद्म रूप में स्वार्थियों की अपनी हित कामना ही निहित रही है । भले ही वे इस कुचक्र रचना में विनष्ट हो गए हों या रहे हों ।

स्वार्थांध अत्याचारियों के हाथ में 'धर्म' एक ऐसा कारण-साधन है, जिससे जनता में विषमता स्थापित होती चली जाती है । यह मनुष्यों में समता को नहीं रहने देता । इसके द्वारा धनिक, विद्वान्, राजनेता, शासकगण अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं । श्रमिकों-मजदूरों में इसी के द्वारा गुलामी की आदत कायम रखी जाती है । धर्म के बहाने लोगों को अनहोनी बातों पर, चमत्कारों पर विश्वास दिलाकर मनुष्यों के अज्ञान को चिरस्थायी बनाया जाता है । इस तरह छल-छद्म से चालाक और धूर्त लोग अपना काम बनाते हैं, मजदूर, अनपढ़ और अज्ञानी लोग लुटते हैं । बड़े-बड़े मठाधीश, महंत, पोप, पंडे-पुजारी, मौलवी-मुल्ला आम आदमी के इसी अज्ञान का लाभ उठाकर मौज-मजे उड़ाते हैं और लोगों को बराबर लूटा करते हैं ।

स्वार्थ या विग्रह का विष बहुत भयंकर होता है । यह जिस किसी के जीवन में आया, उसको नष्ट करके ही छोड़ता है । जो देता है, वह पाता है । जो रखने का प्रयास करता है, वह अंततः हानि ही उठाता है ।

देने के कारण ही मधुरता

एक बार प्रसंग नदियों में मीठा पानी होने और उन्हीं का संग्रह समुद्र में एकत्रित होने पर खारी होने का चल रहा था ।

समाधानकर्त्ता ने कहा–"नदियाँ अपनी संपदा देने के लिए दौड़ती रहती हैं । इसलिए उनमें मधुरता बनी रहती है । समुद्र संग्रह भर करने की आदत से खारा होता है ।"

जहाँ का था, वहाँ चला गया

जो संग्रह में लीन रहते हैं; अपने, सिर्फ अपने अतिरिक्त जिन्हें कुछ सूझ ही नहीं पड़ती, उनकी अंततः दुर्गति ही होती है । एक था कृपण । कमाता तो बहुत था; पर उसे जमीन में गाड़ता जाता । न देता, न खर्च करता ।

एक बार उसे बड़ी कमाई हुई । सोचा, घर के लोगों को पता चला, तो खर्च कर डालेंगे । इसलिए किसी एकांत जंगल में गाड़ना चाहिए ।

एक स्थान चुना । रुपये का घड़ा लेकर रात्रि के समय गाड़ने चला । चोर छिपे थे, उन्हें संदेह हो गया । पीछा करते और छिपकर देखते रहे ।

दूसरी रात चोरों की बारी आई । उन्होंने उसने जो गाड़ा था, खोद लिया और गड्ढा मिट्टी से भर दिया ।

कुछ दिन बाद कृपण स्थान को देखने गया । पाया कि किसी ने उस धन को खोद लिया । घर लौटकर वह बुरी तरह से रोने लगा ।

दुःखद समाचार सुनकर सारा गाँव एकत्र हो गया । एक को यह कहते सुना गया–"सेठजी, यह धन किसी काम तो आता नहीं था । एक जगह से उठकर दूसरी चला गया, तो क्या हर्ज हुआ ?"

उसी धन की सार्थकता है, जो काम आए और उत्पादन–चलन में घूमता रहे ।

ऐसे बड़े किस काम के ?

गिलहरी मटर के खेत में जाती और थोड़ी देर में पेट भर लाती ।

एक दिन उसके मन में आया कि बड़ों के पास क्यों न चला जाय ? जहाँ से कुछ ज्यादा और मजेदार खाने को मिले ।

वह सेमल के एक लंबे-चौड़े पेड़ पर चढ़ गई । उस पर सैकड़ों हरे-हरे फल लटक रहे थे । दाँत गड़ाने पर उसमें से सिर्फ रुई निकली और हवा के साथ इधर-उधर छितरा गई ।

गिलहरी ने लंबी सांस भरते हुए कहा-"बड़े बेकार दरख्तों से वे छोटे पौधे अच्छे, जो किसी की भूख बुझाने के काम आते रहते हैं ।"

गाँधी जी को टोपी

जिनके अंत:करण उदार होते हैं, उनके लिए छोटी से छोटी वस्तु का महत्व होता है । सारा विश्व जिनका कार्य क्षेत्र हो, वे संकीर्णता की परिधि में कैसे बँध सकते हैं ।

एक किसान गाँधी जी के दर्शन करने पहुँचा । नंगा सिर देखकर उसे आश्चर्य हुआ । पूछा-"गाँधी टोपी दुनिया भर में मशहूर है, फिर आप स्वयं गाँधी होते हुए भी वह टोपी क्यों नहीं लगाते ?" गाँधी जी ने उसके सिर पर बँधे हुए लंबे-चौड़े साफे की ओर इशारा करते हुए कहा-"जब एक-एक व्यक्ति इतना कपड़ा सिर पर लपेटेगा तो बहुतों को नंगे रहना ही पड़ेगा । ऐसे ही लोगों में से एक, आप मुझे भी समझ सकते हैं ।"

सशर्त आशीर्वाद

बुद्ध शिष्यों को धर्म प्रचार के लिए विदा कर रहे थे । लंबे प्रवास में कठिनाइयाँ आने और नए स्थानों पर विरोध होने, पराजय मिलने की आशंका व्यक्त की जा रही थी ।

असमंजस का निवारण करते हुए तथागत ने सशर्त आशीर्वाद दिया, कहा-"जब तक तुम लोग संयमी रहोगे, परस्पर मित्र भाव बरतोगे, जो मिलेगा उसे मिल-बाँट कर खाओगे और लोकमंगल को धर्म की आत्मा मानते रहोगे, तब तक कठिनाइयाँ तुम्हें पराजित न कर सकेंगी ।"

आदेशों को हृदयंगम करके वे देश-देशांतरों में बिखर गए और धर्मचक्र प्रवर्तन को चरम सीमा तक सफल बनाने में समर्थ हुए ।

तीन सूत्र

पारसी धर्म के तत्वज्ञान का सार तीन वाक्यों में है--हुमदा, अर्थात् अच्छे विचार । हुखता, अर्थात् वही बोलना और हुवस्ता, अर्थात् नेक काम ।

बौद्ध धर्म का सार भी तीन शब्दों में है-बुद्धं शरणं गच्छामि, अर्थात् विवेक का आश्रय लो । धर्मं शरणं गच्छामि, अर्थात् अपने आचरण में धर्म का समावेश करो । संघं शरणं गच्छामि, अर्थात् मिल-जुल कर रहो ।

निरमात् सहयोगेन समुदायं तथा व्यधात् ।
मिलित्वा शुभकर्माणि दानाऽऽदानेऽध्यगादपि ।। ३९ ।।
आदिकालात् क्रमादत्र प्रगतेः पथिसंचलन् ।
आगतो वर्तमानां च स्थितिं विकसितां पराम् ।। ४० ।।
सहकारप्रधानश्च स्वभावोऽत्र विशिष्यते ।
नैकाकिनो महामर्त्याःन्यवात्सु कुत्रचिद् भुवि ।। ४१ ।।
निर्ममुस्ते समूहं तु प्रयासैश्च समूहगैः ।
संकल्पा सुमहान्तस्तैः पूरिताः शीघ्रमेव च ।। ४२ ।।
सत्प्रयोजनहेतोश्च सहकारः स्थिरो दृढ़ ।
प्राप्यते येषु लोकस्य हितं कर्मसु संस्थितम् ।। ४३ ।।
यथा तथोदयं याति सहयोगस्य शोभना ।
लोकश्रद्धा जगत्पीडा तमिस्रा चन्द्रिका शुभा ।। ४४ ।।

टीका-इसीलिए मनुष्य ने सहयोगपूर्वक समुदाय गठित किए, मिल-जुलकर काम करना सीखा । आदान-प्रदान का क्रम अपनाया और अनादिकाल से लेकर क्रमशः प्रगतिपथ पर चलता हुआ वर्तमान स्थिति तक आ पहुँचा । इसमें उनके सहकार प्रधान स्वभाव का ही चमत्कार है । महामानव एकाकी नहीं रहे । उनने समूह

बनाए और सामूहिक प्रयासों के बल पर बड़े संकल्प शीघ्र पूरे किए हैं । ठोस और स्थायी सहकार सत्प्रयोजनों के लिए ही मिलता है । जिन कार्यों के पीछे लोकहित का जितना समावेश रहता है । उनमें सहयोग देने भी लोक श्रद्धा उतनी ही उमड़ती है, जो संसार की व्यथा रूपी रात्रि में चंद्रिका के उदय के समान सिद्ध होती है ।। ३९–४४।।

अर्थ–सामूहिकता एक ऐसी शक्ति है, जिससे सारे संसार को जीता जा सकता है । निर्बल वर्ग भी जब अपनों का साथ लेकर खड़ा हो जाता है, तो शक्तिवानों को भी उनके आगे पराजय स्वीकार करनी पड़ती है ।

समूह बल विष्णु के वाहन गरुड़ को देखकर शिव के गले में पड़े हुए सर्प फुसकारने लगे और युद्ध की चुनौती देने लगे ।

गरुड़ ने कहा–"सर्प तुम तो मेरा भोजन हो । तुम जो चुनौती दे रहे हो, वह निश्चय ही शिव के शरीर पर लिपटे अनेक सर्पों के बल का परिणाम है ।"

"हे नागेश, यह तुम्हारा नहीं, संघ शक्ति का बल है ।"

जीवन के किसी भी क्षेत्र में प्रगति का एक ही सिद्धांत है–'सहकार' । समूह बल को पहचान लेने वाले आश्चर्यजनक सफलताएँ पाते देखे गए हैं ।

सुई से टैंक तक जमशेद जी टाटा के पिता पारसी समाज में पुरोहित का काम करते थे । सूरत जिले के नवसारी गाँव मे उनका जन्म हुआ । ऊँची शिक्षा का प्रबंध न हो सका । वे नवसारी छोड़कर बंबई चले गए । वहाँ छोटे-मोटे उद्योग करते रहे । पीछे उनने बड़े कदम उठाये । अनेक लोगों की सामूहिक शक्ति की कल्पना आते ही उन्होंने नागपुर में कपड़ा मिल लगाया । चलने तो वह भी लगा; पर बिहार के जमशेदपुर में उनने लोहे का एक बड़ा कारखाना लगाया । अब सुई से लेकर टैंक-ट्रैक्टर तक उसमें तैयार होता है ।

टाटा ने मजदूरों को अधिक से अधिक सुविधाएँ देने का प्रावधान रखा । इसके बाद भी टाटा फाउंडेशन के अंतर्गत चल रही कितनी ही संस्थाओं के संचालन का ढाँचा खड़ा किया । विदेशों के धनपति अपने पैसे को सार्वजनिक कार्यों में लगाने के लिए प्रसिद्ध हैं । टाटा को उसी श्रेणी में गिना जा सकता है ।

बिनोवा जी ने सर्वोदय का एक नया दर्शन दिया और यह दिखाया कि संसार चाहे तो कुछ ही दिनों में आदान-प्रदान की प्रक्रिया अपनाकर भारी से भारी संकट टाल सकता है ।

भूदान यों चला हैदराबाद के ललगोंडा इलाके में मची हुई मारकाट को दूर करने के लिए संत बिनोवा ने वहीं से भूदान आंदोलन आरंभ किया । उदारमना लोगों ने अपनी जमीनें देना आरंभ किया । सबसे पहले बिनोवा की पुकार पर रामचंद्र रेड्डी ने अपनी फालतू जमीन दी । इसके बाद वह सिलसिला चल पड़ा और भूदान में एक लाख एकड़ जमीन तक दान में मिली ।

प्रारंभ में लोगों को इस तथ्य से अवगत कराने का काम महापुरुष पूरा करते आये हैं, इसलिए परमार्थ को सहकारी प्रगति का पिता कहा गया है । एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संभव नहीं ।

सफलता मिली पर इस तरह अमेरिका में कानून द्वारा नीग्रो समुदाय को समानता के अधिकार मिल गए थे; पर उनका व्यावहारिक उपयोग नहीं के बराबर होता था । जिन परिस्थितियों में उनके बाप-दादों को गुलाम की जिंदगी जीनी पड़ती थी, लौट-पलट कर वे उसी में रहने के लिए बाधित किए जा रहे थे ।

इन परिस्थितियों को बदलने के लिए आवश्यक था कि नीग्रो समुदाय स्वयं अपने पैरों खड़ा हो और अधिकारों की लड़ाई लड़े । पर इसके लिए उन्हें साहस प्रदान कौन करे ? यह कार्य एक अमेरिकन महिला डैविड ऐंजिलो ने अपने कंधों पर लिया । कैलीफोर्निया के कॉलेज में उन्हें छात्रवृत्ति मिली । पढ़ाई जारी रखने के अलावा उन्होंने नीग्रो जागरण में भाग लिया । पी० एच० डी० की और एक कॉलेज में अध्यापिका हो गयीं । आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होते हुए भी अपने काम के लिए उन्हें भारी कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं । नौकरी से निकाली गयीं । जेल गईं । फिर भी अपना काम नहीं छोड़ा । नीग्रो समुदाय को उनके नेतृत्व में जो सुविधाएँ उपलब्ध हुईं, उसके लिए वे सदा इस तेजस्वी महिला के कृतज्ञ रहेंगे ।

संतों को इसी कारण लोक श्रद्धा मिली । महामानवों का उत्पादन इसीलिए आवश्यक है; क्योंकि उनसे सारे राष्ट्र की प्रगति का प्रकाश मिलता है ।

संत की गरिमा

ईरान और तुर्की में लंबी लड़ाई चली । असंख्यों हताहत हुए । इसी बीच किसी प्रकार संत फरीउद्दीन तुर्कों के हाथ पड़ गए । उन पर जासूसी का इल्जाम लगाया गया और मौत की सजा सुना दी गई ।

संत उन दिनों अत्यधिक लोकप्रिय थे । जन-जन उन्हें प्यार करता था । बचाने के लिए कई उपाय किए गए । धनिकों ने कहा-"हम उनके बराबर सोना दे देंगे, संत को छोड़ दिया जाय ।" इस पर भी तुर्क तैयार न थे; वे उन्हें मारने पर उतारू थे ।

अंत में ईरान के बादशाह ने संत को छुड़ाने के बदले अपना सारा राज्य तुर्कों को देने का प्रस्ताव रखा ।

संत की गरिमा काम कर गयी । संधि हुई । लड़ाई बंद हो गयी और संत भी वापस लौट आए ।

जिस देश ने इस सच्चाई को समझा, जिन जातियों में अपने जातीय जीवन के लिए यह परमार्थ जागा, वे जातियाँ महान् बनीं । जापान वह देश है, जिसने प्रथम परमाणु युद्ध का आघात झेला, तो भी अपने नागरिकों की इसी निष्ठा के कारण आज समर्थ राष्ट्रों के समकक्ष खड़ा हुआ है ।

परमार्थ में घर जलाया

जापान के एक गाँव में मेला लगा हुआ था । नर-नारियों की भारी भीड़ उसे देखने जमा थी । एक वृद्ध हागामूची ने देखा कि समुद्र बहुत पीछे हट गया है । इतना तो भाटे के दिनों में भी नहीं हटता था । इस आश्चर्य का कारण उसकी समझ में आया । जब वह बच्चा था, तब भी इसी प्रकार एक बार समुद्र हटा था और उसके तुरंत बाद इतने जोर का उछाल आया था कि तटवर्ती गाँव उसमें बह गए थे । इस विपत्ति की सूचना वह मेले वालों को कैसे दे ? इसका उपाय उसे एक ही सूझा । टीले पर बने हुए अपने घर में आग लगा दी । उसे बुझाने के लिए भीड़ टीले पर पहुँची । इतने में ही बाढ़ आ गयी । लोग टीले पर खड़े थे, इसलिए बच गए ।

हागामूची की परमार्थपरायणता पर सभी लोग बड़े कृतज्ञ हुए । थोड़े दिन बाद उसके मर जाने पर लोगों ने उसका स्मारक बनाया, जो अभी तक है ।

गले, पर महक फैलायी

संत-महामानव गलने के बाद समर्पण के कारण अपने परिकर को धन्य बना देते हैं । इसी कारण वे विश्व वंद्य बनते हैं ।

रात की आँधी में बगीचे के खिले फूल जमीन पर गिर पड़े और उसके नीचे दब गए ।

कई दिन बाद माली ने इस मिट्टी को बर्तन माँजने के लिए उठाया, तो वह महक रही थी । वह इसका कारण खोजने लगे ।

दबे हुए फूलों ने कहा-"हम मिट्टी की गोद में खेले और अपनी खुशबू उसे प्रदान की । पर साथ ही यहभी देखो कि गलने की स्थिति में भी हमने मिट्टी की गुणहीनता नहीं अपनायी, उसे महकाया है ।

मरने के बाद प्रेरणा पुञ्ज बने

तब हसन जौहरी का धंधा करते थे । उन्हें व्यवसाय प्रयोजन से रोम के सुल्तान से मिलना था । सो वह पहुँचे । सुल्तान कहीं बाहर जाने की तैयारी में थे । मंत्रियों ने हसन से कहा-"इस समय मिलना संभव नहीं । लौटने तक प्रतीक्षा करो, अथवा हम लोगों के साथ चलने की बात सोचो ।" हसन ने साथ चलना बेहतर समझा, सो वे भी चल पड़े ।

जहाँ पहुँचना था, वहाँ एक तंबू गड़ा था और भीतर मजार सुल्तान के लड़के की थी । सभी लोग भीतर घुसते, शिजदा करते और डेरे की परिक्रमा करते । साथ ही कुछ कहते भी जाते ।

हसन दूर खड़े यह सब देख रहे थे । उनने काफ़िले के समझदार आदमी से चुपके से पूछा-"यह सब क्या हो रहा है ?" उसने जबाव दिया-"डेरे के भीतर शहजादे की मजार है । यहाँ हर साल सैनिक, डाक्टर, संबंधी सभी आते हैं और कसमें खाते हैं कि यदि हमारी शक्ति तुम्हें बचा सकी होती, तो हम प्राण देकर भी तुम्हें बचा लेते । होता वही है, जो अल्लाह को मंजूर हो । सो तुम्हारी रूह से अपने आप की वास्तविकता जताने आये हैं । किसी व्यक्ति की उपेक्षा तुमने समझी हो, तो माफ करना ।"

हसन भी काफ़िले के साथ लौटपड़े और उस दृश्य के आधार पर अपना समूचा जीवन क्रम ही बदल लिया ।

स्वस्मै वर्गविशेषाय स्वार्थबुद्ध्या च यानि तु ।
क्रियन्ते तानि कार्याणि मन्यन्ते स्वार्थगानि हि ।। ४५ ।।
विचारयन्ति येषां स लाभस्ते पुरुषाः स्वयम् ।
श्रमं कुर्वन्तु किं तैश्च परेषां हि प्रयोजनम् ।। ४६ ।।
परं न्यायस्य यत्राऽयमौचित्यस्य तथैव च ।
साहाय्यस्यार्तिजानां च प्रश्नः सन्तिष्ठते पुरः ।। ४७ ।।
चित्तं तत्र समेषां हि योगदानाय सन्ततम् ।
समुत्सहत एवात्र सर्वकल्याणकाम्यया ।। ४८ ।।
रीतिर्नीतिरिमेऽभूतां महतां भुवि सर्वथा ।
सहकारमहत्वं तैर्ज्ञातं सर्वसुखावहम् ।। ४९ ।।
स्वभावं ते चरित्रं च योग्यं व्यक्तिगतं तथा ।
व्यधुस्तेषां च प्रामाण्ये विश्वसेयुर्जनाः समे ।। ५० ।।
कार्याणि यानि तैरत्र हस्तगानि कृतानि तु ।
अभूवँस्तानि सर्वाणि नूनं लोक हितान्यलम् ।। ५१ ।।

टीका–निजी अथवा वर्ग स्वार्थ के लिए जो काम किए जाते हैं, उन्हें लोग स्वार्थ प्रेरित मानते हैं और सोचते हैं, जिनका लाभ है, वे ही श्रम करें, अन्यों को उनसे क्या प्रयोजन ? पर जहाँ न्याय का, औचित्य का, पीड़ितों की सहायता का प्रश्न आता है, वहाँ सभी का मन, सभी की कल्याण–कामना के लिए सुखकर सहकार का महत्व समझा है । व्यक्तिगत स्वभाव और चरित्र को इस योग्य बनाया है कि लोग उनकी प्रामाणिकता पर विश्वास कर सकें । उनने जिन भी कामों में हाथ डाला, वे सभी ऐसे थे, जिनके साथ लोकहित जुड़ा रहा ।। ४५–५१ ।।

अर्थ–मानव परहितकारी सहकारी भावना को विकसित करके ही महामानव बनते हैं । यह एक प्रकार का आत्म-निर्माण का, प्रामाणिकता अर्जन करने का तप तो है ही, उनकी सेवा-साधना भी है, जो उन्हें इतने ऊँचे पद पर पहुँचाती है । परमार्थ से ही स्वार्थ भी निभता है, व्यक्ति स्वयं भी लाभान्वित होता है, इसमें रंच मात्र भी संदेह नहीं ।

प्रामाणिकता की पूँजी

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन जब विद्यार्थी थे, तब घर की गरीबी के कारण पढ़ाई खर्च मेहनत-मजदूरी करके निकालते थे । एक दुकान पर उन्हें सेल्समैन का काम मिला । इसी बीच सौदा बेचते समय किसी महिला ग्राहक से भूल में एक रुपया अधिक वसूल हो गया । रात को हिसाब करते समय भूल का पता लगा, तो लिंकन कैशमेमो पर लिखे पते के आधार पर उसी समय पैदल चलकर उसके घर पहुँचे और क्षमा माँगते हुए पैसा लौटा कर बहुत रात गए घर लौटकर वापस आये ।

उनकी प्रामाणिकता सर्वप्रसिद्ध थी । यही कारण था कि उनके अनेक सच्चे मित्र थे । वे कहते रहते थे, कि संपत्ति के नाम पर तो मेरे पास कुछ नहीं; पर सच्चे मित्रों के रूप में असाधारण वैभव का धनी हूँ ।

नौशेरवाँ की न्यायनिष्ठा

बादशाह नौशेरवाँ एक दिन शिकार खेलते हुए दूर निकल गया । दोपहर के समय एक गाँव के पास डेरा डालकर भोजन की व्यवस्था की गई । अकस्मात् मालूम हुआ कि नमक नहीं है । इस पर सेवक पास के घर में जाकर थोड़ा-सा नमक ले आया । बादशाह ने उसे देखकर पूछा–"नमक के दाम दे आये ।" उसने उत्तर दिया–"इतने से नमक का दाम क्या दिया जाय ?" नौशेरवाँ ने फौरन कहा–"अब से आगे ऐसा मत करना और इस नमक की कीमत इसी समय जाकर दे आओ । तुम नहीं समझते कि अगर बादशाह किसी के बाग के बिना दाम दिए एक फल ले ले, तो उसके कर्मचारी बाग को ही उजाड़कर खा जाएँगे ।" नौशेरवाँ की इसी न्यायशीलता ने उसके राज्य की जड़ जमा दी और आज भी शासकों के लिए उसका आचरण आदर्श स्वरूप माना जाता है ।

परहित के लिए किए गए कार्य इसी प्रामाणिकता की कसौटी पर खरे उतरने के बाद अनुकरणीय बनते हैं ।

स्वार्थ से सर्वार्थ समझने वालों की दृष्टि में और महानता के पक्षधरों में इतना अंतर होता है कि एक अपने लिए लड़ता है, जबकि दूसरा व्यापक हित के लिए ।

रोम्याँ रोलाँ फ्रांस के गण्यमान्य लेखकों में रोम्याँ रोलाँ की अपनी विशेषता है । वे विचारक-दार्शनिक ही नहीं, आंदोलनकारी भी थे । पहला विश्व युद्ध हो चुका था । उसमें जो विनाश हुआ था, वह सबके सामने था । वह समाप्त नहीं हो पाया था, कि दूसरे युद्ध के बीज बोए जा रहे थे । राजनेताओं के साथ साठ-गाँठ करके बुद्धिजीवी अगले युद्ध के उन्माद पैदा कर रहे थे । इस प्रवाह के विरुद्ध रोम्याँ रोलाँ ने आवाज बुलंद की । खुद तो बहुत कुछ लिखा ही । यूरोप के बुद्धिजीवियों की उन्होंने दो कांफ्रेंसें भी बुलाईं और अनुरोध किया कि युद्ध भड़काने का पाप न किया जाय । वे रोक तो न सके; पर उनकी आवाज इतनी बुलंद थी, जिसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकी । आलोचक भी उन्हें दूसरा गाँधी कहते थे । टॉलस्टाय से उनके घने संबंध थे । दूसरा युद्ध रुका तो नहीं; पर उसे रोकने के संबंध में सबसे ऊँची आवाज बुलंद करने वालों में रोम्याँ रोलाँ अकेले होते हुए भी अमर रहेंगे ।

नौकरी छोड़ दी अमृतलाल ठक्कर इंजीनियर थे । वे जिस क्षेत्र में काम करते थे, वह अछूतों का था । गंदगी, बीमारी, गरीबी के कारण उनकी दशा अत्यंत दयनीय थी । ठक्कर नौकरी से बचा समय उनकी सेवा में लगाते । इतने से ही उनकी स्थिति में भारी सुधार-परिवर्तन दीखने लगा । ठक्कर विचारने लगे-"क्यों न समूचा जीवन इसी पुनीत कार्य में रखा जाय ।" उनने नौकरी छोड़ दी और सर्वतोभावेन हरिजनों की स्थिति सुधारने के काम में जुट गए । गाँधी जी के सहयोग से हरिजन सुधार आंदोलन को देश व्यापी बना सके । समाजसेवियों में उनका नाम अविस्मरणीय रहेगा ।

महापुरुष ऐसे अवसरों पर आने वाले संकटों के लिए भी तैयार रहते हैं ।

स्पष्ट इन्कार वैज्ञानिक जॉनसन ने गैलीलियो की कब्र के सामने प्रतिज्ञा की कि ऐसे आविष्कार न करूँगा, जिससे मानव जाति का अहित होता हो । उन्हें अणुबम बनाने के लिए कहा गया । उनने स्पष्ट इन्कार कर दिया । इस पर उन्हें भारी प्रताड़नाएँ दी गईं; पर मरते दम तक वे इन्कार ही करते रहे । वे नहीं चाहते थे, कि उनके प्रयासों से असंख्य निरीह व्यक्तियों के प्राण जाँय ।

संसार में आज भी न्याय जीवित है । इसका कारण महापुरुषों द्वारा अभिव्यक्त यह साहसिकता ही प्रमुख है ।

सत्याग्रह सन् १९३५ में इलाहाबाद का कुंभ पर्व था । जनता संगम पर नहाने पहुँची थी । थोड़ी सी बालू उठवा देने से सरकार की कई कठिनाइयाँ दूर हो सकती थीं; पर अफसरशाही सुनने को तैयार न थी । जिद बढ़ रही थी । इतने में एक युवक कूदा और सरकारी प्रतिबंधों को तोड़कर जनता को नहाने का उत्साह भरने लगा । निदान सरकार को जनता की बात माननी पड़ी । यह कूदने वाला युवक था जवाहर लाल नेहरू ।

गोली के शिकार अब्राहम लिंकन गरीबी की चरम सीमा में गुजारा करने वाले परिवार में जन्मे । अपनी लगन और प्रामाणिकता के आधार पर उन्नति की; एक के बाद दूसरी सीढ़ी पार करते गए । वे वकील बने । साथ ही राजनीति में भी प्रवेश किया । कई बार वे चुनाव हारे; पर जब जीत गए तो उनने घोषणा की कि दास प्रथा का कलंक अमेरिका के सिर पर से हटाकर रहेंगे । इस प्रश्न को लेकर उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका में कटुता बढ़ी और संघर्ष हुआ । तो भी उनने अपनी दूरदृष्टि और सूझ-बूझ के आधार पर उस प्रश्न को हल कर ही लिया । उन्हें मानवी गुणों का भंडार कहा जाता है । शत्रुओं में से एक की गोली के वे शिकार हो गए ।

महापुरुष आज के लिए जीते हैं, अभी की बात सोचते हैं; भविष्य तो स्वतः उनके पद-चिह्नों पर चलता है ।

काठी-कफन की चिंता लोकमान्य तिलक एक स्वस्थापित विद्यालय में ३०) रुपया मासिक की नौकरी करते थे । मित्रों ने कहा-"आप मरेंगे तो काठी-कफन के लिए भी न बचेगा ।" उन्होंने कहा-"काठी-कफन की वे लोग चिंता करें, जिनके ऊपर इसकी जिम्मेदारी है । पेट भरने लायक तो मैं कमा ही लेता हूँ ।"

शांति-दूत एक महायुद्ध हो चुका था, दूसरे की तैयारी चल रही थी । उन दिनों फ्रांस के बैरिस्टर फ्रैडरिक थसी ने पैसा कमाने की अपेक्षा अपनी सारी शक्ति युद्ध विरोधी वातावरण बनाने में लगा दी । उसका प्रभाव भी पड़ा । युद्ध रुका नहीं; पर कई वर्ष पीछे जरूर हट गया । उनने जन साधारण को इस बात को समझाने का प्रयत्न किया । हर

झगड़ा पंच फैसले से सुलझाया जाय । जनता से इस संदर्भ में सीधा संपर्क साधने के प्रयास में अथक प्रयास करने वालों में फ्रैडरिक का नाम सदा स्मरण किया जाता रहेगा और उन्हें शांति के लिए नोबुल पुरस्कार भी मिला ।

गीता ने ऐसों को ही निष्काम कर्मयोगी बताया है । वे सुख-दु:ख, लाभ-हानि, यश-अपयश दोनों में समान रहते हैं । न्याय-निष्ठ परमार्थी के लिए सम्मान की अहंकारिता कोई महत्व नहीं रखती ।

छोटी वस्तु

ईश्वरचंद्र विद्यासागर एक व्यक्ति के यहाँ टाट के बोरे पर बैठे थे । उसके पास यही सुविधा थी । एक बड़े आदमी बग्घी पर निकले और उन्हें साथ बिठाकर ले चले, साथ ही कहते रहे-"टाट के बोरे पर आपकी बेइज्जती होती है ।" उनने जबाव दिया-"इज्जत इतनी छोटी वस्तु नहीं है, जो बैठने के साधनों पर ही घटने-बढ़ने लगे ।"

महानता छोटे कार्यों से ही विकसित होती है । मूल बात यह है कि वह परमार्थ और परोपकार की भावना से किए गए हों ।

औचित्य के पक्षधर

एक अजनबी अंग्रेज अस्पताल में अपने मित्र से मिलने जा रहे थे । टैक्सी वाले अजनबीपन का लाभ उठाकर मनमाने दाम माँग रहे थे ।

एक जापानी सज्जन अपनी कार लेकर उधर से निकल रहे थे । उनने इशारा करके अंग्रेज को अपनी कार में बिठा लिया । अस्पताल का रास्ता मुश्किल से पाँच मिनट का था । उसके दरवाजे पर उनने छोड़ दिया । किराये की बात पूछी, तो उनने कहा-"यह भाईचारे का तकाजा था, सो ही वसूल हो गया । अब लेना-देना कुछ नहीं है ।" टैक्सी वाले अजनबीपन का लाभ उठाकर बीस रुपया माँग रहे थे ।

जहाँ भी इस तरह की सहयोग भावना विद्यमान होगी, वहाँ के लोग खुशहाल हुए बिना नहीं रह सकते । यदि जनसहयोग, जनश्रद्धा का अभाव दीखे तो समझना चाहिए कि कहीं कोई त्रुटि अवश्य है । श्रद्धा तो प्रामाणिकता के पीछे दौड़ी चली आती है ।

श्रम की प्रेरणाएँ

हरि बाबा ने 'गँवा' गाँव के निकट गंगा पर बाँध बनवाने का निश्चय किया और उससे ग्रामवासियों को अवगत कराते हुए श्रमदान का अनुरोध किया, तो जितने मुँह उतनी बातें हुईं ।-"सरकार तो बनवा न सकी, ये बनवा लेंगे ।" "बाँध कोई खेल है ।"-किसी ने मुँह पर ही मजाक किया । किन्तु संकल्प के धनी हरि बाबा ने उन बातों पर ध्यान नहीं दिया ।

निश्चित समय थोड़े ही श्रद्धालुओं के साथ उन्होंने कार्य आरंभ किया, बाकी लोग तमाश देखते रहे । पर जब कई दिन तक वे दृढ़तापूर्वक लगे रहे, तो तमाशा देखने वाले भी काम में आ जुटे । फिर श्रमदानियों की कमी न रही, न धन-दानियों की । सरकार ने भी सहायता दी और कुछ ही महीनों में बड़ा-सा बाँध बन गया । जिस बाँध को सरकार न बना सकी, उसे हरि बाबा की निष्ठा ने बनवा दिया ।

स्वार्थसिद्धये दलानां च निर्मातारो भवन्त्यपि ।
दुरात्मानो दुराचारा दुष्टास्ते कूटयोधिनः ।।५२।।
षड्यन्त्राणि बहून्यत्र कर्तुं दुरभिसन्धकाः ।
पार्श्वगां समितिं चण्डां कुटिलां स्थापयन्त्यपि ।।५३।।
दुःसहन्ते तथैतेभ्यः म्रियन्ते घ्नन्ति चाऽपरान् ।
एतादृशानां यत्नानामुद्दण्डानां विधीयते ।।५४।।
चर्चा यद्यपि सर्वत्र जनैः शुद्धेन चेतसा ।
नैताञ्जनाः प्रशंसन्ति न चैभिः सहयुञ्जते ।।५५।।
अत एवंविधान्यत्र साफल्यानि नृणामपि ।
सामान्यानां हि दृष्टौ तान्युपेक्षाण्येव सन्ति तु ।।५६।।
साफल्यानि प्रशंसन्ति तानि नो केचिदत्र तु ।
एतादृश्यां दशायां ते गण्यन्ते खलनायकाः ।।५७।।

सदाचारयुताः सन्ति महामानवतां गताः ।
सतां सभां विनिर्मान्ति सम्मिलन्ति च तत्र वा ।। ५८ ।।
विचारयन्ति यच्चाऽपि कुर्वते यच्च निश्चितम् ।
समाविष्टं भवेत्तेकहितं गहनमद्भुतम् ।। ५९ ।।

टीका—स्वार्थ सिद्धि के लिए गिरोह बनाने वाले तो अनेक दुष्ट, दुरात्मा, कुचाली और कुचक्री भी होते हैं । वे षड्यंत्र रचने और दुरभिसंधियाँ करने के लिए चांडाल-चौकड़ियाँ खड़ी करते रहते हैं, इसके लिए दुस्साहस भी करते हैं । मारने के साथ-साथ मरते भी हैं । ऐसे उद्दंड प्रयत्नों की चर्चा तो लोग भारी मन से करते हैं; पर उनकी कोई प्रशंसा नहीं करता, न कोई सच्चे मन से समर्थन करता, न कोई सच्चे मन से सहयोग ही देता है । अतएव इस स्तर की मिली हुई सफलताएँ भी सर्वसाधारण की दृष्टि में उपेक्षित ही बनी रहती है, उन्हें कोई सराहता नहीं । ऐसी दशा में कर्त्ताओं की खलनायकों में ही गणना होती है । महामानव चरित्रवान् होते हैं; सज्जनों का संगठन खड़े करते या उनमें सम्मिलित रहते हैं; जो सोचते और करते हैं, उनमें अद्भुत लोकहित का समोवश रहता है ।। ५२-५९ ।।

अर्थ—तात्कालिक आवेश और आतताई से भयभीत होकर आज अक्सर लोगों को दुष्टों का साथ देते देखा जाता है; पर दुष्टता की शक्ति बड़ी कमजोर होती है । शक्ति तो यथार्थ में वही है, जो किसी को ऊँचा उठाये, आगे बढ़ाये ।

बड़ा, बिगाड़ने वाला नहीं

एक पादरी अपने शिष्यों को ईश्वर की सृष्टि को शैतान द्वारा बरगलाये और कुमार्ग पर चलाने का वर्णन कर रहे थे ।

शिष्यों में से एक ने पूछा-"तब शैतान बड़ा हुआ, जो खुदा के लिए काम को सहज ही बिगाड़ देता है ।"

पादरी ने समझाया-"बिगाड़ने वाला बड़ा नहीं होता । एक मूर्तिकार बहुत समय मेहनत करके मूर्ति बनाता है; पर बिगाड़ने वाला उसे क्षण भर में बिगाड़ सकता है । बिगाड़ने वाला नहीं, बनाने वाला बड़ा होता है ।"

महापुरुषों की रीति-नीति इसी प्रकार की होती है । आस्तिकता को इसी कारण नैतिकता का पर्याय भी कहा गया है । वे तो अनिष्टकारी तत्त्वों में भी कल्याण की ही बात सोचते हैं ।

सीधा कर दीजिए

एक महात्मा नाव पर जा रहे थे । उसी में कुछ दुष्ट भी बैठे थे । महात्मा का सिर घुटा हुआ देखकर उनको मजाक सूझी । वे धड़ाधड़ उनकी खोपड़ी पर चपत लगाने का मजा लूटने लगे ।

आकाश के देवता यह दृश्य देखकर बहुत क्रुद्ध हुए । महात्मा से पूछा-"कहो तो नाव उलट दें और इन सभी को नदी में डुबो दें ।"

महात्मा ने हँसते हुए कहा-"उलटना और डुबोना तो सभी जानते हैं । आप देवता है, तो इन्हें उलटकर सीधा कीजिए और डुबाने की अपेक्षा उबार दीजिए ।"

निष्ठापूर्वक किए गए आदर्श और सज्जनोचित व्यवहार में दुष्टों को बदलने की शक्ति कभी भी देखी जा सकती है ।

घोड़ा लौटा दिया

अरब के दो मित्र थे । नावेर और वहेर । वहेर के पास बड़ा शानदार घोड़ा था । नावेर उसे किसी भी तरीके से प्राप्त करना चाहता था । कोई और उपाय न दीखा, तो एक दिन नावेर समुद्र के किनारे बीमार बुढ़िया का रूप बनाकर पड़ा रहा और रोने लगा । वहेर ने घोड़ा रोका और उस पर बीमार को बिठा कर खुद पैदल चलने लगा ।

दाँव लग गया । बुढ़िया बने नावेर ने एड लगाई और घोड़े को ले भागा । वहेर को आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी । उसने जोर की आवाज लगाकर नावेर को खड़ा किया और पास जाकर कहा-"घोड़ा तुमने पा लिया, सो ठीक । पर इस घटना को किसी से न कहना, अन्यथा गरीब और बीमार सहायता से वंचित हो जायेंगे, उन्हें भी धूर्त माना जायगा ।

नावेर रास्ते भर दोस्त की बात पर विचार करता रहा और दूसरे दिन उसका घोड़ा लौटा दिया ।

इसके विपरीत अन्याय तत्काल भले ही विजयी घोषित हुआ हो; पर एक न एक दिन उसकी भर्त्सना अवश्य हुई । इतिहास के पन्ने-पन्ने इन प्रमाणों से भरे पड़े हैं ।

नाले में डाला

'जोन ऑफ आर्क' को जला कर मारा गया था, सन् १४३१ में । इस घटना के पचास साल बाद उनके इस दंड से संबंधित कागज-पत्रों की फिर से जाँच हुई, तब यह पाया गया कि जिन अभियोगों के लिए जोन की हत्या की गयी थी, वे निराधार हैं । यह भी प्रमाणित हुआ कि धर्माधों ने जोन को दंड देकर घोर अन्याय किया था । जो धर्माधिकारी जोन के हत्यारों में अगुआ थे, उनकी तब मृत्यु हो चुकी थी । इसलिए उनके शवों को ही कब्र से निकाल कर एक गंदे नाले में डाला गया ।

अनुचित व्यवहार कभी किसी से हँसी में भी नहीं करना चाहिए । तिरस्कृत आत्मा का अभिशाप बहुत भयंकर होता है ।

परिहास न करें

एक बार एक मुनि भ्रमण पर थे । कृष्ण के यादव परिवार के उच्छृंखल लड़कों ने उनसे परिहास किया । एक लड़के को गर्भवती वधू बनाकर लाये और पूछने लगे, कि बताइये इसके पेट में लड़का है या लड़की ? पेट में लोहे की मूसली बाँध रखी थी ।

मुनि ने इस अपमान से क्षुब्ध होकर शाप दिया-"जो पेट से बँधी है, वही तुम्हारे समूचे वंश का नाश करेगी ।"

बात गंभीर हो गयी उस मूसली को चूरा बनाकर पानी में बहा दिया गया । फिर भी शापवश उसके अस्त्र-शस्त्र बने । उन्हीं से कृष्ण के सभी यदुवंशी मारे गए ।

सत्प्रयोजनहेतोश्च व्यक्तिभ्यस्त्वर्पितानि तु ।
योग्येभ्यस्त्वनुदानानि प्रत्यायान्ति प्रयच्छतः ।। ६०।।
असंख्यतां गतान्येव प्रियंग्वादीनि तानि तु ।
वसुरायान्ति शस्यानि सहस्त्रत्वं गतानि च ।। ६१।।

टीका-सत्प्रयोजनों के लिए प्रामाणिक व्यक्तियों के हाथ में सौंपे गए अनुदान असंख्य गुने होकर देने वाले के पास वापस लौटते हैं । मक्का, बाजरा आदि के बीज उगने पर सहस्रों गुने होकर बोने वाले के पास वापस लौटते हैं ।। ६०-६१ ।।

बूँद, जो मोती बनी

स्वाति नक्षत्र की वेला थी । खेतों को पानी की जरूरत पड़ी । बादलों में बसने वाली बूँदें मचलने लगीं, बोलीं-"हमें आसमान नहीं, जमीन चाहिए । उठने में क्या आनंद । नीचे वालों के साथ आत्मसात् बनकर क्यों न जिएँ ?"

बादल अपने समुदाय को अंचल में ही समेट रखना चाहते थे । बरसने की उन्हें जल्दी न थी । फिर भी बूँद मचली सो मचली । आगे-पीछे सोचे बिना धरती पर टपक ही पड़ी । सहेलियों को यह उतावली भाई नहीं ।

हवा ने साथ नहीं दिया । खेतों तक दौड़ सकने की उसमें सामर्थ्य नहीं थी । फिर भी सोचती रही । मन मसोस कर क्यों रहा जाय ? जितना बन पड़े उतना ही क्यों न किया जाय ?

बूँद बहुत दूर न चल सकी और जहाँ भी बन पड़ा वहीं बरस पड़ी । सरोवर तट पर बैठी हुई सीप ने उसकी ममता को परखा और मुँह खोल दिया-"देवि ! आओ तुम्हें कलेजे से लगाकर रखूँगी । तुम से बढ़कर कौन है, इस संसार में जिसे अपना बनाऊँ ?"

सीप और स्वाति बिंदु का संयोग मोती बन गया । अनुदानी और भाव पारखी दोनों धन्य हो गए ।

नाजीवाद से संघर्ष करने वाले पादरी कोल्वे का जीवन वृतांत इस बात का साक्षी है कि मनुष्य के सत्कार्य उसे एक दिन अमर कर देते हैं ।

धन्य कोल्वे

पोलैंड के पादरी कोल्वे के बलिदान की ४२ वीं बरसी पर रोमन कैथोलिक चर्च की बड़ी सभा ने 'धन्य' की उपहार घोषणा की । उनका बलिदान ईसाई समाज में सराहा गया ।

कोल्वे ने विद्याध्यन के उपरांत धर्मोपदेशन की दीक्षा ली और वे आजीवन सच्चे मन से इसी व्रत का निर्वाह करते रहे ।

नाजियों ने पोलैंड पर आक्रमण किया और उसे पैरों तले रौंद डाला । कितने ही प्रजाजन मारे गए और

कितने ही बंदी बना लिए गए, अत्याचार की हद थी ।

पकड़े गए बंदियों में १४ वीं कतार का एक व्यक्ति भाग खड़ा हुआ । कप्तान ने आज्ञा दी कि वह आज शाम तक न मिला, तो कतार के कैदियों में से किन्हीं दस को मौत के घाट उतार दिया जायेगा ।

वह मिला नहीं । पूरी कतार के दिल धड़क रहे थे, कि न जाने कल कितने प्राणों पर बीतेगी ।

इन पकड़े हुओं की १४ वीं पंक्ति में पादरी कोल्वे भी थे । वे सभी घबराये हुओं को धैर्य बँधाते रहे, उनमें से एक व्यक्ति बहुत कमजोर तबियत का था, उसे अपने स्त्री-बच्चों का मोह बहुत सता रहा था । उसका रात भर बिलखना जारी रहा । यद्यपि यह निश्चित नहीं था कि दस अभागों में उसका नाम होगा या नहीं ?

सबेरा होते ही कप्तान आया उसने दस छाँटने प्रारंभ किये । संयोग से वह बिलखने वाला उसी छाँट में आ गया, उसके आँसू रुक नहीं रहे थे ।

पादरी कोल्वे आगे बढ़कर आये और छाँटने वाले कप्तान से कुछ निवेदन करने की बात कहने लगे । कप्तान ने कड़ककर कहा-"कहो, क्या कहना है ?" उनने उँगली का इशारा करते हुए उस व्यक्ति की ओर कहा-"उसकी जगह पर मुझे चुन लिया जाय । इसका बच्चों वाला परिवार है । मैं तो अकेला हूँ ।"

कप्तान ने बात मान ली । उस आदमी की जगह कोल्वे को मौत की कोठरी में धकेल दिया गया । दसों को भूख से तड़पा कर मारा जाना था । कोल्वे सभी को धैर्य बँधाते और ईश्वर की भक्ति में लग जाने को कहते । अपने हिस्से का रोटी का टुकड़ा, उनमें से जो अधिक कमजोर होता, उसे दे देते ।

कोल्वे के बलिदान की कहानी नाजी आक्रमण समाप्त हो जाने के बाद भी सबको याद रही और उन्हें धन्य माना गया ।

संत की अंतर्दृष्टि

भगवान् का विधान सुनियोजित है । जो देता है, उसी अनुपात में वह पाता भी है ।

एक संत के यहाँ दो अतिथि पहुँचे । दोनों भूखे थे । संत स्थिति समझ गए । उसने दो रोटियाँ में से एक-एक उन्हें दे दी, वे खाने लगे ।

इतने में एक नौकर आया । उसने कुछ रोटियाँ दीं । गिनी तो वे अठारह थीं । संत ने लौटायीं और कहा-"देने वाले ने हिसाब में भूल की है ।"

नौकर चला गया और दुबारा लौटा, तो थाली में २० रोटियाँ थीं । संत ने ले लीं और तीनों ने पेट भर लिया ।

आगंतुकों ने १८ लौटाने और बीस लेने का रहस्य पूछा, तो संत ने कहा-"भगवान् का वचन है कि मैं एक के बदले दस देता हूँ । मैंने आप लोगों को दो दी, तो मुझे बीस मिलनी चाहिए । पहली बार १८ थीं, सो मैंने हिसाब में गलती देखकर लौटा दीं । दूसरी बार २० आईं तो मैंने समझा कि ईश्वर ने अपने बवचन का पालन किया है ।"

सबसे बड़ा दान

दुर्भिक्ष पीड़ितों को सहायता की जरूरत पड़ी । माँगने का काम ईसा ने अपने जिम्मे लिया । बहुतों ने बहुत कुछ दिया; किन्तु एक बुढ़िया मात्र दो पैसे ही दे सकी । लोगों ने उसका उपहास किया तो ईसा ने डाँटा । यह चार पैसे का सूत कातती है और पेट भरने के उपरांत जो कुछ बचा सकती थी, उसे मेरे सुपुर्द करती है । इसका दान उन लोगों से बड़ा है, जो अपनी पहाड़ जैसी दौलत में से एक ढेला भर देते हैं और बड़ी राशि देने का अभिनय रचते हैं ।

साधु की विडम्बना

जो जैसा बोता, वैसा ही काटता है । संकीर्णता के बदले निराशा ही मिलती है ।

एक साधु थे, बहुत कृपण और लालची । दिन भर भिक्षा माँगते । जो मिलता उसकी अशर्फियाँ बनाते जाते ।

एक बार उनका मन तीर्थ यात्रा का आया । अशर्फियाँ साथ थीं, सो डर लगा रहता; कि कोई रास्ते में छीन न ले । एक उपाय सूझा । गंगा की रेती में गड्ढा बनाकर अशर्फियाँ गाड़ी दीं और पास में गोल पत्थर ढूँढ़कर शंकर जी बनाकर स्थापित कर दिए । ऊपर से फल-फूल चढ़ा दिए । इस प्रकार निश्चिंत होकर आगे बढ़े ।

चौथे दिन सोमवती पर्व था । नहाने को भारी भीड़ एकत्रित हुई । एक ने शिवलिंग स्थापित देखा, तो सभी उस सस्ती पूजा की नकल करने लगे । सैकड़ों ने अपने-अपने शिवलिंग स्थापित कर दिए ।

साधु जब लौटकर आए तो सैकड़ों शिवलिंग देखकर आश्चर्य में पड़ गए । दिन में सबको उखाड़-उखाड़ देखना

धर्म विरुद्ध था । रात को उखाड़ कर देखा, तो कुछ पता न चला कि अशर्फियाँ कहाँ हैं ?

अंत में निराश वापस लौटे और उतनी ही भिक्षा माँगते, जितने में रोज का काम चले । इसे वे तीर्थ यात्रा का पुण्य फल कहते ।

गुरु से लड़ पड़े

सच्चाई की लड़ाई में संबंध भी आड़े आये, तो भी महामनीषी धैर्य की परीक्षा में सफल हुए हैं । परशुराम उन दिनों शिव जी से शिक्षा प्राप्त कर रहे थे । भगवान् शिष्यों में से ऐसे प्रतिभाशाली छात्र की तलाश कर रहे थे, जो न्याय और औचित्य के प्रति अटूट निष्ठावान् हो, साथ ही निर्भय और पराक्रमी भी ।

ढूँढ़ने के लिए भगवान् शिव ने कुछ अनुचित आचरण आरंभ किए और बारीकी से देखा, शिष्यों में से किस की क्या प्रतिक्रिया होती है ।

अन्य सभी दरगुजर करते या सहन करते चले गए । मात्र परशुराम ही एक ऐसे थे, जिन्होंने सुझाया ही नहीं, विरोध भी किया । एक दिन बात बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक पहुँची कि परशुराम तन कर खड़े हो गए और न मानने पर शिव जी का शिर फोड़ देने को तत्पर हो गए ।

भगवान् को विश्वास हो गया कि यही है, जो फैली अनीति का निराकरण कर सकेगा । उन्होंने प्रसन्न होकर दिव्य परशु प्रदान किया और सहस्रबाहु से लेकर धरातल के समस्त आततायियों से निपट लेने का आदेश दिया ।

गुरु-शिष्य की लड़ाई पुराणों की अमर कथा में सम्मिलित है । शिव जी के सहस्रनामों में से एक नाम 'खंड परशु' भी है । अर्थात् परशुराम ने जिन्हें खंडित कर दिया ।

सद्भावना की परिणति

दक्षिण अफ्रीका में गाँधी जी ने किसी प्रसंग में चौदह दिन का जल उपवास किया । चार दिन बीतने पर उनके एक जर्मन साथी केलन बेक का तार मिला कि मैं अमुक गाड़ी से आपकी देखभाल के लिए आ रहा हूँ ।

गाँधी जी उपवास के पाँचवें दिन अपने साथियों समेत तीन मील चलकर स्वागत के लिए स्टेशन पहुँचे । उनने कहा-"आपकी सद्भावना के लिए मेरे मन में जो कृतज्ञता उपजी, यह उसी की परिणति है, जो मुझे ताकत भी दे सकी और यहाँ तक खींच भी लाई ।"

श्रमस्याऽपि धनस्याथ बीजानीशस्य तस्य तु ।
क्षेत्रे परार्थरूपे च वपन् यत्र जनास्तु ये ।। ६२।।
लाभ एव भवेत्तेषां मर्त्यसद्वृत्तिवर्धने ।
पाताऽविकासपीडानां वारणे सम्पदामथ ।। ६३।।
क्षमतायाश्च तस्यास्तु समुत्सर्गः सदा नरैः ।
अंशस्य महतः कार्य आत्मा तेन प्रसीदति ।। ६४।।
योऽर्जयेत् केवलं स्वस्मै भुङ्क्ते चाऽपि तु केवलम् ।
स्तेनमाहुर्नरं तं तु सदैकान्तगतिं ततः ।। ६५।।

टीका-परमार्थी ईश्वर के खेत में अपने श्रम तथा धन का बीज बोते हैं । इस व्यवसाय में लाभ ही लाभ है । मनुष्य को सत्प्रवृत्ति-संवर्द्धन के लिए पतन-पीड़ा और पिछड़ापन हटाने के लिए अपनी क्षमता और संपदा का बड़ा भाग उत्सर्ग करना चाहिए, इससे आत्मा तृप्त होती है । जो अपने लिए ही कमाता है, आप ही खाता है, उसे चोर कहा गया है, चोर भी एकांतप्रिय होता है ।। ६२-६५।।

अर्थ-जीवन व्यापार में यदि ईश्वर को अपना साझीदार बना लिया जाय, तो लाभ ही लाभ है । परहित हेतु जिन्होंने जन्म लिया है, ऐसे व्यक्ति अपने श्रमसीकरों एवं संपदा-सामर्थ्य के माध्यम से लोकमानस को ऊँचा उठाने का पुरुषार्थ करते हैं । वे समाज के प्रति अपने कर्तव्य समझते हैं व जानते हैं कि उन्हें जो कुछ भी मिला है, समाज का एक अंश होने के नाते ही मिला है । इसीलिए उनके हर कृत्य में समष्टिगत हित का समावेश रहता है । यह परोपकार उन्हें जो आत्मसंतोष प्रदान करता है, उसकी

तुलना दुनियाँ के किसी वैभव से नहीं की जा सकती ।

आत्मा तृप्त हुई

शेखावाटी (राजस्थान) के स्वामी केशवानंद संन्यास लेते ही शिक्षा प्रचार में लग गए । मुट्ठी भर अन्न हर घर से एकत्रित करने के सहारे उनने अनेक प्राइमरी, माध्यमिक, हाईस्कूल और कॉलेज बनाये । स्वामी जी गाँधीवादी थे । कई बार जेल भी गए । एम० पी० चुने गए । उनका एक दिन भी ऐसा नहीं गया, जिसमें सुधारात्मक और सृजनात्मक कार्य न किए हों ।

वैभव परित्याग

लाला हरदयाल अत्यंत कुशाग्रबुद्धि के थे । कॉलेज की पढ़ाई में सर्वोच्च नंबर प्राप्त किए । फलतः उन्हें इंग्लैंड पढ़ने के लिए छात्रवृत्ति मिली । वहाँ जाकर पराधीन भारत और स्वाधीन इंग्लैंड की परिस्थितियों का अंतर देखा । जो सपने इंग्लैंड पढ़कर संपन्न जीवन बिताने के देखे थे, वे टूट गए । सोचा, जीवन को स्वतंत्रता के लिए ही अर्पित करना चाहिए ।

उन्होंने पढ़ाई छोड़ दी । भारत वापस लौट आये । यहाँ युवकों का गदर पार्टी आंदोलन चल रहा था । वे उसमें सम्मिलित हो गए ।

उन्हीं दिनों लार्ड हार्डिंग की शोभा यात्रा दिल्ली में निकल रही थी । अंग्रेज अपनी हुकूमत का रौब-दाब जमाना चाहते थे । गदर पार्टी ने लार्ड पर बम फेंकने का निश्चय किया । बम फेंका गया । लार्ड तो किसी तरह बच गए, पर उनका ए० डी० सी० मारा गया । उस मुकदमे में कितने ही क्रांतिकारी पकड़े गए और लंबी सजाएँ हुईं ।

लाला हरदयाल किसी प्रकार बच गए । वे फिर विलायत जा पहुँचे । इसके बाद वे विदेशों में रहकर भारत की स्वाधीनता की लड़ाई सारे जीवन भर लड़ते रहे । मालदार वकील बनने की अपेक्षा, उनने देशहित के लिए दर-दर ठोंकरें खाना उचित समझा । उसी का प्रतिफल है, जो आज हम आजाद हैं ।

इस शुभ साधना का प्रतिफल किसी को देखना हो तो उसे सँगरिया वनस्थली विद्यापीठ देखने जाना चाहिए, जो राजस्थान में शिक्षा का अद्वितीय केन्द्र है, उसमें १४ तो मात्र डिग्री कॉलेज हैं, हर स्तर की शिक्षा का वहाँ प्रबंध है ।

वस्तुतः ईश्वर उपासना ऐसों की ही सार्थक होती है । परमात्मा का प्यार पाने के अधिकारी वह नहीं, जो मात्र नाम जप और भक्ति संकीर्तन तक सीमित रहते हैं ।

सच्चा अधिकारी

एक बार विधाता ने अपना दूत पृथ्वी पर यह पता लगाने के लिए भेजा कि पृथ्वी में स्वर्ग-प्राप्ति के योग्य कितने भक्तगण हैं ?

दूत ने आकर संसार के हजारों भक्तों एवं पुजारियों के नाम-पते अपने रजिस्टर में अंकित कर लिए । दूत के विदा होते समय उसे एक अंधा चौराहे पर लालटेन जलाकर खड़ा मिला । दूत ने उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया ।

विधाता ने जब दूत का रजिस्टर देखा तो उसमें उस अंधे का नाम न था । विधाता ने स्वर्ग के सच्चे अधिकारी की परिभाषा बताते हुए, दूत के रजिस्टर को रद्द कर दिया और उस अंधे को स्वर्ग का सच्चा अधिकारी बताया, जो पूजा-पाठ तो नहीं करता था; किन्तु विश्व-व्यवस्था में भगवान् का सहयोग कर अंधकार में राहगीरों का मार्गदर्शन कर रहा था ।

सूझ-बूझ काम आयी

एक बार मालवा क्षेत्र में अकाल पड़ा । पूरे वर्ष पानी नहीं बरसा । फलतः न किसान-मजदूरों के यहाँ अनाज रहा और न कुएँ-तालाबों में पानी । लोग भूखों मरने लगे । बहुत से व्यक्ति प्रांत छोड़कर सुदूर देशों में मजदूरी करने और पेट पालने चले गए ।

इसी क्षेत्र में, एक गाँव में एक धनी सेठ थे । उनके यहाँ अन्न के भंडार भरे पड़े थे । उनने लूटे जाने से पूर्व ही समझदारी से काम लिया और अन्न मुफ्त बाँटने की अपेक्षा अपने घर पर पके भोजन का लंगर खोल दिया । शर्त यह लगा दी कि समर्थ लोग तालाबों और कुओं को गहरा करने के लिए श्रम करेंगे । यह प्रयास कई महीने कई गाँवों में चला । नहर-तालाबों से पानी मिलने लगा और उसी से सींच कर जल्दी पकने वाली फसलें उगाई गयीं ।

घोर अकाल के बीच भी क्षेत्र के लोगों ने अपने प्राण बचा लिए । जब पानी बरसा और अच्छा समय आया, तो लोगों ने खाया हुआ ब्याज समेत वापस कर दिया । सेठ की समझदारी ने यश भी कमा लिया और घाटा भी न सहा ।

लोक सम्मान भी ऐसी ही विभूतियों ने पाया, जिन्होंने अपना जीवन औरों के लिए परमार्थ में लगाया ।

बुढ़िया का त्याग

वर्जीनिया के एक सुनसान प्रदेश में रेल मार्ग था । रात्रि के समय पहाड़ से बर्फीली चट्टानें टूट-टूट कर लाइन पर गिरीं । गाड़ी आने वाली थी । अँधेरी रात में उसके गिरने का खतरा था ।

उस क्षेत्र में एक बुढ़िया रहती थी । चिंतित हुई कि गाड़ी कैसे रुके और दुर्घटना कैसे बचे ? बुढ़िया के पास जो चारपाई थी उसी को तोड़कर रेल्वे लाइन पर जलाने लगी और जलती लकड़ियाँ सिंगनल की तरह हिलाती रही । गाड़ी आई । उसने देखा और गाड़ी रोककर उसने दुर्घटना टाल दी । आज भी उसकी प्रतिवर्ष बरसी मनाई जाती है ।

छोटे-छोटे मिशन भी जब बड़े उद्देश्य लेकर खड़े हो गए और अनेक कार्यकर्त्ता आदर्शों पर अडिग रहे, तो वे न केवल सफल हुए, वरन् सैकड़ों लोगों के जीवन में प्रकाश किरणें बिखेर दीं । पवनार इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है ।

आज का पवनार

पवनार में बिनोवा जी प्रतिदिन आठ घंटे कुआँ खोदने का काम करते थे । आसपास की संस्थाओं के लोग भी इस कार्य में उनकी मदद करते थे । कोई नेता या मंत्री बिनोवा जी से मिलने आते, तो उन्हें भी यह काम करना पड़ता था । श्रीमती जानकी देवी बजाज भी कुछ दिन वहाँ रहीं और उन्होंने नियमित रूप से एक घंटा चक्की पीसने, एक घंटा रहट चलाने और छः घंटे खाली-भरी टोकरी इधर से उधर देने का काम किया ।

प्रसिद्ध उद्योगपति परिवार की इन सरल, निरभिमानी व सेवानिष्ठ महिला का यह उदाहरण निश्चित रूप से हमें प्रेरणा प्रकाश देने को पर्याप्त है । जो यह सोचते हैं कि हम संपन्न हैं, परिश्रम क्यों करें ? वे बड़ी भूल करते हैं । परिश्रम और वह भी किसी महत्वपूर्ण उद्देश्य को लेकर किया, वह कम पुण्य नहीं है ।

आठ घंटे काम करने वाले कार्यकर्ताओं को १३ आने पारिश्रमिक और भोजन मिलता था, जिसमें दाल, ज्वार की रोटी, मूँगफली का तेल और सब्जी होती थी । बिनोवा जी कहते थे कि दूध, दही, घी, तेल तो तब मिले, जब कुआँ खुदे, उसमें से पानी निकले, पानी से खेती हो, खेती से घास-दाना हो, जिससे गाय रखी जाय । तब तक इसी से काम चलाना होगा ।

गाँधी यदि एक दिन के राजा बनते तो—

भारत को स्वतंत्रता हस्तांतरित करने के लिए इंग्लैंड से एक प्रतिनिधि मंडल आया, तो गाँधी जी को अहिंसा के अस्त्र से जीतते देखकर मंडल के साथ बहुत से विदेशी पत्रकार आये और गाँधी जी से मिलने पहुँचे ।

एक पत्रकार ने पूछा कि यदि आपको एक दिन का 'डिक्टेटर' बना दिया जाय, तो क्या कार्यक्रम अपनायेंगे । उनने कहा—"पहले तो मेरे लिए ऐसा निरंकुश बनना ही संभव नहीं । यदि बन भी गया, तो उस सामर्थ्य को गंदी बस्तियाँ साफ करने में एवं पिछड़ों को ऊँचा उठाने, स्वावलंबी बनाने में लगाऊँगा ।"

सामान्यजनों तक में जब चिंतन की यह उत्कृष्टता हो, तो उससे बहुत आगे की बात सोचनी चाहिए ।

असमर्थ, पर सज्जन

रवीन्द्रनाथ टैगोर उन दिनों इंग्लैंड में थे । कड़ाके की ठंड में नियमानुसार सबेरे टहलने निकले, तो रास्ते में एक असमर्थ बूढ़ा मिला । उसने उस दिन पेट भरने के लिए एक शिलिंग की याचना की । टैगोर ने वृद्ध की दयनीय स्थिति देखी, तो उदारतावश एक गिन्नी हाथ पर रख दी और आगे चल दिए ।

वृद्ध दौड़ता और पुकारता हुआ आया और गिन्नी लौटाते हुए कहा—"भूल से आप गिन्नी दे गए, मैंने तो शिलिंग भर माँगा था ।"

टैगोर ने कहा—"ऐसा भूल से नहीं हुआ, जान-बूझकर अधिक दान सहायता की दृष्टि से किया गया ।" बूढ़े ने तो भी एक शिलिंग ही लिया और कहा—"आप शेष रुपयों से मेरे जैसे अन्य कितने ही असमर्थों को एक दिन का आहार दे सकते हैं । मैं तो उतना ही माँगता हूँ, जिससे हर दिन पेट भरता रहे ।" टैगोर असमर्थता के साथ जुड़ी सज्जनता पर चकित थे ।

परमार्थ की जड़ें जिस समाज में कटती रहती हैं, वे वैसे ही बौने रह जाते हैं, जैसे जापान के 'बोंसाई' पौधे ।

स्वामी रामतीर्थ जापान सम्राट् का बगीचा देखने गए । उसमें चिनार के वृक्ष सौ वर्ष से अधिक के थे; पर ऊँचाई तीन फुट ही थी । पूछने पर माली ने बताया—"हम लोग जड़ें काटते रहते हैं । फलतः ऊँचाई नहीं बढ़ने पाती । इन्हें 'बोंसाई' वृक्ष कहते हैं ।" मनुष्य के पुरुषार्थ की जड़ें कटती रहें, तो उसका व्यक्तित्व भी बौना रह जायेगा ।

ऐसा धन किस काम का ?

जब धन सत्प्रवृत्तियों में नियोजित नहीं होता, तो वह न होने के समान ही है । दक्षिणेश्वर मंदिर की निर्माता रानी रासमणि का जामाता माथुर बाबू ने एक विष्णु मंदिर बनाया और प्रतिमा को बहुमूल्य वस्त्र-आभूषणों से सजाया । कुछ ही दिन बाद पाया कि चोर सारा जेवर चुरा ले गए, माथुर बाबू उलाहना दे रहे थे, कि भगवान आप कैसे हैं ? जो अपने परिधानों की रक्षा न कर सके ।

रामकृष्ण परमहंस ने उनका समाधान किया कि जो धन लोक सेवा में नहीं लग सका, उसका आभूषण बनना और ईर्ष्या का निमित्तकारण बनना तथा चोरों के घर जा पहुँचना स्वाभाविक है । इस प्रवाह को भगवान क्यों रोकें ? रोकना होता, तो चोरों से पहले भगवान आपको रोकते ।

वर्षन्ति वारिदा नित्यं निःस्वार्थं सरितोऽपि च ।
भूखण्डान् प्राणिनस्तृप्तान् कुर्वते जलसम्पदा ।। ६६ ।।
वृक्षाः फलन्ति यच्छन्ति मेषा ऊर्णां ददत्यलम् ।
भूमिरुत्पादयत्यन्नमेवं यच्छत्स्वपि क्वचित् ।। ६७ ।।
नानुदानेषु चैतेषां न्यूनता काऽपि जायते ।
हस्तेनैकेन योदद्यादीशः प्रतिददात्यलम् ।। ६८ ।।
तस्मै हस्तेन चाऽन्येन स आदत्ते वरानिव ।
अदातारस्तु शुष्यन्ति म्लायन्त्यम्भोव पाल्वलम् ।। ६९ ।।
निर्झरा यद्यपि स्वल्पा वहन्तो विशदाः सदा ।
तिष्ठन्त्येते नरैर्भाव्यमुदारैः परमार्थगैः ।। ७० ।।

टीका—बादल निःस्वार्थ भाव से बरसते हैं । नदियाँ अपनी जल संपदा से भूखंडों और प्राणियों की प्यास बुझाती हैं । वृक्ष फल देते हैं । भेड़ ऊन देती हैं । भूमि अन्न उपजाती है । इन अनुदानों को निरंतर देते रहने पर भी उन्हें कोई घाटा नहीं पड़ता । एक हाथ से देने पर वरदान की तरह भगवान् उन्हें प्रतिदान देता भी रहता है, जिन्हें उसका दूसरा हाथ ग्रहण करता रहता है । जो नहीं देता, वह छोटे पोखरों के जल जैसा सूखता और सड़ता है, जबकि छोटे निर्झर भी सदा बहते और स्वच्छ रहते हैं । अतः मनुष्य को उदार व परमार्थपरायण होना चाहिए ।। ६५—७० ।।

अर्थ—मनुष्य को प्रकृति से यह सीख लेना चाहिए कि सदैव देने वला बदले में पाता है । जड़-निर्जीव समझे जाने वाले, पदार्थ, प्रकृति के घटक एवं जीव-जंतु भी दैनंदिन जीवन में देकर के लेने के सिद्धांत को अपनाते हैं, तो फिर मनुष्य ही क्यों ऐसा बर्ताव करता है, जिससे वह एकाकी, संकीर्ण, स्वार्थी बनता चला जाता है ।

संकीर्ण न बनें

एक छोटा झरना बहते-बहते गंगा से मिला और अंततः समुद्र तक जा पहुँचा । पोखर अपने दायरे में ही सीमित रहे । बहुत समय पानी न निकाला गया तो सड़ने भी लगा ।

दोनों की स्थिति का अंतर देखकर दार्शनिक ने अंतर लगाया-परमार्थ के लिए गतिशीलों को झरने जैसा श्रेय मिलता है और संकीर्णता के बंधनों में जकड़े स्वार्थियों की स्थिति में पड़े रहने वाले पोखर की तरह सड़ते भी हैं और असमय सूखते भी ।

महापुरुषों के जीवन में यह दृश्य कहीं भी, कभी भी देखे जा सकते हैं ।

जलाराम की रोटी

गुजरात के वीरपुर गाँव में प्रख्यात संत जलाराम बापा हुए हैं । वे स्वयं खेती करते हुए 'राम नाम' जपते । जो अनाज उगता उससे उनकी पत्नी सत्पात्र अभ्यागतों के लिए चौका खुला रखतीं । इस प्रकार दोनों श्रम तो करते; पर पेट भरने से जो भी बचता, परमार्थ में लगा देते ।

इस साधना से प्रसन्न होकर भगवान ने प्रत्यक्ष दर्शन दिए और अन्नपूर्णा झोली प्रदान की । कहते हैं कि उस अन्न भंडार से अभी तक असंख्य लोग भोजन प्रसाद प्राप्त करते चले आ रहे हैं, कमी कभी पड़ी नहीं ।

किसी भी स्थिति में परमार्थ घाटे का सौदा नहीं । एक बार महानता के पथ पर आगे बढ़ने की हिम्मत जुटानी पड़ती है । प्रतिफल तो न जाने कहाँ से दौड़ते आते हैं ।

लाला हंसराज के विद्यालय

उच्च श्रेणी में ग्रेजुएट परीक्षा उत्तीर्ण करने पर युवक हंसराज को अच्छी सरकारी नौकरी मिल रही थी; पर उनने सरकारी शिक्षा से भिन्न उद्देश्यों के लिए चलने वाले विद्यालयों की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाया और आदर्शवादी पीढ़ी के उत्पादन में सर्वतोभावेन जुट गए । एक छोटा विद्यालय उन्होंने स्वयं ही स्थापित किया । उसके सत्परिणाम देखते हुए उन्होंने उस कार्य को बड़े रूप में करने का निश्चय किया । डी० ए० वी० स्कूल-कालेजों की स्थापना में वे पूरे उत्साह के साथ जुट गए । जनता का अच्छा सहयोग मिला, फलतः पंजाब क्षेत्र में इस स्तर के छोटे-बड़े अनेक विद्यालय स्थापित हो गए । उनकी नम्रता और सेवा-भावना के कारण उन्हें महात्मा कहा जाता था ।

डी० ए० वी० विद्यालयों में ऐसे लगनशील अध्यापक नियुक्त किए गए, जो छात्रों के साथ पूरी तरह घुल जाते थे । फलतः वे न केवल चरित्रवान् देशभक्त बनते थे, वरन् अच्छे डिवीजनों से पास भी होते थे । एक डी० ए० वी० हाईस्कूल ने तो उस क्षेत्र के लिए आबंटित सारी छात्रवृत्तियाँ जीत लीं ।

महात्मा हंसराज जी द्वारा चलाया गया डी० ए० वी० स्कूल स्थापना आंदोलन हर दृष्टि से बहुत सफल रहा । उनके जीवन काल में अनेक टेक्नीकल स्कूल, आयुर्वेदिक कॉलेज, नॉर्मल स्कूल, शोध संस्थान, विज्ञान कॉलेज, धर्मोपदेशक विद्यालय स्थापित हुए ।

सरकार की आँखों में वे महात्मा हंसराज सदा खटकते रहे । उनके विद्यालयों में राजद्रोह की गंध सूँघी जाती रही । निरुत्साहित करने में शासकों ने कोई कमी न रहने दी, फिर भी जन सहयोग मिला और आंदोलन को आश्चर्यजनक सफलता मिली ।

रोगियों में खुदा के दर्शन

अमीन पाशा अफ्रीका में औषधि शोध संस्थान की ओर से काम करने गए थे । जड़ी-बूटियों की खोज में घूम रहे थे ।

एक गाँव पहुँचे तो देखा कि वहाँ शीतला का भयानक प्रकोप है । गुलामों की उस बस्ती में लोग मर रहे हैं । "यहाँ से जल्दी चलिए । यह छूत का रोग है ।"-सहकारी ने कहा ।

"तुम जाओ । मुझे यहाँ खुदा की पुकार सुनाई पड़ रही है ।" पाशा ने यात्रा रोक दी और उस गाँव में रोगियों की सेवा में जुट गए ।

अनेक रोगियों को पाशा की सेवा ने जीवन दिया । अंत में रोग उन्हें लगा । चेचक निकली । मरते-मरते वे प्रसन्न थे । कह रहे थे-'खुदा की मेहरबानी है तो उसने इस नाचीज को गरीब-निराधार रोगियों की सेवा करने का अवसर दिया । मैं बड़े संतोष से मर रहा हूँ ।'

एक व्यक्ति ने मोर्चा हाथ में लिया

लोक सेवा के लिए संगठित रूप से नवयुवकों को लगाया जाय । यह विचार जनरल बूथ के मन में आया । चर्च से संबंधित अनेक लोगों को उनने ईश्वर भक्ति का सच्चा तरीका लोक सेवा मानने के लिए धर्म परायण लोगों को तैयार किया । इस संगठन का नाम उन्होंने 'मुक्ति सेना' रखा । जब उसके उद्देश्य और कार्यक्रम लोगों ने संस्था के प्रकाशित पत्र में देखे, तो असंख्य लोग प्रभावित हुए और उसका प्रकाशन ५९ भाषाओं में होने लगा । घर-घर जाने और समझाने का कार्यक्रम और भी अधिक लोकप्रिय हुआ । एक व्यक्ति द्वारा आरंभ हुआ कार्य आज संसार के अधिकांश देशों में फैल गया है ।

सच्ची सेवा

एक लड़के ने निश्चय किया कि वह बी० ए० करते ही देश सेवा के कामों में लगेगा । पर जब उसके बहुत अच्छे नंबर आये और विलायत जाने की छात्रवृत्ति मिली, तो घर वाले उसे संकल्प तोड़ने के लिए दबाने लगे । लड़के को अपने वचन का स्मरण रहा, उसने 'मॉडर्न रिव्यू' अखबार निकाला और रवीन्द्र बाबू का सारा साहित्य प्रकाशित करके देश की महत्वपूर्ण सेवा की । इस लड़के का नाम था रामानंद चटर्जी ।

बाबा राघवदास की ईश्वर भक्ति

पूना में प्लेग फैला । उसमें राघवदास का सारा परिवार मर गया । ११ वर्ष का बालक इस आघात को न सह सका और घर छोड़कर साधु बन जाने के लिए निकल पड़ा । बहुत साधु-महात्माओं के संपर्क में रहने पर भी उन्हें समाधान न हुआ और सेवा धर्म अपनाया ।

एक दिन पड़ोस के गाँव में आग लगी । सभी बुझाने को चिल्लाते तो थे; पर उस कार्य के लिए कोई आगे न बढ़ता था । बाबा राघवदास गीला कंबल ओढ़कर घुस पड़े और कई जानवर बाहर निकाल लाये ।

बिहार के भूकंप और बाढ़ पीड़ितों की सेवा में महीनों लगे रहे । शिक्षा प्रचार का काम लगन से किया, पीछे स्वातंत्रता आंदोलन में जेल चले गए । रामायण को उन्होंने जन-जागरण का माध्यम बनाया । उनने एक कुष्ठ आश्रम की भी स्थापना की । बाबा जी की ईश्वर भक्त समाज सेवा थी ।

सृजेताओं की जन्मदात्री

स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों अनेक देश भक्त उस कार्य में प्राणपण से जुटे हुए थे; पर उनके परिवार का निर्वाह किस प्रकार हो, इसका कोई स्थायी हल न था ।

गोखले ने इसके लिए 'सर्वेण्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' स्थापित करके उस कोष से स्थायी लोक सेवियों के परिवारों की निर्वाह व्यवस्था बनाई । यही कार्य लाला लाजपत राय ने भी 'पीपुल्स सोसायटी ऑफ इंडिया' नामक एक दूसरी संस्था बनाकर किया । इन दोनों संगठनों के द्वारा अनेक लोक सेवी निर्वाह पाते और निश्चिंततापूर्वक कार्य करते रहे । दोनों संस्थाएँ सच्चे अर्थों में स्वतंत्रता संग्राम के सेनानियों और सृजेताओं की जन्मदात्री संस्थाएँ कहलाती हैं ।

इतना तो करें ही

महानता तो मारने वालों को भी हृदय से लगा लेती है ।

एक राहगीर ने पत्थर मारा । आम के वृक्ष से कई पके आम गिरे । राहगीर ने उठाये और खाता हुआ वहाँ से चल दिया ।

यह दृश्य देख रहे आसमान ने पूछा-"वृक्ष ! मनुष्य प्रतिदिन आते हैं, तुम्हें पत्थर मारते हैं, फिर भी तुम इन्हें फल देते हो ?"

वृक्ष हँसा और बोला-"भाई ! मनुष्य अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हो जायें, तो क्या हमें भी वैसा ही पागलपन करना चाहिए ।"

स्नेह अनुदान

तुकनेव का एक गद्य काव्य है-'मैं जा रहा था सुनसान सड़क पर । देखा एक बुभुक्षित भिखारी को, बहुत ही दुर्बल था वह । याचना थी उसकी आँखों में । देना चाहा, पर मेरी जेब में कुछ भी नहीं था, एक पैसा भी नहीं, रूमाल तक नहीं । क्या करूँ ? कैसे मदद करूँ ?'

अंत में मैंने उसका हाथ पकड़ लिया । उठाया और सिर पर हाथ फिराया । आशा दिलाई । मैं न सही, कोई दूसरा मदद करेगा । आप हताश न हों ।

भिक्षुक के होठ हिले, बोला-"मेरे ठंडे हाथों को अपने गर्म हाथों से पकड़कर जो गर्मी दी, उससे भी बहुत राहत मिली । आपका अहसान भूलने वाला नहीं हूँ ।"

मैं धीमे पैरों आगे बढ़ा । सोचता था, उस भिक्षुक ने मुझे नया प्रकाश दिया । नया द्वार खोला और नई राह दिखाई ।

शाश्वत दान विद्यादान

माधवराव पेशवा अपने जन्मदिन पर दान कर रहे थे । अन्न, वस्त्र, स्वर्ण सभी कुछ था, किन्तु ब्राह्मण कुमार ने कह दिया-"इन नाशवान वस्तुओं का दान नहीं चाहिए मुझे । दान देना हो तो स्थायी वस्तु का दान करें ।"

"स्थायी क्या है ?"

"विद्या" ।

पेशवा ने इस तेजस्वी कुमार को काशी पढ़ने भेजा । यही कुमार आगे चलकर प्रसिद्ध न्यायाधीश रामशास्त्री हुआ ।

गाली के बदले स्नेह

एक संत के पीछे एक आदमी गालियाँ बकता चला जा रहा था । संत बड़े शांत भाव से अपनी राह चले जा र हे थे । वह सारा इलाका जंगली था । यह इलाका समाप्त होकर जहाँ से बस्ती दीखने लगी, वहीं संत ठहर गए और उस व्यक्ति से बोले-"भाई, मैं यहाँ रुक गया हूँ । अब जितना जी चाहे, मुझे गाली दे दो ।"

"ऐसा क्यों ?"-उस दुष्ट आदमी ने पूछा ।

"ऐसा इसलिए भाई कि उस बस्ती के लोग थोड़ा मुझे मानते थे । उनके सामने तुम मुझे गाली देते, तो वे तुमको जरूर सजा देते ।"

"तो इससे तुझे क्या ?"–उस दुष्ट ने फिर पूछा ।

"तुम्हें तंग किया जाता, तो मुझे बहुत तकलीफ होती । आखिर तुम इतनी दूर तक मेरे पीछे-पीछे आये हो तो मुझे भी तुमसे स्नेह हो गया है ।"–संत ने प्यार से समझाते हुए कहा ।

वह दुष्ट व्यक्ति संत के चरणों पर गिर पड़ा । जानते हो वह संत कौन था ? ये थे शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास ।

फारमोसा की छोटी देवी

फारमोसा की स्थिति उन दिनों पिछड़ेपन की दृष्टि से भारत से भी गयी-बीती थी । लिलियन डिक्सन वहाँ एक बड़े सरकारी अफसर की धर्मपत्नी थीं । पर अपने को गृहस्थ जीवन की सुविधाओं से सर्वथा दूर रखकर उस देश के दीन-दुखियों के लिए अपने को समर्पित कर दिया । मक्खी-मच्छरों की तरह मरने वाले वहाँ के निवासियों के लिए एक अस्पताल की व्यवस्था की । नौ-दस वर्ष की उम्र के बाद उचक्कों का जीवन जीने वाले और बार-बार जेल जाने वाले लड़कों के लिए विद्यालय बनाया, जिसमें ५०० लड़के शिक्षा और स्वावलंबन का लाभ लेने लगे । महिलाओं का पिछड़ापन उन्हें बहुत अखरा । उनके लिए भी उन्होंने बहुत कुछ किया । कद में पाँच फुट की होने के कारण इन्हें छोटी देवी के नाम से याद किया जाता था । एक दिन भी उनने बिना सेवा कार्य में लगे नहीं बिताया ।

मुनष्य जीवन कुंठा और कठिनाइयों से हर क्षण घिरा रहता है । हम किसी को आशा दे सकें, किसी को प्रकाश दे सकें तो उसमें अपना लाभ अधिक है ।

निशानी–निम्नगामिता

एक बार फूलों से लदे गुलाब के पौधे को चिंतामग्न देख पास में उगे आम के झुंड ने इसका कारण पूछा । गुलाब ने कहा–"आज तो मैं फूलों से लदा हूँ, पर वह पतझड़ दूर नहीं, जब मैं पत्तों-सा झड़ जाऊँगा और फिर मेरी कँटीली डालियों को कोई आँख उठाकर भी न देखेगा । क्या यह कम चिंता की बात है ?"

आम ने कहा–"मित्र ! उस आज की सुषमा और अगले पतझड़ के बाद फिर आने वाली अपनी सुंदरता का विचार क्यों नहीं करते ? मुझे देखो न, अभी फल-फूलों से लदने में कई वर्ष लगेंगे; पर उसकी आशा और कल्पना करने में निरंतर प्रमुदित बना रहता हूँ ।

जलचक्रे शरीरस्य चक्रेऽथ प्रकृतेरपि ।
आदानस्य प्रदानस्य पारम्पर्यं तु विद्यते ।। ७१ ।।
दानं योऽवरुणद्धयत्र नैति सम्पन्नतां क्वचित् ।
विपरीततया नश्येत् ग्लायति प्रतिवासरम् ।। ७२ ।।
संकीर्णत्वं च भीरुत्वं कृपणत्वमथापि च ।
सृष्टिव्यवस्थितेरस्ति पूर्णतस्त्ववहेलनम् ।। ७३ ।।
स्वीकृत्येमानि लाभस्य ये चाशां कुर्वते नराः ।
अदूरदर्शिनो हानिं यान्ति शोचन्ति चान्ततः ।। ७४ ।।

टीका–शरीर–चक्र, जल–चक्र और प्रकृति–चक्र में आदान–प्रदान की परंपरा है, जो देना बंद करता है, वह संपन्न तो बनता नहीं, उल्टे सड़ता और नष्ट होता देखा जाता है । संकीर्णता, कृपणता और कायरता सृष्टि व्यवस्था की अवहेलना है । इन्हें अपनाकर जो लाभ की बात सोचते हैं, वे अदूरदर्शी बहुत घाटा सहते और अंततः बुरी तरह पछताते हैं ।। ७१–७४ ।।

अर्थ–इकॉलोजी विज्ञान के नियम-अनुशासनों के अनुसार परस्पर आदान-प्रदान ही सृष्टि की सुव्यवस्था का प्राण है । शरीर के जीवकोष निरंतर झड़ते हैं, नए आते रहते हैं । शरीर नित्य आहार ग्रहण करता है एवं विसर्जन करता है । यह संतुलन जरूरी है । प्राणवायु ग्रहण करके मनुष्य विषाक्त वायु छोड़ता है, जिन्हें वृक्ष-वनस्पति ग्रहण करते व बदले में मनुष्य के लिए प्राणवायु प्रचुर मात्रा में देते हैं । वृक्ष-वनस्पतियों को अपने उपकार के बदले में मनुष्य व जीवधारियों से उर्वरक रूपी पोषण मिलता है । यह सारी व्यवस्था अन्योन्याश्रित संबंधों पर टिकी है ।

भगवान् की कृपा उधार में नहीं

एक बार ईसा अपने शिष्यों के साथ कहीं जा रहे थे । उसी समय एक धनवान् दौड़ते हुए उनके पास आया और चरणों से लिपट कर बोला–"प्रभु ! सच्चा जीवन जीते हुए परमात्मा के पास पहुँचने का क्या साधन हो सकता है ?"

ईसा ने कहा–"नम्रता, प्रेम, दया, निरहंकारिता, सत्य, अहिंसा, त्याग आदि परमात्मा को प्राप्त करने के साधन हैं ।"

धनी युवक ने कहा–"प्रभु, मैं तो बचपन से ही इन नियमों का पालन कर रहा हूँ ।"

ईसा यह सुनकर बड़े प्रसन्न हुए और फिर बड़ी आत्मीयता के साथ बोले–"यह सब होते हुए भी तुझमें एक कमी है, जिसे मैं जानता हूँ । तुम अपने नियमों का तो हमेशा पालन करते रहो । एक बात और करो तुम्हारे पास जो जायदाद हो, उसे बेचकर उससे प्राप्त धन को गरीबों, निराश्रितों में वितरित कर दो । तुम्हारे पुरुषार्थ और भगवान् ने जो तुम्हें दिया उसे तुम जरूरतमंदों को दे दो । इस आदान-प्रदान के शाश्वत नियम का परिपालन करने से ही परमात्मा की प्राप्ति हो सकती है ।"

इस आदेश का पालन करने में उस धनी युवक को बड़ी कठिनाई महसूस हुई और वह चुपचाप वहाँ से चलता बना ।

ईसा कुछ देर तक उस युवक की ओर देखते रहे । फिर शिष्यों को संबोधित करते हुए बोले–"देखा, धनी लोगों का परमात्मा के पास पहुँचना कितना कठिन है । वे केवल दोनों हाथों से बटोरना जानते हैं, देना नहीं ।"

आम्रफल की कृपणता

कृपणता की प्रवृत्ति मनुष्य को अंदर से खोखला और अपने सामाजिक परिकर में अकेला तथा सबकी दृष्टि में हेय बना कर छोड़ती है । हर दृष्टि से कृपण घाटे में ही रहते हैं ।

एक आम का पेड़ था । फलों में से एक बड़ा डरपोक था । जो पकते गए, वे धरती पर कूदते गए । कितनों को ही मालिक ने तोड़ लिया, पर वह एक पत्तों के झुरमुट में छिपा ही बैठा रहा ।

उसकी उद्विग्नता और बढ़ी । साथियों के चले जाने का मोह सताने लगा, फिर भी पेड़ से जकड़े रहने का मोह छूटा नहीं । मन का संशय कीड़ा बना और उसने उसे खाकर सुखा डाला और कुरूप कर दिया । आँधी के एक ही झोंके में उसे सूखे पत्तों के साथ तोड़कर एक खड्ड में फेंक दिया ।

यही कृपणता एक दिन पककर जीवन का अंग, प्रारब्ध, संस्कार बन जाती है और जन्म-जन्मांतरों तक पीछा नहीं छोड़ती ।

चिंतन सही करें

दो आम के पेड़ पास-पास उगे । एक सूख गया, तो मालिक ने उस ठूँठ को भी काट डाला । कटते हुए उसने पड़ोसी पेड़ से शिकायत की । जिन्हें मैं जीवन भर सुविधा पहुँचाता रहा । उन्हें मेरा अस्तित्व बना रहना भी सहन न हुआ । कितने स्वार्थी हैं ये लोग ।

हरे पेड़ ने समझाते हुए कहा–"दोस्त ! चिंतन बदलो, और इस तरह सोचो कि अस्तित्व मिटते-मिटते भी मैं लोगों को सूखी लकड़ी दे सकने का सौभाग्य अर्जित कर सका ।"

महापुरुषों का आत्म विकास औरों को देने की वृत्ति के धरातल पर होता है, इसे समझ लेने वाले कभी घाटे में नहीं रहते ।

सितारे जगमगाते

समुद्र के बीचों-बीच टापुओं पर प्रकाशस्तंभ खड़े रहते हैं । वे उधर से निकलने वाले जलयानों को सचेत करने के लिए होते हैं, ताकि चट्टानों से टकरा कर दुर्घटना न कर बैठें । स्वयं जलकर दूसरों को प्रकाश देना इसी को कहते हैं । रात्रि में सितारे भी इसीलिए जगमगाते हैं ।

किसान की तरह जो दूसरों के हित की बात सोचते हैं, भगवान् उनका घर अनायास ही भरते रहते हैं ।

देना व पाना

एक विद्वान् और जिज्ञासु राजा की सभा में हर समय विद्वानों का जमघट लगा रहता । एक रात राजा अपने शयन-कक्ष में लेटा था । ठीक सामने दीपक जल रहा था । सहसा राजा के मन में एक प्रश्न उठा, दीपक का प्रकाश कितना उजला है ! न तेल काला है और न बाती काली है । फिर भी यह काजल उगल रहा है, ऐसा क्यों होता है ?

प्रातः होते ही उसने यह समस्या विद्वानों के समक्ष रखी । विद्वानों ने अपने-अपने विचार रखे, पर राजा संतुष्ट

न हुआ । अंत में राजा ने राज सभा में बैठे एक वृद्ध महात्मा से पूछा–"गुरुवर ! जग को प्रकाश देने वाले दीपक के पास सिर्फ कालिमा ही क्यों रह जाती है ?"

वृद्ध महात्मा बोले–"राजन् ! पहले मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें–"दीपक क्यों जलाया जाता है ?"

"प्रकाश के लिए"–राजा ने कहा ।

"अर्थात् अंधकार को नष्ट करने के लिए, इसका अर्थ यह भी हुआ कि दीपक अंधकार खाता है । राजन्, जो जैसा खाएगा, वह वैसा ही उगलेगा । तभी तो राजन्; यह कहा जाता है, जो जैसा करता है, वैसा ही बदले में पाता है । जो देना बंद कर देता है, वह अंततः नाश को प्राप्त होता है ।

श्रेष्ठता– दूसरों के लिए

किसान के खलिहान में एक ढेरी गेहूँ की थी, दूसरी कीड़ों की । किसान ने कीड़ों को अपनेलिए रख लिया और गेहूँ बेच दिया । उस पर गेहूँ ने दुःख मनाया और कहा–"मुझे देश निकाला क्यों ? किसान ने समझाया बेटी का कन्यादान करके दूसरों का घर सँभालने भेजते हैं, जबकि नौकरों–चाकरों को घर के काम आने के लिए ही रख लेते हैं ।"

दूसरों को देने में किसी वस्तु का मूल्य और महत्व बढ़ता है, घटना नहीं । किसान स्वयं दूध पीता है और घी दूसरों को बेच देता है ।

अपनी क्षति हो जाये तो कुछ हर्ज नहीं, किसी और का नुकसान न होने देने का स्वभाव ही संसार में शांति, प्रगति और प्रसन्नता का राजमार्ग है ।

नुकसान अपना करें, औरों का नहीं

राजा की सेना एक गाँव से होकर गुजरी । सेनापति ने गाँव के मुखिया को बुलाकर पूछा । घोड़ों को खिलाने लायक सबसे अच्छा खेत किसका है ? मुखिया ने अपना खेत बता दिया । चारा काट लिया गया ।

सेनापति ने पूछा–"यह खेत किसके थे ?" मुखिया ने कहा–"मेरे । मुझे दूसरों की हानि कराने का क्या अधिकार है ।"

सेनापति स्तब्ध रह गए । उनने मुआवजा चुका दिया ।

यह परंपरायें जहाँ चलती हैं वे देश, वह जातियाँ सदैव फलती–फूलती और समृद्ध रहती हैं ।

दुर्भिक्ष सज्जनों के देश में नहीं

मादि देश में भयंकर अकाल पड़ा । देवदूत यह तलाश करने आये कि ऐसे विषम समय में भी परमार्थ की परीक्षा में सफल होने वाले कुछ लोग इधर हैं क्या ?

देवदूतों ने देखा, एक ने अपना घर–जेवर बेचकर भूखों के प्राण बचाए । एक जगह देखा, एक सम्पन्न व्यक्ति अपने परिवार को आधे पेट भोजन देता रहा, आधा पड़ोसियों को बाँटता रहा । एक किसान ने, वर्षा होने पर बोने के लिए अपना अन्न सज्जनों की समिति को दे दिया और स्वयं कहीं परदेश पेट पालने के लिए परिवार समेत चला गया । ऐसी ही अनेक घटनाएँ उस क्षेत्र में देखीं, तो देवदूतों को इन धर्मपरायणों को देखकर बड़ा संतोष हुआ ।

दुर्भिक्ष का दैत्य यह सब देख–सुन रहा था । उसने सोचा ऐसे पुण्यात्माओं के बीच मेरा रहना ठीक नहीं । वह चला गया । वर्षा हुई और सभी के लिए पेट भरने का सुयोग बना ।

उदारात्मीयताऽऽएदानात्परार्थैकपरायणात् ।
दृष्ट्या व्यापकया चात्मा विकासं याति हर्षितः ।। ७५ ।।
वैभवं कृपणानां तु दुर्गतिग्रस्ततां व्रजेत् ।
यत्र तिष्ठेद् ग्लापयेत्तीक्ष्णाम्ल इव सन्ततम् ।। ७६ ।।
नश्येद् येन समूलं तदुच्यतां बौद्धिको भ्रमः ।
नृणामेष यदिच्छन्ति क्षमता सञ्चितां निजाम् ।। ७७ ।।
लाभं तस्य च वाञ्छन्ति दातुमल्पेभ्य एव तु ।
पार्श्वस्थेभ्यो मता मूर्खाः कुशला अपि चान्ततः ।। ७८ ।।

टीका–आत्मा का विकास उदार आत्मीयता, परमार्थ–परायणता और व्यापक दृष्टिकोण अपनाये रहने में है । कृपणों का वैभव दुर्गतिग्रस्त होता है और जहाँ भी वह ठहरता है, तेज अम्ल की तरह उसे गला–जला कर समाप्त कर देता है । इसे मतिभ्रम ही कहना चाहिए कि लोग अपनी क्षमता को संचित करके रखना चाहते हैं और उसका लाभ कुछ थोड़े से ही समीपवर्ती लोगों को देना चाहते हैं । इस नीति के अपनाने में चतुरता अनुभव करने वाले लोग अंततः मूर्खों के समूह में गिने जाते हैं ।। ७५–७८ ।।

अर्थ–कृपण बुद्धि के संकीर्ण मन वाले व्यक्ति इहलोक एवं परलोक दोनों में ही अपयश पाते हैं । व्यक्ति का मूल्यांकन उसकी उदार परमार्थपरायणता, सहकारिता एवं समष्टिगत पारिवारिकता की भावना के आधार पर होता है । ऐसे व्यक्तियों की इस संसार में कमी नहीं है, जिन्होंने एषणा में लिप्त होकर शांत मनः स्थिति में ही सारी जिंदगी काट दी एवं अंत में हाथ धुनते-पछताते कूच कर गए ।

हाथ ताबूत के बाहर

सिकंदर जब मरने लगा तो उसने अपनी सारी बहुमूल्य संपदा आँखों के सामने जमा करायी । मंत्रियों से कहा–"उसे मेरे साथ परलोक भिजवाने का प्रबंध करो ।"

यह असंभव था । वैभव संसार का अंग है । वह यहीं मिलता है और यहीं छूटता है । उसे परलोक साथ ले जा सकना संभव नहीं ।

सिकंदर फूट–फूट कर रोया । यदि यह सब यहीं पड़ा रहना था, तो मैंने व्यर्थ ही इसके लिए जीवन गँवाया । पेट भरना और तन ढँकना तो सहज संभव है । यदि यह बोध पहले जगा होता, तो परमार्थी महामानवों की तरह उपयोगी जीवन बिताता ।

समय निकल चुका था । भूल का सुधार संभव न था । सो उसने मंत्रियों से कहा–"जनाजे में उसके खुले हाथ ताबूत के बाहर रखे जाँय, ताकि लोग समझें कि महाबली सिकंदर तक जब खाली हाथ चला गया, तो हम क्या साथ ले जा सकेंगे ? जिन्हें यह बोध मिलेगा, वह मेरी जैसी मूर्खता न करेगा ।"

समझदारी इसमें है कि साधनों का अनुचित संग्रह कर समाज के लिए संकट उत्पन्न न करें । महापुरुषों के जीवन की यह प्रेरणाएँ जन सामान्य अपने जीवन में उतार सकें, तो सारा संसार सुखी हो जाये । संतों के वचन सुनें भर नहीं, उनका अनुपालन भी आवश्यक है ।

दृष्टिकोण बदला

एक संत नदी के किनारे बैठे–बैठे छोटे–छोटे पत्थरों का ढेर जमा कर रहे थे । ढेर बड़ा हो गया था, तो भी उनका प्रयास रुका नहीं ।

एक राजा उधर से निकला, पूछा–"यह पत्थर किसलिए जमा किए जा रहे हैं ?"

संत ने कहा–"मरने के दिन नजदीक हैं । परेलोक में महल चिनाना है, तो साथ ले जाने के लिए पत्थर जमा कर रहा हूँ ।"

राजा हँस पड़ा । परलोक में तो साथ कुछ नहीं जाता । यहाँ का सामान यहीं पड़ा रहता है ।

संत गंभीर हो गए । उनने राजा को पास बिठाते हुए, प्यार से कहा–"यदि यह ज्ञान आपने स्वयं अपनाया होता, तो वैभव बढ़ाने के बदले जीवन को उस पुण्य–परमार्थ में लगाया होता, जो मरने के बाद भी साथ जाता है ।"

राजा का दृष्टिकोण ही नहीं कार्यक्रम भी बदल गया ।

परमार्थ और लोकोपकार में प्रदर्शन एक आत्म–प्रवंचना है, इस तथ्य को एक बार नहीं, हजार बार अनुभव किया जाना चाहिए ।

समूह क्यों नष्ट होते हैं ?

भीष्म शर–शैय्या पर पड़े उत्तरायण सूर्य आने पर मरण की प्रतीक्षा कर रहे थे । पांडवों ने उपयुक्त समझा कि इस अवसर का और उनके ज्ञान अनुभव का लाभ उठाया जाय ।

नकुल ने पूछा–"देव ! राज्य क्यों नष्ट होते हैं और क्या फलते–फूलते हैं ?" उसके उत्तर में पितामह ने कहा–"जिस समुदाय के लोग व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, क्षुद्रता, अहमन्यता के वशीभूत होकर अपने निजी लाभ की बात अधिक सोचते हैं, वे स्वयं भी नष्ट होते हैं और समूचे समुदाय को नष्ट करते हैं । फलते–फूलते वे वर्ग हैं, जिन्हें सहयोग में आनंद आता है और सामूहिक उन्नति में गौरव लगता है ।

चक्की एवं रत्नराशि

रत्नराशि एक कोने में बैठी थी । पीसने की चक्की एक कोने में ।

रत्नराशि ने कहा–"मैं रानियों के कंठ और जौहरियों की तिजोरी में सज-धज के साथ रहती हूँ ।"

चक्की ने कहा–"अपना-अपना भाग्य; पर यह तो बतायें कि आप कितनों की आजीविका का साधन बनती हैं और कितनों का पेट भरती हैं ।"

रत्नराशि से कुछ उत्तर न बन पड़ा ।

मित्र को भुलाया

संकीर्णता बुद्धि को भ्रष्ट कर देती हैं एवं चिंतन को निकृष्ट बना देती है । दो बचपन के मित्रों में से एक धनी हो गया और दूसरा निर्धन ही रहा । निर्धन ने बचपन की मित्रता को स्मरण करके धनी से मिलने की बात सोची, ताकि आजीविका का कोई साधन मिल सके ।

पहुँचा तो धनी ने निर्धन को पहचानते हुए भी बला टालने के लिए अनजान की तरह पूछा–"तुम कौन हो ? कहाँ से, किसलिए आये हो ?"

निर्धन ने वस्तुस्थिति ताड़ ली और कहा–"मैंने सुना था कि बचपन का मेरा घनिष्ठ मित्र अंधा हो गया है, तो सहानुभूतिवश देखने चला आया ।" और उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वापस घर लौट पड़ा ।

शरीर संपदा और धन संपदा की अहंता में अपने हितैषी मित्र अपनों को भी भुला बैठता है और अपने कर्तव्य धर्म का निर्वाह करने में अनजान जैसे बहाने बनाता है ।

साधनों का संग्रह करना अनुचित नहीं है । कई बार तो अनुदान भी माँगने पड़ते हैं; पर जो मिले, उसे अपना व्यक्तिगत न माने, समाज का माने, एक-एक पाई समाज के हित में लगाये; अपने लिए उतना ही ले, जितना किसी ब्राह्मण के लिए आवश्यक है ।

सुविधा भी-परमार्थ हेतु

गेरीवाल्डी ने अपने देश का स्वतंत्रता संग्राम जिस कुशलता और बहादुरी से लड़ा उसकी चर्चा उन दिनों दूर देशों तक फैली हुई थी और उन्हें बहुत कुछ माना जाता था तथा बहुत बड़ा भी ।

एक देश के सेनापति सैन्य संचालन संबंधी कुछ महत्वपूर्ण परामर्श करने उनके पास पहुँचे । इन दिनों वे एक मामूली डेरे में रहते थे । साज-सज्जा के सामान का अभाव था । उसी सादगी के वातावरण में सारगर्भित वार्तालाप होता रहा ।

अंत में सेनापति को, एक गोपनीय नक्शा दिखाकर स्थानीय परिस्थितियों के संबंध में पूछताछ करनी थी; पर कठिनाई यह थी कि लालटेन का कोई प्रबंध नहीं था । अस्तु, नक्शे को देखना-दिखाना संभव ही न हो सका ।

गेरीवाल्डी जैसे विश्व-विख्यात व्यक्ति को इतनी सादगी, गरीबी और अभावग्रस्त स्थिति में देखकर सेनापति को आश्चर्य मिश्रित दुःख हुआ ।

दूसरे दिन प्रकाश होने पर जब नक्शे के संबंध में परामर्श करने के लिए सेनापति आये, तो उन्होंने बड़ी नम्रता और सम्मान के साथ पाँच हजार पौंड भेंट किए और कहा–"अपनी आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए मेरी यह नगण्य सी भेंट स्वीकार करने का अनुग्रह करें ।"

गेरीवाल्डी ने मुस्कराते हुए कहा–"वस्तुतः मुझे कभी इन चीजों की आवश्यकता अनुभव नहीं हुई, जिन्हें आप अभाव समझ रहे हैं । इस पैसे की मुझे तनिक भी आवश्यकता नहीं है ।"

सेनापति का अत्यधिक आग्रह देखा और अस्वीकार करने पर उन्हें खिन्न पाया, तो फैसला यहाँ समाप्त किया गया, कि सेनापति पाँच पौंड वजन की मोमबत्तियाँ दे जाँय, ताकि भविष्य में रात्रि के समय कोई परामर्श करने आवें, तो उसके लिए सुविधा हो सके ।

जिसने संपत्ति को अपना समझने की कोशिश की, देव, पितर, परमात्मा सभी उसके विपरीत हो जाते हैं और दुर्भाग्य बरसाने में भी तरस नहीं खाते ।

खजाने का अहंकार

खलीफा हारू रसीद नाव में सैर को निकले । उन्हें अपने राज्य और खजाने पर बड़ा घमंड था । सो उनने नदी से कहा–"मेरे राज्य में होकर बहती है, पर टैक्स नहीं देती । ला, दे टैक्स ।"

नदी के भँवर में से एक कटोरा उछला, उसमें कुछ रुपये थे । हाथ बढ़ा कर खलीफा ने उसे उठा लिया । देखा तो कटोरा नहीं किसी आदमी का सिर था । उसी पर रुपयों की थैली बँधी थी ।

खलीफा असमंजस में पड़ गए । क्या मेरी भी खोपड़ी पर इसी तरह राज-खजाना लदेगा ?

उनका अहंकार चूर हो गया । रुपयों की थैली उनने गरीबों को बाँट दी और खोपड़ी उसी पानी में बहा दी ।

नींव के पत्थर हर श्रेष्ठ कार्य के मूल में उदार परमार्थी व्यक्तियों का समर्पण होता है, जो उन्हें यश का भागी बनाता है । लोग भले ही उन्हें याद न रखें उनकी गरिमा अपने स्थान पर होती है ।

लोग किले के कँगूरे की शोभा देखकर प्रसन्नता व्यक्त कर रहे थे और उसकी सुदृढ़ दीवारों को आश्चर्यपूर्वक निहार रहे थे ।

मध्यवर्ती ईंटें मुस्कराई और अपनी अनगढ़ भाषा में बोलीं-"अंधे दर्शकों ! तुम उन नींव के पत्थरों की गरिमा क्यों नहीं खोज पाते, जिनकी पीठ पर इस विशाल दुर्ग का ढाँचा खड़ा है और जिनने जान-बूझ कर ख्याति से मुँह मोड़ा है ।

उदारमानसैर्लोकैर्बहु विश्वाय चाऽर्पितम् ।
दानमेकं समर्प्यासावनुदानानि विंशतिम् ।। ७९।।
अधिगन्तुमभूदर्हो नात्मसन्तोष आप्यते ।
लोकमानं तथा दैवोऽनुग्रहो मानवैः समैः ।। ८०।।
उदारमानसाः सन्ति ये मतास्तेऽधिकारिणः ।
दैवानामनुदानानामुदारा ये नराः स्वयम् ।। ८१।।
तेषु वर्षति चोदार्यं विश्वस्यापि नरेष्वलम् ।
कृपणेषु समाजस्य प्रभोः कोपश्च वर्षति ।। ८२।।
पापकृत्यमिदं प्राहुः संसारक्रमपद्धतौ ।
व्यतिरेकसमुत्पादितया दुर्गतिकं नृणाम् ।। ८३।।

टीका-उदारमना लोगों ने विश्व वसुधा को बहुत कुछ दिया है । जिसने जितना दिया है, वह उसी अनुपात में 'एक दान के बदले बीस अनुदान' अर्जित करने में सफल हुआ है । आत्म-संतोष, लोक सम्मान और दैवी अनुग्रह हर किसी को नहीं मिलते । इन दैवी अनुदानों के अधिकारी मात्र उदारमना ही होते हैं । जो स्वयं उदार हैं, उसी पर संसार की उदारता बरसती है । कृपणता अपनाने से समाज भी रुष्ट रहता है और भगवान का कोप भी बरसता है । यह संसार क्रम में व्यतिरेक उत्पन्न करने के कारण तथा मनुष्यों की दुर्गति करने वाला होने से पापकृत्य माना गया है ।। ७९-८३।।

अर्थ-दैवी अनुदान अनायास ही नहीं मिलते । जो परमार्थ में स्वयं को नियोजित करते हैं, जिनकी दृष्टि उदार होती है, दूसरों के प्रति जिनके मन में करुणा होती है, उन्हें परमपिता अजस्र अनुदानों से लाद देते हैं ।

चक्रवृद्धि ब्याज द्रौपदी जमुना स्नान कर रही थी । दृष्टि दौड़ाई तो देखा कि कुछ दूर पर एक साधु स्नान कर रहा है । हवा से उसकी किनारे पर रखी लँगोटी पानी में बह गई और जिसे वह पहने था, पुरानी होने से कारण संयोगवश वह भी उसी समय फट गई । बेचारा असमंजस में था । नंगी-उघारी स्थिति में लोगों के बीच से कैसे गुजरे । उसने दिन भर झाड़ी में छिपकर समय काटने और अँधेरा होने पर कुटी में लौटने का निश्चय किया । सो छिप गया ।

द्रौपदी को स्थिति समझने में देर न लगी । वे झाड़ी तक पहुँचीं । अपनी साड़ी का एक तिहाई भाग फाड़ कर साधु को दे दिया । कहा-इसमें से दो लँगोटी बना लीजिए । दो तिहाई से मेरी भी लाज ढँक जायगी । एक तिहाई से आप भी लाज बचा लें । मनुष्य की लाज एक है । साधु ने कृतज्ञतापूर्वक वह अनुदान स्वीकार किया ।

दुर्योधन की सभा में द्रौपदी की लाज उतारी जा रही थी । उसने भगवान को पुकारा । भगवान सोचने लगे इसका कुछ पुण्य जमा हो, तो बदले में अधिक दे सकना संभव है । देखा तो साधु की लँगोटी वाला कपड़ा ब्याज समेत अनेक गुना हो गया । भगवान ने उसी को द्रौपदी तक पहुँचाया और उसकी लाज बची ।

देवता शब्द बना ही दान से है अर्थात् जो सदैव देता रहता है, वही देवता है । देवताओं के पास परमात्मा ने शक्ति का अक्षय कोष भर दिया, ताकि परंपरा बंद न हो ।

देने का आनंद

देवताओं ने विष्णु भगवान् से कहा–"स्वर्ग में रहते हुए बहुत दिन हो गए, सो ऊब आने लगी है । किसी इससे भी अच्छे लोक को भेज दीजिए ।" विष्णु ने 'हाँ' कह दी और मनुष्य लोक भेज दिया, साथ ही यह भी कहा–"सुख और सौंदर्य तभी दृष्टिगोचर होगा, जब तुम लोग करुणा जीवित करोगे और सेवा धर्म का रसास्वादन करोगे ।"

देवता विमानों में बैठकर मनुष्य लोक चल पड़े; पर वहाँ तो सभी लोग दुःखों में डूबे थे । देवताओं ने उनकी सेवा करने का निश्चय किया । कोई मेघ बनकर बरसने लगा । किसी ने ऊष्मा बिखेरी । कोई रात्रि को शीतलता भरा प्रकाश बाँटने लगा । किन्हीं ने वनौषधियों का रूप बनाया और अपरिग्रही बनकर लोगों की कष्ट मुक्ति का उपाय बताते हुए परिभ्रमण करने लगे ।

बहुत दिन बाद विष्णु भगवान ने नारद को देवताओं की स्थिति मालूम करने पृथ्वी पर भेजा । उनने आकर उत्तर दिया–"देवता लोक सेवा के आनंद को स्वर्ग से बढ़कर मान रहे हैं और उनका वापस लौटने का मन नहीं है ।"

उदारता के आनंद की किसी अन्य वस्तु से तुलना नहीं हो सकती ।

बाँटने की मिठास

समुद्र में बहुत पानी था, सो पथिक अधिक लाभ की आशा से उसके तट पर पहुँचा; किन्तु अंजलि होठों तक ले जाते ही देखा वह तो बहुत खारी है । प्यासा ही लौट गया ।

कुछ दूर एक छोटी नदी थी । पिया तो पाया मीठा और ठंडा जल ।

बड़े के पास खारी, छोटे के पास मीठा, इस भेद को समझने के लिए उसने बुद्धि दौड़ाई ।

नियति ने कहा–"जो बाँटते हैं, उनकी मिठास सराही जाती है । जो समेटते हैं, वे बड़े होने पर भी भर्त्सना सहते हैं ।"

इस देश और अपनी देव संस्कृति का तो यह प्राण है । उन गौरव-गाथाओं से हमारे पुराण भरे पड़े हैं, जिनमें परमार्थ को सर्वोपरि तप माना गया है ।

यह परम्परा बंद न हो

वाजिस्रवा ने अपनी गौ संपत्ति लोक सेवी ब्राह्मणों को दान कर दी । उनका पुत्र नचिकेता भी अपना जीवन दान करना चाहता था । पिता ने उसकी इच्छा जानी और यमाचार्य को उच्चस्तरीय प्रयोजनों में उसका उपयोग करने के लिए दान कर दिया ।

हर्षवर्धन ने अपना सारा कोष तक्षशिला विश्वविद्यालय तथा दूसरे सत्प्रयोजनों के लिए दान किया था । यहाँ तक कि भावावेश में शरीर के कपड़े तक उतार कर दान कर दिए थे । बहन ने अपनी साड़ी दी, तब उसे लपेटकर दान वेदी पर से आधा शरीर ढँके हुए उठे ।

दधीचि ने तो अपनी अस्थियाँ तक इंद्र को दान कर दीं थीं; ताकि उनसे वज्र बने और असुर वर्ग के आतंक से पीछा छूटे ।

दिखावे के लिए तो यह नाटक अनेक स्थानों पर चलते हैं; पर अब उसमें विवेकशीलता समाप्त हो गई । दान भी महान प्रयोजनों के लिए दिए जाते हैं । केवल अहंकार पूर्ति के लिए दिए गए दान में पात्र-सुपात्र का ध्यान नहीं रहता, इसीलिए उस देने में कुछ भी नहीं मिलता । वह तो ऊसर में बीज बिखेरने जैसा कृत्य है ।

नाटक न करें

शिष्य अपने गुरु से शिकायत भरे स्वर में कह रहा था–"गुरुदेव ! आपने ही तो उस दिन कहा था, जो व्यक्ति त्यागी होते हैं और प्रतिष्ठा से दूर भागने का प्रयास करते हैं, सामाजिक सम्मान उनके पीछे दौड़ा-दौड़ा आता है । मैं गत १५ वर्षों से अपना सर्वस्व समाज सेवा पर न्यौछावर करता आ रहा हूँ, पर सम्मान मेरे पीछे कभी दौड़कर नहीं आया ।"

गुरु का उत्तर था–"बात ठीक है, पर तुम्हारी दृष्टि सदैव पाने पर लगी रही, देना तो तुम्हारा नाटक मात्र था ।"

अनुदान एक प्रकार की इष्ट-पूर्ति है; उसे इसी रूप में देना चाहिए । यह मानकर नहीं कि किसी पर कोई अहसान किया जा रहा है ।

प्रायश्चित्त

अमेरिका के नीग्रो नेता लूथर किंग को जब किसी गोरे ने गोली मार दी, तो उस देश के एक गोरे पादरी ने दस काले बालकों को शिक्षा का उत्तरदायित्व अपने कंधे पर लिया और कहा–"इस पाप का प्रायश्चित्त यही हो सकता है, जो मैंने किया ।"

मूल्यं धर्मधृतेरात्मप्रगतेश्चैवमेव हि ।
निश्चीयते नरेणात्मजीवने कियती च सा ॥ ८४॥
गृहीतोदारता चाथ परार्थाभिरतिस्तथा ।
दर्शिता स्वर्गमुक्त्यात्म फलं तत्र फलेत्तरौ ॥ ८५॥

टीका–धर्म धारणा और आत्मिक प्रगति का मूल्यांकन इसी आधार पर किया जाता है कि अपने जीवन क्रम में कितनी उदारता अपनाई और परमार्थ परायणता दर्शाई । स्वर्ग और मुक्ति का पुण्य–प्रतिफल इसी परमार्थ परायणता के वृक्ष पर लगता है ॥ ८४–८५॥

अर्थ–धर्म धारणा को प्रतीक और कर्मकांड तक सीमित रखने वाले लोग भगवान् को पाने के झूठे भ्रम में रहते हैं । भगवान् तो सेवा में, उदारता में विद्यमान हैं ।

सेवा की उदारता

शबरी के घर भगवान् गए और उससे माँग–माँग कर जूठे बेर खाये–यह प्रसंग उन दिनों भक्त जनों में सर्वत्र चर्चा का विषय बना हुआ था । अशिक्षिता नारी, साधना विधान से अपरिचित रहने पर भी उसे इतना श्रेय क्यों मिला ? हम लोग उस श्रेय सम्मान से वंचित क्यों रहे ?

मातंग ऋषि ने चर्चारत भक्तजनों से कहा–"हम लोग संयम और पूजन मात्र में अपनी सद्गति के लिए किए प्रयास को भक्ति मानते रहे हैं । जबकि भगवान की दृष्टि में सेवा, साधना की प्रखरता है । शबरी ही है, जो रात–रात भर जागकर आश्रम से लेकर सरोवर तक कँटीला रास्ता साफ करती रही और सज्जनों का पथ–प्रशस्त करने के लिए अपना अविज्ञात, निरहंकारी, भाव भरा योगदान प्रस्तुत करती रही ।"

भक्तजनों का समाधान हो गया, उन्होंने जाना कि भक्त और भगवान् की दृष्टि में अंतर क्या है ।

सेवा, अर्थात् उनसे भी प्यार जो पतित हैं, दुष्ट हैं । ऐसी सेवा का मार्ग अपनाने वाले अपनी सत्ता को ही भगवान् में बदल देते हैं ।

भगवान् चला गया

डेविड लिंकिंग स्टार दक्षिण अफ्रीका के उस क्षेत्र में सेवा–साधना के लिए पहुँचे, जिसे अंध कूप कहा जाता था । चिकित्सा, सहायता और सुधार–तीन उद्देश्य लेकर वे उस क्षेत्र में आजीवन रहने के लिए गए थे । उनके इन कार्यों का उस समुदाय में स्वागत नहीं हुआ । कबीलों की भाषाएँ अलग से सीखने में उन्हें बहुत कठिनाई हुई । एक कबीले वालों ने तो उनका एक हाथ ही तोड़ दिया, तो भी वे निराश नहीं हुए और पूरे तीस वर्ष उसी क्षेत्र में जमकर अपने त्रिविध कार्य करते रहे । दास बनाने के गोरों के प्रयास का भी वे डटकर विरोध करते रहे । उन्हें समझने में लोगों को बहुत देर लगी । मरने के बाद लोगों को यह कहते सुना गया कि एक देवता चला गया–भगवान् चला गया ।

परमात्मा अर्थात् करुणा का निर्झर । जो उसका उपासक हो, धर्मनिष्ठ हो, उसके जीवन में दया न हो, तो वह धार्मिक कैसा ! सच तो यह है कि दया सर्वोपरि यज्ञ है ।

दया यज्ञ

एक गृहस्थ ने तीन यज्ञ किए । सब धन इसी में खर्च हो गया । वह गरीबी से घिर गया । उसका दुःख देखकर किसी विद्वान् ने कहा–"तुम अपने एक यज्ञ का पुण्य धर्मराज सेठ को बेच दो, तो उतने भर से तुम्हारा काम चल जायेगा ।"

गृहस्थ चल पड़ा । रास्ते में खाने के लिए रोटियाँ बाँध ली । चलते–चलते एक जगह रास्ते में एक कुतिया मिली । बच्चे जने थे; पर खाने के लिए उसके पास कुछ न था । भूख से दम तोड़ रहे थे । गृहस्थ को दया आई । उसने अपनी रोटियाँ कुतिया को खिला दीं । वह चलने–फिरने लायक हो गई । गृहस्थ को सेठ के पास तक पहुँचने में तीन दिन भूखा रहना पड़ा ।

जाते ही धर्मराज ने पूछा–"तुम्हारे चार यज्ञ हैं, इनमें किन्हें बेचना चाहते हो ।" गृहस्थ ने कहा–"मैंने तो तीन ही यज्ञ किए हैं ।" धर्मराज ने कहा–"चौथा दया यज्ञ, जो तुमने अभी–अभी रास्ते में ही अपनी रोटियाँ खिलाकर किया है । उसका पुण्य उन तीनों के बराबर है ।"

गृहस्थ ने पिछले तीनों यज्ञ बेच दिए और उसके बदले जो कुछ मिला, उसे आये दिन दया यज्ञों का अवसर ढूँढ़ने और लगाने में खर्च करता रहा ।

संत, प्राणी मात्र में एक ही आत्म सत्ता के दर्शन करते हैं । उनके लिए अपने पराये का कोई भेदभाव नहीं रहता ।

कुत्तों को रोटी खिलाई

संत नामदेव का उस दिन एकादशी व्रत था । उस दिन उन्होंने फलाहारी रोटी बनाई । इतने में एक कुत्ता आया और रोटी उठा ले गया । संत उसके पीछे-पीछे बहुत दूर तक घी की कटोरी लेकर गए । रोटी चुपड़ कर खाइए, नहीं तो आपकी कृपा अधूरी रहेगी । मुझे संतोष न होगा कुत्ता खड़ा हो गया । उसे दूसरी रोटी उन्होंने घी समेत खिलाई । ऐसे होते हैं-समदर्शी ।

संत परंपरावादी नहीं होते, सेवा यज्ञ किन्हीं सीमाओं में बँधा नहीं है । उदार दृष्टिकोण और साहस भरी दूरदर्शिता को ही वे सच्चा धर्म मानते हैं ।

सच्चे साधु

उन दिनों साधु महात्मा मात्र भजन-पूजन अपना काम समझते थे और इसी आधार पर जनता से धन और सम्मान एकत्रित करते थे ।

उस परंपरा को तोड़कर स्वामी सहजानंद ने लोक मंगल के कितने ही कार्य अपने हाथ में लिए । उनने पश्चिमी उ०प्र०, पूर्वी बिहार को अपना कार्यक्षेत्र बनाया । उस क्षेत्र के ब्राह्मण हल जोतना पाप मानते थे । स्वामी जी ने अपने प्रभाव को उस अंधविश्वास को दूर कराया । फलस्वरूप उस वर्ग की आर्थिक स्थिति सुधरी । भूमिहार ब्राह्मणों की उप जातियों का भी एकत्रीकरण उनने कराया ।

गाँधी जी के संपर्क में आकर वे स्वतंत्रता आंदोलन में सम्मिलित हुए । अपने क्षेत्र में उन्होंने क्रांति खड़ी कर दी । एक वर्ष के लिए जेल भी गए । इसके बाद वे किसान संगठन के काम में लगे, जिसके द्वारा जमींदारों के बढ़े-चढ़े अत्याचारों पर अंकुश लगाया । स्वामी जी के संपादकत्व में लोकसंग्रह पत्र भी निकला । जो उस क्षेत्र में बहुत सफल माना जाता था । सच्चे साधु कैसे होते हैं ? इसके उदाहरण में स्वामी सहजानंद का नाम चिरकाल तक लिया जाता रहेगा ।

व्यक्ति के जीवन में नैतिकता का समावेश हो जाना, अध्यात्म की दिशा में प्रगति का पहला लक्षण है । धर्म क्षेत्र में प्रवेश के लिए एक और कदम उठाना पड़ता है, वह सेवा का है । यह बात भली-भाँति समझ ली जानी चाहिए ।

एक कदम आगे

एक भोला व्यक्ति किसी विद्वान् के पास पहुँचा, बोला-"मैं ईमानदारी से जीवनयापन करता हूँ; पर कोई न मेरी प्रशंसा करता है, न प्यार ।"

बिद्वान् ने कहा-"ईमानदारी अच्छी बात है; पर उसके साथ मधुर व्यवहार और सेवा भावी सहकार भी जुड़ा रहना चाहिए । इतना कर सको, तो फिर प्रशंसा की कमी न रहेगी, न प्यार की शिकायत करनी पड़ेगी ।"

धर्मस्य धारणायाश्च युग्मैरन्यै समं समे ।
जानन्तु पञ्चमं युग्मं महत्वमहितं भुवि ।। ८६ ।।
धर्म आचरणस्यापि विषये विद्यते यतः ।
क्रियायां परिणतं ते च कुर्वते मानवास्ततः ।। ८७ ।।
कथनेनाऽथवा लोके श्रवणेन तु केवलम् ।
प्राप्यते ज्ञानमात्रं तु दिशाबोधश्च जायते ।। ८८ ।।
धर्मचर्चाऽनिवार्याऽतः समैरेव मता परम् ।
पर्याप्ता नैव नूनमाचारेण बिना भुवि ।। ८९ ।।

टीका-धर्मधारणा के अन्य चार युग्मों की भाँति यह पाँचवाँ युग्म भी अतीव महत्वपूर्ण है । धर्म आचरण का विषय है । उसे कर्म में परिणत किया जाता है । कथन-श्रवण से तो जानकारी प्राप्त होती और दिशा मात्र मिलती है । अतएव धर्मचर्चा को आवश्यक तो समझा गया है, पर उसे आचरण में लाए बिना पर्याप्त नहीं माना गया ।। ८६-८९ ।।

अर्थ-धर्म वस्तुतः पढ़ने भर की वस्तु नहीं, वह तो महानता का आचरण है । उसे अपनाने से ही धर्मधारणा परिपक्व होती है और सिद्धि प्राप्त होती है ।

पढ़ें नहीं, आचरण में उतारें

मगध के राजा सर्वदमन को राजगुरु की नियुक्ति अपेक्षित थी । एक दिन एक महापंडित दीर्घलोभ उधर से निकले । राजा से भेंट-अभिवादन के उपरांत पंडित ने कहा-"राजगुरु का स्थान आपने रिक्त छोड़ा हुआ है । उचित समझें तो उस स्थान पर मुझे नियुक्त कर दें ।"

राजा बहुत प्रसन्न हुए, साथ ही एक निवेदन भी किया-"आपने जो ग्रंथ पढ़े हैं, कृपया एक बार उन सबको फिर पढ़ लें । इतना कष्ट करने के उपरांत आपकी नियुक्ति होगी । जब तक आप आवेंगे नहीं, वह स्थान रिक्त ही पड़ा रहेगा ।"

विद्वान् वापस अपनी कुटी में चले गए और सब ग्रंथ ध्यानपूर्वक पढ़ने लगे । जब पढ़ लिए, तो नियुक्ति का आवेदन लेकर फिर दरबार में उपस्थित हुए ।

राजा ने अबकी बार और भी नम्रतापूर्वक एक बार फिर उन ग्रंथों को पढ़ लेने के लिए कहा । दीर्घ लोभ असमंजसपूर्वक फिर पढ़ने के लिए चल दिए ।

नियत अवधि बीत गई, पर पंडित वापस न लौटे । तब राजा स्वयं पहुँचे और न आने का कारण जानने लगे ।

पंडित ने कहा-"गुरु अंतरात्मा में रहता है, बाहर के गुरु कामचलाऊ भर होते हैं । आप अंतः के गुरु से परामर्श लिया करें ।"

राजा ने नम्रतापूर्वक पंडित जी को साथ ले लिया और उन्हें राजगुरु के स्थान पर नियुक्त किया । बोले-"जब आपने शास्त्रों का सार जान लिया, इसलिए उस स्थान को सुशोभित करें ।"

सत्रे समाप्ते सर्वेऽपि जनास्ते तु परस्परम् ।
आलिलिङ्गुर्गृहीत्वा च गले रोमाञ्चिताः समे ।। ९०।।
सत्राध्यक्षं प्रणेमुस्ते यो ववर्षाऽमृतं वचः ।
आगतेभ्यश्च धर्मस्य धारणाया महत्वगम् ।। ९१।।
तत्वज्ञानं सगाम्भीर्यं बोधयामास यत्नतः ।
सर्वै र्गन्तुं द्वितीयेऽह्नि निजस्थानानि निश्चितम् ।। ९२।।
निजेष्वाचरणेष्वेव स्वरूपं शोभनं समे ।
धर्मस्य धारणायास्ते निरचिन्वन् समाहितुम् ।। ९३।।
वातावृतौ सदुत्साहभरितायां तपोवने ।
सत्रं समाप्तं तद्दिव्यं जयघोषपुरस्सरम् ।। ९४।।
भूयोऽपि चेदृशं दिव्यं भवेदायोजनं तथा ।
तत्र सम्मिलिताः स्याम वाञ्छा चेतसि सोद्गता ।। ९५।।

टीका-सत्र समापन पर सभी उपस्थित जन गले मिले एवं हर्ष से गद्गद् हो गए । सत्राध्यक्ष को नमन-अभिवंदन किया, जिनने ऐसी अमृत वर्षा की और आगंतुकों को धर्म-धारणा के तत्वज्ञान को गंभीरतापूर्वक समझाने का सफल प्रयत्न किया । कल सभी को अपने-अपने स्थानों को जाना था । सबने अपनी-अपनी गतिविधियों में धर्मधारणा के इस स्वरूप को और भी अच्छी तरह समाविष्ट करने का निश्चय किया । अत्यंत उत्साह के वातावरण में जयघोष के साथ तपोवन में आयोजित यह सत्र समाप्त हुआ । दूसरी बार फिर ऐसे ही आयोजन के होने और उसमें सम्मिलित होने की आकांक्षा सभी के मन में उठ रही थी ।। ९०-९५।।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः,
श्री आश्वलायन-जरत्कारु ऋषि सम्वादे "सहकारः परमार्थश्चे," ति
प्रकरणो नाम सप्तमोध्यायः ।।७।।

वन्दना परिशिष्ट

कथावाचक का आदर्श यह रहा है कि वह अपने आपको शाश्वत ज्ञान का विनम्र सन्देह मात्र मानकर चले । इसीलिए स्वयं को वक्ता न मानकर आदि वक्ताओं का प्रतिनिधि माने । कथा प्रारम्भ करने से पूर्व अपना यह भाव उद्दीप्त करने के लिए वन्दना एक बड़ा उपयोगी माध्यम रहा है । भावभरी वन्दना से न केवल अपने अनुशासन का निर्वाह होता है, बल्कि अपनी शालीनता का उभार होने से दिव्य अनुदान के रूप में सूक्ष्म प्रवाह का भी सहज ही लाभ मिलने लगता है । अस्तु, हर कथा के पहले भावभरी वन्दना अवश्य की जाय ।

वन्दना में पहले ईश वन्दना तथा फिर गुरु वन्दना के श्लोक बोले जायें । समय एवं परिस्थितियों के अनुरूप २-३ मंत्र दोनों ही प्रसंगों के बोले जा सकते हैं । यहाँ ईश वन्दना और गुरु वन्दना के पर्याप्त श्लोक दिए जा रहे हैं । ईश वन्दना के श्लोक इस तरह के हैं कि उसमें किसी विशेष नाम रूप का वर्णन न होकर प्रभु की सामर्थ्य सार्वभौम सत्ता का, उनकी विशेषता, सामर्थ्य एवं गुणों, आदर्शों का ही उल्लेख है । गुरु वन्दना के श्लोक भी सार्वभौम हैं ।

ईश वन्दना

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो,
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः ।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं
नो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥ १ ॥
त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम, त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ! ॥ २ ॥
भवानीशंङ्करौ वन्दे श्रद्धाविश्वासरूपिणौ ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति सिद्धा स्वान्तः स्थमीश्वरम् ॥ ३ ॥
प्रातः स्मरामि हृदि संस्फुरदात्मतत्त्वं सच्चित्सुखं परमहंसगतिं तुरीयम् ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तमवैति नित्यं तद् ब्रह्म निष्कलमहं न च भूतसंघः ॥ ४ ॥
प्रातर्नमामि तमसः परमर्कवर्णं पूर्णं सनातनपदं पुरुषोत्तमाख्यम् ।
यस्मिन्निदं जगदशेषमशेषमूर्तौ रज्ज्वां भुजङ्गम इव प्रतिभासितं वै ॥ ५ ॥
नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैततत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥ ६ ॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः
स्तवैर्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥ ७ ॥
पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ८ ॥

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं, त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ९॥
प्रातर्नमामि मनसा वचसा समूर्ध्ना पादारविन्दयुगलं परमस्य पुंसः ।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य पारायणप्रवणविप्रपरायणस्य ॥ १०॥
प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यं वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेतिनेतिवचनैर्निगमा अवोचस्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ ११॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ १२॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठस्तते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ १३॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ १४॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १५॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्वियदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम् ॥ १६॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यन्ति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १७॥
नमस्ते नमस्ते विभो ! विश्वमूर्ते ! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते ! ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ १८॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमः पारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ १९॥
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २०॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत् साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधितं शरण्यं व्रजामः ॥ २१॥

गुरु वन्दना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुरेव महेश्वरः । गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ १॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् । तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ २॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ३॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्ररूपिणम् । यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ४॥
अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे । सच्चिदानन्दरूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ५॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि ॥ ६॥

युगदेव स्तवन

अहो तां गायत्रीमखिलजगदानन्द निलयामुपास्य ब्रह्मासावसृजदमलां सृष्टिमधिकाम् ।
मता या वेदानामपि निखिलविश्वस्य जननी सुशान्त्यै शान्तां तां जपत मनुजा ! देवजननीम् ॥ १॥

समस्त जगत् के आनन्द की आनन्दभूत जिस गायत्री की उपासना करके ब्रह्माजी ने सृष्टि रची । जिसे वेदमाता, देवमाता व विश्व माता कहा जाता है । हे मनुष्यो ! अपार शांति के लिए शांत-स्वरूप उस गायत्री को भजो, उसका जप करो ॥ १॥

त्रयोलोका यस्याश्चरण वरणास्तेऽपि च समे, त्रयो देवास्तिस्त्रः प्रथितविभवा देव्य इति सा ।
त्रिवेणी व्याख्याताऽक्षरगण इहाख्यातिमभजच्चतुर्विंशत्याहु ऋषित्रिदशदिव्यावतरणाः ॥ २॥

जिसके तीन चरणों को तीन लोक, तीन देव, तीन वैभव शाली देवी-त्रिवेणी कहते हैं । जिसके चौबीस अक्षर अवतारों, देवताओं, ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए ॥ २॥

सुदैव्याः संस्कृत्या इहनिगदिता मूलमखिलं, बुधाः प्राहुः यांचा मृतममरवृक्षं परमणिम् ।
शिखासूत्रे यां वै दधुरमृतचिह्नं जपत तां, युगप्रज्ञोन्मेषप्रबलकरुणां सिद्धिजननीम् ॥ ३॥

जो देव संस्कृति की मूल है । जिसे पारस, कल्पवृक्ष और अमृत कहा जाता है, जिसे शिखा-सूत्र के रूप में धारण किया जाता है । जो अमृत तत्वदायी चिह्न है-ऐसी युग परिवर्तन का उन्मेष करने में अत्यन्त करुणामयी सिद्धि-दात्री गायत्री को जपो ॥ ३॥

अहो आद्यां शक्तिं कलियुगकलाविस्मृततनुमुपेक्षाक्षीणां तामृतनिधिकां बुद्धिविभवाम् ।
महाप्राज्ञो ह्येनां पुनरुदधरद् देवसदृश ऋतां प्रज्ञां तुभ्यं युगपुरुष ! नः सन्तु नतयः ॥ ४॥

उस आद्यशक्ति को काल-प्रवंचना से विस्मृत रूप वाली, उपेक्षित हुई ऋतम्भरा-प्रज्ञा को जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युग पुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन वन्दन ॥ ४॥

सदा भास्वान् भूत्वा तपति गगने यज्ञ इह यो, भृशं पर्जन्योऽयं यमनुसततं वर्षति रसम् ।
य ओतः प्रोतश्च प्रबलतमतत्प्राणमरुता तदेतद् देवत्वं श्वसिति कृपया यस्य हि चितेः ॥ ५॥

जो यज्ञ सूर्य के रूप में तपता है । जिसके प्रताप से पर्जन्य बरसते हैं । जो प्राण-ऊर्जा से ओत-प्रोत है । जिसकी चेतना से देवत्व जीवित है ॥ ५॥

यदङ्के देवानां गण उदयमासाद्य लुठति, भृशं पोषं प्राप्य प्रखरतरतां यानि सततम् ।
निधिर्ऋद्धेः सिद्धेरपि च कथिता यत्र वपुषि, तदोजस्तेजस्त्वे वसत इह वर्चोऽभिलषति ॥ ६॥

देवगण जिससे, जिसकी गोद में जन्मते, पलते, प्रखर होते और समर्पण करते हैं । जो ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डार है । जिसमें ओजस्, तेजस् और वर्चस् के सभी तत्व विद्यमान हैं ॥ ६॥

तिरस्कारं यातो विकृतिमभजद् यः कलिबलादुपेक्षां संप्राप्तोऽप्यहह निखिलारोग्यसदनम् ।
अहो विष्णुं यागं पुनरुदधरद् यो बुधवर ! प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ७॥

ऐसे कलि-विडम्बना से उपेक्षित, तिरस्कृत, विकृत हुए, आरोग्य के उत्पत्ति स्थल विष्णु रूप यज्ञ का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युग पुरुष को, देव संस्कृति का, उसके अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ७॥

अहो विश्वस्तानामिव हि हृदयं यस्य सरसं, तदास्ते भक्तानामिव, गहनमाचिन्तनमपि ।
सदा ब्रह्मज्ञानामिव च चरितं तद्वृषिसम, प्रमाणास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! न कोटिश इमे ॥ ८॥

जिसका हृदय विश्वासी भक्त जैसा-सरस, जिसका गहन चिन्तन ब्रह्मवेत्ताओं जैसा, जिसका चरित्र ऋषियों जैसा, जो महाप्राज्ञ है, ऐसे युग-पुरुष को हम करोड़ों भक्तों का प्रणाम ॥ ८॥

उपास्ते य ईशं ह्यविरतमहो जीवनविधौ सदासक्ते लोकाधिक सुखसमाराधनविधौ ।
सदादर्शादर्शो भुवि विदित सत्सौख्य विभवः, प्रणामास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ९॥

जो ईश्वर उपासन-जीवन साधना और लोक को सुखी करने की आराधना में संलग्न-आदर्शों के लिए समर्पित स्वयं आदर्श (दर्पण) के समान हैं, उस महाप्राज्ञ युग-पुरुष का-देव संस्कृति और उसके अनुचरों द्वारा कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ९॥

य उत्सेहे पातोन्मुखमनुजसत्संस्कृतिमहो, निरोद्धुं नाशस्य प्रबलमतगर्तादनलसः ।
दधीचेर्व्यासस्य परशुध श्रृङ्गिप्रथितयोर्दधौरूपं यस्त्वां युगनर ! नताः कोटिश इमे ॥ १०॥

जिसने पतनोन्मुख मानवी-संस्कृति को महाविनाश के गर्त से बचाने का आलस्य त्यागकर एकाकी साहस किया । जिसने दधीचि, व्यास, परशुराम, शृंगी, पिप्पलाद की भूमिका निभाई-हे युग पुरुष आपको कोटि-कोटि हम अनुचरों का प्रणाम ॥ १०॥

सुरर्षिं यो वाजिश्रवसमपि कार्यादनुगत,
ऋषिं विश्वामित्रं मुनिवर वशिष्ठं सगरजम् ।
ज्वलन् दीपान् स्नेहोद्भरितहृदयोऽज्वालयदसौ,
महावर्चः ! सन्तु युगपुरुष ! तुभ्यं प्रणतयः ॥ ११॥

जिसने नारद, वाजिश्रवा, श्रषि विश्वामित्र, मुनिवर वशिष्ठ व सगरवंशज भगीरथ की भूमिका एकाकी निभाई । जिसने स्वयं ज्वलन्त होकर-स्नेहयुक्त होकर-अगणित दीप जलाये-उस साहस के धनी, ब्रह्मवर्चस् से ओत-प्रोत महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का-उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ११॥

-पं० चन्द्रभूषणमिश्रेण विरचितम्

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा